# योगवासिष्ठके चतुर्थ भागकी विषय-सूची

[ निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्ध—४२७०-५३६० ]

**विषय** **पृष्ठ**

विषय | पृष्ठ

विषय  पृष्ठ

**विषय** **पृष्ठ**

**विषय** **पृष्ठ**

---

ॐ

❀ श्रीगणेशाय नमः ❀

# योगवासिष्ठ

## [ भाषानुवादसहित ]

## निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्ध

### प्रथमः सर्गः

श्रीराम उवाच

नैष्कर्म्यात्कल्पनात्यागात्तनुः पतति देहिनः ।
कथमेतदतो ब्रह्मन्सम्भवत्याशु जीवतः ॥ १ ॥

---

### पहला सर्ग

[ ममता, अहङ्कार एवं सङ्कल्प-विकल्पसे रहित जीवन्मुक्त पुरुष जैसा जीवनयापन और आचरण करते हैं वैसा निर्वचन करनेके लिए युक्तिका कथन ]

इस निर्वाण-प्रकरणके पूर्वार्धमें श्रीरामजीकी समाधिके प्रदर्शनव्याजसे यह दर्शाया कि जो उत्तमाधिकारी पुरुष हैं उनके बार-बार किये गये श्रवणका जब परिपाक हो जाता है तब आत्मसाक्षात्काररूप ज्ञानका आविर्भाव होकर परमपदमें तत्काल ही उनकी विश्रान्ति हो जाती है। अब ऐसे जो उत्तमाधिकारी हैं उनकी किसी प्रारब्धके बलसे कदाचित् समाधि टूट भी जाय, तो भी जिस रीतिसे उस परम पदमें निरन्तरविश्रान्ति अनायास सिद्ध हो जा सकती है उस रीतिसे उत्तरोत्तरकी भूमिकाओंमें उन्हें चढ़ानेके लिए इस उत्तरार्ध प्रकरणका आरम्भ किया जाता है। इस प्रकरणमें सबसे पहले 'अहं ममेति संविदन्' * यह जो पूर्वप्रकरणके अन्तमें कहा गया है उसको लेकर—हे महाराज, कल्पनाजनित देह-

---

* अहं ममेति संविदन्न दुःखतो विमुच्यते ।
असंविदन् विमुच्यते यदीप्सितं तदाचर ॥ [ नि० पू० १२६।१०२ ]

वसिष्ठ उवाच

जीवतः कल्पनात्यागो युज्यते न त्वजीवतः ।
रूपमस्य यथातत्त्वं शृणु श्रवणभूषणम् ॥ २ ॥
अहम्भावनमेवाऽऽहुः कल्पनं कल्पनाविदः ।
नभोर्थभावनं तस्य सङ्कल्पत्याग उच्यते ॥ ३ ॥

धारण आदि व्यवहार सब कल्पनाओंका परित्याग कर देनेपर कैसे सिद्ध हो सकता है—ऐसी श्रीरामचन्द्रजी आशङ्का करते हैं—'नैष्कर्म्यात्' इत्यादिसे ।

श्रीरामभद्रने कहा—हे ब्रह्मन्, देह, प्राण आदिमें जब पुरुष अहन्ता, ममता आदि कल्पनाएँ छोड़ देता है तब सब तरहकी क्रियाओंकी शान्ति हो जानेके कारण देहको ठीक-ठीक रखनेवाली तथा उसकी पोषक प्राण आदिकी चेष्टाएँ उस पुरुषमें रहेंगी ही नहीं । ऐसी दशामें उसका शरीर तत्काल ही गिर जायगा, अतः आपने सर्वकल्पनात्यागी पुरुषके लिए जो व्यवहार आदि हमें बतलाये, वे कैसे हो सकते हैं ॥ १ ॥

पुरुषका जीवन कल्पनाधीन नहीं है, जिससे कि कल्पनात्यागसे शरीर-त्यागका प्रसङ्ग हो जाय, किन्तु जीवन भोगजनक प्रारब्धके अधीन है । असलमें विचार किया जाय, तो कल्पनात्याग ही जीवनके अधीन है, इसलिए अपने उपजीव्य जीवनका कल्पनात्याग कैसे बाध कर सकता है । ऐसी दशामें कल्पना-त्याग होनेपर जीवनका न रहना ही विरुद्ध है, इस आशयसे महाराज वसिष्ठजी समाधान करते हैं—'जीवतः' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जो पुरुष जीवनसम्पन्न है उसीका कल्पनात्याग हो सकता है । जो जीवनसम्पन्न नहीं है उसका नहीं हो सकता । इस कल्पनात्यागका स्वरूप जिस प्रकारसे जीवनविरुद्ध नहीं है उस प्रकारसे मैं वर्णन करने जा रहा हूँ, उसे आप सुनिये । वह कानोंके लिए अत्यन्त ही मधुर है ॥ २ ॥

भद्र, आत्माको शरीर आदिके-जैसा छोटा जो मान बैठना है उसे ही कल्पनाके स्वरूपको जाननेवाले विद्वान् कल्पना कहते हैं और आत्माको आकाशके सदृश अपरिच्छिन्न जानकर अपने पारमार्थिक स्वरूपका निरन्तर जो अनुसन्धान करना है, उसे कल्पनात्याग कहते हैं ॥ ३ ॥

पदार्थरसमेवाऽऽहुः कल्पनं कल्पनाविदः ।
नभोर्थभावनं तस्य सङ्कल्पत्याग उच्यते ॥ ४ ॥
इदं वस्त्विवति संवेगमाहुः कल्पनमुत्तमाः ।
नभोर्थभावनं तस्य सङ्कल्पत्याग उच्यते ॥ ५ ॥
स्मरणं विद्धि सङ्कल्पं शिवमस्मरणं विदुः ।
तच्च प्रागनुभूतं च नाऽनुभूतञ्च भाव्यते ॥ ६ ॥
अनुभूतां नाऽनुभूतां स्मृतिं विस्मृत्य काष्ठवत् ।
सर्वमेवाऽऽशु विस्मृत्य गूढस्तिष्ठ महामते ॥ ७ ॥
सर्वास्मरणमात्रात्मा तिष्ठाऽऽयातेषु कर्मसु ।
अर्द्धसुप्तशिशुस्पन्द इवाऽभ्यस्तोपपत्तिषु ॥ ८ ॥

---

कल्पनाके स्वरूपको जाननेवाले विद्वान् आत्माकी परिच्छिन्न पदार्थोंके सदृश भावनाको ही कल्पना कहते हैं और आकाशके सदृश अपरिच्छिन्न परमार्थ-स्वरूपकी भावनाको सङ्कल्पत्याग कहते हैं ॥ ४ ॥

उत्तम महानुभाव लोग यह सम्पूर्ण देहादि दृश्य वस्तु परमार्थसत्य है—इस अभिमानको ही कल्पना कहते हैं और चूँकि दृश्य आकाशके कार्य भूतचतुष्टयका विकार है, इसलिए तत्त्वतः अकेला आकाशरूप अर्थ ही स्फुरित होता है, यों अर्थके पर्यालोचनको सङ्कल्पका त्याग कहते हैं। ये दोनों ही भ्रान्तपुरुषके अनुभवके विरुद्ध होनेपर भी जीवनके विरुद्ध नहीं हैं, क्योंकि जी रहे पुरुषकी ही भ्रान्तिकी निवृत्ति देखी जाती है, यह तात्पर्य है ॥ ५ ॥

हे रामजी, विषयोंके स्मरणको आप सङ्कल्प जानिये तथा यह भी जान लीजिये कि विषयोंके अस्मरणको विद्वान् लोग शिवस्वरूप समझते हैं। वह स्मरण अनुभूत और अननुभूत—यों दो तरहका कहा जाता है अर्थात् भूत और भावी दोनों तरहके विषयोंका स्मरण होता है ॥ ६ ॥

हे महामते, अनुभूत और अननुभूत दोनों तरहकी स्मृतियोंका विस्मरण कर तथा अनुमिति आदि अन्य सब वृत्तियोंका भी शीघ्र विस्मरण कर अपरिच्छिन्न ब्रह्माकारमें लीन होकर आप काष्ठके तुल्य दृढ़ और निश्चल बनकर चिरकाल तक जीवित रहिये ॥ ७ ॥

व्यवहारकालमें तो स्मृतिमात्रका निरोध करना चाहिए, यह कहते हैं—'सर्वा०' इत्यादिसे ।

निःसङ्कल्पप्रवाहेण चक्रं प्रस्पन्दते यथा ।
स्पन्दस्व कर्मस्वनघ प्राक्संस्कारवशात्तथा ॥ ९ ॥
अविद्यमानचित्तस्त्वं सत्त्वसंस्कारमागतः ।
प्रवाहपतितेष्वेव स्पन्दस्व स्वेषु कर्मसु ॥ १० ॥
ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।
असङ्कल्पः परं श्रेयः स किमन्तर्न भाव्यते ॥ ११ ॥
अहो मोहस्य माहात्म्यं यदयं सर्वदुःखहा ।
चिन्तामणिर्विचाराख्यो हृत्स्थोऽपि त्यज्यते जनैः ॥ १२ ॥
अवेदनमसङ्कल्पस्तन्मयेनैव भूयताम् ।
एतावत्परमं श्रेयः स्वयमेवाऽनुभूयताम् ॥ १३ ॥

---

सब पदार्थोंके विस्मरणसे युक्त होकर प्रारब्धप्राप्त कार्योंमें आप स्थित रहिये, क्योंकि पूर्वजन्मके दृढ़ अभ्यासमात्रसे होनेवाले स्तनपान आदि कर्मोंमें अर्धसुप्त बालकके स्पन्दनके सदृश पूर्वापर-स्मृतिकी आवश्यकता नहीं रहती ॥८॥

सङ्कल्पशून्य प्रवाहसे यानी किसी प्रयोजन एवं उद्देशके बिना ही एकमात्र पूर्वके संस्कारसे कुलालका चक्र कृतकार्य होनेपर भी जबतक वेग नष्ट नहीं हो जाता तबतक जैसे भ्रमण किया ही करता है, वैसे ही हे पापशून्य श्रीरामजी, आप भी अपने कर्मोंमें पूर्वजन्मके संस्कारके वशसे चेष्टा करते रहिये ॥ ९ ॥

क्षीण चित्तसे युक्त अतएव वासनाशून्य मनके संस्कारके वेगसे अनुगत होकर हे श्रीरामजी, आप प्रवाहपतित ही अपने कर्मोंमें चेष्टा करते रहिये ॥१०॥

मैं ऊपर हाथ उठाकर बार-बार ऊँचे स्वरसे चिल्लाकर यह कह रहा हूँ, लेकिन कोई उसे सुनता ही नहीं कि सङ्कल्पत्याग ही परम श्रेयका सम्पादक है, अतः उसकी भावना तुम लोग अपने हृदयमें क्यों नहीं करते ॥ ११ ॥

अहो, इस मोहका माहात्म्य तो देखो कि यह सम्पूर्ण दुःखोंको छुड़ानेवाला विचारनामक चिन्तामणि हृदयमें स्थित रहते हुए भी सब मनुष्योंसे त्यक्त हो रहा है ॥ १२ ॥

दृश्य-दर्शनसे निर्मुक्त जो आत्मतत्त्व है वही मुख्य असङ्कल्प है। हे श्रीरामजी, आप तन्मय ही हो जाइये। यही परम श्रेय है, इसका आप स्वयं अनुभव कर लीजिये ॥ १३ ॥

किल तूष्णीं स्थितेनैव तत्पदं प्राप्यते परम् ।
परमं यत्र साम्राज्यमपि राम तृणायते ॥ १४ ॥
गम्यदेशैकनिष्ठस्य यथा पान्थस्य पादयोः ।
स्पन्दो विगतसङ्कल्पस्तथा स्पन्दस्व कर्मसु ॥ १५ ॥
सर्वकर्मफलाभोगमलं विस्मृत्य सुप्तवत् ।
प्रवाहपतिते कार्ये स्पन्दस्व गतवेदनम् ॥ १६ ॥
स्पन्दस्वाऽकृतसङ्कल्पं सुखदुःखान्यभावयन् ।
प्रवाहपतिते कार्ये चेष्टितोन्मुक्तशष्पवत् ॥ १७ ॥

---

हे श्रीरामजी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि सङ्कल्पकी चेष्टा छोड़कर एकमात्र चुपचाप स्थित रहनेसे ही वह परम पद प्राप्त हो जाता है, जहांपर यह सम्पूर्ण हिरण्यगर्भतकका भी साम्राज्य तृणकी नाईं तुच्छ बन जाता है ॥१४॥

प्राक्तन सङ्कल्पप्रयुक्त क्रियाओंके वेगसे ही वेगक्षयपर्यन्त जो व्यवहारकी सिद्धि होती है, उसमें पहले कहे गये दृष्टान्तको फिर कहते हैं—'गम्य०' इत्यादिसे ।

अपने एकमात्र गन्तव्यस्थान गृह आदिकी ओर जानेके लिए तत्पर पथिकके पैरमें स्पन्दन जैसे बिना सङ्कल्पके ही प्रतिक्षण होते रहते हैं यानी उस पथिकके पैर अपने अभीष्ट स्थानकी ओर जानेके लिए सङ्कल्परहित ही होकर बे-रोक-टोक उठते जाते हैं, वैसे ही हे श्रीरामजी, आप भी सङ्कल्पशून्य होकर ही अपने कर्मोंमें स्पन्दन करते चलिये ॥ १५ ॥

'अवेदनमसङ्कल्पस्तन्मयेनैव भूयताम्' यह जो ऊपर कहा गया है उसका व्यवहारकालमें भी उपपादन करते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, समस्त कर्म और उनके विस्तृत फलोंको, सोये हुएकी नाईं, बिलकुल भूलकर प्रवाहपतित ( प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए ) कर्मके लिए सङ्कल्पशून्य होकर स्पन्दन करते चलिये ॥ १६ ॥

जैसे स्वतः सङ्कल्पसे विर्मुक्त एक छोटा-सा तृण वायु आदिके प्रवाहमें पड़कर दूसरे तृण आदिके साथ संयोग और वियोगरूप कार्यमें स्पन्दनशील बनता है वैसे ही हे श्रीरामजी, आप भी सुख और दुःखकी कुछ भी भावना न करते हुए सङ्कल्पनिर्मुक्त होकर प्रवाहपतित अपने कार्यमें चेष्टाशील बने रहिये ॥ १७ ॥

रसभावनमन्तस्ते माऽलं भवतु कर्मसु ।
दारुयन्त्रमयस्येव परार्थमिव कुर्वतः ॥ १८ ॥
नीरसा एव ते सन्तु समस्तेन्द्रियसंविदः ।
आकारमात्रसंलक्ष्या हेमन्तर्तौ लता इव ॥ १९ ॥
बोधार्कपीतरसया स्पन्दषड्वर्गसत्तया ।
यन्त्रस्पन्दोपमस्तिष्ठ वल्ल्येव शिशिरे द्रुमः ॥ २० ॥
चिदान्तररसान्येव प्रवृत्तान्यपि धारय ।
स्वयत्नेनेन्द्रियाण्याशु हेमन्तर्तुस्तरूनिव ॥ २१ ॥

---

दूसरोंके कौतुकके लिए नृत्य आदि कर रही-सी स्थित कठपुतलीको जैसे नटके समान शृङ्गार आदि रसकी भावना नहीं होती, वैसे ही प्रारब्धप्राप्त कर्म कर रहे आपको भी हृदयके भीतर कर्मोंमें, विषयसुखमें मूर्खकी नाईं, रसकी भावना ( कौतुक बुद्धि ) बिलकुल न हो ॥ १८ ॥

समस्त इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंके अनुभव आपको ऐसे नीरस मालूम पड़ें, जैसे कि हेमन्त ऋतुमें सिर्फ अपने आकारमात्रसे दिखाई दे रही लताएँ ॥१९॥

बोधरूपी सूर्य जिसके रसका ( भावनाका ) पान कर गया है, ऐसी पञ्चकोश संवलित चिदाभास, मनसहित प्राणवर्ग, ज्ञानेन्द्रियवर्ग, कर्मेन्द्रियवर्ग, ज्ञानकर्मेन्द्रिय सहित अन्तःकरण और शरीर—इन छः स्पन्दनयुक्त षड्वर्गोंकी सत्तासे युक्त आप यन्त्रगत स्पन्दनके समान ऐसे स्थित रहिये, जैसे लतासे वेष्टित शिशिर ऋतुमें नीरस वृक्ष स्थित रहता है ॥ २० ॥

भला नीरस षड्वर्गका जीवन कैसे रह सकता है, इस आशङ्कापर कहते हैं—'चिदा०' इत्यादिसे ।

आवरणशून्य भूमानन्दस्वरूप चिति ही षड्वर्गका जीवनकी पुष्टि आदिमें हेतुभूत आन्तरिक रस है । स्वभावतः बाह्य विषय-रसोंके आस्वादमें प्रवृत्त हुए भी षड्वर्गोंको उधरसे अपने यत्नसे हटाकर उन्हें अपने जीवनकी पुष्टिमें हेतुभूत चितिरूपी आन्तरिक रसकी ओर ले जा करके ऐसे जिलाये रहिये, जैसे हेमन्तऋतु बाहरी जलके अभावमें भी अपने आन्तरिक रससे ही वृक्षोंको जिलाये रहती है ॥ २१ ॥

सरसेन्द्रियवृत्तेस्ते कुर्वतोऽकुर्वतस्तथा ।
संसारानर्थसार्थोऽयं न कदाचन शाम्यति ॥ २२ ॥
निःसङ्कल्पमरुज्ज्वालायन्त्राम्बुस्पन्दवद्यदि ।
स्पन्दसे तदनन्ताय श्रेयसे परिकल्पसे ॥ २३ ॥
एतदेव परं धैर्यं जन्मज्वरनिवारणम् ।
यदवासनमभ्यस्ता निजकर्मसु कर्तृता ॥ २४ ॥
अवासनमसङ्कल्पं यथाप्राप्तानुवृत्तिमान् ।
शनैश्चक्रभ्रमाभोग इव स्पन्दस्व कर्मसु ॥ २५ ॥
मा कर्मफलबुद्धिर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।
उभयं वा त्यजैतत्त्वमुभयं वा समाश्रय ॥ २६ ॥
बहुनाऽत्र किमुक्तेन संक्षेपादिदमुच्यते ।
सङ्कल्पनं मनो बन्धस्तदभावो विमुक्तता ॥ २७ ॥

---

इन्द्रियवृत्तियोंको विषयोंकी ओर जानेसे न रोकनेमें तथा उन्हें सरस बनाये रखनेमें क्या होगा ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'सरसे०' इत्यादिसे ।

यदि आपकी इन्द्रियवृत्तियां बाह्य विषयोंकी ओर लगी रहेंगी तथा आप उन्हें सरस बनाये रक्खेंगे, तो चाहे आप विषयोंका उपभोग करें या न करें, किन्तु आपका यह संसारके अनर्थोंका समूह तो कभी भी शान्त न होगा ॥२२॥

सङ्कल्पशून्य होकर यदि आप वायु, अग्निज्वाला, यन्त्र और जलके समान स्पन्द करते रहेंगे, तब तो आप अनन्त श्रेयके लिए समर्थ हो सकेंगे ॥ २३ ॥

जन्मरूपी ज्वरके निवारणके लिए यही सबसे बढ़कर उत्तम उपाय है कि अपने कर्मोंमें जो कर्तृत्व अभ्यस्त हो, वह वासनारहित हो ॥ २४ ॥

वासनाओं और सङ्कल्पोंसे शून्य होकर प्रारब्ध-प्राप्त कार्योंके अनुसार बर्ताव कर रहे आप चाकके ऊपर भ्रमण करनेवाले सन्निवेश ( घटादि रचनाविशेष ) की नाईं धीरे-धीरे उत्तरोत्तर उपशमशील होते हुए अपने कर्मोंमें स्पन्द करते रहिये ॥२५॥

कर्मफलमें आपकी आसक्त बुद्धि न हो और कर्मोंके त्यागमें भी आपकी आसक्ति ( कर्मत्यागके फलमें आसक्ति ) न हो । इन दोनोंका आप त्याग कर दीजिये या आप इन दोनोंका आश्रयण कीजिये । फलमें आसक्ति न करनेपर कर्म करने या छोड़ देनेमें कुछ भी विशेषता नहीं रहती ॥ २६ ॥

हे श्रीरामजी, अब इस विषयमें और अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है ।

नेह कार्यं न वा कार्यमस्ति किञ्चिन्न कुत्रचित् ।
सर्वं शिवमजं शान्तमनन्तं प्राग्वदास्यताम् ॥ २८ ॥
पश्यन् कर्मण्यकर्मत्वमकर्मणि च कर्मताम् ।
यथाभूतार्थचिद्रूपः शान्तमास्व यथासुखम् ॥ २९ ॥
अवेदनं विदुर्योगं चित्तक्षयमकृत्रिमम् ।
अत्यन्तं तन्मयो भूत्वा तथा तिष्ठ यथाऽसि भोः ॥ ३० ॥
समे शान्ते शिवे सूक्ष्मे द्वैतैक्यपरिवर्जिते ।
ततेऽनन्ते परे शुद्धे किं केन किल खिद्यते ॥ ३१ ॥
नोदेतु त्वयि सङ्कल्पो मरुभूमाविवाऽङ्कुरः ।
इच्छा नोदेतु भवति लतिकेवोपलोदरे ॥ ३२ ॥

---

संक्षेपसे मैं यही कह देता हूँ कि सङ्कल्प ही मनका बन्धन है और उसका अभाव ही है मुक्ति ॥ २७ ॥

यहाँपर न कहीं कोई कार्य है और न कहीं कोई अकार्य ( त्याज्य ) है, किन्तु सब अज, शान्त, अनन्त तथा शिवस्वरूप ब्रह्म ही है, इसलिए हे श्रीरामजी आप जैसे हैं वैसे ही स्थित रहिये ॥ २८ ॥

सांसारिक सब कार्य निष्क्रिय ब्रह्मरूप हैं और निष्क्रिय ब्रह्मभावमें स्थिति अवश्य करनी चाहिए—यों देखते हुए आप परमार्थ चैतन्यरूप होकर सुखपूर्वक शान्त बैठे रहिये ॥ २९ ॥

हे श्रीरामजी, विषयोंके विस्मरणको ही चित्तका क्षय तथा जीवब्रह्मैक्यरूप योग कहते हैं, इसलिए आप उसमें अत्यन्त तन्मय होकर जैसे हैं वैसे ही स्थित रहिये ॥ ३० ॥

स्पन्दशून्य होकर चुपचाप बैठे रहना तो एकमात्र दुःखदायक ही होगा, जैसे कि आम-वातसे जड़ बना दिया गया शरीर दुःखदायी होता है, इस शङ्काका वारण करते हैं—'समे' इत्यादिसे ।

सम, शान्त, शिव, सूक्ष्म, द्वैत एवं ऐक्यसे वर्जित, व्यापक, अनन्त और शुद्ध परब्रह्मकी प्राप्ति हो जानेपर कौन किसलिए खिन्न हो सकता है ॥ ३१ ॥

मरुभूमिमें अङ्कुरकी नाईं आपमें सङ्कल्पका उदय न हो तथा पत्थरके उदरमें लताकी नाईं आपमें इच्छा भी उदित न हो ॥ ३२ ॥

अवेदनस्य शान्तस्य जीवतो वाऽप्यजीवतः ।
नेह किञ्चित् कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनाऽपि कश्चन ॥ ३३ ॥
यत्कर्माकर्मशान्तेऽन्तः शाश्वताभेदरूपिणि ।
न कर्मणि च कर्माणि न कर्तर्यपि कर्तृता ॥ ३४ ॥
अहं ममेति संविदन्न दुःखतो विमुच्यसे ।
असंविदन्विमुच्यसे यदीप्सितं तदाचर ॥ ३५ ॥
अहं ममेति नास्त्यलं यदस्ति तच्छिवं परम् ।
परात्परं त्विदं शिवादशब्दमर्थरूपकम् ॥ ३६ ॥

सङ्कल्पशून्य शान्त पुरुषको जीवित रहते या न रहते इस संसारमें किये या न किये गये लौकिक या वैदिक कर्मसे इस लोक या परलोकके लिए कोई भी फल नहीं होता ॥ ३३ ॥

क्यों नहीं होता, इस शङ्कापर कहते हैं—'यत्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, चूँकि आप कर्म और अकर्म इन दोनोंके बाधकी अवधि हैं यानी ये दोनों आपमें एकरूपसे मिल चुके हैं, इसलिए कर्माकर्मात्मक हुए सदा अभेदरूप आपके प्रातिभासिक कर्मरूपसे विवर्तमान होनेपर भी वस्तुतः आपमें कर्मता नहीं है और प्रातिभासिक कर्तारूपसे विवर्तमान होनेपर भी वस्तुतः कर्तृता नहीं है। मेरे कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्यको कर्म और कर्तृत्व आदिमें सत्यत्वबुद्धि रहती है उसीको कर्मफल मिलते हैं, सो तो आपमें है ही नहीं ॥ ३४ ॥

यही कारण है कि देहादिमें 'अहं, मम' इस तरहका ज्ञान रखनेवालेको ही विधि और निषेध शास्त्रोंके अधिकारसे कर्मकृत बन्धन होता है, दूसरेको नहीं, यह जो पहले कहा जा चुका है, उसे ही फिर कहते हैं—'अहं मम' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, 'अहं', 'मम' ( यह मैं हूँ, यह मेरा है ) यह भावना कर रहे आप सांसारिक दुःखोंसे छुटकारा नहीं पा सकते तथा 'अहं', 'मम' यह भावना न कर रहे आप मुक्ति पा सकते हैं, अतः इनमें जो आपको अच्छा लगे वही कीजिये ॥ ३५ ॥

हे श्रीरामजी, 'अहं', 'मम' यह सर्वथा नहीं है। जो है सो केवल परम शिव ही है। भूमानन्द शिवसे अन्य यह दृश्यरूप प्रातिभासिक जगत् तो अनिर्वचनीय ( अवस्तु ) ही है ॥ ३६ ॥

यद्दृश्यते जगदिदं खलु किञ्चिदेत-
द्धेम्नोऽङ्गदत्वमिव भाति न विद्यमानम् ।
अस्य क्षयं विदुरवेदनमेव पश्चा-
त्सत्यं तदेव परमार्थमथाऽवशिष्टम् ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे इच्छादिचिकित्सायोगोपदेशो नाम प्रथमः सर्गः ॥१॥

---

## द्वितीयः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अद्वैतैक्यं विमननं शान्तमात्मन्यवस्थितम् ।
यथा पङ्कमयं सैन्यं तथा शिवमयं जगत् ॥ १ ॥

---

इसीको स्पष्टरूपसे कहते हैं—'यद्दृश्यते' इत्यादिसे ।

हे रामभद्र, जो कुछ यह जगत दिखाई दे रहा है, वह सुवर्णकी कटक, अङ्गद आदि रूपताके सदृश केवल प्रतीतिमात्र है, उसकी पृथक् सत्ता नहीं है । आत्मासे भिन्न इसका अनुभव न करना ही इसका नाश है । आत्माके अज्ञानका नाश होनेके अनन्तर अवशिष्ट दृश्य-बाधका अधिष्ठान तो ज्ञानका अविषय ही है । इसीको अनुभवी लोग सत्य, एक और परम पुरुषार्थ कहते हैं ॥ ३७ ॥

प्रथम सर्ग समाप्त

## दूसरा सर्ग

[ सम्पूर्ण जगत्में शिवमयरूपता बतलानेके बाद कर्मके बीजका अन्वेषण करके उसका समूल निवारण किया जाता है, यह वर्णन ]

'सर्वं शिवमयं शान्तमनन्तं प्राग्वदास्यताम्' ( सब अज, शान्त, अनन्त तथा शिवमय ब्रह्म ही है, इसलिए हे श्रीरामजी, आप जैसे पहले थे वैसे ही स्थित रहिये ) यह जो कहा गया है, उसका यहां उपपादन करनेके लिए पहले प्रतिज्ञा करते हैं—'अद्वैतैक्यम्' इत्यादिसे ।

मनोहङ्कारबुद्ध्यादिचित्तमेव च तन्मयम् ।
कालाकारक्रियाशब्दशक्तिसन्दर्भसंयुतम् ॥ २ ॥
शिवपङ्कमया एव रूपालोकमनःक्रमाः ।
तन्मयत्वादनन्तत्वादतः किं केन चेत्यते ॥ ३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, द्वैतता और एकतासे रहित, मननशून्य, शान्त आत्मा ही अपने पारमार्थिक स्वभावमें तत्त्व-दृष्टिसे अवस्थित है। जिस तरह मिट्टीकी सेना मिट्टीमय है उसी तरह शिवका यह सारा संसार शिवमय है ॥ १ ॥

जो-जो चितिसे भास्य है वह सब चितिका विवर्त होनेसे चिन्मय—चिति-स्वरूप—ही है, इसे चार अन्तःकरणोंमें क्रमशः दर्शाते हैं—'मनो०' इत्यादिसे।

काल, आकार, क्रिया, नाम और अर्थसे समन्वित मन, अहङ्कार, चित्त और बुद्धि आदिरूप सब चित्त चितिसे भास्य होनेके कारण चिन्मय ही* है ॥ २ ॥

इस प्रकार बाह्य इन्द्रिय, इन्द्रियोंसे जनित ज्ञान तथा ज्ञानके जो विषय हैं उनमें भी चिद्व्याप्तिप्रयुक्त ही अपरोक्ष प्रकाश है, इसलिए उनमें भी विवेकी पुरुष शिवरूपताका ही अवलोकन करते हैं, इस आशयसे कहते हैं—'शिव०' इत्यादिसे।

बाह्य रूप, रस, शब्द, स्पर्श आदिके आलोचन तथा मनके क्रम यानी बाह्य सविकल्पक हान और उपादान आदि बुद्धियाँ एवं उनके विषय सबके सब शिवरूपी पङ्कमय हैं [ यों सभी पदार्थोंको शिवरूप देखनेपर सम्पूर्ण त्रिपुटीरूपसे एकमात्र शिव ही दिखाई देता है, शिवसे अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु इस संसारमें देखनेमें नहीं आती, यह कहते हैं—'तन्मयत्वाद०' से ] चूँकि इस संसारकी सभी वस्तुएँ अनन्त शिवस्वरूप पङ्क ही हैं, इसलिए कौन किससे प्रकाशित होता है ॥ ३ ॥

*सबसे पहले यह जान लेना चाहिए कि चितिका चेत्य ( विषय ) की ओर उन्मुख होना-रूप जो मनन है वह चितिसे व्याप्त ही है। तदनन्तर विषयोंका अभिमान, अध्यवसाय, स्मरण, काम और सङ्कल्प आदि जो वृत्तियाँ उदित होती हैं वे भी चितिसे व्याप्त ही उदित होती हैं, यह सर्वानुभवसिद्ध है। तथा चिति और चेत्यका सम्बन्धरूप काल, विषयोंका आकार, उसकी क्रिया—इस प्रकार नाम और अर्थके सहित जो सम्पूर्ण अन्तःकरणका संसरण है वह भी साक्षात् साक्षीसे वेद्य होनेके कारण शिवमय ही है, यह प्रत्येक विद्वान्‌को जान लेना चाहिए।

मातृमेयप्रमाणादि देशकालौ दिगादि च ।
भावाभावविवर्तादि शिवपङ्कमयात्मकम् ॥ ४ ॥
अहं ममेत्यतः सारान्नेतरत्परमेश्वरात् ।
असंसक्तमतिस्तिष्ठ हा शिलोदरमौनवत् ॥ ५ ॥

श्रीराम उवाच

अहं ममेत्यसद्रूपं ज्ञस्याऽभावयतः प्रभो ।
अशुभं कर्मणां त्यागादनुष्ठानाच्च किं शुभम् ॥ ६ ॥

---

इसीको फिर स्पष्टरूपसे बतलाते हैं—'मातृ०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण, देश, काल, दिशा आदि तथा भाव और अभाव आदि विवर्त, ये सबके सब शिवपङ्कमयात्मक ही हैं ॥ ४ ॥

'अहं' और 'मम' ( मैं और मेरा ) इन दो रूपोंसे ही सम्पूर्ण विवर्तोंका संग्रहकर फिर 'ये सभी वस्तुएँ चितिसे व्याप्त हैं' इस तरहसे उनमें चिति-व्याप्तिकी भलीभाँति आलोचना करनेपर एकमात्र चितिके ही साररूपसे बच जानेके कारण उसमें स्थिति सुलभ हो जाती है, इसी अभिप्रायसे कहते हैं—'अहं ममे०' इत्यादिसे ।

चूँकि हे श्रीरामचन्द्रजी, सारभूत परमेश्वरसे भिन्न 'अहं' 'मम' इत्यादि विवर्त कुछ भी नहीं है, इसलिए संसक्तमति न होते हुए यानी स्त्री, पुत्र आदि विषयोंमें तनिक भी आसक्ति न रखते हुए आप शिलाके उदरमें प्रसिद्ध वाणी आदि चेष्टाशून्य मौनके समान स्थित* रहिये ॥ ५ ॥

अनन्त कोटि जन्मोंके सञ्चित पाप और पुण्यरूपी कर्मोंका अपरोक्षरूपसे भान न होनेके कारण शिवमयतावलोकन द्वारा बाध सिद्ध तो हो नहीं सकता, इसलिए अन्ततोगत्वा जबतक मृत्यु न हो जाय तबतक चेष्टाशून्य होकर रहनारूप ही उनका त्याग एकमात्र उनके निवारणमें उपाय है, क्योंकि ज्ञानी पुरुषको कर्म करनेसे न तो कोई फल मिलनेकी अपेक्षा है और न नित्य एवं नैमित्तिक कर्मोंके त्यागसे प्रत्यवाय लगनेकी ही आशा है, जिससे कि चुपचाप स्थित रहना उससे न हो सकेगा, ऐसी सम्भावना करके श्रीरामजी पूछते हैं—'अहम्' इत्यादिसे ।

---

* क्योंकि अपरोक्ष चितिकी व्याप्तिके ही द्वारा नाम और रूपात्मक समस्त प्रपञ्च शिवस्वरूप है, ऐसा निर्णय कर बाध द्वारा उस स्वरूपमें अनायास अवस्थिति हो सकती है ।

वसिष्ठ उवाच

पृच्छामि यदहं तत्त्वं कथयाऽऽशु ममाऽनघ ।
यदि जानासि तत्त्वेन कर्म तावत्किमुच्यते ॥ ७ ॥
विस्तारः कर्मणः कीदृङ् मूलं तस्य च किं भवेत् ।
नाशनीयं च निपुणं कथं कथय नाश्यते ॥ ८ ॥

श्रीराम उवाच

यन्नाशनीयं निपुणं तन्नूनं च विनाश्यते ।
मूलकाषेण भगवन्न शाखादिविकर्तनैः ॥ ९ ॥

---

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे प्रभो, 'अहं', 'मम' इत्यादि दृश्यसमूहकी असद्रूपसे भावना कर रहे ज्ञानी पुरुषको कर्मोंके त्यागसे क्या अशुभ होता है तथा उनके अनुष्ठानसे क्या शुभ होता है ॥ ६ ॥

सचमुच आपका नैष्कर्म्य सिद्ध हो जाय, यदि अज्ञानरूप मूलके साथ आप कर्मोंका त्याग कर सकें । परन्तु मूलका त्याग करना तो अत्यन्त ही कठिन है, यह दिखलानेके लिए महाराज वसिष्ठजी—श्रीरामचन्द्रजी मुझसे 'कर्मोंका मूल क्या है' इसका निश्चय कर पूछ रहे हैं या यों ही पूछ रहे हैं—इसकी परीक्षा करनेके लिए हे श्रीरामजी, आपने कर्मोंका स्वरूप कैसा निश्चित किया है, उनका फलात्मक विस्तार कैसा है, उनका मूल क्या है, उनमें नाशयोग्य अंश और उसका उपाय आपने कैसा निश्चित किया है—यह पूछते हैं—'पृच्छामि' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे निष्पाप श्रीरामजी, जो मैं आपसे पूछ रहा हूँ उसे शीघ्र कहिये । यदि वास्तवमें आप जानते हों, तो कहिये, कर्म किसे कहते हैं ॥ ७ ॥

कर्मका विस्तार कैसा है, उसका मूल क्या है और उसके किस अंशका नाश किया जाता है ? यानी उसका नाशनीय अंश कौन है ? और वह किस तरह नष्ट होता है । यह भी अच्छी तरह कहिये ॥ ८ ॥

श्रीरामजीने कहा—हे भगवन्, जो नाशनीय अंश है, उसका भलीभांति मूलोच्छेदपूर्वक नाश कर देना चाहिए, केवल शाखा आदिको कतरकर नहीं ॥९॥

शुभाशुभं नाशनीयं स्वकर्म खलु धीमता ।
मूलकाषविनाशेन तच्च नष्टं भवत्यलम् ॥ १० ॥
कर्मवृक्षस्य वक्ष्यामि ब्रह्मन् मूलानि मे शृणु ।
यन्निकाषेण निर्मूलो न स भूयः प्ररोहति ॥ ११ ॥
देहस्तावदयं ब्रह्मन्कर्मवृक्षः समुत्थितः ।
रूढः संसारविपिने विचित्राङ्गलताश्चितः ॥ १२ ॥
कर्म बीजं तरोरस्य सुखदुःखफलावलेः ।
क्षणतारुण्यकान्तस्य जराकुसुमहासिनः ॥ १३ ॥
मुहूर्तं प्रति कालोग्रमर्कटध्वंसिताकृतेः ।
निद्राहेमन्तजठरलीनस्वप्नदलोद्गतेः ॥ १४ ॥

कर्मका स्वरूप और उसके नाशका प्रकार, जो अपनेको अभिप्रेत है, श्रीरामजी बतलाते हैं—'शुभाशुभम्' इत्यादिसे ।

बुद्धिमान् पुरुषको उचित है कि वह अपने पुण्य और पापरूप कर्मोंको नष्ट कर दे और मूल उखाड़ कर नाश कर देनेसे वे बिलकुल नष्ट भी हो सकते हैं ॥१०॥

तीसरे प्रश्नका उत्तर कहते हैं—'कर्मवृक्षस्य' इत्यादिसे ।

हे ब्रह्मन्, कर्मरूपी वृक्षके मूल मैं आपसे कहता हूँ, आप सुनिये । जिनको उखाड़ फेंकनेसे निर्मूल होकर यह वृक्ष फिर नहीं पनपता ॥ ११ ॥

इस लोकके कर्मका मूल शरीर ही पूर्वजन्मके कर्मका विस्ताररूप भी होता है, इस दूसरे प्रश्नका भी शरीरका ही कर्मवृक्षरूपसे वर्णन करके समाधान देते हैं—'देहस्तावद०' इत्यादिसे ।

हे ब्रह्मन्, संसाररूपी विपिनमें रोपा गया यह शरीर ही कर्मवृक्षरूपसे उत्पन्न है । यह कर्मरूपी वृक्ष विचित्र हाथ, पैर आदि अङ्गरूपी शाखाओंसे विराजमान है ॥ १२ ॥

सुख-दुःखरूपी नानाविध फलोंकी पङ्क्तियोंसे समन्वित इस वृक्षका पूर्वजन्ममें किया गया भला या बुरा कर्म ही बीज है । क्षणिक तरुण अवस्थासे यह कमनीय दिखाई देता है और वृद्धावस्थारूपी फूलोंसे हँसता है ॥ १३ ॥

प्रत्येक क्षणमें कालरूपी उग्र बन्दर हर्ष, विषाद, रोग, जरा आदि विकारकी चेष्टाओंके द्वारा इसकी आकृतिको नष्ट करता है । निद्रारूपी हेमन्त ऋतुके जठरमें इसके स्वप्नरूपी पत्तोंके निगम सङ्कुचित हुए रहते हैं ॥ १४ ॥

स्ववार्धकशरच्छान्तशीर्णेहापर्णसन्ततेः ।
जगज्जङ्गलजातस्य कलत्रोपतृणावलेः ॥ १५ ॥
पल्लवावयवा हस्तपादपृष्ठादयोऽरुणाः ।
पत्राणि तनुवृत्तानि सुरेखाणि चलानि च ॥ १६ ॥
अरुणाः पवना लोला मृद्व्यो मसृणमूर्तयः ।
स्नाय्वस्थिदिग्धसरसा अङ्गुल्यो बालपल्लवाः ॥ १७ ॥
मृद्व्यो मसृणतीक्ष्णाग्रा वृत्ता रूढाः पुनः पुनः ।
द्वितीयेन्दुकलाकाराः कलिका नखपङ्क्तयः ॥ १८ ॥
कर्मणः परिफुल्लस्य देहरूपतयेति हि ।
कर्मेन्द्रियाणि मूलानि दष्टानि ग्रन्थिमन्ति च ॥ १९ ॥
स्थिरास्थिग्रन्थिनद्धानि पङ्कमग्नात्मकानि च ।
वासनारसपीतानि निजरक्तरसानि च ॥ २० ॥

---

अपनी वृद्धावस्थारूपी शिशिर ऋतुके अन्तमें इसके चेष्टारूप पत्तोंके समूह शान्त और शीर्ण हो जाते हैं। जगत्-रूपी जङ्गलमें उत्पन्न हुए इस वृक्षके समीपमें स्त्री, पुत्र आदि पोष्यवर्गरूपी बहुत-से तृण पैदा हुए हैं ॥ १५ ॥

हाथों और पैरोंके पिछले हिस्से तथा ओष्ठ, कान और जीभ आदि इसके लाल-लाल कोमल पल्लवरूप अवयव हैं और हाथों एवं पैरोंके तलवे कुछ कठोर होनेसे कम लालिमा लिये हुए इसके छकु गोल तथा सुन्दर रेखाओंसे युक्त चञ्चल पत्ते हैं ॥ १६ ॥

भीतरमें स्थित नाडियों तथा हड्डियोंसे लिप्त होनेके कारण सुन्दर, कोमल और चिकनी मूर्ति लाल अङ्गुलियां ही इसके वायुसे कम्पित हो रहे बालपल्लव हैं ॥१७॥

काटनेपर भी पुनः पुनः उत्पन्न होनेवाली कोमल, चिकनी, तीक्ष्ण अग्रभागोंसे युक्त दूजकी चन्द्रकलाके आकारवाली इसकी नखपङ्क्तियां ही गोल-गोल कलियां हैं ॥ १८ ॥

इस तरह देहवृक्षरूपसे उत्पन्न हुए पूर्वजन्मके कर्मकी कर्मेन्द्रियां ही मूल हैं। [ इनमें वृक्षमूलके धर्म दिखलाते हैं—'दष्टानि'से ] इनमें जो छिद्रोंसे युक्त हैं, वे तो आसङ्ग-कामादिरूपो साँपोंसे डसे गये हैं और जो बिना छिद्रोंके हैं उनमें भी बड़ी-बड़ी गांठें पड़ गई हैं ॥ १९ ॥

हे भगवन्, दृढ़ हड्डियोंकी गाँठोंसे बँधी, नाड़ियोंमें भरे गये अन्नरसोंमें डूबी

गुल्फवन्ति दृढाङ्गानि सुत्वश्चि मसृणानि च ।
तेषामपि च मूलानि विद्धि बुद्धीन्द्रियाणि हि ॥ २१ ॥
सुदूरमपि जातानि पञ्चस्तम्बानि तानि तु ।
वासनापङ्कमग्नानि रसवन्ति महान्ति च ॥ २२ ॥
तेषां मूलं बृहत्स्तम्भं मनो व्याप्तजगत्त्रयम् ।
पञ्चस्रोतःशिराकृष्टमुक्तानन्तरसद्रवम् ॥ २३ ॥
तस्य मूलं विदुर्जीवं चेत्योन्मुखचिदात्मकम् ।
चेत्यस्य चेतनं मूलं सर्वमूलैककारणम् ॥ २४ ॥
चितेस्तु ब्रह्म मूलं यत्तस्य मूलं न विद्यते ।
अनाख्यत्वादनन्तत्वाच्छुद्धत्वात्सत्यरूपिणः ॥ २५ ॥
सर्वेषां कर्मणामेवं वेदनं बीजमुत्तमम् ।
स्वरूपं चेतयित्वाऽन्तस्ततः स्पन्दः प्रवर्तते ॥ २६ ॥

---

हुईं, वासनारूपी रसको पी जानेवाली तथा अपने रक्तरूप रससे परिपूर्ण; एँड़ीके ऊपरकी गांठसे युक्त, दृढ़ अङ्गोंवाली, सुन्दर त्वचाओंसे समन्वित और चिकनी उन कर्मेन्द्रियोंके भी मूल आप ज्ञानेन्द्रियोंको जानिये ॥ २०,२१ ॥

ज्ञानेन्द्रियां देहसे बाहर बहुत दूर विषयप्रदेशोंमें जाकर भी विषयोंको पकड़ लेनेमें अत्यन्त समर्थ हैं, नेत्रगोलक आदि पांच तरहके स्थानोंमें वे आश्रित हैं और अपने-अपने विषय-वासनारूपी कीचड़में निमग्न अतएव वासनायुक्त हैं तथा उन्हें निगृहीत करना शक्य नहीं है—काबूके बाहर है ॥ २२ ॥

उन ज्ञानेन्द्रियोंका भी महान् स्तम्भयुक्त मूल यह मन है, इसने तीनों लोकको व्याप्त कर रक्खा है तथा यही अनन्त रूपादि रसद्रवोंको पांच ज्ञानेन्द्रियोंके स्रोतरूपी नाडियोंके द्वारा खींचकर उनका उपभोग कर लेनेके बाद फिर उन्हें फेंक देता है ॥ २३ ॥

हे भगवन्, उस मनका मूल तत्त्वज्ञानी लोग चेत्य ( विषय ) की ओर उन्मुख हुए चिदात्मक जीवको (चिदाभासको) कहते हैं। चेत्यांशका मूल अविद्या-शबल ( मायाशबल ) चिति है। उस चिदाभासरूप चितिका भी मूल बिम्बभूत ब्रह्म है, जो सब मूलोंका एक कारण है। हे ब्रह्मन्, चूँकि वह अशब्द, अनन्त, शुद्ध और सत्यस्वरूप है, इसलिए उस ब्रह्मका कोई दूसरा मूल नहीं है ॥२४,२५॥

हे महर्षे, इस तरह सम्पूर्ण कर्मोंका मूल विषयोंकी ओर उन्मुख हुई चिति

मुने चेतनमेवाऽऽद्यं कर्मणां बीजमुच्यते ।
तस्मिन्सति महाशाखो जायते देहशाल्मलिः ॥ २७ ॥
एतच्चेतनशब्दार्थभावनावलितं यदि ।
तत्कर्मबीजतामेति नो चेत्सत्परमं पदम् ॥ २८ ॥
चितिश्चेतनशब्दार्थभावनावलिता यदि ।
तत्कर्मबीजतामेति नो चेदाद्यं परं पदम् ॥ २९ ॥
तस्माद्वेदनमेवेह कर्मकारणमाकृतेः ।
यदेतत्कर्मणां प्रोक्तं त्वयैवोक्तं मुनीश्वर ॥ ३० ॥

---

ही है। वह अहङ्कारादिके साथ तादात्म्यापन्न होकर 'मैं ही सब कुछ करती हूँ' यों कर्ताके स्वरूपकी भावना करके क्रियात्मक स्पन्द बनकर उसके फलके लिए प्रवृत्त होती है ॥ २६ ॥

हे मुने, सब कर्मोंका आदि बीज यह जीवचेतन ही है, क्योंकि उसके रहनेपर ही यह बड़ी-बड़ी टहनियोंवाला शरीररूपी सेमलका वृक्ष पैदा होता है ॥ २७ ॥

यह जीवचैतन्य जिस समय अहङ्कार आदिसे युक्त 'मैं ही चेतन कर्ता हूँ' इस तरहकी उद्बुद्ध हुई शब्दार्थभावनासे समन्वित होता है उसी समय कर्मोंकी बीजताको प्राप्त होता है, अन्यथा यह अपने सत् परम पदरूपसे ही स्थित रहता है ॥ २८ ॥

फिर इसीको स्पष्टरूपसे कहते हैं—'चिति०' इत्यादिसे ।

यह जीवचेतन जब चेतनशब्दार्थकी भावनासे यानी चैतन्यात्मक मैं ही सब कुछ करता हूँ—इस तरहकी भावनासे वेष्टित होता है तब कर्मोंकी बीजताको प्राप्त होता है, अन्यथा अपने परम सद्रूप पदसे स्थित रहता है ॥ २९ ॥

उक्त अर्थकी प्रामाणिकताकी सिद्धिके लिए गुरुवाक्यको ही प्रमाणरूपसे उपस्थित करते हुए श्रीरामचन्द्रजी अब उपसंहार करते हैं—'तस्माद्' इत्यादिसे ।

इसलिए हे मुनीश्वर, अपने शरीर आदिमें अहंरूपताके आकारकी भावना ही इस संसारमें सब कर्मोंकी कारण है । यह जो मैंने कर्मोंका मूल आपसे कहा है, सो आपने ही पहले मुझसे कहा था, अतः आपके वचनका अवलम्बन करके ही मैंने यह सब आपसे कहा है ॥ ३० ॥

वसिष्ठ उवाच

अस्य राघव सूक्ष्मस्य कर्मणो वेदनात्मनः।
कस्त्यागः किमनुष्ठानं यावद्देहमिति स्थितम् ॥ ३१ ॥
यच्चेत्यतेऽनु तेनाऽऽशु बहिरन्तश्च भूयते।
सत्याकारमसत्यं वा भवत्वाहितविभ्रमम् ॥ ३२ ॥
न चेत्यते चेत्तदलं भ्रमादस्माद्विमुच्यते।
भ्रमः सत्योऽस्त्वसत्यो वा किं विचारणयाऽनया ॥३३॥
एतच्चेतनमेवाऽन्तर्विकसत्युद्भवभ्रमैः।
वासनेच्छामनःकर्मसंकल्पाद्यभिधात्मभिः ॥ ३४ ॥
प्रबुद्धस्याऽप्रबुद्धस्य देहिनो देहगेहके।
आदेहं विद्यते चित्तं त्यागस्तस्य न विद्यते ॥ ३५ ॥

---

हे श्रीरामजी, यह जो आपने कर्मोंका मूल मुझे सुनाया है, इसका त्याग चुपचाप बैठे रहने या देहका त्याग कर देनेसे नहीं हो सकता है और न तो कर्मोंकी निवृत्ति ही आपके द्वारा दिखलाये गये मार्गसे हो सकती है, इस अभिप्रायसे महाराज वसिष्ठजी कहते हैं—'अस्य' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे राघव, जबतक देहरूप उपाधि उपस्थित है तबतक वेदनात्मक इस सूक्ष्म कर्मका क्या त्याग और क्या अनुष्ठान हो सकता है ॥ ३१ ॥

देहके विद्यमान रहते बाह्य और आभ्यन्तर दृश्योंके अध्यासको दूर करना अत्यन्त ही कठिन है, यह कहते हैं—'यच्चे०' इत्यादिसे।

देह रहते बाह्य और आभ्यन्तर जिस-जिसकी यह जीवचेतन भावना करता है उसी रूपका यह शीघ्र हो जाता है, चाहे वह सत्याकार हो या विभ्रमसे भरा हुआ बिलकुल असत्य ही क्यों न हो ॥ ३२ ॥

यदि भावना नहीं करता, तो यह अच्छी तरह इस संसारके भ्रमसे मुक्त हो जाता है। वह भ्रम सत्य हो या असत्य, इस विचारसे प्रयोजन क्या है ॥ ३३ ॥

यह जीव चेतन ही वासना, इच्छा, मन, कर्म, सङ्कल्प आदि नामवाले औपाधिक उत्पन्न भ्रमोंसे अपने अन्दर संसाररूपसे विकसित होता है ॥ ३४ ॥

तब तो प्रतिबिम्बकी हेतु चित्तरूप उपाधिका ही प्रबोधसे निरास करना चाहिए, इस शङ्कापर कहते हैं—'प्रबुद्धस्या०' इत्यादिसे।

जीवतां तस्य संत्यागः कथं नामोपपद्यते ।
केवलं कर्मशब्दार्थभावनाभावने सति ।
कर्माकर्मत्वमुत्सृज्य स्वयमेव भवत्ययम् ॥ ३६ ॥
असंभवति संत्यागे कर्मणो यः करोति हि ।
इदं कर्तव्यतात्यागं न किञ्चित्तेन तत् कृतम् ॥ ३७ ॥
बोधाद्दिदन्तासंवित्तेः स्वयं विलयनात्तु यत् ।
जगतस्तं विदुस्त्यागमसङ्गं मोक्षमेव च ॥ ३८ ॥
वेदनं सति संवेद्ये सर्गादावेव वेद्यदृक् ।
नोत्पन्ना विद्यते नैव तस्मात्किं क्वेव वेदनम् ॥ ३९ ॥

---

देहरूपी घरके भीतर स्थित प्रबुद्ध हुए या अप्रबुद्ध हुए इस जीवका देह-पर्यन्त चित्त रहेगा ही, उसका त्याग हो नहीं सकता ॥ ३५ ॥

जीवन धारण कर रहे प्राणियोंके चित्तका भला कैसे त्याग हो सकता है। इसलिए चुपचाप बैठे रहने या देहके त्यागसे सब कर्मोंका कभी त्याग नहीं हो सकता, किन्तु यथाप्राप्त सब व्यवहारोंको करते समय भी 'असङ्ग, अद्वितीय, कूटस्थ चिन्मात्रस्वरूप मैं कुछ भी नहीं करता', इस निष्क्रिय आत्मस्वभावकी स्थितिसे कर्मशब्दार्थकी भावनाके उत्पन्न न होनेपर यत्नके बिना भी कर्म और अकर्मरूपताका विकल्प छूट जानेसे यह कर्म-त्याग स्वयं ही हो जाता है ॥ ३६ ॥

इससे भिन्न किसी दूसरे मार्गसे कर्मका त्याग अत्यन्त कठिन है, यह कहते हैं—'असम्भवति' इत्यादिसे ।

इससे अन्य दूसरे कर्मत्यागका संभव न होनेपर जो केवल अपने शरीरसे कर्तव्यता त्यागरूप ( शास्त्रविहित या लौकिक कर्मोंको छोड़कर चुपचाप बैठनारूप त्याग ) करता है, उसके द्वारा यह कुछ भी नहीं किया गया समझना चाहिए ॥ ३७ ॥

बोध होनेके बाद दृश्य-प्रतिभासका स्वयमेव लय होनेसे जो जगत्का अत्यन्ताभाव होता है उसीको असङ्ग त्याग और मोक्ष भी कहते हैं ॥ ३८ ॥

बोधसे तो वेद्यका ही बाध होता है, वेदनका नहीं, फिर उसका बाध कैसे कहते हैं, यदि यह कोई आशङ्का करे, तो उसपर कहते हैं—'वेदनम्' इत्यादिसे ।

वेद्योन्मुखत्वं संत्यज्य रूपं यद्वेदनस्य वै।
न वेदनं तन्नो कर्म तच्छान्तं ब्रह्म कथ्यते ॥ ४० ॥
चेतनं प्रोच्यते कर्म संसृत्याभ्रविकासितम्।
अचेतनं विदुर्मोक्षं ज्ञं प्रत्येवोपदेशगीः ॥ ४१ ॥
त्यागो हि कर्मणां तस्मादादेहं नोपपद्यते।
यैस्तु संपूज्यते कर्म तन्मूलं तैर्न मुच्यते ॥ ४२ ॥

वेद्य ( विषयों ) के रहनेपर ही वेदन होता है। किन्तु यदि सृष्टिके आदिमें ही वेद्यदृष्टि उत्पन्न नहीं हुई, तो फिर वह वर्तमानकालमें तो नहीं है ही। इसलिए क्या और कहां वेदन है * ॥ ३९ ॥

चिदाभासतारूप वेद्योन्मुखताका परित्याग कर जो वेदनका शुद्ध चिदात्मक रूप अवशिष्ट रहता है वह द्वैतवेदन नहीं है, क्योंकि वह कर्म-क्रिया नहीं है, जिससे कि 'विद्' धातुसे भावमें 'ल्युट्' प्रत्यय करनेपर जो 'विद्' धातुका अर्थ होता है वह हो। किन्तु वह शान्त ब्रह्म ही है, ऐसा तत्त्वज्ञानी लोग कहते हैं ॥ ४० ॥

चिदाभासात्मक जो चेतन है वह तो कर्म-क्रियारूप ही कहा गया है, क्योंकि बुद्धि आदिके व्यापार द्वारा जल आदिमें प्रतिबिम्बित आकाशकी नाईं वह विकासको प्राप्त हुआ है। यही कारण है कि अनुभवी विद्वान् लोग मोक्षको चिदाभासशून्य ही कहते हैं। उन लोगोंकी विवेकी शिष्यके प्रति इसी तरहकी उपदेशवाणी सुनाई देती है ॥ ४१ ॥

इस तरह यह सिद्ध हो गया है कि जबतक यह शरीर खड़ा है तबतक सुख-पूर्वक व्यवहार होता ही रहेगा, इसी आशयसे कहते हैं—'त्यागः' इत्यादिसे।

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, जबतक यह शरीर खड़ा है तबतक कर्मोंका त्याग नहीं हो सकता। जो लोग कर्मोंकी पूजा करते हैं वे लोग उसके मूलको नहीं छोड़ते ॥ ४२ ॥

* तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें वेद्यदृष्टि ( विषयदृष्टि ) न तो उत्पन्न हुई है और न विद्यमान ही है, क्योंकि उपाधिका बाध होनेपर चिदाभासकी अलग स्थिति नहीं रहती, यह भाव है।

मूलं स्वकर्मणः संविन्मनसो वासनात्मनः ।
सा चाऽऽदेहं समुच्छेत्तुमृते बोधान्न शक्यते ॥ ४३ ॥
राम केवलमेषाऽन्तः कर्ममूलकरा परा ॥ ४४ ॥
सूक्ष्मसंविदसंवित्त्या स्वयत्नेन निकृन्त्यते ।
येन संविदसंवित्त्या स्वयत्नेन विचार्यते ॥ ४५ ॥
तेन संसृतिवृक्षस्य मूलकाषो वितन्यते ॥ ४६ ॥

अचेतनाकाशमनन्यदेकं
तदेवमस्ति त्विदमर्थहीनम् ।
तद्व्योमरूपं यत एतदेवं
निरामयं चेतनसारमाहुः ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे कर्मबीजदाहयोगोपदेशो नाम द्वितीयः सर्गः ॥२॥

---

अपने कर्मका मूल वासनात्मक मनसम्बन्धी चिदाभास संवित् ही है । उसका उच्छेद जबतक यह शरीर है तबतक ज्ञानके बिना हो नहीं सकता ॥ ४३ ॥

हे श्रीरामजी, यही चिदाभाससंवित् भीतर अन्य कर्मोंके मूल काम, वासना आदिको पैदा करनेमें तत्पर और श्रेष्ठ है ॥ ४४ ॥

इसलिए मेरे द्वारा कहा गया ही सबसे बढ़िया कर्मत्यागमें उपाय है, इस आशयसे कहते हैं—'सूक्ष्म०' इत्यादिसे ।

जो तत्त्वज्ञानी चिदाभासरूपा संवित्को मूलाज्ञानके साथ अपने यत्नसे तत्त्वको समझकर स्वरूपसे च्युत कर देता है वह उससे उत्पन्न तत्-तत् दृश्यदर्शनरूप वृत्त्यवच्छिन्न चिदाभासात्मक सूक्ष्म संवित्को अप्रतिसन्धानरूप मूलबाधक अपने यत्नसे ही काट देता है अर्थात् उसे काटनेके लिए पृथक् प्रयत्नकी अपेक्षा नहीं है ॥ ४५ ॥

जो चिदाभासको शुद्ध आत्मदृष्टिसे विचार कर विचलित कर देता है वह संसाररूपी वृक्षका तत्त्वज्ञानके द्वारा सर्वबाधरूपी मूलोच्छेद कर डालता है ॥४६॥

हे श्रीरामजी, चूँकि चितिके आभाससे रहित, सजातीय और विजातीय भेदोंसे

## तृतीयः सर्गः

श्रीराम उवाच

अवेदनं वेदनस्य मुनीन्द्र क्रियते कथम् ।
नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ।
यदा तदैव सुकरं वेदनावेदनं स्वयम् ॥ २ ॥

---

शून्य, दृश्य पदार्थोंसे हीन जो एक आकाश है वह तत्त्वदृष्टिसे ब्रह्मरूप ही है, इसलिए ब्रह्मज्ञानी लोग उसीको हम सब चेतनोंका सार ( पारमार्थिक रूप ) कहते हैं ॥ ४७ ॥

दूसरा सर्ग समाप्त

——०——

## तीसरा सर्ग

[ द्वैतका अत्यन्त बाध हो जानेपर विद्वानोंको जिस उपायसे आत्मतत्त्व अवेदनरूप और निष्क्रिय सिद्ध होता है, उस उपायका वर्णन ]

'अवेदनं विदुर्मोक्षम्' इत्यादि पूर्ववचनसे जो कहा गया है उस विषयमें श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—'अवेदनम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामजीने कहा—हे मुनीन्द्र, जो वेदन ( ज्ञान ) पदार्थ है उसे अवेदन-रूप कैसे बनाया जा सकता है । न तो असद्वस्तुकी सत्ता हो सकती है और न सद्वस्तुका अभाव हो सकता है [ यद्यपि 'वेद्योन्मुखत्वं संत्यज्य' इत्यादिसे अवेदन-शब्दार्थका निरूपण हो जानेसे श्रीरामभद्रको यह शङ्का नहीं होनी चाहिए, तथापि 'येन संविदसंवित्या' इस कथनसे वेदननाश ही असंवेदन कहा गया है, यह बात 'तच्छान्तं ब्रह्म कथ्यते' इस वाक्य द्वारा प्रतिपादित अवेदनकी ब्रह्मरूपता नहीं घटती, क्योंकि सत् असत् नहीं हो सकता, इसलिए शङ्काका अवसर है ] ॥१॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, जिस समय यह सिद्धान्त मान लिया जाय कि असत् वस्तुकी उत्पत्ति और सद्वस्तुका विनाश नहीं होता, उस दशामें वेदनको अवेदन बनाना स्वयं ही सुलभ हो जाता है ॥ २ ॥

एतौ वेदनशब्दार्थौ रज्जुसर्पभ्रमोपमौ ।
असत्यावुदितौ विद्धि मृगतृष्णाम्भसा समौ ॥ ३ ॥
अबोधस्त्वनयोः श्रेयान् बोधो दुःखाय चैतयोः ।
तस्मात्सदेव बुद्ध्यस्व माऽसद्बुद्ध्यस्व राघव ॥ ४ ॥
जन्तोर्वेदनशब्दार्थबोधो दुःखकरः परः ।
निष्कृत्य ज्ञप्तिशब्दार्थबोधं तिष्ठ यथास्थितम् ॥ ५ ॥
सर्वावबोधावसरे ज्ञप्तिशब्दार्थयोरिह ।
निर्वाणोदय इत्येव परमोमिति शाम्यताम् ॥ ६ ॥
शुभाशुभात्मकर्म स्वं नाशनीयं विवेकिना ।
तन्नास्तीत्यवबोधेन तत्त्वज्ञानेन सिध्यति ॥ ७ ॥

---

संसारदशामें प्रसिद्ध यह वेदनशब्द और इसका अर्थ ये दोनों एक तरहसे रज्जुसर्पभ्रमके सदृश मिथ्या हैं । मिथ्यासामग्रीसे मिथ्यारूप उत्पन्न हुए हैं और मृगतृष्णाजलके सदृश ये केवल दिखाई देते हैं ॥ ३ ॥

हे राघव, वेदनशब्द और उसके अर्थका न जानना उत्तम है तथा उनका ज्ञान होना दुःख है, इसलिए आप अविनाशी तटस्थ आत्मस्वरूपको जानिये और त्रिपुटीभानके अन्तर्गतवृत्तिसे युक्त चेतनके आभासको आत्मरूप मत समझिये ॥४॥

प्राणीके लिए सबसे बढ़कर दुःख पैदा करनेवाला वेदनशब्द और उसका अर्थ जानना है, इसलिए वेदनशब्द और उसके अर्थका परिज्ञान समूल नष्ट कर अपने असल स्वरूपमें अवस्थित रहिये ॥ ५ ॥

व्यवहारकालमें उसका उच्छेद किस तरह करना चाहिए, इसपर कहते हैं—'सर्वावबोधा०' इत्यादिसे ।

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप त्रिपुटीभान जिस समय होता है, उस समय जो व्यावहारिक ज्ञानरूप शब्द और उसका अर्थ प्राप्त होता है उन दोनोंकी यथा-योग्य सर्वार्थरूप कूटस्थ चैतन्य तथा सर्वशब्दरूप 'ओम्' शब्दमें लक्षणाकर कूटस्थ चैतन्यमात्र ही आत्मा है और यही मोक्षका आविर्भाव है, यों सुदृढ़ निश्चय कर ज्ञानी पुरुष समस्त विक्षेपात्मक प्रपञ्चोंका परित्याग कर व्यवहार करे ॥ ६ ॥

इस प्रकारके ज्ञानरूप व्यवहारसे ही ज्ञानीको पूर्वोत्तर शुभाशुभ कर्मोंका

कर्ममूलनिकाषेण संसारः परिशाम्यति ।
सुविचारितमन्विष्टं यावत् कर्म न विद्यते ॥ ८ ॥

चिद्रूपो बिल्वमज्जान्तश्चित्तसंज्ञां यदात्मनि ।
करोति तद्यथा बिल्वान्न स्वल्पमपि भिद्यते ॥ ९ ॥

न यथा सन्निवेशान्तः सन्निवेशस्ततः पृथक् ।
तथा नभोर्थादि पृथङ् न परस्मान्मनागपि ॥ १० ॥

यदेवाऽम्भस्तदेवाऽन्तर्द्रवत्वमपृथग्यथा ।
चित्त्वमेव तथा चित्तं तद्रूपत्वात्तदर्थयोः ॥ ११ ॥

---

सम्बन्ध नहीं होता और उनका विनाश भी हो जाता है, यह कहते हैं—'शुभा०' इत्यादिसे ।

विवेकी पुरुषको अपना शुभाशुभ कर्म विनष्ट कर देना चाहिए । यह विनाश 'शुभाशुभ कर्मोंका आत्माके साथ तनिक भी किसी समय सम्बन्ध नहीं है', इस प्रकारके बोधरूप तत्त्वज्ञानसे स्वयं सिद्ध हो जाता है ॥ ७ ॥

मूलसहित कर्मोंका विनाश करनेसे संसार अशेषरूपसे शान्त हो जाता है । जब कि आत्मतत्त्व भलीभाँति विचारित एवं प्रत्यक्ष किया जाता है तब समूल कर्मोंका विनाश हो जाता है ॥ ८ ॥

जैसे बिल्वकी मज्जा भीतर बीज आदिका निर्माण करती है, परन्तु बीज आदि जैसे बिल्वभिन्न नहीं रहते, वैसे ही चिद्रूप आत्मा भी अपने भीतर चित्त-संज्ञा एवं क्रिया, कारक आदि त्रिपुटीका निर्माण करता है, पर चित्त आदि उससे तनिक भी भिन्न नही हैं ॥ ९ ॥

भूलोककी रचनाके अन्तर्गत जम्बूद्वीप आदिकी रचना जैसे भूमिसे पृथक् नहीं है, वैसे ही चिदाकाशके अन्तर्गत सब भूत और भुवन आदि सन्मात्र पर-ब्रह्म चिदाकाशसे तनिक भी पृथक् नहीं हैं ॥ १० ॥

जो जल है वही उसके अन्तर्गत द्रवत्व भी है । इसी तरहसे चितिके अन्तर्गत विद्यमान चित्त्व एवं चित्त चितिसे पृथक् नहीं है, क्योंकि चित्त्व और चित्त शब्दके जो अर्थ हैं, वे केवल चैतन्यवाचक चितिधातुके ही अर्थ हैं ॥ ११ ॥

यथा द्रवत्वं पयसि यथालोकश्च तेजसि ।
तथा ब्रह्मण्यतद्भावं चित्त्वं चित्तं च विद्यते ॥ १२ ॥
चेतनं कर्म तत्स्वान्तर्न्निर्मूलं भ्रमयक्षवत् ।
उदेत्यहेतुकं तच्चेन्नोदितं तन्न विद्यते ॥ १३ ॥
चेतनं कर्म तच्चैतद्भाति स्पन्द इवाऽनिलः ।
अहेतुकं यदात्मैतद्बहिरन्तश्च सार्थधीः ॥ १४ ॥
विस्तारः कर्मणां देहः सोऽहन्तात्मा स संसृतिः ।
अचेतनाऽनहंत्वेन शाम्यत्यस्पन्दवातवत् ॥ १५ ॥
अचेतनादनन्तात्मा भूत्वा ज्ञोऽप्युपलोपमः ।
संसारमूलकषणं कुरु क्रोडमुखाग्रवत् ॥ १६ ॥

---

जैसे जलमें द्रवत्व और तेजमें प्रभा ग्राहकत्व-स्मर्तृत्व धर्मोंसे शून्य है, वैसे ही ब्रह्ममें चित्त्व और चित्त ग्राहकत्व एवं स्मर्तृत्व धर्मसे शून्य है ॥ १२ ॥

चित्त्व और चित्त ग्राहकत्व और स्मर्तृत्व धर्मसे शून्य कैसे है ? यह कहते हैं—'चेतनम्' इत्यादिसे ।

'चेतयति इति चित्' ( जो प्रकाशन करता है वह चित् है ) इस व्युत्पत्तिसे अर्थका प्रकाश चितिका कर्म ही मालूम पड़ता है । परन्तु यह कूटस्थ चैतन्यमें—निर्मूल भ्रमसिद्ध यक्षके समान—किसी कारणके बिना मिथ्यारूप ही प्रतीत होता है, इसलिए चितिमें उसकी उत्पत्ति ही नहीं है और न उसका अस्तित्व ही है ॥ १३ ॥

इस रीतिसे चेतनक्रियाके चेतनसे पृथक् न सिद्ध होनेपर विषय भी चेतनसे पृथक् सिद्ध नहीं है, यह कहते हैं—'चेतनम्' इत्यादिसे ।

वायु और उसके स्पन्दनकी नाईं जब चेतन और उसकी अर्थप्रकाशनरूप क्रिया अहेतुक है, तब स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थामें होनेवाला वह अर्थप्रकाश आत्मचेतनरूप ही है, भिन्न नहीं है ॥ १४ ॥

सम्पूर्ण कर्मोंका विस्तार यह देह ही है, उसका मूल अहङ्कार है और शाखाएँ संसार है । अचेतनरूप ( चिदाभासरूप क्रियासे शून्य ) मूलोच्छेदक अनहङ्कारसे शाखाओंके सहित यह ऐसे शान्त हो जाता है, जैसे स्पन्दनशून्य वायु ॥ १५ ॥

यह नहीं समझना चाहिये कि चिदाभासके उच्छेदसे जीवका स्वरूप नष्ट

कर्मबीजकलाकोशत्याग एवं कृतो भवेत् ।
नाऽन्यथा राघवाऽन्तस्ते शान्तमस्तु सदास्थितम् ॥ १७ ॥
कर्मबीजकलात्यागे त्वेतस्मादितरात्मनि ।
अविद्यमाने जीवस्य तज्ज्ञैर्विदितवस्तुभिः ॥ १८ ॥
शान्तैर्न गृह्यते किञ्चिन्न च सन्त्यज्यतेऽपि च ।
त्यागादाने न जानन्ति ततस्तैः शान्तमानसम् ॥ १९ ॥
आकाशशून्यहृदयैर्ज्ञैर्यथास्थितमास्यते ।
क्रियते च यथाप्राप्तं नाऽप्येतैः क्रियतेऽपि च ॥ २० ॥
प्रवाहपतितं सर्वं स्पन्दते शान्तमानसम् ।
तेषां कर्मेन्द्रियाण्येवमर्द्धसंसुप्तबालवत् ॥ २१ ॥

---

हो गया, किन्तु उसने तो ब्रह्मस्वरूपसे अनन्तात्मा होकर अपने अनर्थरूप संसारका मूलोच्छेद कर परम पुरुषार्थका सम्पादन कर लिया, यह कहते हैं—'अचेतना०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, चिदाभासात्मक क्रियाका उच्छेद करके पत्थरके समान निश्चल अनन्त परब्रह्म परमात्मरूप होकर संसारके मूलको ऐसे उखाड़ फेंकिये, जैसे वराहके मुखका अग्रभाग मोथाको समूल उखाड़ फेंकता है ॥ १६ ॥

पूर्वोक्त रीतिसे ही कर्मबीजके मूलका त्याग किया जाता है, दूसरी रीतिसे नहीं। इसलिए हे राघव, आपके हृदयमें सदा स्थित रहनेवाला वेदनात्मक कर्ममूल शान्त हो जाय ॥ १७ ॥

इस कर्मबीजका मूल जब त्याग दिया जाता है तब जीवके लिए न चिदाभासकी सत्ता रहती है और न दृश्यप्रपञ्चकी ही सत्ता रहती है। ऐसी स्थितिमें विदिततत्त्व शान्त ब्रह्मज्ञानी न किसी वस्तुका ग्रहण करते हैं और न किसी वस्तुका परित्याग ही करते हैं, क्योंकि उस समय उन्हें त्याग और ग्रहणका परिज्ञान ही नहीं रहता। अनन्तर वे आकाशके सदृश निर्मल एवं विशद हृदयसे युक्त होकर ज्ञानी पुरुष मानसिक विकल्पोंसे शून्य होकर जैसी उनकी मूल स्थिति है उसी रीतिसे अवस्थित रहते हैं। जो कुछ प्राप्त हो जाता है उसे करते हैं और नहीं भी करते हैं ॥ १८–२० ॥

जैसे नदीके प्रवाहमें पतित तृण, काष्ठ आदि सब कुछ स्पन्दित होता है

रसे निर्वासने लब्धे रसा अप्यतिनीरसाः ।
नाऽन्तस्तिष्ठन्ति न बहिरज्ञाननिपुणा इव ॥ २२ ॥
कर्मणो वेदनं त्यागः स च सिद्धः प्रबोधतः ।
अवस्तुनेतरेणाऽर्थः किं कृतेनाऽकृतेन वा ॥ २३ ॥
अवेदनमसंवेद्यं यदवासनमासितम् ।
शान्तं सममनुल्लेखं स कर्मत्याग उच्यते ॥ २४ ॥
अपुनःस्मरणं सम्यक् चिरविस्मृतकर्मवत् ।
स्थितं स्तम्भोदरसमं स कर्मत्याग उच्यते ॥ २५ ॥
अत्यागं त्यागमिति ये कुर्वते व्यर्थबोधिनः ।
सा भुङ्क्ते तान्पशूनज्ञान्कर्मत्यागपिशाचिका ॥ २६ ॥
समूलकर्मसंत्यागेनैव ये शान्तिमास्थिताः ।
नैव तेषां कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ॥ २७ ॥

---

वैसे ही ज्ञानियोंकी कर्मेन्द्रियाँ किसी प्रकारके मनोविकारके बिना अर्धसुप्त या बालककी नाईं स्पन्दित होती हैं ॥ २१ ॥

सबसे बढ़े-चढ़े ब्रह्मानन्दके प्राप्त हो जानेपर भोगलम्पट करणवृत्तियाँ भी नीरस होकर अपने-अपने विषयोंके प्रकाशनमें असमर्थ-सी बनकर भीतर या बाहर कुछ भी नहीं कर पातीं ॥ २२ ॥

वह पूर्वोक्त विज्ञान ही सम्पूर्ण कर्मोंका परित्याग है और यह त्याग आत्मबोधसे स्वतः सिद्ध हो जाता है। इतर देहादिके स्पन्दनरूप कर्मके करनेसे या न करनेसे प्रयोजन ही क्या ? ॥ २३ ॥

विषयोंसे विनिर्मुक्त, वासनाओंसे शून्य, सुदृढ़रूपसे स्थित, शान्त, एकरूप, कृत और अकृतके अनुसन्धानसे रहित जो अवेदन है वही कर्मत्याग कहा जाता है ॥ २४ ॥

दीर्घकालसे भूले गये कर्मोंके सदृश विषयोंका भलीभाँति पुनः-पुनः स्मरण न होना ही कर्मत्याग कहा जाता है। वह विस्मरण निरन्तर खम्भेके पेटके सदृश ठोस और एकरूपका होना चाहिए ॥ २५ ॥

जो मिथ्या ज्ञानी पुरुष मूलत्यागके बिना केवल इन्द्रियसंयममात्ररूप करते हैं, उन अज्ञानी पशुओंको कर्मत्यागरूप पिशाचिका खा जाती है ॥ २६ ॥

मूलसहित कर्मत्यागके द्वारा जो ज्ञानी शान्ति प्राप्त कर बैठे हैं

समूलमलमुद्धृत्य कर्मबीजकलामिति ।
नित्यमेकसमाधानास्तज्ज्ञास्तिष्ठन्त्यतः सुखम् ॥ २८ ॥
प्रवाहपतिते कार्ये ईषत्स्पन्दा अतन्मयाः ।
घूर्णमाना इव क्षीबा यन्त्रसञ्चारिता इव ॥ २९ ॥
मोक्षलक्ष्म्या विलासिन्या व्यसनोपहता इव ।
अर्द्धसुप्तप्रबुद्धाभाः कामप्यवनिमागताः ॥ ३० ॥
यत्समूलं परित्यक्तं तत्त्यक्तमिति कथ्यते ।
अमूलकाषस्त्यागो यः स शाखालवनोपमः ॥ ३१ ॥
अकृष्टमूलशाखाग्रलवनः कर्मपादपः ।
पुनः शाखासहस्रेण दुःखाय परिवर्धते ॥ ३२ ॥
अवेदनात्मना तेन कर्मत्यागोऽङ्ग सिद्धयति ।
क्रमेण नेतरेणाऽत एतदेवाऽऽहरन् भव ॥ ३३ ॥

---

उन्हें यहाँ कृत-अकृत कर्मसे कोई मतलब नहीं रहता ॥ २७ ॥

पूर्वोक्त रीतिसे चूँकि ज्ञानी-पुरुष कर्म-बीजरूपी अंशोंका समूल भलीभाँति उच्छेदकर निरन्तर एकमात्र निर्विकल्पक समाधिमें स्थित रहते हैं, इसलिए वे सुखका उपभोग करते हैं ॥ २८ ॥

ज्ञानी पुरुष प्रारब्धप्राप्त कार्यमें कुछ प्रवृत्त हुए-से दिखाई देते हैं, परन्तु ये घूर्णमान मदिरोन्मत्त पुरुषके सदृश तथा यन्त्रसे सञ्चालित काठकी मूर्त्तियोंके सदृश उसके अभिमानसे रहित रहते हैं ॥ २९ ॥

नानाविध विलासोंसे परिपूर्ण मोक्षलक्ष्मीसे ज्ञानी पुरुष ऐसे अपने देह आदिके भानको भूले रहते हैं, जैसे अत्यन्त आसक्तिरूप व्यसनसे साधारण पुरुष अपने देह आदिके भानको भूले रहते हैं और किसी अनिर्वचनीय पञ्चम आदि भूमिकाओंमें प्राप्त होकर अर्धसुप्त एवं अर्धप्रबुद्धके सदृश रहते हैं ॥ ३० ॥

जो मूलोच्छेदपूर्वक छोड़ा जाता है वही छोड़ा गया कहा जाता है। और जो मूलोच्छेदके बिना त्याग है, वह शाखाच्छेदनके सदृश ही है ॥ ३१ ॥

मूलके छेदनके बिना केवल शाखाग्रसे काटा गया कर्मरूपी वृक्ष फिर हजारों शाखा-प्रशाखाओंके विस्तारसे दुःखके लिए बढ़ता ही रहता है ॥ ३२ ॥

हे भद्र, पूर्वोक्त अवेदनस्वरूपसे ही कर्मत्याग सिद्ध होता है, दूसरेसे नहीं,

ये त्वेवं कर्मसन्त्यागमकृत्वाऽन्यत्प्रकुर्वते ।
अत्यागं त्यागरूपात्म गगनं मारयन्ति ते ॥ ३४ ॥
बोधात्मकतया कर्मत्यागः सम्पद्यते स्वयम् ।
दग्धबीजा निरिच्छोच्चैरक्रियैव भवेत्क्रिया ॥ ३५ ॥
बुद्धीन्द्रियेर्हितं कर्म सफलं रसभावनात् ।
वेष्टितव्यं कुदाम्नेव स्पन्दोऽन्यो निष्फलोऽङ्गजः ॥ ३६ ॥
कर्मत्यागे स्थिते बोधाज्जीवन्मुक्तो विवासनः ।
गृहे तिष्ठत्वरण्ये वा शाम्यत्वभ्येतु वोदयम् ॥ ३७ ॥
गेहमेवोपशान्तस्य विजनं दूरकाननम् ।
अशान्तस्याऽप्यरण्यानी विजना सजना पुरी ॥ ३८ ॥
परिशान्तमतेर्ज्ञस्य स्वप्नेऽप्यप्राप्तमानवा ।
निर्मला वितता हृद्या हृद्येव वनभूमिका ॥ ३९ ॥

---

इसलिए बतलाये गये क्रमसे उसीके अभ्यासमें तत्पर रहिये ॥ ३३ ॥

श्रीरामजी, जो कोई पुरुष उस प्रकारका कर्मत्याग न कर दूसरे अत्यागरूपी त्यागको करनेमें प्रवृत्त रहते हैं वे मानो गगनताड़नके लिए ही उद्यत रहते हैं ॥३४॥

आत्मबोधसे कर्मत्याग स्वयं ही सिद्ध हो जाता है। इच्छारहित जीवन्मुक्तों-की बड़ी-बड़ी आडम्बरपूर्ण क्रियाएँ भी अक्रियारूप ही हैं, क्योंकि उनका मूलभूत बीज जल चुका है। जिसके तन्तु जल चुके हैं ऐसा वस्त्र वस्त्रके सदृश दिखाई दे रहा भी वास्तविक वस्त्र नहीं है ॥ ३५ ॥

भोगासक्तिरूप रसकी भावनासे ही बुद्धिसहित इन्द्रियोंके द्वारा निष्पादित कर्म ऐसे सफल होता है, जैसे रस्सीके द्वारा कूपकाष्ठ जल निकालना, सींचना आदिरूप रसभावनासे धान पैदा कर सफल होता है। वह काष्ठ वृथा चेष्टासे जैसे व्यर्थ है वैसे ही अन्य शारीरिक चेष्टारूप स्पन्द भी निष्फल है ॥ ३६ ॥

ज्ञानसे कर्मत्यागके सिद्ध हो जानेपर वासनाशून्य जीवन्मुक्त पुरुष चाहे घरमें रहे या जङ्गलमें, धनादि सम्पत्तिके नाशसे दरिद्र हो या धनादि सम्पत्तिकी वृद्धिसे अभ्युदयको प्राप्त हो, किन्तु है वह रहता सर्वत्र एक-सा ही ॥ ३७ ॥

शान्त पुरुषके लिए घर ही निर्जन दूरस्थ जङ्गल है तथा अशान्त पुरुषके लिए निर्जन महान् जङ्गल भी जनसमुदायसे ठसाठस भरी नगरी है ॥ ३८ ॥

'गेहमेव' इस श्लोकके पूर्वार्धकी स्पष्ट व्याख्या करते हैं—'परिशान्त०'

ज्ञस्य निर्वाणदृश्यस्य निस्पन्दार्था नभोमयी ।
शान्ताशेषविशेषार्था जगदेव महाटवी ॥ ४० ॥
अनन्तसङ्कल्पवतो हृदयस्थजगत्स्थितेः ।
हृद्येवाऽऽवर्तते भूमिरज्ञस्याऽखिलसागरा ॥ ४१ ॥
जनस्याऽज्ञस्य दीनस्य विविधद्वन्द्वसङ्कुटा ।
सारम्भा विविधाकारा हृद्येव ग्राममण्डली ॥ ४२ ॥
विविधकार्यविकारदशामयी
सपुरपत्तनमण्डलपर्वता ।
मुकुरकोश इव प्रतिबिम्बिता
हृदि भवत्यमला मलिने मही ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे दृश्योपशमयोगोपदेशो नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

---

इत्यादिसे ।

परिशान्तमति तत्त्वज्ञानी पुरुषके लिए स्वप्नमें भी निर्जन, निर्मल, विस्तृत और अतिमनोहर वनभूमि हृदयके अन्दर ही विराजमान है ॥ ३९ ॥

ज्ञानाग्निसे दग्ध हुए दृश्य प्रपञ्चवाले तत्त्वज्ञानीके लिए यह संसार ही स्पन्दन-शून्य, आकाशमयी, अशेष-विशेष पदार्थोंसे शून्य महाटवी है ॥ ४० ॥

अब उपर्युक्त श्लोकके उत्तरार्धकी विशद व्याख्या करते हैं—'अनन्त०' इत्यादि तीन श्लोकोंसे ।

अनन्त सङ्कल्पोंवाले तथा जगत्की स्थितिको हृदयमें रखनेवाले अज्ञानीके लिए सम्पूर्ण सागरों सहित सारी पृथिवी हृदयके अन्दर ही विराजमान है ॥४१॥

अज्ञानी दीन मनुष्यके लिए विविध द्वन्द्वोंसे भरी हुई, नानाविध कार्योंके आरम्भसे युक्त तथा अनेक तरहके आकारोंसे समन्वित ग्राममण्डली हृदयके भीतर ही विराजमान है ॥ ४२ ॥

हे श्रीरामजी, अज्ञानी पुरुषके लिए विविध आवश्यक कार्योंसे यानी धनोपार्जन, धनव्यय, दूरदेशमें प्रवास, कलह आदिसे सर्वदा ही लोभ, मोह, शोक,

## चतुर्थः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

साहन्तादिजगच्छान्तौ बोधे संवित्कलात्मनि ।
संशान्तदीपसङ्काशस्त्यागः सिद्ध्यति नाऽन्यथा ॥ १ ॥
न त्यागः कर्मसन्त्यागो बोधस्त्याग इति स्मृतः ।
अजगत्प्रतिभैकात्मा योऽनहन्तादिरव्ययः ॥ २ ॥

---

भय, आसक्ति आदि विकारोंसे पूर्ण छोटे-छोटे कसबों, बड़े-बड़े नगरों तथा देश-देशान्तरों एवं पर्वतोंसे युक्त यह सारी पृथिवी मलिन हृदयमें—जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्बित हो, वैसे—प्रतिबिम्बित होती ही है ॥ ४२ ॥

तीसरा सर्ग समाप्त

## चौथा सर्ग

[ अहन्ता ही संसारकी मूल है, इसका आत्मबोधसे अनहंभावकी भावना करनेपर त्याग हो जाता है, यह वर्णन ]

सम्पूर्ण दृश्योंका त्याग ही द्रष्टा आत्माका मोक्ष है । तेल खतम हो जानेपर दीप-निर्वाणके समान तत्त्वज्ञानसे सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्चके मूल अज्ञानका निर्वाण ( नाश ) हो जानेपर ही वह सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं, यह कहते हैं—'साहान्तादि०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, चेतन आत्मरूप तत्त्व-बोध हो जानेपर जब अहन्तादिके सहित जगत् शान्त हो जाता है तब तेल समाप्त हो जानेपर जैसे दीप बुत जाता है वैसे ही सब दृश्य प्रपञ्चोंका त्याग सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं ॥ १ ॥

कर्मोंका त्याग वस्तुतः त्याग नहीं कहा गया है, बोध ही मुख्य त्याग कहा गया है । जिसमें जगत्का प्रतिभास नहीं है ऐसा परिशिष्ट मुख्य एक आत्मा ही सर्वत्यागरूपी मोक्ष है, यह अविनाशी तथा अहन्तादि विकारोंसे रहित है ॥ २ ॥

अयं सोऽहमिदं तन्म इति निःस्नेहदीपवत् ।
शान्ते परमनिर्वाणं प्रबोधात्मेति शिष्यते ॥ ३ ॥
अयं सोऽहमिदं तन्मे शान्तमित्येव यस्य नो ।
न ज्ञानं तस्य नो शान्तिर्न त्यागो न च निर्वृतिः ॥ ४ ॥
ममेदमयमेवाऽहमित्येतावति यः क्षयः ।
बोधात्मा शिवमाशान्तं तस्मादन्यन्न विद्यते ॥ ५ ॥
अहमंशे विदा क्षीणे सर्वमेव क्षयं गतम् ।
न किञ्चिच्च क्वचित् क्षीणं निर्वाणैकघनं स्थितम् ॥ ६ ॥
अहंविदनहंविस्वादेव शाम्यत्यविघ्नतः ।
एतावन्मात्रसाध्येयं किमिवेयं कदर्थना ॥ ७ ॥

'पामरजन तक प्रसिद्ध यह देहादि दृश्यप्रपञ्च ही मैं हूँ' तथा 'देहादिसे सम्बद्ध यह भोग्य जगत् मेरा है', इस तरहके तादात्म्याध्यास और संसर्गाध्यासरूप दो बन्धनोंके, तेलरहित दीपककी नाईं, समूल शान्त हो जानेपर सर्वोत्तम बोध ही ( एकमात्र चैतन्य ही आत्मा है, इस प्रकारका ज्ञान ही ) शेष रह जाता है, बस इसीका नाम परमनिर्वाण यानी मोक्ष है ॥ ३ ॥

उक्त अर्थको व्यतिरेकसे भी दृढ़ करते हैं—'अयम्' इत्यादिसे ।

'यह देहादिरूप मैं हूँ तथा स्त्री-पुत्र आदि मेरे हैं' इस प्रकारका अध्यासरूप संसार जिसका शान्त नहीं है उसे न ज्ञान है, न शान्ति है, न त्याग ही है और न निर्वृति यानी मोक्षरूप सुख ही है ॥ ४ ॥

यह स्त्री, पुत्र, धन आदि सब मेरे हैं, यह शरीर, इन्द्रिय आदि मैं हूँ, सिर्फ इतने अध्यासकी जो निवृत्ति है वह अध्यस्त पदार्थोंके बाधका अधिष्ठानरूप होनेसे बोधरूप तथा सर्वथा शान्त शिवस्वरूप है, उससे भिन्न और कुछ भी नहीं है ॥५॥

तत्त्वबोधके द्वारा अहमंशके क्षीण हो जानेपर [ हे श्रीरामजी, यह आप समझ लीजिए कि ] ममताका आधार सारा संसार ही विनाशको प्राप्त हो गया । [ सब जगत्का नाश होनेपर सर्वस्वनाशकी आशङ्कासे डरे हुए पुरुषके प्रति समाधान देते हैं—'न किञ्चिच'से ] और सच पूछिये तो यथार्थमें कहीं कुछ भी नष्ट नहीं हुआ, क्योंकि सर्वत्र आनन्दघन एक आत्मा ही स्थित है ॥ ६ ॥

अहंबुद्धिको नष्ट करनेमें बिलकुल सरल उपाय बतलाते हैं—'अहंविद०' इत्यादिसे ।

अहं नाहमिति भ्रान्तिर्न च चित्त्वादृतेऽस्ति सा ।
चित्त्वं चाऽऽकाशविशदमतः क्वैषा भ्रमस्थितिः ॥ ८ ॥
न भ्रमो भ्रमणं नैव न भ्रान्तिर्भ्रामकोऽस्ति वा ।
अनालोकनमेवेदमालोकान्नेदमस्ति ते ॥ ९ ॥
विद्धि चिन्मात्रमेवेदमसद्रूपोपमं ततम् ।
तेनालं मौनमास्वैवं सर्वं निर्वाणमात्रकम् ॥ १० ॥

अहङ्कारकी भावना करनेवाला जीव एकमात्र अहङ्कारकी भावना न करनेसे ही बिना किसी विघ्नके * शान्त हो जाता है। और यह मुक्ति सिर्फ इतने ही साधनसे सिद्ध हो जाती है, इसके लिए अनेक साधनोंके सम्पादनमें व्यर्थ क्लेश क्यों किया जाय ? ॥ ७ ॥

अनहंबुद्धि भी तो अहंबुद्धिकी नाईं द्वैतरूप होनेके कारण अध्यास ही है, फिर वह किससे शान्त होती है, यदि यह पूछिये, तो इसका उत्तर यह है कि पङ्कके साथ कतकधूलिकी नाईं अहंबुद्धिके साथ वह भी अपने-आप चिदात्मामें शान्त हो जाती है, यह उपपत्तिपूर्वक कहते हैं—'अहम्' इत्यादिसे ।

मैं देहादि नहीं हूँ, किन्तु चिन्मात्ररूप ही हूँ, इस बुद्धिको भी यदि आप द्वैतभ्रमबुद्धि ही कहें, तो यह परमार्थचित्स्वभावको छोड़कर और कुछ नहीं है; क्योंकि चितिस्वरूप तो आकाशके समान विशद है, इसलिए इसमें भ्रमकी स्थिति ही कहाँ रह सकती है ॥ ८ ॥

भ्रम, भ्रमसाधन, भ्रमफल एवं उनके आश्रय सभी अज्ञानमात्रके परिणाम हैं, इसलिए अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर उनका पृथक् अस्तित्व नहीं है, यह कहते हैं—'न भ्रमः' इत्यादिसे ।

न भ्रम है, न भ्रमका साधन है, न भ्रमका फल है और न भ्रमका आश्रय ही है, जो कुछ है, वह सब अज्ञान ही है, इसलिए जब आपको तत्त्वज्ञान हो जायगा तब उसीसे आपमें उनकी सत्ता नहीं रहेगी ॥ ९ ॥

हे श्रीरामजी, यह जो प्रपञ्च दिखाई दे रहा है, वास्तवमें उसे चिन्मात्र ही समझिये । स्वरूपतः विस्तृत प्रपञ्च असत् शशशृङ्गके सदृश ही है, इसलिए आप

* अर्थात् 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है) इस बुद्धिसे रजतके अध्यासबाधमें जैसे कोई विघ्न नहीं है ।

येनैवाऽऽशु निमेषेण त्वहमित्येव चेतति ।
तेनैव नाहमित्येव चेतित्वाऽऽशु न शोच्यते ॥ ११ ॥
अहम्भावनभोर्थेन निर्वाच्याऽऽरूढबाणवत् ।
अजस्रमाशु वा क्षीणं तिष्ठावष्टब्धतत्पदः ॥ १२ ॥
सनभोर्थामहन्तां त्वं चेतन्नेवमनारतम् ।
सर्वभावैरनारूढो भव तीर्णभवार्णवः ॥ १३ ॥
स्वभावमात्रविजये स्वयं यस्य न वीरता ।
तस्योत्तमपदप्राप्तौ पशोर्ब्रूहि कथैव का ॥ १४ ॥
षड्वर्गो निर्जितः पूर्वं येनोत्तमविदा स्वतः ।
भाजनं स महार्थानां नेतरो नरगर्दभः ॥ १५ ॥

---

जगत्‌के विषयमें समस्त वाग्व्यवहारको छोड़कर चुपचाप बैठे रहिये, क्योंकि पूर्वोक्त प्रणालीसे सब कुछ परिशिष्ट आत्मस्वरूप ही है ॥ १० ॥

जब-जब अहंभावका उदय प्राप्त हो, तब-तब उसी समयमें अहंभावकी विरोधिनी अनहंभावबुद्धि पैदा करनी चाहिए, यह कहते हैं—'येनैवा०' इत्यादिसे।

जिस कारणसामग्रीसे निमेषमात्रमें शीघ्र अहंबुद्धि उत्पन्न होती है उसी सामग्रीसे विरुद्ध तत्काल अनहंभावका उत्पादन कर पुरुष किसी प्रकारके शोकसे सन्तप्त नहीं होता ॥ ११ ॥

भद्र, इस तरह निरन्तर अत्यन्त सावधानीसे पैदा किये गये अनहंभावसे अहंभावको शीघ्र आकाशपुष्पके सदृश निर्वचनीय बनाकर—रणमें धनुष्पर चढ़ाये गये अर्जुनबाणके सदृश अपराङ्मुख हो ब्रह्मरूप लक्ष्यका दृढ़ अवलम्बन कर—निरन्तर आप अवस्थित रहिये ॥ १२ ॥

हे रामभद्र, इस रीतिसे निरन्तर अहन्ताकी आकाशपुष्प आदिके सदृश भावना कर रहे आप समस्त सांसारिक भावनाओंसे निर्मुक्त होकर संसारसागरसे पार हो जाइये ॥ १३ ॥

भद्र, स्वाभाविक अज्ञानजनित अहंभावके ऊपर विजय पानेमें जिसकी स्वयं वीरता नहीं है उस पशुकी उत्तमपदप्राप्तिके लिए कोई चर्चा ही क्या हो सकती है, यह कहिये ॥ १४ ॥

जिस उत्तमज्ञानी पुरुषने सबसे पहले काम, क्रोध आदि छः शत्रुओंके ऊपर

यस्य स्वान्तर्मनोवृत्तिर्जीयमाना जिताऽथवा ।
विषयः स विवेकानां स पुमानिति कथ्यते ॥ १६ ॥
अर्थो दृषदिवाऽम्भोधौ यो य आपतति त्वयि ।
तस्मादेव पलायस्व नाहमित्येव भावयन् ॥ १७ ॥
नाहमस्मीति बुध्वापि सोपपत्तिकमप्यलम् ।
जानानो ज्ञप्तिमात्रं च किमज्ञ इव मुह्यसि ॥ १८ ॥
न ज्ञेयमर्थतोस्तीह हेम्नीव कटकादिता ।
भ्रान्तिमात्रादृते सा च शाम्यत्यस्मरणेन ते ॥ १९ ॥
यो यो भाव उदेत्यन्तस्त्वयि स्पन्द इवाऽनिले ।
नाहमस्मीति चिद्वृत्त्या तमनाधारतां नय ॥ २० ॥

---

विजय पा ली है, वही बड़े-बड़े अर्थोंका भाजन हो सकता है; दूसरा मनुष्यरूपी गदहा नहीं ॥ १५ ॥

जो पुरुष अपने अन्दरकी मनोवृत्तिको जीत रहा है या जो जीत चुका है वह पुरुष विवेकज्ञानका पात्र गिना जाता है और वही 'पुरुष' इस शब्दसे कहा जाता है यानी उसी पुरुषने अपना जन्म सफल बनाया है ॥ १६ ॥

भद्र, समुद्रमें शिलाके सदृश जो-जो विषय आपके लिए प्रारब्धवश प्राप्त हो जायँ, उन सब विषयोंसे आप 'वह विषय मैं नहीं हूँ' इस प्रकारकी भावना करते हुए अपना सम्बन्ध ही हटा दीजिये ॥ १७ ॥

मैं देहादि विषयरूप नही हूँ, ऐसा जानते हुए और अनेक तरहकी युक्तियोंसे ज्ञानरूप सुखका अच्छी तरह अनुभव करते हुए भी क्यों आप अज्ञानीके सदृश मोहमें फँसते हैं अर्थात् नहीं ही फँसना चाहिए ॥ १८ ॥

युक्तिसे विचारनेपर जैसे सुवर्णमें कटक आदिरूपता केवल भ्रान्तिको छोड़कर कोई भी दूसरी वस्तु नहीं है वैसे ही इस आत्मामें युक्तिसे विचारनेपर देहादि ज्ञेय वस्तु भ्रान्तिको छोड़कर दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है । आपकी वैसी भ्रान्ति केवल विषयोंके विस्मरणसे ही नष्ट हो जायगी ॥ १९ ॥

हजारों युक्तियोंके प्रदर्शनसे कोई प्रयोजन नहीं है केवल 'देहादि मैं नहीं हूँ' अकेली इस भावनाका अभ्यास कर लेनेपर ही सब भ्रान्तियां निकल जायँगी, यह कहते हैं—'यो यः' इत्यादिसे ।

लोभो लज्जा मदो मोहो येनाऽऽदाविति नो जिताः ।
निरर्थकमनर्थेऽस्मिन्स किमर्थं प्रवर्तते ॥ २१ ॥
अहन्त्वं पवने स्पन्द इव यत्त्वयि संस्थितम् ।
परमात्मनि तन्नान्यदेतत्स्पन्द इवाऽनिले ॥ २२ ॥
असर्गसंविदा सर्गः परेऽस्तोऽतिविराजते ।
संनिवेशविशेषेण दुरर्थोऽपि हि शोभते ॥ २३ ॥
परमात्मा तु नोदेति नास्तं याति कदाचन ।
न चाऽस्मादन्यदस्तीति को भावोऽभाव एव वा ॥ २४ ॥

---

श्रीरामजी, वायुमें क्रियाके सदृश आपके भीतर जो-जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन-उन भावोंके आप 'मैं भावरूप नहीं हूँ' इस तरहकी भावनावृत्तिसे अपनेको अनाश्रय बना दीजिये ॥ २० ॥

जिस पुरुषने सबसे पहले अहंभावका त्यागकर लोभ, लज्जा, मद और मोहके ऊपर विजय नहीं पाई, वह पुरुष नास्तिकता, यथेष्टाचरण आदिके उत्पादक इस अध्यात्मशास्त्रमें निरर्थक क्यों प्रवृत्त होता है यानी लोभ आदि दोषोंसे युक्त पुरुष अध्यात्मशास्त्रका अनधिकारी है। उसे इसमें प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। यदि वह प्रवृत्ति करेगा, तो नास्तिक एवं यथेच्छाचारी ही बन जायगा ॥ २१ ॥

पवनमें स्पन्दनके सदृश आपमें जो अहन्ता स्थित है वह आपके परमात्मस्वरूप बन जानेपर वायुमें स्पन्दनके सदृश आपसे पृथक् नहीं रह सकती ॥ २२ ॥

कूटस्थ अद्वितीय चैतन्यमात्रके ज्ञानसे परमात्मामें जब संसार एकरूपसे मिल जाता है तब वह बहुत ही भला लगता है। ठीक ही है कि मालामें भ्रान्तिसे कल्पित सर्प आदि भयङ्कर अर्थ जब मालाके ज्ञानसे मालास्वरूप हो जाते हैं तब मालारूपसे कण्ठमें धारण करनेपर सुन्दर लगते ही हैं ॥ २३ ॥

यदि आत्मज्ञानसे जीव और जगत्की परमात्मरूप अवयवीके रूपमें उत्पत्ति आपने मान ली, तो उसके बाद दूसरे भावविकार भी उत्पन्न होंगे ही, ऐसी स्थितिमें उन विकारोंसे तथा जीवभाव, जगद्भाव एवं उनके ध्वंस आदिको लेकर द्वैतापत्ति भी होगी, इस शङ्कापर कहते हैं—'परमात्मा' इत्यादिसे ।

वस्तुतः परमात्मा न तो कभी उदित ( उत्पन्न ) होता है और न कभी अस्त ही। और जब इस परमात्मासे भिन्न कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, तब

परं परे पूर्णं पूर्णे शान्तं शान्ते शिवं शिवे ।
इत्येवमात्रं विततं नाहं न च जगन्न धीः ॥ २५ ॥
निर्वाण एव निर्वाणं शान्तं शान्ते शिवे शिवम् ।
निर्वाणमप्यनिर्वाणं सनभोर्थं न वापि तत् ॥ २६ ॥

उससे भिन्न कौन भाव रहा और कौन अभाव रहा, कहनेका तात्पर्य यह कि बाधसे कल्पितकी जो अधिष्ठानरूपता है, वह न तो उत्पत्तिरूप है और न नाशरूप ही है, किन्तु नित्यसिद्ध आत्मरूप है। अपि च विकार आदिमें हेतु तो एकमात्र क्रिया ही रहती है, ज्ञान नहीं, इसलिए जीवकी परमात्मरूपताके बाद द्वैत कभी भी नहीं हो सकता ॥ २४ ॥

तत्त्वज्ञानसे ज्ञाता, ज्ञेय ज्ञानरूप त्रिपुटीका बाध हो जानेपर त्रिपुटीजनित जीवभावका विनाश हो जाता है। इससे यही बात निकली कि 'त्वं' पदका लक्ष्य पूर्ण, शान्त, शिवस्वरूप परब्रह्म जो 'तत्' पदके लक्ष्य पूर्ण, शान्त, शिवस्वरूप पर स्वभावमें पहलेसे स्थित है, इसीका तत्त्वज्ञान विस्तार कर देता है, अपूर्व किसीका भी उत्पादन नहीं करता ॥ २५ ॥

प्रदीपके निर्वाणके समान आभाससहित अविद्याका निर्वाण अपूर्व ज्ञानका फल उत्पन्न हुआ, यह अवश्य ही मानना होगा, अन्यथा ज्ञान निष्फल हो जायगा, इसपर कहते हैं—'निर्वाण' इत्यादिसे।

ठीक है, यद्यपि निर्वाण ज्ञानका फल है तथापि वह अपूर्व उत्पन्न हुआ, यह कहना अत्यन्त अप्रसिद्ध है, क्योंकि अन्धकारशून्य सूर्यमें अन्धकारनिवृत्तिके समान प्रपञ्चशून्य ब्रह्ममें प्रपञ्च-निवृत्ति और नित्यशान्तमें शान्ति कही गयी है, अतः अनर्थनिवृत्तिरूप ज्ञानका कोई अपूर्व फल नहीं हुआ। इसी तरह नित्यसिद्ध निरतिशयानन्द शिवमें आनन्दप्राप्तिरूप फल भी कोई अपूर्व पदार्थ नहीं है। इस तरह ज्ञानका फल माननेपर द्वैतापत्ति नहीं आ सकती। यदि प्रत्यक्में (जीवात्मामें) बन्ध और ब्रह्ममें आकाशादि पदार्थ सत्य होते, तो उनका निर्वाण प्रदीपनिर्वाणके समान अपूर्व होता, लेकिन ऐसा है नहीं। रज्जुमें सर्पनिर्वाणके समान प्रत्यगात्माके बन्धका निर्वाण भी वास्तवमें अनिर्वाणरूप ही है। ब्रह्म भी वास्तवमें आकाशादि सत्य पदार्थोंसे युक्त नहीं रहता, इसलिए उनकी निवृत्ति द्वैतको सिद्ध नहीं कर सकती ॥ २६ ॥

शस्त्राघाताः प्रसह्यन्ते सह्यन्ते व्याधिवेदनाः ।
नाहमित्येवमात्रस्य सहने का कदर्थना ॥ २७ ॥
जगत्पदार्थसार्थानामहमित्यक्षयोऽङ्कुरः ।
तस्मिन्निर्मूलतां याते जगन्निर्मूलतां गतम् ॥ २८ ॥
बाष्पेणेवाऽहमर्थेन निःसारेणाऽपि सारवत् ।
व्यामलः परमादर्शस्तच्छान्तौ सम्प्रसीदति ॥ २९ ॥
अहमर्थः परे वायौ स्पन्दस्तत्प्रशमे तु तत् ।
अनिर्देश्यमनाभासमनन्तमजमव्ययम् ॥ ३० ॥
अहमर्थः पुरो द्रव्यप्रतिबिम्बप्रदश्चिति ।
तच्छान्तौ सा निराभासमनन्तमजमव्ययम् ॥ ३१ ॥

---

अनहंभावना असह्य है, इसका खण्डन करते हैं—'शस्त्रा०' इत्यादिसे ।

जब शस्त्रोंके आघात सहे जाते हैं, जब व्याधियोंकी पीड़ाएँ सही जाती हैं, तब 'मैं नहीं हूँ' इतनी भावनाको सहनमें कौन-सा क्लेश हो रहा है ॥ २७ ॥

जितने जगत्के पदार्थ हैं, उन सबका अविनाशी कारण देहादिमें अहंभाव रखना ही है । ज्ञान द्वारा उसका निर्मूलन हो जानेपर यह जगत् तो अपने आप उखड़ जाता है ॥ २८ ॥

निःसार भी मुखके बाष्पसे जैसे परम स्वच्छ दर्पण मलिन हुआ प्रतीत होता है वैसे ही परमात्मारूपी दर्पण अहङ्काररूपी निःसार भी मुखबाष्पसे सारवत् मलिन हुआ प्रतीत होता है । अहङ्काररूप निःसार बाष्पके शान्त होनेपर तो परमात्मा निर्मल हो जाता है ॥ २९ ॥

परमात्मारूप वायुमें अहङ्काररूप स्पन्द है । उसके शान्त होनेपर अनिर्देश्य, अनाभास, अज और अविनाशी अद्वय चिदाकाशमात्र शेष रहता है ॥ ३० ॥

बाह्य अनर्थोंके अवलोकनमें भी अहङ्कार ही हेतु है, यह कहते हैं—'अहमर्थ०' इत्यादिसे ।

अहङ्कार सामने उपस्थित द्रव्योंका चितिमें प्रतिबिम्ब प्रदान करता है । उस अहङ्कारके शान्त हो जानेपर वह चिति निराभास, अनन्त, अज और अविनाशी परमात्मस्वरूप ही रह जाती है ॥ ३१ ॥

अहमर्थाम्बुदे क्षीणे परमार्थशरन्नभः ।
परयाऽनन्तया लक्ष्म्या स्वच्छयाऽच्छं विराजते ॥ ३२ ॥

अहमर्थमलोन्मुक्तमव्यक्तं ताम्रमङ्ग चेत् ।
तत्परं परमाभासं सम्पन्नं हेमकान्तिमत् ॥ ३३ ॥

यथा निरभिधार्थश्रीर्भजत्यव्यपदेश्यताम् ।
तथाऽनहन्ताहन्तेयं ब्रह्मत्वमधिगच्छति ॥ ३४ ॥

अस्त्यहन्त्वे स्थितं ब्रह्म सनामेव पदार्थवत् ।
शान्तवत्सदिवाभासं तद्वत्सव्यपदेशवान् ॥ ३५ ॥

---

अहङ्काररूपी मेघके छिन्न-भिन्न हो जानेपर परमार्थरूप शरत्कालका आकाश सर्वोत्तम, स्वच्छ असीम चिति लक्ष्मीसे खूब सुन्दर भासित होने लग जाता है ॥३२॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो विशुद्ध सुवर्णरूप चिरकालिक चैतन्य है, वह अहङ्काररूप मलके सम्पर्कसे जीवरूपी ताम्रभावको प्राप्त हुआ है, परन्तु श्रवणादि उपायरूपी अग्निमें तपकर जब अहङ्काररूपी मलसे निर्मुक्त हो जाता है तब वही परम प्रकाशमय कान्तिमान् ब्रह्मरूपी सुवर्ण* बन जाता है ॥ ३३ ॥

यदि आप यह कहें कि अहङ्कारकी निवृत्ति हो जानेपर किस नामसे मेरा व्यपदेश होगा, तो इसपर मेरा कहना यह है कि समुद्रमें विलीन सैन्धव आदि पदार्थोंकी तरह तत्-तत् नामकी निवृत्तिसे जैसी अव्यपदेश्यता होती है वैसी ही आपकी भी अव्यपदेश्यता होगी। उस समय आप अनिर्वचनीय ब्रह्मस्वरूप हो जायँगे, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे।

जैसे समुद्रमें विलीन हुए पदार्थोंका स्वरूप अव्यपदेश्यताको प्राप्त हो जाता है वैसे ही अनहन्तासे ब्रह्ममें विलीन हुई अहन्ता भी अव्यपदेश्यताको प्राप्त हो जाती है, क्योंकि उस समय वह ब्रह्मरूप बन जाती है ॥ ३४ ॥

अहङ्कारनिवृत्तिके बाद ब्रह्म आदि नामसे जो जीवका व्यवहार होता है वह भी अन्य पदके अर्थकी नाईं उसमें ( जीवमें ) अहङ्काररूप अल्पत्व ( छोटेपनका ) नाशरूप जो बृहत्त्व ( बड़प्पन ) है तत्स्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तकी कल्पना करके ही होता है, वस्तुतः नहीं होता, यह कहते हैं—'अस्त्यहन्त्वे' इत्यादिसे।

---

* देखिये यह श्रुति—'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ।'

अहमर्थो जगद्बीजं यदि दग्धमभावनात् ।
तदहन्त्वं जगद्बन्ध इत्यादेः कलनैव का ॥ ३६ ॥
सद्ब्रह्म शिवमात्मेति परे नामकलङ्किता ।
उदेत्यहन्ता कुम्भत्वादिव मृद्धा तु विस्मृतिः ॥ ३७ ॥
अहमर्थादियं बीजात्सत्ता बिम्बलतोत्थिता ।
यस्यां जगन्त्यनन्तानि फलान्यायान्ति यन्ति च ॥ ३८ ॥
साद्र्यब्ध्युर्वीनदी सेयं रूपालोकैषणादिका ।
अहमर्थस्य मरिचबीजस्याऽन्तश्चमत्कृतिः ॥ ३९ ॥

---

तरङ्ग आदि धर्मोंसे शून्य अपने स्वाभाविक स्वरूपसे स्थित हुआ जल जैसे पूर्वके तरङ्ग आदि रूपसे भीतर सत्य-सा प्रतीत होकर तरङ्ग आदि नामोंसे व्यवहृत होता है और स्वाभाविक जलरूपसे स्थित हुआ तरङ्ग आदि नामोंसे व्यवहृत नहीं होता, वैसे ही अपने स्वरूपमें स्थित आत्मा किसी नामसे व्यवहृत नहीं होता, परन्तु जब अहन्ता रहती है, तब वह अन्य पदार्थोंके सदृश नामवाला-सा बनकर स्थित रहता है और उन-उन लाक्षणिक नामोंकी कल्पनासे व्यवहृत होता है ॥ ३५ ॥

अहङ्कार ही जन्ममरणरूप इस संसारका बीज है । भावनाके मूल अज्ञानके नाशसे जब यह अहङ्काररूपी बीज दग्ध हो जाता है तब जगत् और बन्ध इत्यादिकी कल्पना ही क्या रहती है ॥ ३६ ॥

इस संसारका बीज अहङ्कार ही है, इसका उपपादन करनेके लिए 'यह कैसे उदित होता है' यह बतलाते हैं—'सद्ब्रह्म' इत्यादिसे ।

सत्, ब्रह्म, शिव, आत्मा, यानी कालत्रयाबाध्य, अपरिच्छिन्न, निरतिशयानन्द, अपरोक्ष चिदेकरस इन स्वभावोंसे युक्त परमात्मामें सत् आदि चारों स्वभावोंके संकोचरूप नामसे कलङ्कित यानी मालिन्ययुक्त, समष्टि-अहन्ता ऐसी उदित होती है जैसी घटाकारपरिच्छेदसे मिट्टीकी स्वभावविस्मृति ॥ ३७ ॥

इसलिए अहङ्काररूपी बीजसे यह दृश्यप्रपञ्चकी सत्तारूपी बिम्बलता उदित हुई है, जिसमें व्यष्टिभावसे अनन्त जगत्-रूपी फल उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं ॥ ३८ ॥

इसीका विस्तृतरूपसे वर्णन करते हैं—'साद्र्य०' इत्यादिसे ।

द्यौः क्षमावायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
इत्यामोदोऽहमर्थोग्रकुसुमस्य विकासिनः ॥ ४० ॥
अहमर्थः प्रविसृतः प्रकटीकुरुते जगत् ।
सद्रूपालोकमननं प्रवृत्त इव वासरः ॥ ४१ ॥
प्रवृत्तेन दिनेनार्थः प्रकटीक्रियते यथा ।
असज्जगदहन्त्वेन क्षणान्निर्मीयते तथा ॥ ४२ ॥
अहमित्यर्थदुस्तैललवो ब्रह्मणि वारिणि ।
प्रसृतो यत्तदाश्वेतत्त्रिजगच्चक्रकं स्थितम् ॥ ४३ ॥
उन्मेषमात्रेणाहन्ता जगन्त्यनुभवत्यहो ।
न निमेषेण दृगिव सत्यानीत्यप्यसन्त्यलम् ॥ ४४ ॥
अहमर्थे प्रविसृते संसारो ह्यनुभूयते ।
नान्तर्भूय परिक्षीणे लोचनस्येव तारके ॥ ४५ ॥

---

इस अहमर्थरूपी मरिचके बीजके भीतर पर्वतों, समुद्रों, पृथिवी और नदियोंके सहित तथा बाह्य इन्द्रियोंसे होनेवाले पदार्थोंके पर्यालोचन एवं मनके भीतर रहनेवाली काम-सङ्कल्प आदि वृत्तिरूप एषणारूपी चमत्कृति उदित होती है ॥ ३९ ॥

अन्तरिक्ष, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ ये सबके सब अहमर्थरूपी विकसित कुसुमकी सुगन्ध हैं ॥ ४० ॥

सुमेरुके परभागमें सद्रूप दिन उदित होते ही सद्रूप पदार्थका प्रकाश और मनन जैसे करता है वैसे ही आत्मामें उदित होते ही यह अहङ्कार जगत्को प्रकट करता है ॥ ४१ ॥

प्रारम्भ होते ही दिन जैसे पदार्थोंको प्रकाशित करता है वैसे ही प्रारम्भ होते ही अहङ्कारभावना क्षणभरमें असत् जगत्का निर्माण कर देती है ॥ ४२ ॥

ब्रह्मरूपी जलमें अहङ्काररूपी तेलका बिन्दु पड़ते ही जो चारो ओर फैल जाता है वही शीघ्र यह त्रिलोकीरूपी चक्र बनकर स्थित हो जाता है ॥ ४३ ॥

जिस तरह खराब आँखें खुली रहकर असद्रूप जगत्को सत्यरूपसे खूब अनुभव करती हैं, किन्तु बन्द हो जाते ही नहीं करतीं; अहो, उसी तरह उन्मेष-मात्रसे यह अहन्ता असद्रूप जगत्को सत्यरूपसे अनुभव करती है ॥ ४४ ॥

इसीको दृढ़ करनेके लिए फिर कहते हैं—'अहमर्थे' इत्यादिसे ।

जैसे आँखकी पुतली सुषुप्ति, मरण या मूर्च्छामें जब तिरोहित हो जाती है

अहमंशे निरंशत्वं नीते शाश्वतसंविदा ।
शाम्यतीयमशेषेण संसारमृगतृष्णिका ॥ ४६ ॥
स्वसंविद्भावनामात्रसाध्येऽस्मिन्वरवस्तुनि ।
सिद्धमात्रात्मनि स्वैरं मा खेदं गच्छ मा भ्रमीम् ॥ ४७ ॥
स्वयत्नमात्रसंसाध्यादसहायादिसाधनात् ।
अनहंवेदनान्नान्यच्छ्रेयः पश्यामि तेऽनघ ॥ ४८ ॥
विस्मृत्याऽहन्त्वमास्व प्रविसृतविभवः पूरिताशेषविश्वो
विश्वक्शैलान्तरिक्षक्षितिजलधिमरुन्मार्गरूपोऽमलात्मा ।

---

या जब मोक्षमें पूर्णतया विलीन हो जाती है अथवा समाधिमें साक्षात्कार द्वारा जब नष्ट हो जाती है तब सांसारिक पदार्थोंका अनुभव नहीं कर पाती ; वैसे ही अहमर्थके प्रसृत होनेपर ही यह संसार अनुभूत होता है, अन्यथा नहीं ॥ ४५ ॥

नित्य परमात्मज्ञानसे अहमंशके बिलकुल निःशेष कर दिये जानेपर यह संसाररूपी मृगतृष्णा पूर्णरूपसे शान्त हो जाती है ॥ ४६ ॥

साधन और फल दोनों अतिसुलभ हैं, यह दिखलाते हैं—'स्वसंविद्०' इत्यादिसे ।

स्वप्रकाश चिदात्माकी एकमात्रभावनासे साध्य * स्वतःसिद्ध † आत्मरूप इस श्रेष्ठ वस्तुकी प्राप्तिमें हे श्रीरामजी, आप निरंकुश खेद या अहंभावादि भ्रान्तिको प्राप्त न हों ॥ ४७ ॥

किसी दूसरे पुरुष आदि बाह्यसाधनकी अपेक्षा न होनेसे भी इसको अतिसुलभ बतलाते हैं—'स्वयत्न०' इत्यादिसे ।

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, किसी दूसरे सहायक आदि साधनके बिना ही स्वयत्नमात्रसे साध्य अनहंभावनाके सिवा मैं दूसरा आपका कोई कल्याणकारक नहीं देखता ॥ ४८ ॥

सम्पूर्ण उपदेश सिद्धान्तोंका सार संक्षेपरूपसे दिखलाते हुए अब उपसंहार करते हैं—'विस्मृत्या०' इत्यादिसे ।

---

* जड पदार्थोंकी नाईं इसमें फलव्याप्तिकी अपेक्षा नहीं है, अतः इसके साधनमें अति सुलभता है, यह इससे दिखलाया गया ।

† इससे फलमें भी उत्पादन आदि किसी विशेष प्रयत्नकी आवश्यकता न होनेसे अतिसुलभता दिखलाई गई है ।

स्वस्थः शान्तो विशोकः करणमलकलावर्जितो निष्प्रपञ्चो
निःसञ्चारश्चरात्मा सकलमसकलं चेति सिद्धान्तसारः ॥४९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाण-
प्रकरणे उत्तरार्धे अहन्तानिरासो नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

## पञ्चमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

स्वभावं स्वं विजित्यादाविन्द्रियाणां सचेतसाम् ।
प्रवर्तते विवेके यः सर्वं तस्याऽऽशु सिध्यति ॥ १ ॥

---

हे श्रीरामजी, सबसे पहले व्यष्टि-अहंभावको भूलकर चारो ओरसे पर्वत, अन्तरिक्ष, पृथिवी, समुद्र, वायु तथा उसके मार्ग आकाशरूप होकर सारे संसारको परिपूर्ण बना करके अपने विभवका विस्तार करते हुए आप समष्टिभावसे स्थित हो जाइये। तदनन्तर स्थावर-जंगम सारा संसार ब्रह्मरूप ही है, इस तरहके ज्ञानसे समस्त प्रपञ्चोंका बाध करके प्रपञ्चशून्य, इन्द्रियों, अन्तःकरणके मलों तथा कलाओंसे वर्जित होते हुए स्वस्थ, शान्त, विशोक और निर्मलात्मा होकर स्थित रहिये, क्योंकि इस तरह अध्यारोप तथा अपवाद न्यायसे निष्प्रपञ्च आत्मरूपसे अवशिष्ट रह जाना ही सम्पूर्ण वेदान्तसिद्धान्तोंका सार है ॥ ४९ ॥

चौथा सर्ग समाप्त

—०—

## पाँचवाँ सर्ग

[ जितेन्द्रिय पुरुषोंमें ही शास्त्रोंका उपदेश सफल होता है, अजितेन्द्रियोंमें नहीं, इस विषयमें भुशुण्ड द्वारा कथित विद्याधरकथाका वसिष्ठजी द्वारा वर्णन ]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, सबसे पहले मनके सहित इन्द्रियोंके स्वभावको ( विषयोंकी ओर उन्मुख हो रही प्रवृत्तिको ) जीतकर पीछे नित्यानित्य वस्तुके विवेक आदि साधनोंमें जो मनुष्य प्रवृत्त होता है उसीके लिए शास्त्रके और आचार्यके उपदेशका सारा फल शीघ्र सिद्ध होता है, दूसरेके लिए नहीं ॥ १ ॥

स्वभावमात्रं येनान्तर्न जितं दग्धबुद्धिना ।
तस्योत्तमपदप्राप्तिः सिकतातैलदुर्लभा ॥ २ ॥
शुद्धेऽल्पोऽप्युपदेशो हि निर्मले तैलबिन्दुवत् ।
लगत्युत्तानचित्तेषु नादर्श इव मौक्तिकम् ॥ ३ ॥
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
मम पूर्वं भुशुण्डेन कथितं मेरुमूर्द्धनि ॥ ४ ॥
पुरा भुशुण्डः कस्मिंश्चित्पृष्ट आसीत्कथान्तरे ।
मया कदाचिदेकान्ते मेरोः शिखरकोटरे ॥ ५ ॥
मुग्धबुद्धिमनात्मज्ञं कं त्वं सुचिरजीवितम् ।
स्मरसीति मया पृष्टेनोक्तं तेनेदमङ्ग मे ॥ ६ ॥

---

जिस दग्धबुद्धिने अपने भीतर विषयोंकी ओर दौड़नेवाली अपनी इन्द्रियोंके स्वभावको नहीं जीत लिया उसको परमपदकी प्राप्ति ऐसे दुर्लभ है, जैसे बालूमेंसे तेल निकालना दुर्लभ है। तात्पर्य यह है कि बालू निचोड़नेका श्रम जैसे निष्फल है, वैसे ही चिरकालसे अभ्यस्त हुए भी, श्रवण, मनन आदि—इन्द्रियोंके स्वभावको जीते बिना—बिलकुल निष्फल है ॥ २ ॥

शुद्ध निर्मल वस्त्र आदिमें तेलबिन्दुकी नाईं शुद्ध विमल चित्तवाले मनुष्यमें थोड़ा भी उपदेश प्रविष्ट हो जाता है। और साधनचतुष्टयसे रिक्त चित्तवालोंमें ऐसे नहीं प्रविष्ट हो पाता जैसे दर्पणके भीतर मोती नहीं प्रविष्ट हो पाता ॥ ३ ॥

इस विषयमें विद्वान् लोग इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। भुशुण्डजीने बहुत दिन पहले मुझसे मेरु पर्वतके शिखरपर यह कहा था ॥ ४ ॥

बात बहुत पुरानी है, कभी मेरु शिखरके एकान्त कोटरमें किसी अध्यात्म-कथाके प्रस्तावमें श्रीभुशुण्डजीसे मैंने यह पूछा था ॥ ५ ॥

मैंने भुशुण्डजीसे पूछा था कि हे प्रिय, यह बतलाओ कि इस संसारमें मुग्धबुद्धि तथा आत्मज्ञानशून्य दीर्घजीवी तुम किसे स्मरण करते हो? हे श्रीरामजी, मेरे पूछनेपर उन्होंने यह कहा ॥ ६ ॥

भुशुण्ड उवाच

आसीद्विद्याधरः पूर्वमनात्मज्ञः सुखेदितः ।
लोकालोकान्तरशृङ्गे शुष्क आर्यो विचारवान् ॥ ७ ॥

तपसा बहुरूपेण यमेन नियमेन च ।
अक्षीणायुरतिष्ठत्स पुरा कल्पचतुष्टयम् ॥ ८ ॥

ततश्चतुर्थे कल्पान्ते विवेकस्तस्य चोदभूत् ।
विदूरस्येव वैदूर्यमौचित्याज्जलदोदयात् ॥ ९ ॥

पुनर्मृतिः पुनर्जन्म जरामेति विभावयन् ।
लज्जेऽहं तत्किमेकं स्यात् स्थिरमित्यवमृश्य सः ॥ १० ॥

मामाजगाम सम्प्रष्टुमष्टादशमयीं पुरीम् ।
स्वामुपोह्य विरक्तात्मा संसारारसतां गतः ॥ ११ ॥

---

भुशुण्डजीने कहा—हे भगवन्, लोकालोकान्तर पर्वतकी चोटीपर बहुत दिन पहले एक विद्याधर रहता था । वह अजित इन्द्रियोंसे अत्यन्त खेदको प्राप्त अतएव विश्रान्तिरससे हीन, आत्मज्ञानशून्य, विचारवान् तथा आयुवृद्धिके हेतुभूत सदाचारसे सम्पन्न था ॥ ७ ॥

अनेक तरहके तप, यम और नियमसे अक्षीणायु ( परिपूर्ण आयु ) होकर पूर्व कालमें वह चार कल्पोंतक स्थित रहा ॥ ८ ॥

तदनन्तर चौथे कल्पके अन्तमें चिरकालतक तप, नियम आदिके अनुष्ठानसे उसको ऐसे विवेक उदित हुआ, जैसे बादलके उदयसे विदूरभूमिमें वैदूर्यमणि ॥ ९ ॥

विवेकस्वरूप दिखलाते हैं—'पुन०' इत्यादिसे ।

पुनः पुनः जन्म, पुनः पुनः मृत्यु तथा पुनः पुनः वृद्धावस्था न हो, क्योंकि इसका विचार करते हुए मैं लज्जित हो रहा हूँ । अतः जहां ये बिलकुल न हों, ऐसी एक स्थिर कौन-सी वस्तु हो सकती है ॥ १० ॥

यों विचार करके पांच प्राण, दस इन्द्रियां, मन, बुद्धि तथा स्थूल देह इन अठारह अवयवोंसे युक्त अपनी पुरीको चिरकालतक धारण करनेसे श्रान्त तथा संसारके रससे विरक्त वह महात्मा मेरे पास कुछ पूछने आया ॥ ११ ॥

स मत्समीपमागत्य कृतोदारनमस्कृतिः ।
मत्पूजितोऽवसरत उवाचेदमनिन्दितम् ॥ १२ ॥

विद्याधर उवाच

मृदूनि परितापीनि दृषद्दृढबलानि च ।
छेदे भेदे च दक्षाणि स्वशस्त्राणीन्द्रियाणि च ॥ १३ ॥

पर्याकुलानि मलिनानि विपत्प्रदानि
दुःखोर्मिमन्ति गुणकाननपावकत्वात् ।
हार्दान्धकारगहनानि तमोमयानि
जित्वेन्द्रियाणि सुखमेति च किं ममार्थैः ॥ १४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्याने विद्याधरप्रश्नो नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

---

मेरे समीप आकर बड़े आदरके साथ उसने नमस्कार किया। मैंने भी सत्कारसे उसे बैठाया। अनन्तर प्रश्नका अवसर पाकर उसने यह अनिन्दित वचन कहा ॥ १२ ॥

अपने खेदके हेतुभूत इन्द्रियादिकोंके दोषोंका विस्तारसे आगे चलकर वर्णन करनेकी इच्छा कर रहे विद्याधर भूमिका बांध रहे हैं—'मृदूनि' इत्यादि दो श्लोकोंसे।

विद्याधरने कहा—हे भगवन्, अपने-अपने विषयोंमें शीघ्रानुप्रवेशी होनेके कारण अत्यन्त कोमल, प्रवेशके बाद अत्यन्त परितापी और तदनन्तर उनका हिलाना-डुलाना अशक्य होनेसे पत्थरसे भी अधिक दृढ़ और बलवान्, छेदन और भेदनमें दक्ष अपने शरीरके अन्दर प्रविष्ट हुए बाण आदि शस्त्र और इन्द्रियां तुल्य हैं ॥ १३ ॥

हे मुने, ये इन्द्रियां हृदयमें रूढ़ हैं, तमोमय हैं, अन्धकारसे भरे सघन जङ्गलके तुल्य हैं, काम आदि वानरोंसे व्याप्त हैं एवं प्राण, मन, देह और हृदयस्थ अशनायादि दुःखरूपी छः तरङ्गोंसे युक्त हैं। तरङ्गोंसे युक्त होती हुई भी दैवात् कहीं अङ्कुरित हुए शम-दमादि गुणरूपी जंगलकी दाहक होनेसे ये विपत्प्रद तथा मलिन हैं। अतः इस तरहकी इन्द्रियोंको एवं उनके आश्रय मनको

## षष्ठः सर्गः

**विद्याधर उवाच**

यदुदारमनायासं क्षयातिशयवर्जितम् ।
पदं पावनमाद्यन्तरहितं तद्वदाऽऽशु मे ॥ १ ॥
एतावन्तमहं कालं सुप्त आसं जडात्मकः ।
इदानीं सम्प्रबुद्धोऽस्मि प्रसादादात्मनो मुने ॥ २ ॥

---

जीतकर प्राणी सुखी हो सकता है, सांसारिक इन भोगोंसे कदापि सुखी नहीं हो सकता । अतः मुझे विद्याधरोंके भोगरूपी इन पदार्थोंसे कोई मतलब अब नहीं है । हे भगवन्, यही कारण है कि विरक्त जिज्ञासु होकर मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥ १४ ॥

पाँचवाँ सर्ग समाप्त

---

## छठा सर्ग

[ चिरकालतक दिव्य भोगको भोगे हुए विद्याधरके द्वारा परीक्षित विषयोंमें उन्मुख इन्द्रियोंकी नीतिका वर्णन ]

अतः चार साधनोंसे सम्पन्न मुझ ब्रह्मजिज्ञासुको हे ब्रह्मन्, आप ब्रह्मोपदेश दीजिये, यह कहते हैं—'यदु०' इत्यादिसे ।

विद्याधरने कहा—हे भगवन्, आप मुझे उस परमपावन पदका शीघ्र उपदेश दीजिये, जो पूर्णरूपसे कृपणताका निवर्तक, दुःखरहित तथा निरतिशयानन्दरूप होनेसे अति उदार है, आयासहीन तथा क्षय एवं अतिशयसे शून्य है, आदि और अन्तसे रहित है [ हे भगवन्, मैं त्रिविधतापसे अत्यन्त सन्तप्त हूँ । अतएव सागरमें डूबनेकी इच्छा कर रहे सन्तप्त सिरवाले पुरुषकी नाईं अब मुझसे विलम्ब सहा नहीं जाता ] ॥ १ ॥

यदि तुम्हारी ऐसी स्थिति है, तो फिर पहले ही क्यों नहीं आये ? इसपर कहते हैं—'एतावन्तम्' इत्यादिसे ।

हे मुने, इतने कालतक जडात्मा बनकर मैं गाढ़ निद्रामें सोया हुआ था । अब मनकी तीव्रतर वैराग्यरूपी प्रसन्नतासे जाग गया हूँ ॥ २ ॥

मनोमहामयोत्तप्तं क्षुब्धमज्ञानवृत्तिषु ।
मामुद्धर दुरन्तेहं मोहादहमिति स्थितात् ॥ ३ ॥
श्रीमत्यपि पतन्त्याशु शातनाः कातरादयः ।
गुणवत्युग्रपत्रेऽपि तुहिनानीव पङ्कजे ॥ ४ ॥
जायन्ते च म्रियन्ते च केवलं जीर्णजन्तवः ।
न धर्माय न मोक्षाय मशका इव पङ्कजे ॥ ५ ॥

हे भगवन्, मैं मनके महाभयङ्कर रोग कामसे पीड़ित हूँ, अज्ञानकी वृत्तियों दुर्वासनाओंमें क्षुब्ध हूँ, मेरे समस्त कर्म दुरुच्छेद्य हैं। अतः अनात्मामें आत्माभिमानाकारसे स्थित मोहसे मेरा शीघ्र उद्धार कीजिये ॥ ३ ॥

विद्याधर तो सम्पूर्ण विद्याओंके आश्रय होनेसे अपने विद्याबलसे ही समस्त दुःखोंको दूर करनेमें समर्थ होते हैं, क्योंकि मणि-मन्त्र-रसायनादिकी सिद्धियों तथा अणिमादि ऐश्वर्योंसे वे युक्त रहते हैं, यह सुना जाता है, तो फिर यों श्रीसम्पन्न तुममें कामादि दुःख शातनाएँ तथा कातरता और कार्पण्यादि दोष क्यों आकर गिर पड़े? जिससे कि श्रेष्ठ देवयोनिमें उत्पन्न होनेसे अत्यन्त सबके मान्य होते हुए भी तुम आज निकृष्ट काकयोनिमें पैदा हुए भी मेरी शरणमें आये हो और मोहसे अपने उद्धारका कारण मुझसे पूछ रहे हो? इस आशङ्कापर कह रहे हैं—'श्रीमत्यपि' इत्यादिसे।

सम्पूर्ण विद्याओं तथा नानाविध सिद्धियों आदि श्रीसम्पत्तियोंसे सम्पन्न एवं अनेक प्रकारके गुणोंसे युक्त रहते विद्याधरोंमें भी अजितेन्द्रिय होनेके कारण आत्मज्ञानशून्य होनेसे काम, क्रोध, ईर्ष्या, असूया आदि दुःखशातनाएँ और कातर्य दोष ऐसे शीघ्र गिरते हैं, जैसे लक्ष्मीके आधार बिसतन्तुओंसे युक्त उग्र पत्तोंवाले कमलके ऊपर तुहिन गिरते हैं ॥ ४ ॥

ज्ञानका अभाव रहनेपर धर्मानुष्ठानमें अधिकार न होनेसे देवयोनियां मशकादि योनियोंके तुल्य ही हैं, यह सूचित करते हुए अपने वैराग्यके कारणभूत सर्वत्र दोषदर्शनका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—'जायन्ते' इत्यादिसे।

जीर्ण-शीर्ण जीव निरन्तर उत्पन्न होते और मरते रहते हैं। विषयलोलुप वे जीव कमलमें मच्छड़ोंके समान न तो धर्मके लिए कोई यत्न करते हैं और न मोक्षके लिए ही ॥ ५ ॥

ुब्धमज्ञानवृत्तिषु ।
हादहमिति स्थितात् ॥ ३ ॥
शातनाः कातरादयः ।
तुहिनानीव पङ्कजे ॥ ४ ॥
केवलं जीर्णजन्तवः ।
मशका इव पङ्कजे ॥ ५ ॥

रोग कामसे पीड़ित हूँ, अज्ञानकी वृत्तियों
में दुरुच्छेद्य हैं। अतः अनात्मामें आत्मा-
उद्धार कीजिये ॥ ३ ॥
ाश्रय होनेसे अपने विद्याबलसे ही समस्त
क्योंकि मणि-मन्त्र-रसायनादिकी सिद्धियों
हते हैं, यह सुना जाता है, तो फिर यों
ाएँ तथा कातरता और कार्पण्यादि दोष
ष्ठ देवयोनिमें उत्पन्न होनेसे अत्यन्त सबके
काकयोनिमें पैदा हुए भी मेरी शरणमें
कारण मुझसे पूछ रहे हो ? इस आशङ्कापर
ते।
सिद्धियों आदि श्रीसम्पत्तियोंसे सम्पन्न एवं
विद्याधरोंमें भी अजितेन्द्रिय होनेके कारण
, ईर्ष्या, असूया आदि दुःखशातनाएँ और
जैसे लक्ष्मीके आधार बिसतन्तुओंसे युक्त
गिरते हैं ॥ ४ ॥
ष्ठानमें अधिकार न होनेसे देवयोनियां मश-
सूचित करते हुए अपने वैराग्यके कारणभूत
ान करते हैं—'जायन्ते' इत्यादिसे।
पन्न होते और मरते रहते हैं। विषयलोलुप
न तो धर्मके लिए कोई यत्न करते हैं और



भावैस्तैरेव तैरेव तुच्छालम्भविडम्बनैः ।
चिरेण परिखिन्नाः स्मो विप्रलम्भाः पुनः पुनः ॥ ६ ॥
नान्तोऽस्त्यस्य न च स्थैर्यावस्थाऽविश्रान्तमानसम् ।
भ्रमन्तो भोगभङ्गेषु मरुभूमिष्विवाध्वनः ॥ ७ ॥
आपातमधुरारम्भा भङ्गुरा भवहेतवः ।
अचिरेण विकारिण्यो भीषणा भोगभूमयः ॥ ८ ॥
मानावमानपरया दुरहङ्कारकान्तया ।
न रमे वामया तात हतविद्याधरश्रिया ॥ ९ ॥
दृष्टाश्चैत्ररथोद्यानभुवः कुसुमकोमलाः ।
कल्पवृक्षलतादत्तसमस्तविभवश्रियः ॥ १० ॥

अत्यन्त तुच्छ सुखके लिए हजारों बार पहले उपभुक्त हुए शब्दादिविषयोंसे धोखेकी टट्टीरूप विषय-इन्द्रियसम्बन्ध द्वारा बार-बार ठगे गये हम बहुत दिनोंसे दुःखी हैं ॥ ६ ॥

कहीं एक जगह मनको स्थिर किये बिना मरुस्थलके सदृश क्षणभंगुर इन भोगोंमें भ्रमण कर रहे मेरे इस संसारपथकी न तो कहीं चरमसीमा है और न कहीं स्थिरता ही है ॥ ७ ॥

भोगकी भूमियां आरम्भमें आपाततः रमणीय प्रतीत होती हैं, क्षणमें ही विलीन हो जाती हैं, उनसे अनेक तरहके संसार उत्पन्न होते हैं, तत्काल ही उनमें विकार पैदा हो जाता है तथा उनका भीषण परिणाम होता है ॥ ८ ॥

बहुत अधिक पुण्योंसे प्राप्त विद्याधर सम्पत्तिसे ही तुम्हें विश्रान्ति क्यों नहीं मिल रही है ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'**माना०**' इत्यादिसे।

हे तात, मैं इस तुच्छ विद्याधरसम्पत्तिसे सन्तुष्ट नहीं हो रहा हूँ, मैं इसके साथ रमण करना नहीं चाहता, क्योंकि मान और अपमान ही इसमें बड़ी वस्तुएँ हैं। दुष्ट अहङ्कारसे ग्रस्त जीवोंके लिए ही यह अच्छी है और विवेकी पुरुषोंके लिए सदा प्रतिकूल है ॥ ९ ॥

भुक्तभोगी होनेके कारण सर्वत्र नीरसता दिखलाते हैं—'**दृष्टा०**' इत्यादिसे।

जहाँ कल्पवृक्ष-वल्ली द्वारा अनेक तरहकी विभव-सम्पत्तियाँ प्रदान की जाती हैं, वैसी कुसुमके सदृश अत्यन्त कोमल मैंने चैत्ररथकी उद्यानभूमियां भी देख

विहृतं मेरुकुञ्जेषु विद्याधरपुरेषु च ।
विमानवरमालासु वातस्कन्धस्थलीषु च ॥ ११ ॥
विश्रान्तं सुरसेनासु कान्ताभुजलतासु च ।
हारिहारविलासासु लोकपालपुरीषु च ॥ १२ ॥
न किञ्चिदुचितं साधु सर्वमाधिविषोष्मणा ।
दग्धं भस्मायते तात विज्ञातमधुना मया ॥ १३ ॥
रूपालोकनलोलेन वनिताननगृध्नुना ।
सावभासेन दोषाय दुःखं नीतोऽस्मि चक्षुषा ॥ १४ ॥
इदं गुणावहं नेदमिति मुक्त्वा विकल्पनम् ।
रूपमात्रानुसारित्वादवस्तुन्यपि धावति ॥ १५ ॥

लीं, यानी वहाँके समस्त भोगोंका उपभोग कर लिया । हे भगवन्, मेरुके कुञ्जों तथा विद्याधरोंके नगरोंमें मैंने खूब विहार कर लिया। इतना ही नहीं, मैंने सर्वोत्तम अनेक जातिके विमानों एवं वायुके स्कन्धोंकी भूमियोंमें यानी शीतल-मन्द सुगन्ध हवामें भी इच्छानुसार विहार कर लिया। हे भगवन्, देवताओंकी सेनाओंमें, सुन्दर स्त्रियोंकी भुजलताओंमें तथा हारादिसे विभूषित कमनीय नायिकाओंके मनोहर विहारचमत्कारोंसे युक्त लोकपालोंकी नगरियोंमें चिरकालतक विश्राम भी मैंने खूब किया । हे तात, मैंने अब यह भलीभांति जान लिया कि इनमें कोई भी पदार्थ सुखदायक नहीं है । मानसिक दुःखरूपी विषकी उष्णतासे सबके सब दग्ध होकर भस्म हुए-जैसे मुझे प्रतीत हो रहे हैं ॥ १०–१३ ॥

किस तरहके विवेकज्ञानसे किस-किसका कैसे-कैसे परिज्ञान किया, इसको पहले चक्षु आदि इन्द्रियोंमें दिखलाते हैं—'रूप०' इत्यादिसे ।

रूप देखनेमें अति चपल, स्त्रियोंके मुख देखनेकी स्पृहा रखनेवाले तथा बाह्य और आभ्यन्तर प्रकाशयुक्त नेत्रने अपने विषयोंके सम्बन्ध द्वारा मनको दूषित करनेके लिए मुझे भारी दुःखमें ढकेल दिया है ॥ १४ ॥

स्त्रीके शरीरमें यह वस्त्र, आभूषण सिन्दूर आदि ही सौन्दर्य उत्पन्न करनेवाले हैं, रक्त-मांस आदि नहीं, इस तरहके विवेचनके बिना ही एकमात्र रूपके पीछे-पीछे दौड़नेका स्वभाव होनेके कारण नेत्र अवस्तुमें भी दौड़ जाता है ॥१५॥

तावदायाति विरतिं न वशं यावदापदाम् ।
नानाबन्धपरं चेतः परानर्थेहितोन्मुखम् ॥ १६ ॥

घ्राणमेतदनर्थाय धावच्चैवाभितः स्फुटम् ।
न निवारयितुं तात शक्नोमीह हयं यथा ॥ १७ ॥

गन्धोदकप्रणालेन मुखश्वासानुपातिना ।
वैरिणेवातिदोषेण घ्राणेनास्मि नियोजितः ॥ १८ ॥

चिरं रसनया चाहमनया नयहीनया ।
गजगोमायुगुप्तेषु दुःखाद्रिष्वलमाहतः ॥ १९ ॥

निरोद्धुं न च शक्नोमि स्पर्शलम्पटतां त्वचः ।
ग्रीष्मकालसमिद्धस्य तापमंशुमतो यथा ॥ २० ॥

---

तत्-तत् विषयोंमें आसक्ति रखनेसे दूषित हुआ रागान्ध यह चित्त, प्रदीपके रूपसे मोहित प्रेमी पतङ्गकी नाईं सर्वोत्कृष्ट मरण आदि अनर्थके लिए अपने अभिलषित दुर्व्यसनोंकी ओर झुककर जबतक नानाविध वध, बन्धन, नरक आदि आपत्तियोंके वशमें पड़ा रहता है तबतक इसे कहीं भी शान्ति नहीं मिलती ॥१६॥

नेत्रोंमें कहे गये दोषको घ्राण आदि इन्द्रियोंमें भी दिखलाते हैं—'घ्राणम्' इत्यादिसे ।

हे तात, इस संसारमें नानाविध अनर्थोंके लिए चारों ओर खूब दौड़ रहे इस घ्राणको अश्वकी नाईं रोकनेमें मैं समर्थ नहीं हो रहा हूँ ॥ १७ ॥

अतिदोषयुक्त कोई प्रबल शत्रु जबर्दस्ती पकड़कर जैसे किसी पुरुषको दुर्गन्ध पूर्ण जल बहानेवाले नगरके बड़े पनालेमें 'तुम इसीमें बराबर घूमते रहो' ऐसा आदेश देकर नियुक्त कर देता है, वैसे ही श्लेष्मादि दुर्गन्ध भरे जल बहा रहे अपने बिलमें मुखश्वासानुसारी इस घ्राणेन्द्रियने मुझे नियुक्त कर दिया है ॥ १८ ॥

तथा बहुत दिनोंसे भक्ष्याभक्ष्यके विचारसे हीन इस जिह्वाने पशुओंमें सबसे बलवान् हाथियों और सबसे बुद्धिमान् सियारोंसे सुरक्षित दुःखोंके पहाड़ोंपर मुझे पर्याप्तरूपसे घायल कर रक्खा है ॥ १९ ॥

भगवन्, त्वगिन्द्रियकी स्पर्शलम्पटताको मैं ऐसे रोक नहीं सकता, जैसे ग्रीष्मकालके प्रदीप्त सूर्यके तापको ॥ २० ॥

शुभशब्दरसार्थिन्यो मुने श्रवणशक्तयः ।
मां योजयन्ति विषमे तृणेच्छा हरिणं यथा ॥ २१ ॥

प्रणताः प्रियकारिण्यः प्रह्वभृत्यसमीरिताः ।
वाद्यगेयरवोन्मिश्राः शुभशब्दश्रियः श्रुताः ॥ २२ ॥

श्रियः स्त्रियो दिशश्चैव तटाश्चाम्भोधिभूभृताम् ।
दृष्टा विभवहारिण्यः प्रक्वणन्मणिभूषणाः ॥ २३ ॥

चिरमास्वादिताः स्वादुचमत्कारमनोरमाः ।
प्रह्वकान्ताजनानीताः षड्रसा गुणशालिनः ॥ २४ ॥

कौशेयकामिनीहारकुसुमास्तरणानिलाः ।
निर्विघ्नमभितः स्पृष्टा भृशमाभोगभूमिषु ॥ २५ ॥

---

हे मुने, सुन्दर शब्दका आस्वाद लेनेमें अभिलाषिणी श्रवणकी शक्तियां मुझे विषम परिस्थितिमें ऐसे ढकेल देती हैं, जैसे कोमल तृण खानेकी इच्छाएँ हरिणको तृणोंसे ढके भयङ्कर कूपमें ढकेल देती हैं ॥ २१ ॥

तो क्या रूपसे लेकर शब्दपर्यन्त सभी विषय तुम्हें दुर्लभ थे, जिससे कि उनके लिए तुम्हें अनर्थ प्राप्त हुआ, इस प्रकार 'नहीं' यह कहते हैं—'प्रणताः' इत्यादिसे ।

मुनिवर, आनन्दजनक, नम्र भृत्यजनोंसे प्रेरित, अतएव प्रणतप्राय वाद्य और गानेके शब्दोंसे मिली-जुली अनेक शुभ शब्दोंकी शोभाएँ सुन चुका हूँ ॥ २२ ॥

अपने विषयोंसे सबका मन हरनेवाली तथा मनोहर शब्दोंवाले मणियोंके आभूषणोंसे युक्त श्री, स्त्री, दिशाएँ और समुद्रों एवं पर्वतोंके मैंने अनेक तट देख लिये हैं ॥ २३ ॥

विनीत स्त्रियों द्वारा लाये गये, मधुर आदि रसोंके अनेक चमत्कारोंसे मनोरम, यथायोग्य मिलाने तथा पकाने आदिके चातुर्यके कारण गुणयुक्त सम्पादित षड्रसोंका मैंने चिरकालतक खूब स्वाद चखा है ॥ २४ ॥

रेशमी मुलायम वस्त्रों, सुन्दर कान्ताओं, अनेक तरहके हारों, पुष्पशय्याओं तथा शीतल-मन्द-सुगन्ध युक्त पवनका भी मैंने भोगभूमियोंमें सर्वत्र निर्विघ्नतापूर्वक खूब स्पर्श किया है ॥ २५ ॥

वधूमुखौषधीपुष्पसमालम्भनभूमयः ।
अनुभूता मुने गन्धा मन्दानिलसमीरिताः ॥ २६ ॥
श्रुतं स्पृष्टं तथा दृष्टं भुक्तं घ्रातं पुनः पुनः ।
संशुष्कविरसं भूयः किं भजामि वदाऽऽशु मे ॥ २७ ॥
भुक्त्वा वर्षसहस्राणि दुर्भोगपटलीमिमाम् ।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं न तृप्तिरुपजायते ॥ २८ ॥
साम्राज्यं सुचिरं कृत्वा तथा भुक्त्वा वधूगणम् ।
भङ्क्त्वा परबलान्युच्चैः किमपूर्वमवाप्यते ॥ २९ ॥
येषां विनाशनं नासीद्यैर्भुक्तं भुवनत्रयम् ।
तेऽपि तेऽप्यचिरेणैव समे भस्मपदं गताः ॥ ३० ॥

---

हे मुने, सुन्दर स्त्रियोंके मुख, चन्दन, खस, अगुरु आदि औषधियाँ अनेक तरहके फूल तथा ढेरके ढेर कपूर, कस्तूरी आदिके मिश्रण—इन सबकी मन्द-मन्द बह रही वायुसे प्रेरित गन्धोंका मैं बहुत अनुभव कर चुका हूँ ॥ २६ ॥

हे मुने, मैंने शब्दादि विषयोंका खूब श्रवण, स्पर्श और अवलोकन किया, नानाविध रसोंका खूब आस्वाद लिया, तरह-तरहके फूलोंको खूब सूँघा । महर्षे, पुनः पुनः इन विषयोंका उपभोग करनेसे ये सबके सब विषय मेरे लिए सूखे काठकी नाईं बिलकुल नीरस हो चुके हैं । ऐसी स्थितिमें ये विषय तो मेरे लिए एक तरहसे वान्ताशनप्राय ( वमनको खानेके सदृश ) बन गये हैं, अतः हे भगवन्, मुझसे शीघ्र कहिये, अब मैं किसका सेवन करूँ ॥ २७ ॥

तृण, गुल्म आदिसे लेकर ब्रह्मा पर्यन्तके परिणाममें दुःखदायक विषयोंका मैंने हजारों वर्षोंतक अच्छी तरह भोग किया, लेकिन हे भगवन्, फिर भी मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥ २८ ॥

चिर कालतक निष्कपट राज्य करके, अनेक सुन्दरियोंका भोग करके तथा शत्रुओंके सैन्यको खूब चूर्ण-चूर्ण करके भी हे भगवन्, मनुष्य अपूर्व कौन-सा पदार्थ पा जाता है ? मेरी समझमें तो उसे नई कोई चीज नहीं मिलती ॥ २९ ॥

भगवन्, जिन हिरण्यकशिपु आदि राजाओंने तीनों लोकका चिरकालतक लगातार मनमाना भोग किया तथा जिनके विनाशका साधन इस संसारमें कुछ नहीं था, वे सब भी शीघ्र ही भस्मपदको प्राप्त हो गये—नामावशेष हो गये ॥३०॥

प्राप्तेन येन नो भूयः प्राप्तव्यमवशिष्यते ।
तत्प्राप्तौ यत्नमातिष्ठेत्कष्टयाऽपि हि चेष्टया ॥ ३१ ॥
येन कान्ताश्चिरं भुक्ता भोगास्तस्येह जन्तुभिः ।
दृष्टो न कस्यचिन्मूर्ध्नि तरुर्व्योमप्लवश्च वा ॥ ३२ ॥
चिरमासु दुरन्तासु विषयारण्यराजिषु ।
इन्द्रियैर्विप्रलब्धोऽस्मि धूर्तबालैरिवार्भकः ॥ ३३ ॥
अद्य त्वेते परिज्ञाता मया स्वविषयारयः ।
कष्टा इन्द्रियनामानो वञ्चयित्वा तु मां पुनः ॥ ३४ ॥

---

ऐसी स्थितिमें मनुष्यको क्या करना चाहिये, यह कहते हैं—'प्राप्तेन' इत्यादिसे ।

जिसके प्राप्त हो जानेसे फिर कोई दूसरा प्राप्त करने योग्य पदार्थ अवशिष्ट नहीं रह जाता, हे मुने, सो कष्टपूर्ण चेष्टासे भी उसकी प्राप्तिमें मनुष्यको सदा प्रयत्नशील बनना चाहिये ॥ ३१ ॥

चिरकालतक नानाविध बड़े-बड़े भोगोंका भोग करनेवाले भी पुरुषोंमें भोगकाल समाप्त हो जानेपर जिन लोगोंने भोग नहीं किया है ऐसे अन्य पुरुषोंकी अपेक्षा कोई विशेषता नहीं दीखती, यह कहते हैं—'येन' इत्यादिसे ।

जिन-जिन पुरुषोंने अत्यन्त रमणीय भोगोंका चिरकालतक इस संसारमें खूब भोग किया, उन सब पुरुषोंके मध्यमें किसीके भी मस्तकके ऊपर पैदा हुआ कल्पतरु वृक्ष आजतक किसीसे नहीं देखा गया, जिससे कि वह पुरुष उस कल्पतरुकी छायामें सदैव पूर्णकाम होकर विश्राम करता रहे और न उसके पैरमें आकाशमें उड़नेवाला विमान आदि ही कोई पैदा हुआ देखा गया, जिससे कि वह सदा ही सर्वत्र विहार करता रहे ॥ ३२ ॥

दुःखसे त्याज्य होनेवाली इन विषयरूपी महाजंगलकी पङ्क्तियोंमें बहुत दिन पहले ही इन इन्द्रियोंने मुझे ऐसे ठग लिया है, जैसे धूर्त बड़े-बड़े लड़के सुशील छोटे बच्चेको ठग लेते हैं ॥ ३३ ॥

शब्दादि विषयरूप भूत ही मनको बाहर खींचकर अपने-अपने भोगोंके लिए श्रोत्र आदि भावसे स्थित हैं । इन कष्टदायक इन्द्रियनामवाले अपने विषयरूपी शत्रुओंको आज मैंने अच्छी तरह पहचान लिया । ये विषय और

संसारजङ्गले शून्ये दग्धं नरमृगं शठाः ।
आश्वास्याऽऽश्वास्य निघ्नन्ति विषयेन्द्रियलुब्धकाः ॥३५॥
विषमाशीविषैरेभिर्विषयेन्द्रियपन्नगैः ।
ये न दग्धा न दष्टास्ते द्वित्रा एव जगत्यपि ॥ ३६ ॥
भोगभीमेभवलितां तृष्णातरलवागुराम् ।
लोभोग्रकरवालाढ्यां कोपकुन्तकुलाङ्किताम् ॥ ३७ ॥
द्वन्द्वजालरथव्याप्तामहङ्कारानुपालिताम् ।
चेष्टातुरङ्गमाकीर्णां कामकोलाहलाकुलाम् ॥ ३८ ॥
शरीरसीमान्तगतां दुरिन्द्रियपताकिनीम् ।
ये जेतुमुत्थितास्तात त एवेह हि सद्भटाः ॥ ३९ ॥
सुसाध्यः करटोद्भेदो मत्तैरावणदन्तिनः ।
नोत्पथप्रतिपन्नानां स्वेन्द्रियाणां विनिग्रहः ॥ ४० ॥

---

इन्द्रियरूपी शठ व्याध शून्य संसाररूपी जंगलमें सन्तप्त नररूपी मुझ मृगको धोखेसे फँसाकर बार-बार आश्वासन दे देकर मार रहे हैं ॥ ३४,३५ ॥

जिनकी तालुके अन्दर भयङ्कर विष भरा रहता है ऐसे इन विषय और इन्द्रियरूपी सांपोंसे जो नहीं डसे गये हों, ऐसे दो-तीन मनुष्य भी आजतक इस संसारमें मुझे नहीं दीख पड़े ॥ ३६ ॥

इन्हें अवश्य जीतना चाहिये, यह दिखलानेके लिए इन्द्रियोंका ही शत्रुकी सेनारूपसे वर्णन करते हैं—'भोग०' इत्यादि तीन श्लोकोंसे ।

हे तात, इस दुष्ट इन्द्रियरूपी सेनाको जीतनेके लिए कमर कसकर जो खड़े हैं वे ही इस संसारमें सर्वोत्कृष्ट योद्धा हैं । यह दुष्ट इन्द्रियरूपी सेना भोगरूपी भयङ्कर हाथियोंसे वलित है, तृष्णारूपी चञ्चल वागुरासे युक्त है, लोभरूपी उग्र तलवारोंसे पूर्ण है, कोपरूपी बरछियोंसे अङ्कित है, शीतोष्णादि द्वन्द्वसमूहरूपी रथोंसे व्याप्त है, अहङ्काररूपी सेनापतिसे सुरक्षित है, चेष्टारूपी घोड़ोंसे यह भरी है, कामरूपी कोलाहलोंसे युक्त है और यह शरीररूपी नगरके सीमान्तको चारो ओरसे आक्रान्त कर स्थित है ॥ ३७–३९ ॥

मतवाले ऐरावतका मस्तक फाड़ देना बिलकुल सरल है, लेकिन हे मुनीश्वर, कुमार्गमें प्रवृत्त अपनी इन्द्रियोंको रोक रखना सरल नहीं है ॥ ४० ॥

पौरुषस्य महत्त्वस्य सत्यस्य महतः श्रियः ।
इन्द्रियाक्रमणं साधो सीमान्तो महतामपि ॥ ४१ ॥
तावदुत्तमतामेति पुमानपि दिवौकसाम् ।
कृपणैरिन्द्रियैर्यावत्तृणवन्नापकृष्यते ॥ ४२ ॥
जितेन्द्रिया महासत्त्वा ये त एव नरा भुवि ।
शेषानहमिमान्मन्ये मांसयन्त्रगणांश्चलान् ॥ ४३ ॥
मनःसेनापतेः सेनामिमामिन्द्रियपञ्चकम् ।
जेतुं चेदस्ति मे यत्नो जयामि तदलं मुने ॥ ४४ ॥
इन्द्रियोत्तमरोगाणां भोगाशावर्जनादृते ।
नौषधानि न तीर्थानि न च मन्त्राश्च शान्तये ॥ ४५ ॥
नीतोऽस्मि परमं खेदमभिधावद्भिरिन्द्रियैः ।
एक एव महारण्ये तस्करैः पथिको यथा ॥ ४६ ॥

हे साधो, तत्त्वज्ञानियोंकी भी अपने पौरुष, महत्त्व, महाधैर्य और विश्रान्ति-सम्पत्तिकी अवधि इन्द्रियोंके ऊपर विजय प्राप्त करना ही है ॥ ४१ ॥

मनुष्य तभीतक देवताओंकी भी मान्यताको प्राप्त करता है जबतक कि तृणकी नाईं अपनी कृपण इन्द्रियोंसे विषयोंकी ओर खींच नहीं लिया जाता ॥४२॥

हे भगवन्, जो मनुष्य जितेन्द्रिय और महासत्त्वसम्पन्न हैं वे ही इस पृथिवीके ऊपर मनुष्य हैं । शेष इन पुरुषोंको तो मैं चलते-फिरते मांसके अनेक यन्त्र समझता हूँ ॥ ४३ ॥

हे मुने, मनरूपी सेनापतिकी इन्द्रियपञ्चकरूपी इस सेनाको जीतनेका यदि कोई उपाय हो, तो कृपाकर बतलाइये, ताकि मैं भलीभांति इसे जीत सकूँ ॥ ४४ ॥

मुझे तो एक ही उपाय मालूम है, इसे कहते हैं—'इन्द्रिय' इत्यादिसे ।

भोगोंकी आशाके त्यागके सिवा इन इन्द्रियरूपी भयङ्कर रोगोंकी शान्तिके लिए न तो कोई औषधियां हैं, न कोई तीर्थ हैं और न कोई मन्त्र ही दीखते हैं ॥ ४५ ॥

विषयोंकी ओर दौड़ रही इन इन्द्रियोंने मुझे परम खेदमें ऐसे पहुँचा दिया है, जैसे महाभयङ्कर जङ्गलमें अकेले जा रहे पथिकको चोर खेदमें पहुँचा देते हैं ॥ ४६ ॥

पङ्कवन्त्यप्रसन्नानि महादौर्भाग्यवन्ति च ।
गन्धिशैवलतुच्छानि पल्वलानीन्द्रियाणि च ॥ ४७ ॥
दुरतिक्रमणीयानि नीहारगहनानि च ।
जनितातङ्कजालानि जङ्गलानीन्द्रियाणि च ॥ ४८ ॥
पङ्कजानि सरन्ध्राणि सुदुर्लक्ष्यगुणानि च ।
ग्रन्थिमन्ति जडाङ्गानि मृणालानीन्द्रियाणि च ॥ ४९ ॥
रूक्षाणि रत्नलुब्धानि कल्लोलवलितानि च ।
दुर्ग्रहग्राहघोराणि क्षाराम्बूनीन्द्रियाणि च ॥ ५० ॥
बान्धवोद्वेगदायीनि देहान्तरकराणि च ।
करुणाक्रन्दकारीणि मरणानीन्द्रियाणि च ॥ ५१ ॥

---

इसके बाद तुल्य विशेषणों द्वारा पल्वल आदिके साम्यसे इन्द्रियोंका वर्णन करते हैं—'पङ्कवन्ति' इत्यादिसे ।

कीचड़ोंसे पूर्ण, मलिन, महादौर्भाग्ययुक्त, दुर्गन्धसहित शैवलों तथा तत्तुल्य गन्दे पदार्थोंसे कुत्सित ये छोटी-छोटी तलैयां और इन्द्रियां एक-सी हैं ॥ ४७ ॥

दुरतिक्रमणीय जाड्य और हिमोंसे गहन तथा अनेक तरहका आतङ्क पैदा करनेवाले ये जङ्गल और इन्द्रियसमुदाय एक-से हैं ॥ ४८ ॥

पङ्कसे उत्पन्न तथा पङ्कके उत्पादक, छिद्रयुक्त, अत्यन्त दुर्लक्ष्य गुण ( वासना और तन्तु ) वाले, गांठोंसे समन्वित और जड़ अङ्गोंवाले ये मृणाल और इन्द्रिय-समुदाय तुल्य हैं ॥ ४९ ॥

रूक्ष, रत्नलुब्ध, तरङ्गोंसे वलित और दुर्ग्रहग्राहोंसे भयङ्कर, लवणसागरके जल और ये इन्द्रियसमुदाय एक-से हैं* ॥ ५० ॥

बान्धवोंको उद्वेग पहुँचानेवाले, अन्य शरीर धारण करानेवाले और करुणासे आक्रन्दन करानेवाले ये मरण और इन्द्रियसमुदाय समान हैं ॥ ५१ ॥

---

* सुख स्पर्शवाला न होनेके कारण लवणसागरका जल रूक्ष है तथा निष्ठुर होनेके कारण ये इन्द्रियाँ भी रूक्ष हैं । रत्नोंके लिए लोभी ये इन्द्रियाँ हैं तथा रत्नोंसे युक्त लवणसागरके जल हैं । काम, क्रोध आदि छः तरङ्गोंसे युक्त ये इन्द्रियाँ हैं तथा अपने तरङ्गोंसे युक्त लवणसागरके जल हैं । जिन्हें पकड़ लेना सहज नहीं है, ऐसे अनेक ग्राहोंसे भयङ्कर तो लवणसागरके जल हैं तथा दुराग्रहरूपी ग्राहोंसे भयङ्कर ये इन्द्रियाँ हैं ।

अविवेकिष्वमित्राणि मित्राणि च विवेकिषु ।
गहनानन्तशून्यानि काननानीन्द्रियाणि च ॥ ५२ ॥
घनास्फोटान्यसाराणि मलिनानि जडानि च ।
विद्युत्प्रकाशान्येतानि भीमाभ्राणीन्द्रियाणि च ॥ ५३ ॥
क्षुद्रप्राणिगृहीतानि वर्जितानि कृतात्मभिः ।
रजस्तमोभिभूतानि स्वेन्द्रियाण्यवटानि च ॥ ५४ ॥
पातनैकान्तदक्षाणि दोषाशीविषवन्ति च ।
रूक्षकण्टकलक्षाणि श्वभ्राग्राणीन्द्रियाणि च ॥ ५५ ॥
आत्मम्भरीण्यनार्याणि साहसैकरतानि च ।
अन्धकारविहारीणि रक्षांसि स्वेन्द्रियाणि च ॥ ५६ ॥

---

अविवेकियोंके शत्रु और विवेकियोंके मित्र, गहन, निरवधि तथा जनविश्रान्ति-शून्य ये कानन और इन्द्रियगण तुल्य हैं ॥ ५२ ॥

घन आस्फोटवाले*, असार, मलिन, जड़ और विद्युत् प्रकाशवाले† ये भयङ्कर मेघ और इन्द्रियसमुदाय तुल्य हैं ॥ ५३ ॥

क्षुद्र प्राणियोंसे गृहीत, महात्माओंसे वर्जित तथा रज और तमसे अभिभूत‡ अपनी ये इन्द्रियां और कुपथ समान हैं ॥ ५४ ॥

नीचे गिरानेमें अत्यन्त निपुण, दोषाशीविषवाले+ तथा रूखे लाखों कण्टकोंसे× युक्त जीर्ण गड्ढोंके मुख और ये इन्द्रियां तुल्य हैं ॥ ५५ ॥

हे महामुने, अपना पेट पालनेमें प्रवीण, अनार्य, एकमात्र साहसमें निरत और अन्धकारमें विहरणशील ये राक्षस और इन्द्रियां तुल्य ही हैं ॥ ५६ ॥

---

* मेघोंके समान जिनसे भुजाओंका स्फालन तथा गर्जनशब्द होता है, ऐसी तो ये इन्द्रियाँ हैं और भयङ्कर गर्जन करनेवाले हैं मेघ ।

† बिजलीके समान क्षणभरके लिए सुखका प्रकाश करनेवाली इन्द्रियाँ हैं तथा बिजलीसे जहाँ क्षणभरके लिए प्रकाश हो जाता है ऐसे तो ये हैं मेघ ।

‡ धूलि और अन्धकारसे अभिभूत कुपथ हैं और रजोगुण तथा तमोगुणसे अभिभूत इन्द्रियाँ हैं ।

+ भुजाओंके समान लम्बे-लम्बे विषधरोंवाले जीर्ण गड्ढोंके मुख हैं तथा नानाविध दोषरूपी साँपोंवाली ये इन्द्रियाँ हैं ।

× विषयरूपी लाखों रूक्ष काँटोंसे व्याप्त ये इन्द्रियाँ भी हैं ।

अन्तःशून्यान्यसाराणि वक्राणि ग्रन्थिमन्ति च ।
दहनैकार्थयोग्यानि दुर्दारूणीन्द्रियाणि च ॥ ५७ ॥
घनमोहप्रबन्धीनि दुष्कूपगहनानि च ।
महावरकतुच्छानि कुपुराणीन्द्रियाणि च ॥ ५८ ॥
अनन्तेषु पदार्थेषु कारणानि घटादिषु ।
संभ्रमाणि सपङ्कानि चक्रकाणीन्द्रियाणि च ॥ ५९ ॥
आपन्निमग्नमिममेवमकिंचनं त्वं
मामुद्धरोद्धरणशील दयोदयेन ।
ये नाम केचन जगत्सु जयन्ति सन्त-
स्तत्सङ्गमं परमशोकहरं वदन्ति ॥ ६० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्याने वैराग्यवर्णनं नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

---

भीतरमें खोखले, असार, वक्र, गांठयुक्त, एकमात्र जलानेमें उपयोगी जीर्ण बांस आदिकी लकड़ियां और इन्द्रियां एक-सी हैं ॥ ५७ ॥

घनीभूत मोहादिके द्वारा चौर्य, कलह, द्यूत आदि दुर्व्यसनोंमें प्रबन्धनशील, दुष्टकूपोंसे गहन तथा महा अवकरोंसे* तुच्छ असज्जनोंके नगर और ये इन्द्रियां समान हैं ॥ ५८ ॥

अनन्त घटादि पदार्थोंमें कारणभूत, भ्रमण और कीचड़से युक्त ये कुम्हारके चाक और इन्द्रियां दोनों समान हैं ॥ ५९ ॥

हे आपत्तिसे उबारनेवाले भगवन्, इस तरह इन्द्रियोंके कारण आपत्तिके सागरमें डूबे हुए इस मुझ अकिञ्चन शरणागतका आप दया करके उपदेशसे उद्धार कीजिये, क्योंकि इस संसारमें आपके जैसे जो कोई दयावान् बड़े तत्त्वज्ञानी रहते हैं उनकी शरणागति परमशोकनाशक होती है, यों सभी शास्त्र तथा सभी लोग बतलाते हैं ॥ ६० ॥

छठा सर्ग समाप्त

---

* ढेरके ढेर कतवारोंसे परिपूर्ण होनेके कारण असज्जनोंके नगर जैसे तुच्छ बने रहते हैं वैसे ही ये इन्द्रियाँ भी विषय-वासनारूपी कतवारों ( कूड़ा-करकटों ) से परिपूर्ण होनेके कारण अति-तुच्छ बनी हैं ।

## सप्तमः सर्गः

भुशुण्ड उवाच

ततस्तस्य मया ब्रह्मंस्तच्छ्रुत्वा पावनं वचः ।
इदमुक्तं यथापृष्टं सुस्पष्टपदया गिरा ॥ १ ॥
साधु विद्याधराधीश दिष्ट्या बुद्धोऽसि भूतये ।
भवान्धकूपकुहराच्चिरेणोत्थानमिच्छसि ॥ २ ॥
पावनीयं तव मती राजते घनरूपिणी ।
विवेकेनानलेनेव कनकद्रवसन्ततिः ॥ ३ ॥
उपदेशगिरामर्थमादत्ते हारि हेलया ।
मुकुरे निर्मले द्रव्यमयत्नेनैव बिम्बति ॥ ४ ॥
यदिदं वच्मि तत्सर्वमोमित्यादातुमर्हसि ।
अस्माभिश्चिरमन्विष्टं नाऽत्र कार्या विचारणा ॥ ५ ॥

---

## सातवाँ सर्ग

[ ब्रह्मकी ही सत्ता है, जगत्-रूपी दुःखकी सत्ता है ही नहीं, यह सारा जगत् अज्ञानके कारण प्रतीत हुआ है तथा अहङ्काररूपी बीजसे यह जगद्रूपी वृक्ष उत्पन्न हुआ है—इन सबका वर्णन ]

भुशुण्डने कहा—हे ब्रह्मन्, तदनन्तर विद्याधरके उस पवित्र वचनको सुनकर प्रश्नके अनुसार मैंने सुस्पष्ट पदोंसे युक्त वाणीसे यह उत्तर दिया ॥ १ ॥

हे विद्याधराधीश, हर्षका विषय है कि आज तुम कल्याणके लिए भाग्यवशात् जाग गये हो, चिरकालके बाद संसाररूपी अन्धकारपूर्ण कूपकुहरसे आज तुम निकलनेकी चाह कर रहे हो ॥ २ ॥

जिस तरह अग्निसे व्याप्त सुवर्णद्रव-सन्तति अत्यन्त सुन्दरतासे युक्त होकर शोभने लगती है, उसी तरह विवेकसे निविड़रूपको व्याप्त हुई तुम्हारी यह पवित्र बुद्धि किसी अनिर्वचनीय सौन्दर्यसे शोभित हो रही है ॥ ३ ॥

अतः मुझे विश्वास है कि यह तुम्हारी बुद्धि मेरी उपदेशवाणीके अर्थका बिना किसी प्रयत्नके अवश्य ही आनन्दपूर्वक ग्रहण कर लेगी, क्योंकि निर्मल दर्पणमें पदार्थोंका प्रतिबिम्ब बिना यत्नके ही पड़ता है ॥ ४ ॥

मैं जो कुछ यह कहूँगा, उन सबका तुम 'हाँ' कह करके ग्रहण कर लेना,

यत्किञ्चित्स्वदतेऽन्तस्ते बुध्यस्वाबोधमुत्सृजन् ।
नासि त्वं चिरमप्यन्तः प्रेक्षितोऽपि न लभ्यसे ॥ ६ ॥
नाहं त्वमस्ति न जगदिति निश्चयिनस्तव ।
सर्वमस्ति शिवं तच्च न दुःखाय सुखाय ते ॥ ७ ॥
किमज्ञत्वाज्जगज्जातं जगतोऽथ किमज्ञता ।
विचार्यापीति नो विद्म एकत्वादलमेतयोः ॥ ८ ॥

---

तुम ग्रहण करनेमें ही समर्थ हो। मैंने इस विषयमें चिरकालतक खूब अन्वेषण किया है, इसमें कुछ भी तुम विचार मत करो ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्चका विवेक हो जानेपर साक्षिस्वरूप शुद्ध ब्रह्म ही एकमात्र अवशिष्ट रहता है, यही सम्पूर्ण वेदान्तोंका रहस्य है, इस बातका संक्षेपरूपसे पहले उपदेश देते हैं—'यत्किञ्चित्' इत्यादिसे।

जो कुछ अहङ्कार आदि तुम्हारे हृदयमें दृश्यरूपसे प्रकाशित हो रहा है वह सब तुम नहीं हो। 'दृश्योंमें ही कोई आत्मा है उसीको ढूँढ़कर मुझे प्राप्त करना चाहिए' इस तरह अपने हृदयमें विचारकर आत्माका चिरकालतक यदि तुम अन्वेषण करोगे, तो भी तुम आत्माको प्राप्त नहीं करोगे, इसलिए दृश्यमात्रस्वरूप अज्ञानको छोड़कर तुम दृश्यप्रपञ्चके साक्षी आत्मा अपनेको समझो ॥ ६ ॥

यह समझना अनुचित होगा कि द्रष्टा और दृश्यरूप सम्पूर्ण प्रपञ्चका त्याग हो जानेपर शून्यतापत्ति आ जायगी, क्योंकि सुख-दुःखके वैषम्यके प्रयोजक कल्पित दोषांशकी निवृत्तिसे वास्तविक परमकल्याणस्वरूप ब्रह्मभावसे परिपूर्ण सभी पदार्थ अवस्थित रहते ही हैं, इस आशयसे कहते हैं—'नाहम्' इत्यादिसे।

न मैं हूँ, न तुम हो और न तो यह सारा संसार ही है, यदि ऐसा तुम निश्चय कर लेते हो, तो बस यह समझ लो कि यह समस्त दृश्यप्रपञ्च शिवस्वरूप है और न यह तुम्हारे सुखके लिए है और न दुःखके लिए है ॥ ७ ॥

ऊपरमें जो दृश्यमात्रको अबोधस्वरूप बतला आये हैं, अब उसीका उपपादन करते हैं—'किमज्ञ०' इत्यादिसे।

क्या सुषुप्तिमें अहङ्कारादिभावसे घनीभूत प्रसिद्ध जो अज्ञान है, उसीसे जाग्रत् और स्वप्नस्वरूप यह सारा संसार उत्पन्न हुआ है अथवा पिघले हुए कठिन लाहके समान विलीन हुए जाग्रदादिरूप इस संसारसे सुषुप्तिकालका अज्ञान

मृगतृष्णाम्बुवद्विश्वमवस्तुत्वात्सदप्यसत् ।
यच्चेदं भाति तद् ब्रह्म न किञ्चित्किञ्चिदेव वा ॥ ९ ॥
मृगतृष्णाम्बुवद्विश्वं नास्ति त्वमथवास्ति च ।
प्रतिभासोऽपि नास्त्यत्र तदभावादतः शिवम् ॥ १० ॥
विश्वबीजमहन्त्वं त्वं विद्धि तस्माद्धि जायते ।
साद्र्यब्ध्युर्वीनदीशादिजगज्जरठपादपः ॥ ११ ॥

उत्पन्न हुआ है, इसका बहुत विचार करनेपर भी कोई विनिगमक हेतु न होनेसे कार्यकारणभावकी व्यवस्था हम नहीं समझ रहे हैं। अतः काठिन्य और द्रवावस्थामें घृतके एकत्वकी नाईं इन दोनोंमें एकत्व होनेसे सब कुछ एकमात्र अज्ञानस्वरूप है, यही हमने आखिरमें निश्चय किया है ॥ ८ ॥

यह सारा जगत् ब्रह्मका विवर्त है, इस तरह इस जगत्में ब्रह्मविवर्तताका अवलोकन ही त्याग है। बाधित हुए जगत्को तुच्छ समझनेसे तो कोई भी ब्रह्मस्वरूप सिद्ध नहीं होता है, किन्तु अधिष्ठानरूपतापत्तिकी भावना करनेपर तो सम्पूर्ण पदार्थ ही ब्रह्मरूप सिद्ध हो जाते हैं; यह कहते हैं—'मृगतृष्णा' इत्यादिसे।

मृगतृष्णाजलके समान यह सारा विश्व अवस्तुरूप होनेके कारण सद्रूपसे प्रतीत होनेपर भी असद्रूप है। जो कुछ भी भासित हो रहा है वह सब ब्रह्मरूप ही है। अथवा यों कह सकते हैं कि यह सारा दृश्यप्रपञ्च कुछ भी नहीं है या कुछ है ही ॥ ९ ॥

उक्त अभिप्रायको विशदरूपसे बतलाते हुए उसके प्रतिभासका भी खण्डन करते हैं—'मृगतृष्णा' इत्यादिसे।

मृगतृष्णा जलके समान यह सारा विश्व कुछ भी नहीं है अथवा कुछ है ही। प्रतिभास्यके अभावसे यहाँ प्रतिभास भी नहीं है* अतः एकमात्र शिवस्वरूप ही यह सारा विश्व स्थित है ॥ १० ॥

इस अनन्तरूप जगत्का प्रातिस्विकरूपसे निरास न हो सकनेसे उसके बीजके

* तात्पर्य यह है कि जैसे घटका अभाव रहनेपर प्रकाशके रहते हुए भी घटप्रकाश नहीं रहता, वैसे ही प्रतिभास्यका अभाव रहनेपर प्रतिभास भी नहीं रह सकता।

अहन्त्वबीजादणुतो जायतेऽसौ जगद्द्रुमः ।
तस्येन्द्रियरसाढ्यानि मूलानि भुवनानि हि ॥ १२ ॥
तारकाजालकलिका ऋक्षौघः कोरकोत्करः ।
वासनागुच्छविसराः पूर्णचन्द्रः फलालयः ॥ १३ ॥
स्वर्गादयो बृहद्वर्गा महाविटपकोटराः ।
मेरुमन्दरसह्यादिगिरयः पत्रराजयः ॥ १४ ॥
सप्ताब्धयोऽग्रसुतयः पातालं मूलकोटरम् ।
युगानि घुणवृन्दानि पर्वाणि गुणपङ्क्तयः ॥ १५ ॥
अज्ञानमुत्पत्तिमही नरा विहगकोटयः ।
उपलम्भो बृहत्स्तम्भो दवो निर्वाणनिर्वृतिः ॥ १६ ॥

---

दाहसे ही उसका निरास हो सकता है, यह कहनेके लिए अहङ्कारका जगद्रूपी वृक्षके बीजरूपसे वर्णन करते हैं—'विश्व०' इत्यादिसे ।

हे विद्याधर, इस अहङ्कारको तुम विश्वका बीज समझो । क्योंकि एकमात्र उस अहङ्कारसे ही पर्वत, सागर, पृथ्वी, नदीश आदिके सहित यह जगद्रूपी पुराना वृक्ष उत्पन्न होता है ॥ ११ ॥

सूक्ष्म अहङ्काररूपी बीजसे वह जगद्रूपी वृक्ष उत्पन्न होता है और इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्तिरूपी रससे परिपूर्ण नीचेके भुवन उस वृक्षके मूल हैं ॥ १२ ॥

अश्विनी आदि सत्ताईस तारे इसकी प्रधान कलियां हैं, अन्य तारोंके समूह इसके अन्य कलियोंके समूह हैं, प्राणियोंकी धर्मादिवासनाएँ इसके फूलोंके गुच्छोंके समूह हैं और पूर्णचन्द्र फलका गुच्छा है ॥ १३ ॥

महान् लोगोंके स्वर्ग आदि लोकवर्ग इसके महान् शाखासमूहोंके गर्भप्रदेश हैं । मेरु, मन्दर, सह्य आदि पर्वत इसकी पत्तोंकी पङ्क्तियां हैं ॥ १४ ॥

सातों समुद्र इसके आलवालपरिखा ( चारों ओरके थाले ) हैं, पाताल इसका मूलकोटर है, सत्ययुग आदि चारों युग इसके घुणसमूह हैं तथा प्रत्येक युगके वर्ष, ऋतु और मास आदि इस वृक्षके पोर हैं ॥ १५ ॥

अज्ञान ही इसकी उत्पत्तिकी भूमि है, अनेक जीव इसके करोड़ों पक्षी हैं, भ्रान्तिज्ञान ही इस वृक्षका स्तम्भ है यानी सम्पूर्ण शाखाओंके आधारभूत मध्यभाग है तथा तत्त्वबोधसे प्रपञ्चनिवृत्तिरूपी मोक्ष ही इसे जलानेके लिए दावाग्नि है ॥ १६ ॥

रूपालोकमनस्कारा विविधामोदवृत्तयः ।
वनं विपुलमाकाशं शुक्तिजालं मुखत्वचः ॥ १७ ॥
विचित्रशाखा ऋतव उपशाखा दिशो दश ।
संविद्रसमहापूरो वातस्पन्दो निवर्तनः ॥ १८ ॥
चन्द्रार्करुचयो लोला मज्जनोन्मज्जनोन्मुखाः ।
रम्याः कुसुममञ्जर्यस्तिमिरं भ्रमरभ्रमः ॥ १९ ॥

पातालमाशागणमन्तरिक्ष-
मापूर्य तिष्ठत्यसदेव सद्वत् ।
तस्यानहन्ताग्निहतेहमर्थ-
बीजे पुनर्नास्ति सतोऽपि रोहः ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्याने जगद्वृक्षबीजवर्णनं नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

---

इन्द्रियोंसे अर्थोंकी उपलब्धि यानी विषयोंका साक्षात्कार एवं मनसे होनेवाले सङ्कल्प और विकल्प आदि इस वृक्षके अनेक तरहके सुगन्धप्रसार हैं । अव्याकृत आकाश इसका विपुल वन है तथा नेत्र, ओष्ठ आदिका विकास ही इसके शुक्तिजाल-जैसे फूलोंका खिलना है ॥ १७ ॥

सब ऋतुएँ इसकी विचित्र शाखाएँ हैं, दसो दिशाएँ उपशाखाएँ हैं, आत्म-संवित् इसके जीवनके लिए रसकी धारा है और सूत्रात्मा ही इसका वात-स्पन्द है ॥ १८ ॥

प्रतिदिन उदय और अस्तमें तत्पर चन्द्र और सूर्यकी चञ्चल किरणें ही इसकी रम्य कुसुममञ्जरियाँ हैं और सूर्यके साथ भ्रमण कर रहा अन्धकार ही भ्रमण कर रहे भ्रमर हैं ॥ १९ ॥

इस तरहका यह संसाररूपी वृक्ष मूलसे ( जड़से ) पातालको, मध्यसे सभी दिशाओंको और अपने मस्तकसे अन्तरिक्षको परिपूर्ण करके वस्तुतः असद्रूप होनेपर भी सद्रूप-सा स्थित है । उस अनहंभावरूपी अग्निसे उसका अहङ्कार-रूपी बीज भुन दिये जानेपर जबतक इस शरीरका पतन नहीं हो जाता तबतक

## अष्टमः सर्गः

### भुशुण्ड उवाच

विद्याधर धराधारो गिरिकन्दरमन्दिरः ।
दिगन्तराम्बराचारचारसञ्चारचञ्चुरः ॥ १ ॥
ईदृशोऽयं जगद्वृक्षो जायतेऽहन्त्वबीजतः ।
बीजे ज्ञानाग्निनिर्दग्धे नैव किञ्चन जायते ॥ २ ॥
प्रेक्ष्यमाणं च तन्नास्ति किलाहन्त्वं कदाचन ।
एतावदेव तज्ज्ञानमनेनैव प्रदह्यते ॥ ३ ॥

---

जीवन्मुक्तिभोगके लिए प्रतिभासके विद्यमान रहते हुए भी इसके संसाररूपी वृक्षका जन्मादिके द्वारा पुनः प्ररोह नहीं हो सकता यानी फिर यह अङ्कुरित नहीं हो सकता ॥ २० ॥

सातवाँ सर्ग समाप्त

—०—

## आठवाँ सर्ग

[ इस संसाररूपी वृक्षका ज्ञानसे उच्छेद तथा यह संसार सङ्कल्पमण्डपके सदृश है, इसका वर्णन ]

पूर्वोक्त संसाररूपी वृक्षका पुनः वर्णन करते हैं—'विद्याधर' इत्यादिसे ।

भुशुण्डजीने कहा—हे विद्याधर, जिसका मूलभाग नीचेके सात लोकसहित यह पृथिवी है, जिसकी आलवालसहित वेदि लोकालोकान्तर पर्वतोंकी कन्दराएँ हैं और जो दसों दिशाओं और आकाशमें तिरछे शाखाओंके विस्तार तथा ऊपरकी ओर शाखाओंके प्रसारसे एवं तत्-तत् स्थानोंमें प्राणियोंके जहाँ-तहाँ घूमनेसे अतिचञ्चल है, इस तरहका यह संसाररूपी वृक्ष अहङ्काररूपी बीजसे उत्पन्न होता है । ज्ञानरूपी अग्निसे बीजके दग्ध हो जानेपर कुछ भी उत्पन्न नहीं होता ॥ १, २ ॥

रत्नकी परीक्षाकी नाईं तत्त्वदृष्टिसे यह क्या है, इसका अच्छी तरह विचार करके 'यह केवल ब्रह्म ही है' यह निश्चय करनेपर वह अहङ्कार कदापि कहीं नहीं रहता, बस यही वह ज्ञान है । इसीसे अहङ्कार दग्ध होता है ॥ ३ ॥

अहन्त्वभावाच्चाहन्त्वमस्ति संसारबीजकम् ।
नाहन्त्वभावान्नाहन्त्वमस्तीतिज्ञानमुत्तमम् ॥ ४ ॥
सर्गादावेव सर्गस्य किलास्याभावयोगतः ।
कुतोऽहन्त्वं कुतस्त्वन्त्वं कुतो द्वित्वैक्यविभ्रमः ॥ ५ ॥
समाकर्ण्य गुरोर्वाक्यं यतन्ते ये स्वयत्नतः ।
सङ्कल्पत्यागमामूलं पदं प्राप्तौ जयन्ति ते ॥ ६ ॥
रन्धनाज्जयमाप्नोति स्वशास्त्रे सूपकृत्कृते ।
विवेकी स्वविवेकित्वं यतनादेव नान्यथा ॥ ७ ॥

शरीर आदिमें अहंभावना करनेसे संसारका बीज अहङ्कार रहता है और सर्वत्र अनहंभाव करनेसे वह नहीं रहता, यही सर्वोत्तम ज्ञान है ॥ ४ ॥

सत् या असत्‌से जिसकी उत्पत्तिकी ही संभावना नहीं है उसकी भला स्थिति ही कहांसे हो सकती है, वह तो बहुत दूर कहीं भगा दी गई है, यह कहते हैं—'सर्गादावेव' इत्यादिसे ।

वस्तुतः जब सृष्टिके प्रारम्भमें ही इस सृष्टिके अभावका योग है तब भला कहांसे अहन्ता, कहांसे त्वन्ता और कहांसे हो सकता है द्वित्व और एकत्वका भ्रम ! ॥ ५ ॥

यह संसार तीनों कालमें वस्तुतः है ही नहीं, इस पूर्वोक्त अर्थको दृढ़ करनेके लिए सङ्कल्पद्यूतमण्डपका आगे चलकर वर्णन करनेकी इच्छा कर रहे भुशुण्डजी महाराज पहले भूमिका बांधते हैं—'समाकर्ण्य' इत्यादिसे ।

आगे चलकर वर्णित होनेवाले तथा पूर्वमें वर्णित हो चुके मूलसहित सङ्कल्पका त्याग करनेके लिए उसका उपायक्रम बतलानेवाले गुरुके वाक्य सुनकर उस गुरु द्वारा कहे गये क्रमसे जो अपने प्रयत्न द्वारा स्वयं यत्न करते हैं वे तत्त्वज्ञानप्राप्तिके बाद सङ्कल्परहित कैवल्यनामक परमपदको जीत लेते हैं ॥ ६ ॥

जैसे पाचक अपने पाकशास्त्रका भलीभांति अभ्यास कर लेनेपर उस पाकशास्त्रमें वर्णित विधिसे ही नाना प्रकारके भक्ष्य-भोज्य पदार्थों एवं नाना तरहके रसायनोंका पाक बनानेसे क्षुधा, तृष्णा, रोग, जरा आदिके ऊपर विजय प्राप्त करता है तथा बड़े-बड़े राजाओंके यहां सम्मान प्राप्त करता है वैसे ही विवेकी पुरुष गुरु-शास्त्रोक्त मार्गसे अपने प्रयत्न द्वारा ही कैवल्य पदको प्राप्त करता है, दूसरी रीतिसे नहीं ॥ ७ ॥

चिच्चमत्कारमात्रं त्वं जगद्विद्धीह नेतरत्।
नाशासु न बहिर्नान्तरेतत्क्वचन विद्यते॥ ८ ॥
सङ्कल्पोन्मेषमात्रेण जगच्चित्रं विलोक्यते।
तदनुन्मेषविलयि चित्रकृच्चित्तचित्रवत्॥ ९ ॥
मण्डपोऽस्ति महास्तम्भो मुक्तामणिविनिर्मितः।
बहुयोजनलक्षाणि कान्तकाञ्चनचित्रितः॥ १० ॥
मणिस्तम्भसहस्रेण वृतोऽग्रे प्रोतमेरुणा।
इन्द्रायुधसहस्राढ्यकल्पसन्ध्याभ्रसुन्दरः॥ ११ ॥

---

यह सारा संसार स्वप्न एवं इन्द्रजाल आदिके सदृश अज्ञात चितिका चमत्कारमात्र है, इस चितिसे बाहर कुछ भी नहीं है, यह कहते हैं—'चित्' इत्यादिसे।

हे विद्याधर, इस संसारको तुम यहाँ एकमात्र चितिका चमत्कार ही समझो, उससे भिन्न कुछ नहीं। यह न तो दिशाओंमें है, न बाहर है और न भीतर ही कहीं है॥ ८ ॥

यह सारा प्रपञ्च चितिका एकमात्र चमत्कार ही है, इसका उपपादन करते हैं—'सङ्कल्प०' इत्यादिसे।

सङ्कल्पके एकमात्र आविर्भावसे ही यह संसाररूपी चित्र दिखाई देता है और उसके अभावसे इस तरह विलीन हो जाता है, जिस तरह कि चित्रकारके चित्तमें चित्र॥ ९ ॥

यह सारा संसार सङ्कल्पमात्र कल्पित है, इस कथनको दृढ़ बनानेके लिए संसारमें सङ्कल्पद्यूतमण्डपके आकारकी कल्पना करते हैं—'मण्डपो०' इत्यादिसे।

हे विद्याधर, यह संसार मुक्ता और मणियोंसे विनिर्मित, बड़े-बड़े खम्भोंसे युक्त तथा सुन्दर सुवर्णसे चित्रित लाखों योजनमें बहुत दूरतक विस्तृत सङ्कल्पकल्पित एक महामण्डप है॥ १० ॥

यह हजारों मणिमय खम्भोंसे घिरा है, जिसके अग्रभागमें नीचे मुँह करके पिरोये गये सुमेरुकी नाईं गुग्गुल लगे हुए हैं। यही कारण है कि कहीं-कहीं हजारों इन्द्रधनुषसे व्याप्त-जैसा तथा कहीं-कहीं प्रलयकालीन सन्ध्याके मेघों-जैसा यह सुन्दर दीखता है॥ ११ ॥

स्त्रीबालपुरुषादीनां वास्तव्यानामितस्ततः ।
क्रीडार्थं स्थापिता यत्र नानारचनयान्तरे ॥ १२ ॥

भूतबीजपरापूर्णास्तमोरिपुसघुङघुमाः ।
तमःप्रकाशचित्राख्या लोकान्तरसमुद्गकाः ॥ १३ ॥

आमोदसुभगालोलजलदावलिपल्लवाः ।
लीलापद्माकरे स्त्रीणां विलूनाः कल्पपादपाः ॥ १४ ॥

बालनिःश्वासचलिताः कन्दुकानि कुलाचलाः ।
सन्ध्याम्बुदाः कर्णपूराश्चामराः शरदम्बुदाः ॥ १५ ॥

कल्पान्तकालजलदास्तालवृन्तपदं गताः ।
भूतलं द्यूतफलकं वितानं तारकाम्बरम् ॥ १६ ॥

---

जिसके भीतर इधर-उधर निवास कर रहे स्त्री, बालक तथा पुरुषोंकी क्रीड़ाके लिए पाताल, स्वर्ग एवं अन्य लोकोंके आकारकी पेटारियां स्थापित की गई हैं, जो बीच-बीचमें जहां-तहां नानाविध नदियों, पर्वतों, जंगलों, हाथियों, घोड़ों, देवताओं, पक्षियों तथा मनुष्यों आदिकी तरह-तरहकी रचनाओंसे युक्त हैं, वे पेटारियां कहीं प्राणियों तथा उनके उपभोगकी वस्तुओंसे ठसाठस भरी हैं, कहीं अन्धकारके विघातक मणियों, प्रदीपों, सूर्य और चन्द्र आदिकोंके द्वारा व्यवहार चलनेसे शब्दयुक्त हैं एवं कहीं अन्धकारों तथा कहीं प्रकाशोंसे उनकी विचित्र तरह-तरहकी संज्ञाएँ पड़ी हैं ॥ १२, १३ ॥

क्रीडालक्ष्मीके आकरभूत जिस मण्डपके भीतर स्त्रियोंके शृङ्गारके लिए कर्णफूल आदि अलङ्कार प्रदान करनेवाले, सुगन्धसे रमणीय, चञ्चल मेघपङ्क्तिरूपी पल्लवोंसे युक्त अनेक कल्पवृक्ष लगाये गये हैं ॥ १४ ॥

छोटे-छोटे बच्चोंके निःश्वाससे भी उड़ जानेवाले जहांपर कुलपर्वत गेंद बनाये गये हैं, सन्ध्याकालीन मेघ जहांपर दिशारूपी वधुओंके कर्णफूल बनाये गये हैं और शरत्कालके मेघ ही जिनके हाथमें चँवर धरा दिये गये हैं ॥ १५ ॥

हे विद्याधर, जिस मण्डपमें कल्पके अन्तकालके मेघोंने पंखोंके स्थान दखल कर लिये हैं, जहां यह सम्पूर्णभूतल जुआ खेलनेका एक मेज है, जहां दूसरी रीतिसे आकाश चाँदनी है ॥ १६ ॥

भूतशारपरावर्ते द्यूतेऽक्षाः शशिभानवः ।
व्योमाजिरे जगद्धासपणे गृहनिवासिनाम् ॥ १७ ॥

इति सङ्कल्प एवान्तश्चिरभावनया यथा ।
अग्रस्थदृश्योपमया सत्यतामिव गच्छति ॥ १८ ॥

तथैवायं जगद्रूपः सङ्कल्पैः सुसमुत्थितः ।
चिच्चमत्कारमात्रात्मा चित्रकृच्चित्तचित्रवत् ॥ १९ ॥

असत्यमेव स्फुरति सर्वमस्ति च नास्ति च ।
असदुत्थित एवायं कुतोऽपीह समुत्थितः ॥ २० ॥

हेम्नीव कटकादित्वं संसारोदरकोटरः ।
चिच्चमत्कार एवायमविकल्पनसंक्षयः ॥ २१ ॥

---

जिस मण्डपके भीतर आकाशरूप चौकमें जहां संसारके आविर्भाव और तिरोभावप्रत्ययरूप दावँ लगाये जा रहे हैं और खेलनेवाले ब्रह्मादि मण्डप-स्वामियोंके जिस जुएमें चार प्रकारके जीवसमुदायोंरूपी शारिफलोंका बार-बार जन्म-मरण आदिके द्वारा भ्रमण हो रहा है तथा सूर्य, चन्द्र आदि नवग्रह ही पाशे जहां हैं ॥ १७ ॥

इस तरह सङ्कल्प करनेवालेका सङ्कल्प ही अन्तःकरणमें चिर कालकी भावनासे जैसे सामने स्थित दृश्यके तुल्य एक तरहसे सत्यताको प्राप्त हो जाता है, वैसे ही धाताके सङ्कल्पोंसे सुसमुत्थित यह जगद्रूपी मण्डप चितिका एकमात्र चमत्कारस्वरूप—चित्रकारके चित्तमें बनाये गये चित्रके तुल्य—है ॥१८,१९॥

जो कुछ यहां फुरित हो रहा है वह सब असत्यरूप ही है। वह प्रति-भाससे सत्य प्रतीत हो रहा है, परन्तु परमार्थरूपसे तो बिलकुल है ही नहीं। यह असत् ही उत्पन्न हुआ है; न जाने कहांसे मायाके हाथी, घोड़ेकी नाईं यहां उत्पन्न हो गया है ॥ २० ॥

जैसे सुवर्णमें कटक आदि है वैसे ही जिसने अपने उदरकोटरमें [illegible]है, जिन[illegible]ो स्वच्छ-धारण कर रखा है ऐसा यह चितिका चमत्कार ही सब कुछ है तथा[illegible]ानेपर तत्त्व-विकल्प न करनेसे ही इसका नाश होता है ॥ २१ ॥

अत्यन्तमेव स्वायत्तो यथेच्छसि तथा कुरु ।
यश्चान्नपानदानादावनादरमुपेयिवान् ।
तस्येदं पश्चिमं जन्म न स कर्म समुज्झति ॥ २२ ॥
प्राप्तो विवेकपदवीमसि पावनात्म-
न्पुण्यां पवित्रितजगत्त्रितयां द्वितीयाम् ।
नाधःपतिष्यसि पुनर्मनसाऽमुनेति
जानामि मौनममलं पदमुत्सृज त्वम् ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्याने मायामण्डपवर्णनं नाम अष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

---

इस तरह इस संसारकी उत्पत्ति और नाश तत्त्वज्ञानियोंकी अपनी इच्छाके अत्यन्त ही अधीन है यानी तत्त्वज्ञानियोंके अपने ऐच्छिक विकल्पोंसे इसका आविर्भाव तथा अविकल्पोंसे तिरोभाव होना अत्यन्त ही अपने अधीन है, इसलिए हे विद्याधर, जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा ही करो। जो पुरुष अन्न-पानादि ऐहिक भोगसामग्रियोंमें तथा दान, यज्ञ आदि पारलौकिक भोगसाम-ग्रियोंमें फलोंकी अनभिसन्धिको प्राप्त हो चुका है यानी जो पुरुष इस लोक तथा परलोकके कर्मफलोंकी इच्छासे शून्य हो चुका है वह कर्मोंका कभी त्याग नहीं करता यानी फलप्राप्तिकी इच्छासे शून्य होकर वह कर्म करते ही चलता है। हे विद्याधर, ऐसे उस पुरुषका यह अन्तिम जन्म समझो ॥ २२ ॥

विवेकज्ञानप्राप्तिसे ही तुम्हें मुक्ति अवश्य मिल सकती है, ऐसा मैं अनुमान करता हूँ, यों पुनर्जन्मादिकी संभावनासे भयभीत हुए उस विद्याधरको आश्वासन देते हैं—'प्राप्तो' इत्यादिसे ।

हे शुद्धबुद्धे, अपने पतनके हेतुभूत अविवेक पदकी अपेक्षा न करके तीनों जगत्को पवित्र करनेवाली इस दूसरी पुण्यमय विवेकपदवीमें तुम प्राप्त हो चुके हो, अतः इस मनसे तो तुम फिर अधःपतनमें नहीं गिर सकते हो, ऐसा मैं अनुमान है हूँ। इसलिए तुम वाणी और मनकी चेष्टासे शून्य निर्मल चिन्मात्रपदको दखल कर न करके मन आदि इस दृश्यसमूहका परित्याग कर दो ॥ २३ ॥

आठवाँ सर्ग समाप्त

दूसरी रीति

# नवमः सर्गः

भुशुण्ड उवाच

अबुद्ध्यमानश्चेत्यादिचिद्रूपमपि चानघ ।
शान्तचिद्घन एवाऽऽस्व निर्मलाप्स्वन्तरंशुवत् ॥ १ ॥
अचेतनं चेतनान्तश्चेतनादेव विद्यते ।
स्वेऽसादृश्येऽपि सदृशं पयोराशौ यथाऽनलः ॥ २ ॥

## नवाँ सर्ग

[ चितिके अधीन जगत्‌का उदय, ध्वंस, सत्ता, स्फूर्ति तथा परिवर्तन है और यह सारा विश्व चिन्मात्र चितिका स्फुरण है—यह वर्णन ]

'हेम्नीव कटकादित्वं संसारोदरकोटरः' । चिच्चमत्कार एवायमविकल्पनसंक्षयः ॥' [ नि० प्र० उत्त० सर्ग ८।२१ ] यह जो कहा गया है सो, इन दोनोंका अनुभव करानेकी इच्छा कर रहे भुशुण्डजी अविकल्पकी रीतिका सबसे पहले उपदेश दे रहे हैं—'अबुद्ध्यमान०' इत्यादिसे ।

हे निष्पाप विद्याधर, विषयों तथा विषयोंमें रहनेवाले क्रिया, गुण, दोष आदिके प्रकाशक चिद्रूपका तनिक भी स्मरण न करते हुए तुम निर्मल जलमें प्रविष्ट सूर्यकी किरणोंकी नाईं सर्वविध तापशून्य प्रकाशमात्रावशेष होकर बैठे रहो ॥ १ ॥

'संसारोदरकोटरः' चिच्चमत्कार एवायम्' इसका भी उपपत्तिपूर्वक अनुभव कराते हैं—'अचेतनम्' इत्यादिसे ।

जाड्यदुःखपरिणामित्वादिरूप अपना चितिका असादृश्य रहनेपर भी तत्सदृश यह सारा दृश्यप्रपञ्च चेतनाके कारण ही चेतनके भीतर, समुद्रमें अग्निके सदृश विद्यमान है, अन्यत्र नहीं । तात्पर्य यह है कि यदि अन्यत्र यह विद्यमान होता, तो उससे असम्बद्ध चेतनाके द्वारा इसका प्रकाश कभी नहीं होता और ऐसा कोई पदार्थ है नहीं, जो अचेत्यमान सिद्ध हो सके तथा चेतना सक्रिया भी नही है, जिससे कि अन्यत्र विषयोंमें जाकर चैतन्य प्रदर्खती हैं, जिन यदि वह चेतना सर्वगत मान ली जाती है, तब तो हे हि नहीं, उन्हें तो स्वच्छसिद्ध हो चुकी, यह तुम समझ लो ॥ २ ॥ [illegible]का विज्ञान हो जानेपर तत्त्व-

सचेतनाचेतनयोर्हेतुश्चित्त्वात्तथैव चित् ।
विनाशोत्पादयोर्वह्निज्वालायाः पवनो यथा ॥ ३ ॥
नाहमस्तीति चिद्रूपं चिति विश्रान्तिरस्तु ते ।
ततो यथा यादृशेन भूयते तादृशो भव ॥ ४ ॥
चिद्रूपः सर्वभावानामन्तर्बहिरसि स्थितः ।
प्रसन्नाम्बुभरस्यान्तर्बहिश्चैव यथा पयः ॥ ५ ॥
नाहमस्तीति चिद्रूपं चितौ चेल्लग्नमङ्ग ते ।
न चान्यचेतितं ब्रह्मरूपं केनोपमीयते ॥ ६ ॥

---

इस तरह सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्चकी देशतः स्थिति चितिके अन्दर सिद्धकर अब उसे कालतः सूचित करते हुए चितिकी कार्यता सिद्ध करते हैं—'सचेतना०' इत्यादिसे ।

चिति अपनी चेतनाशक्तिसे सचेतन और अचेतन पदार्थोंकी पूर्वके ही समान हेतु ( विवर्तोपादान ) ऐसे हैं, जैसे कि अग्निज्वालाके विनाश और उत्पत्तिका हेतु पवन है । तात्पर्य यह है कि चितिका विवर्त ही चितिका चमत्कार है ॥ ३ ॥

इसमें 'अहम्' इस सचेतनांशके त्याग द्वारा ही सचेतन और अचेतन दोनों अंशोंके त्यागकी सिद्धि हो जानेसे चिन्मात्रकी अवस्थिति सिद्ध हो जाती है, यह कहते हैं—'नाहम्' इत्यादिसे ।

अहम्पदार्थ कुछ नहीं है, यों अहङ्कारके आस्पद अंशका बाध करके प्रत्यक् चिद्रूपको शेष रखकर विकल्पके हेतुओंके क्षयसे ही विकल्पनिर्मुक्त पूर्ण-चितिमें तुम्हारी विश्रान्ति हो जाय । शेष बचे प्रारब्धका क्षय होनेपर तो जिस रूपसे स्थित रह सकते हो, उसी रूपसे तुम स्थित रहो ॥ ४ ॥

जलसे पूर्ण दूधका जल नष्ट हो जानेपर भी जो रूप शेष रहता है उसीके समान तुम्हारा अनुपम ब्रह्मरूप ही शेषरूपसे रहता है । यह कहते हैं—'चिद्रूपः' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

जैसे स्वच्छ जलसमूहके बाहर और भीतर सब जगह जल ही जल दीखता है । ... समस्त पदार्थोंके बाहर और भीतर चिद्रूपसे तुम्हीं स्थित ह... दूखल कर... न करके मन ...

दूसरी रीति... दार्थ बिलकुल नहीं है, यों अहङ्कारका त्याग कर

ससुरासुरपातालभूविष्टपमिवोषितम् ।
नानाभावाजवीभावक्रियाकालमिवाऽऽकुलम् ॥ ७ ॥
यथा रङ्गमयं कुड्ये जगन्मौनमिव स्थितम् ।
तथा चिच्चित्रकचितं खे कुड्ये चात्मसंस्थितम् ॥ ८ ॥
तेनैव भूयते भूरि यच्चित्तं कचितं स्वतः ।
अचेतनं चेतनं वा यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ९ ॥
चिच्चमत्कृतयो व्योम्नि स्फुरन्त्येता जगत्तया ।
अर्कांशुवदरोधिन्यः स्वच्छा विदितवेदिनाम् ॥ १० ॥

---

यदि तुम्हारा चिद्रूप चितिमें पूर्ण ऐक्यको प्राप्त हो जाय, तो बताओ तो सही, तुम्हारे सिवा भला ऐसी प्रकाशित कौन-सी दूसरी वस्तु है, जिससे कि किसी अन्यके साथ ब्रह्मरूप तुम्हारी उपमा दी जाय ? ॥ ६ ॥

सुर और असुरोंसे व्याप्त पाताल, पृथिवी और स्वर्गकी नाईं स्थित एवं प्रीति, हर्ष, क्रोध, युद्ध, जय, पराजय आदि नाना भावोंसे तथा पलायन, अनुधावन आदि अत्यन्त वेगपूर्वक दोड़ने आदि भावोंसे व्याप्त तत्-तत् अनुरूप क्रियाकालसे व्याकुल हुआ-सा रङ्गमय चित्रमें लिखित जगत्, भित्तिमें लिखित मुनिशरीरकी नाईं, जैसे व्यापारशून्य ही स्थित रहता है ; वैसे ही मायाशबल चितिरूपी चित्रकारके द्वारा विरचित यह जगद्रूपी चित्र भी शुद्ध चिदाकाशरूपी भित्तिमें विकारशून्य अद्वयात्मरूपसे ही संस्थित है, जगद्भावसे नहीं ॥ ७, ८ ॥

अचेतन या चेतन ( मिथ्या जगद्रूप या परमार्थ सद्ब्रह्मरूप ) जो ही अपने-आप चितिमें चित्रित होता है वही सब चेतनरूप हो जाता है । ये दोनों तुम्हारे अधीन हैं, अब इनमें जो तुम चाहो, सो करो—तुम्हारी इच्छा हो, तो समाधि लगाओ या न हो, तो उससे विरक्त हो जाओ ॥ ९ ॥

अज्ञानियोंकी अपेक्षा तत्त्वज्ञानियोंमें सिर्फ यही विशेष रहता है कि जैसे मरुस्थलमें महानदी आदिके रूपसे दिखाई दे रही सूर्यकी किरणें मज्जन, मरण आदिका भय उत्पन्न हो जानेपर उनको तैर जानेका कोई समुचित उपाय न सूझनेसे मरुस्थलका ज्ञान न रखनेवालोंको तटके इधर ही रोक रखती हैं, जिन महापुरुषोंको मरुस्थलका असली ज्ञान हो चुका है उन्हें नहीं, उन्हें तो स्वच्छ-भासती हैं; वैसे ही एकके विज्ञानसे तत्त्वतः सबका विज्ञान हो जानेपर तत्त्व-

तिमिराक्रान्तदृष्टीनां यथा केशोण्डूकादि खे ।
स्फुरत्येवं जगद्रूपमनात्मन्येव तिष्ठताम् ॥ ११ ॥

एवं जगत्त्वमहमित्यवबोधरूप-
माभासमात्रमुदितं न च नोदितं च ।
अर्कांशुजालरचना नगराभमत्र
कुड्यादि सत्यमिदमस्ति न खे लतेव ॥ १२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्याने चित्कचनयोगोपदेशो नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

---

ज्ञानियोंको, चिदाकाशमें स्फुरित हो रही ये चितिकी चमत्कृतियां कुछ भी बाधा नहीं पहुँचातीं । उन्हें तो बिलकुल स्वच्छ मालूम पड़ती हैं, किन्तु अज्ञानियोंको तो अवश्य ही बाधा पहुँचाती हैं ॥ १० ॥

अज्ञानियोंको तो बाधा पहुँचाती ही हैं, इस आशयसे कहते हैं—'तिमिर०' इत्यादिसे ।

तिमिर रोगसे आक्रान्त नेत्रोंवाले पुरुषोंको आकाशमें जैसे केशोण्डूक आदि स्फुरित होते हैं, वैसे ही संसारमें ही अवस्थित रहनेवाले अज्ञानी पुरुषोंको यह जगद्रूप स्फुरित होता है [ ज्ञानी पुरुषोंको नहीं, वे तो सबको ब्रह्मरूपसे ही देखते हैं ] ॥ ११ ॥

'मरुस्थलमें सूर्यकी किरणोंकी नाईं' यह जो ऊपरमें दृष्टान्त बतलाया गया है उसका दूसरी रीतिसे भी वर्णन करते हुए उपसंहार करते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

हे विद्याधर, यों 'तुम और मैं' इत्याकारक अवबोधस्वरूप यह जगत् आभासमात्र यानी पूर्ववर्णित चितिका एकमात्र चमत्कार ही है, अतः यह अज्ञानियोंकी दृष्टिसे ही उत्पन्न हुआ है, ज्ञानियोंकी दृष्टिसे नहीं । एकमात्र सूर्यकी किरणोंसे जिसकी रचना हुई है ऐसे गन्धर्वनगरके समान इस व्यवहारभूमिमें कुड्य आदि जगत है । जगद्रूपसे तो यह सब आकाशमें लताकी नाईं बिलकुल सत्य नहीं है [ अतः यह

दशमः सर्गः

भुशुण्ड उवाच

विद्धि त्वं चेतनादेव चेतनेतरचेतनम् ।
जलेऽग्निरिव चिज्जाड्ये नातो भिन्ने मनागपि ॥ १ ॥
तद्वेदनावेदनयोरभेदात्स्वस्थमास्यताम् ।
निर्यन्त्रमेव चित्रस्थज्ञप्तिवद्व्योममध्यवत् ॥ २ ॥

---

जगत् चितिका निरोधक नहीं है । हे विद्याधर, मेरे कहनेका तात्पर्य यह है कि इस तरह चितिकी अपरिच्छिन्नता सिद्ध हो चुकी है ] ॥ १२ ॥

नवाँ सर्ग समाप्त

---

## दसवाँ सर्ग

[ निर्विकार और कारणशून्य ब्रह्म ही यह सब स्थित है, यह जगत् कभी कहीं नहीं था, यह वर्णन ]

ब्रह्ममें जगत्का अपलाप सिद्ध करनेके निमित्त उसकी जड़ताका खण्डन करनेके लिए जड़रूपसे अभिमत जगत्की चिद्रूपताका अनुभव कराते हैं—'विद्धि' इत्यादिसे ।

हे विद्याधर, चेतनसे भिन्न माने गये इस जगत्के स्फुरणको तुम चेतनसे ही उत्पन्न जानो, क्योंकि चेतनता स्फुरणरूप ही होती है* । जैसे जलमें प्रतिबिम्बित अग्नि जलसे भिन्न नहीं है वैसे ही यह जगत् भी चेतनसे भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं है । अतः चैतन्य और जाड्य ये दोनों तनिक भी भिन्न नही हैं यानी जलकी शीतलतासे अलग प्रतिबिम्बभूत अग्निकी गरमीकी नाईं चैतन्यसे तनिक भी अलग जाड्यनामकी कोई दूसरी वस्तु नहीं है ॥ १ ॥

एकमात्र जाड्यके अपलापसे ही जगत्का अपलाप सिद्ध करके विक्षेपशून्य होकर स्थित रहो, यह कहते हैं—'तद्वेदना०' इत्यादिसे ।

इसलिए हे विद्याधर, ज्ञान और अज्ञानमें अभेद होनेसे परिच्छेदशून्य

---

* तात्पर्य यह है कि यदि वह जगद्रूप स्फुरित होता है, तो फिर वह चेतन ही है, चेतनसे इतर नहीं है ।

ब्रह्मण्यशेषशक्तित्वादचित्त्वं विद्यते तथा ।
अक्षुब्धे विमले तोये भाविफेनलवो यथा ॥ ३ ॥
न कारणं विनोदेति जलात्फेनलवो यथा ।
न कारणं विनोदेति सर्गादि ब्रह्मणस्तथा ॥ ४ ॥
न च कारणमस्त्यत्र सर्गवृत्तावकारणे ।
नातः सञ्जायते किञ्चिज्जगदादिर्न नश्यति ॥ ५ ॥
अत्यन्तं कारणाभावान्न किञ्चिज्जायते जगत् ।
मरावम्बिवव नास्त्येव दृष्टमप्यग्रतो जगत् ॥ ६ ॥
ब्रह्मानन्तमजं शान्तमतोऽस्तीदं न सर्गधीः ।
कारणाभावतस्तेन ब्रह्मैवेदमखण्डितम् ॥ ७ ॥

चित्रकारके चित्तमें बने हुए चित्रस्थ उसके ज्ञान या गन्धर्वनगरके अधिष्ठान आकाशके मध्यके समान स्वस्थ स्थित रहो ॥ २ ॥

'प्रलयकालमें भी अचिद्रूप जगत् सूक्ष्मरूपसे ब्रह्ममें स्थित रहता ही है'—ये जो श्रुति और स्मृतिमें वचन मिलते हैं वे मायाशबलके सर्वशक्तिसम्पन्न होनेके कारण असत्य पदार्थोंमें भी ब्रह्मसत्ताकी आरोपदृष्टिसे ही व्यवहृत हुए मिलते हैं, जैसे कि भविष्यमें उत्पन्न होनेवाले जलके स्वरूप फेनमें वर्तमानकालमें उपस्थित जलकी सत्तासे सत्ताव्यवहार मिलता है, इसी अभिप्रायसे कहते हैं—'ब्रह्मणि' इत्यादिसे ।

सम्पूर्ण शक्तियोंसे सम्पन्न होनेके कारण ब्रह्ममें अचित्त्व उसी तरह रहता है, जिस तरह अक्षुब्ध निर्मल जलमें भविष्यत् फेनलव ॥ ३ ॥

वास्तविक दृष्टिसे तो मायाके असत्त्व होनेके कारण निर्विकार अद्वितीय वस्तुमें किसी तरहका क्षोभ और उसका हेतु न होनेसे जड़सृष्टिकी उत्पत्तिकी संभावना ही नहीं है, यह कहते हैं—'न' इत्यादिसे ।

कारणके बिना जैसे जलमें फेनका लेश उदित नहीं होता, वैसे ही कारणके बिना ब्रह्मसे सर्ग आदि भी उदित नहीं होता ॥ ४ ॥

तथा इस सृष्टिरचनामें अकारण ब्रह्ममें कोई कारण नहीं है । जगत् आदि कुछ भी इससे न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है ॥ ५ ॥

कारणका अत्यन्ताभाव होनेसे जगत् आदि कुछ भी उत्पन्न नहीं होता । मरुस्थलमें जलकी नाईं सामने देखा गया भी यह जगत् सर्वथा नहीं ही है ॥६॥

अज, शान्त और अनन्त ब्रह्म ही सब कुछ है, अतः कारणका अभाव

अतः शिलोदराभोऽसि व्योमकोशोपमोऽपि च ।
ब्रह्मैकघनरूपत्वादजोऽनवयवोऽसि च ॥ ८ ॥
ज्ञोऽसि किञ्चिन्न किञ्चिद्वा निःशङ्कमलमास्यताम् ।
अचेतनाचिदाभासे शाम्यतामात्मनाऽऽत्मनि ॥ ९ ॥
नित्यानन्दतयाऽजस्य कारणं नास्ति कार्यकृत् ।
सर्गाद्यसंभवे तस्माद्यदस्ति तदजं शिवम् ॥ १० ॥
अजो येषां तु चिद्रूपो नास्ति मौर्ख्यविलासिनाम् ।
सर्गनाशे समुत्पन्ने किं तेषां प्रविचार्यते ॥ ११ ॥

---

होनेसे यह निश्चित हो गया है कि सर्गबुद्धि भी नहीं है। चूँकि यह जगत् आदि कुछ भी नहीं है, इसलिए यह सिद्ध है कि एकमात्र अखण्डित ब्रह्म ही सब कुछ है ॥ ७ ॥

इसलिए हे विद्याधर, तुम शिलाके उदरके समान तथा आकाशकोशके सदृश हो। ब्रह्मैकघनस्वरूप होनेके कारण तुम अज और अवयवरहित भी हो ॥ ८ ॥

हे विद्याधर, तुम ज्ञानरूप हो, किसी एक विशेषरूपका निश्चय न होनेसे सबमें अनुगत सत्तासामान्यस्वरूप होनेके कारण तुम किञ्चिद्रूप तो अवश्य ही हो तथा विशेषका बाध होनेपर सत्तासामान्यकी भी निवृत्ति हो जानेसे एवं एकरूपका निश्चय हो जानेसे किञ्चिद्रूप भी नहीं हो। हे विद्याधर, बुद्धि तथा चिदाभासशून्य इस आत्मामें अपने-आप शान्त हो जाओ ॥ ९ ॥

प्रयोजनकी अपेक्षा न होनेसे भी यह सृष्टि नहीं है, यह कहते हैं—**'नित्यानन्दतया'** इत्यादिसे।

अज परमात्माके नित्यानन्दस्वरूप होनेके कारण कार्यसम्पादन करनेवाला कोई कारण नहीं है—क्रियानिमित्त कोई फल नहीं है। इसलिए सृष्टि आदिका संभव न होनेपर जो कुछ है, वह सब अज शिवस्वरूप ही है ॥ १० ॥

इस तरह तत्त्वदृष्टिसे नित्यमुक्तताकी सिद्धिका उपपादन करके इसका स्वीकार न करनेपर मूर्खोंमें नित्यबद्धताकी प्रसक्ति अनिवार्य होगी यानी मूर्ख सब नित्य-बद्ध अवश्य रहेंगे, इसमें सन्देह नहीं, यह कहते हैं—'अजो' इत्यादिसे।

अपनी मूर्खतामें विलास करनेवाले जिन जीवोंकी दृष्टिमें अजन्मा चिद्रूप

यत्र यत्र परं ब्रह्म तत्र सन्ति जगन्ति हि।
जगच्छब्दार्थरूपेण मुक्तान्येवं विधानि च ॥ १२ ॥
तृणे काष्ठे जले कुड्ये सर्वत्रैव परं स्थितम्।
सर्वत्रैव च सर्गौघः परिप्रोतः स्थितो मिथः ॥ १३ ॥
ब्रह्मणः कः स्वभावोऽसाविति वक्तुं न युज्यते।
अनन्ते परमे तत्त्वे स्वत्वास्वत्वात्यसम्भवात् ॥ १४ ॥
अभावसव्यपेक्षस्य भावस्यासम्भवादपि।
पदं बध्नन्ति नानन्ते स्वभावाद्या दुरुक्तयः ॥ १५ ॥

---

नहीं है उनके लिए सृष्टिके नाश या उत्पत्तिके विषयमें क्या विचार किया जाय? तात्पर्य यह है कि अनिर्मोक्ष दोषकी सत्ता बनी रहनेसे उनके विषयमें मोक्षोपायकी चिन्ता बिलकुल व्यर्थ है ॥ ११ ॥

अर्धप्रबुद्ध पुरुषोंकी दृष्टिसे जैसी संसारकी स्थिति रहती है, उसे कहते हैं—'यत्र यत्र' इत्यादिसे।

जहाँ-जहाँ परब्रह्म है वहाँ-वहाँ जगत्‌के शब्दार्थरूपसे शून्य इस तरहके अनेकों जगत् हैं ही ॥ १२ ॥

तृण, काष्ठ, जल और भित्तिमें सर्वत्र ही परब्रह्म स्थित है तथा सभी जगहोंमें सृष्टिका समूह परस्पर गुथा हुआ स्थित है ॥ १३ ॥

तब तो ऐसी दशामें ब्रह्मका मिथ्यासर्ग ही स्वभाव कहिये, हानि क्या है, इस आशङ्कापर 'नहीं' यह कहते हैं—'ब्रह्मणः' इत्यादिसे।

ब्रह्मका क्या स्वभाव* है, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनन्त परम ब्रह्मतत्त्वमें स्वत्व और अस्वत्व दोनोंका रहना अत्यन्त असंभव है ॥ १४ ॥

व्यावर्तकमें 'स्व' शब्दका असंघटन कहकर 'भाव' शब्दका असंघटन भी दिखलाते हैं—'अभाव०' इत्यादिसे।

अभावकी अपेक्षा रखनेवाले 'भाव' का भी सम्भव न होनेसे अनन्त परब्रह्ममें स्वभाव आदि दुरुक्तियाँ अपना पैर नहीं जमा सकतीं ॥ १५ ॥

---

* अपना जो व्यावर्तक धर्म है उसे स्वभाव कहते हैं। उस स्वभावकी धर्मता अस्वभावके व्यावर्तकरूपसे ही कहनी पड़ेगी, इसलिए यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्मका क्या स्वभाव है, क्योंकि उसमें स्वत्वास्वत्व नहीं है।

अस्वत्वाभावयोर्नित्येऽनन्तेऽत्यन्तमसम्भवात् ।
स्वत्वभावेषु सिद्धेषु स्वभावोक्तिर्न तिष्ठति ॥ १६ ॥
नाहन्त्वं लभ्यते साधो बुद्ध्यालोके निरीक्षितम् ।
असदेव कुतोऽप्येतद्बालयक्ष इवोदितम् ॥ १७ ॥
मुक्तं त्वहन्त्वशब्दार्थैर्लभ्यते यच्च तत्परम् ।
युक्तं त्वहन्त्वशब्दार्थैः प्रेक्ष्यमाणं विलीयते ॥ १८ ॥
भेदो जगद्ब्रह्मदृशोरभेदः
पर्यायशब्दार्थविलासतुल्यः ।
सङ्कल्पमात्रं कथितो न सत्यो
यथाऽनयोर्वै कटकत्वहेम्नोः ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्याने सर्गापवर्गप्रतिपत्तियोगोपदेशो नाम दशमः सर्गः ॥१०॥

---

व्यावर्त्य पदार्थकी प्रसिद्धि न रहनेसे भी 'स्व' और 'भाव' इन दोनों पदोंका संघटन नहीं बैठता, यह कहते हैं—'अस्वत्वा०' इत्यादिसे ।

नित्य, अनन्त परब्रह्ममें अस्वत्व और अभाव—इन दोनोंका अत्यन्त सम्भव न होनेसे स्वतःसिद्ध अव्यावर्तक स्वत्व और भावोंमें व्यवहृत 'स्वभाव' शब्दका प्रयोग लोकमें नहीं बैठता । कहनेका तात्पर्य यह है कि स्वभावशब्दका जो तात्त्विक अर्थ है वह लोकमें बिलकुल नहीं घटता ॥ १६ ॥

जिस तरह ब्रह्ममें सृष्टि आदिकी सिद्धि न होनेसे वह अद्वय सिद्ध होता है उसी तरह प्रत्यगात्मा जीवमें भी अहन्ता आदिकी सिद्धि न होनेसे वह अद्वय सिद्ध होता है, यों दोनों तरहसे विचार होनेपर अखण्डता ही सिद्ध होती है, इस आशयसे कहते हैं—'नाहन्त्वम्' इत्यादिसे ।

हे साधो, बुद्धिसे विचारकर देखनेपर तो अहन्ता कहीं नहीं उपलब्ध होती है । बच्चेके सामने बेतालके सदृश असद्रूप ही यह कहींसे आ टपकी है ॥१७॥

अहन्ताके शब्दार्थोंसे मुक्त जो उपलब्ध होता है वह परब्रह्म ही है तथा अहन्ताके शब्दार्थोंसे युक्त जो उपलब्ध होता है वह शास्त्र और आचार्यके अनुभवसे परीक्षा करके तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर तो विलीन हो जाता है ॥ १८ ॥

इस दृष्टिसे जैसे जाड्य चित्स्वभावको प्राप्त है वैसे ही जीव और जगत्‌का

## एकादशः सर्गः

भुशुण्ड उवाच

शस्त्राणि दयिताङ्गानि लग्नान्यङ्गे निरम्बरे ।
यो बुध्यमानः सुसमः स परस्मिन्पदे स्थितः ॥ १ ॥
तावत्पुरुषयत्नेन धैर्येणाभ्यासमाहरेत् ।
यावत्सुपुप्ततोदेति पदार्थोदयनं प्रति ॥ २ ॥

---

भेद भी अभेदस्वरूपताको ही प्राप्त है, यही दिखलानेके लिए सुवर्ण और कटकमें अभेददृष्टान्त पहले अनेक बार कहे जा चुके हैं, इसी अभिप्रायसे अब उपसंहार भी करते हैं—'भेदो' इत्यादिसे ।

जगत् और ब्रह्मदृष्टिमें जो भेद प्रतीत हो रहा है वास्तवमें वह अभेद ही है । जगत् और ब्रह्म—ये दोनों पर्यायशब्दोंके अर्थविलासके तुल्य हैं । 'राहुका सिर' इस व्यपदेशके सदृश सङ्कल्पमात्र ही इस भेदको विद्वानोंने कहा है, सत्य नहीं कहा है । जैसे सुवर्ण और कटकमें अभेद है, वैसे ही जगत् और ब्रह्म—इन दोनोंमें अभेद है ॥ १९ ॥

दसवां सर्ग समाप्त

---

## ग्यारहवाँ सर्ग

[ इन्द्रियोंको जीतकर पूर्ण ब्रह्म परमात्मामें मनकी स्थिति तथा देह आदि दृश्य पदार्थोंमें अनात्मभावना दृढ़ करनी चाहिए, यह वर्णन ]

भुशुण्डजीने कहा—हे विद्याधर, वस्त्रोंसे न ढके अपने शरीरमें लगे हुए शस्त्रोंके आघात और तरुणीके स्तन आदि अङ्गोंका अनुभव करके भी जो बुद्धिमान् पुरुष बिलकुल समभावमें स्थित है वही परम पदमें स्थित है । तात्पर्य यह कि जबतक वैसी स्थिति नहीं आ जाती तबतक मनुष्यको इन्द्रियोंके ऊपर विजय प्राप्त करनेकी दृढ़ चेष्टा और आत्मनिष्ठासे विरत नहीं होना चाहिए ॥ १ ॥

इसी अर्थको स्पष्टरूपसे कहते हैं—'तावत्' इत्यादिसे ।

बड़े धैर्यके साथ अपने पुरुषप्रयत्नके द्वारा मनुष्यको तबतक इन्द्रियोंके ऊपर विजय प्राप्त करनेका अभ्यास निरन्तर करते रहना चाहिए, जबतक कि

यथाभूतार्थतत्त्वज्ञमाधयोऽग्रगता अपि ।
न मनागपि लिम्पन्ति पयांसीव सरोरुहम् ॥ ३ ॥
शस्त्राङ्गनानभांस्यङ्गलग्नान्यलमसंविदम् ।
अलग्नानीव शान्तात्मा यः पश्यति स पश्यति ॥ ४ ॥
विषं यथा स्वान्तरेव दुर्घुणीभवति स्वयम् ।
न च दुर्घुणता नाम विषादन्याऽस्ति काचन ॥ ५ ॥
स्वरूपमजहत्त्वेवं जीवतामधितिष्ठति ।
तथात्मातत्परिज्ञानमात्रैकप्रविलापिनीम् ॥ ६ ॥

---

शस्त्र और कान्ता, आदि बाह्य पदार्थोंसे उत्पन्न हो रहे विकारोंको मिथ्यात्व बुद्धिसे दूर फेंककर एकमात्र स्वात्मसुखविश्रान्तिरूप सुषुप्तता नहीं उदित हो जाती ॥ २ ॥

मानसिक पीड़ाओंका संस्पर्श न होना ही दृढ़ तत्त्वज्ञानका लक्षण है, यह कहते हैं—'यथाभूता०' इत्यादिसे ।

यथार्थ परमात्मतत्त्वको जाननेवाले पुरुषको सामने उपस्थित भी मानसिक पीड़ाएँ* तनिक भी ऐसे नहीं लिप्त कर पातीं, जैसे कमलको जल नहीं लिप्त कर पाते ॥ ३ ॥

आकाशके सदृश स्वच्छ नाना प्रकारके चमकते हुए शस्त्रों तथा देदीप्यमान अनेक स्त्रियों के असंवित्में—शरीरमें खूब संलग्न हो जानेपर भी ( चिपक जाने पर भी ) उन्हें असंलग्न-सा जो शान्तात्मा देखता है, वही यथार्थमें देखता है यानी उसीको सचमुच यथार्थमें साक्षात्कारज्ञानवान् समझना चाहिए ॥ ४ ॥

जैसे विष अपने ही स्वरूपमें घुण आदि विकारभावको प्राप्त होता है और वह घुणता भी विषसे अन्य कोई पदार्थ नहीं होती, वैसे ही अपने स्वरूपका परित्याग न करते हुए ब्रह्म भी स्वतत्त्वके एकमात्र परिज्ञानसे नष्ट हो जानेवाली जीवरूपताको यानी जीवाकारविवर्तनको प्राप्त होता है । कहनेका मतलब यह कि जीवता कोई ब्रह्मसे भिन्न पदार्थ नहीं है ॥ ५, ६ ॥

---

* जैसे कि शुक्तिमें 'यह रजत नहीं है, किन्तु शुक्ति ही है' यह यथार्थज्ञान हो जानेपर उस शुक्तिमें रजतके लाभ या हानि जनित किसी तरहकी मानसिक पीड़ा नहीं देखी जाती, यह भाव है ।

जीवो भवति दुर्घूणोऽमृत्यात्मैव यथा तथा ।
अत्यजन्ती निजं रूपं चिज्जडं रूपमृच्छति ॥ ७ ॥
ब्रह्मण्यनन्योऽप्यन्याभो दुर्घूणः क्वचिदुत्थितः ।
तत्स्थः स एवास इवाप्यतत्स्थ इव सर्गकः ॥ ८ ॥
विषं विषत्वमजहद्यथा स्वान्तः कृमिः क्रमात् ।
न जायते न म्रियते म्रियतेऽपि च जायते ॥ ९ ॥
स्वेनैव संविदर्थेन पदार्थामग्नरूपिणा ।
तीर्यते गोष्पदमिव न तु दैवाद्भवार्णवः ॥ १० ॥

---

अमरणस्वभाव जड़ विष अपने विषस्वभावको न छोड़ते हुए ही जैसे मरण-स्वभाव कीटरूप जीव होता है वैसे ही ब्रह्मचिति भी अपने रूपका त्याग न करती हुई मरणस्वभाव जड़रूपको प्राप्त हो जाती है ॥ ७ ॥

घुणकी नाईं उत्पन्न हुए जीवकी तरह यह सारा संसार भी उत्पन्न हुआ है, यह कहते हैं—'ब्रह्मण्य०' इत्यादिसे ।

विषमें कीटके समान ब्रह्ममें ब्रह्मसे अनन्य होते हुए भी उससे अन्यके सदृश भासमान यह सृष्टिरूप दुष्ट घुण भी कहींसे आविर्भूत हुआ है । यद्यपि यह उसीमें स्थित उसीका रूप है तथापि उससे अन्य और उसमें स्थित नहीं-सा भासता है ॥ ८ ॥

कृमिमें जैसे विषस्वभावदृष्टिसे जन्म और मरण नहीं होते, परन्तु आत्म-स्वभावदृष्टिसे तो होते ही हैं; वैसे ही जीवमें भी ब्रह्मस्वभावदृष्टिसे जन्म और मरण नहीं होते, किन्तु जीवस्वभावदृष्टिसे तो होते ही हैं, यह कहते हैं—'विषम्' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

जैसे विष अपने विषरूपी स्वभावको न छोड़कर ही अपने अन्दर क्रमशः कृमि होता है तथा विषदृष्टिसे न जन्म लेता और न मरता ही है, किन्तु कृमिदृष्टिसे मरता है जन्म भी लेता है; वैसे ही यह आत्मा भी ब्रह्मस्वरूपसे न जन्म लेता है और न मरता है, किन्तु जीवस्वभावसे जन्म लेता और मरता भी है ॥ ९ ॥

देह, इन्द्रिय आदि विषय पदार्थोंमें अहन्ता-ममताकी आसक्तिसे अपने स्वरूपको तिरोहित न करके मनुष्य श्रवण, मनन आदि प्रयत्न द्वारा निष्पादित आत्मसाक्षात्कारज्ञानके प्रयोजनभूत अपनेसे ही इस भवसागरको गायके खुरके

सर्वभावान्तरावस्था सर्वभावातिशायिनी ।
अन्तःशीतलता यस्मिंस्तस्मिन्किमिव हेलनम् ॥ ११ ॥
जगत्पदार्थसत्तान्तः सामान्येनाऽऽशु भाविते ।
मनोहङ्कारबुद्ध्यादि कः कलङ्कोऽमलात्मनि ॥ १२ ॥
यथा घटपटाद्यर्थान्पश्यस्येवं शरीरकम् ।
तथाऽहन्त्वमनोबुद्धिवेदनाद्यपि पश्य हे ॥ १३ ॥
जगत्पदार्थसार्थौघमनोबुद्ध्यादिसंस्थितम् ।
ज्ञ एवासंविदंस्तिष्ठ परिनिष्ठितनिष्ठया ॥ १४ ॥

---

समान तैर जाता है, न कि मुझे इस संसारसागरसे दैव पार लगायगा, इस प्रयत्नकी उपेक्षा करके ॥ १० ॥

सम्पूर्ण दृश्य पदार्थोंका बाध हो जानेपर परिशिष्ट बचे परम दरिद्ररूपी एक आत्मस्वरूपमें भला विश्रान्तिसुखकी संभावना ही कैसे ? इस प्रसक्त अवहेलनाका निवारण करते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

सम्पूर्ण भावोंको मात कर देनेवाली समस्त पदार्थोंकी सार सुखरूपावस्था तथा सांसारिक सभी तापोंकी निवृत्ति हो जानेसे आन्तरिक शीतलता जिसमें विद्यमान है ऐसे परिपूर्ण आत्मस्वरूपमें हे विद्याधर, किस तरहकी अवहेलना हो सकती है ? ॥ ११ ॥

जीवके मन, अहङ्कार आदि कलङ्ककी निवृत्तिमें उपाय बतलाते हैं—'जगत्' इत्यादिसे ।

जागतिक सम्पूर्ण पदार्थोंकी सत्ताके भीतर सन्मात्रब्रह्मरूपसे भावित निर्मल आत्मामें मन, अहङ्कार, बुद्धि आदिरूप भला कौन-सा कलङ्क रह सकता है ? ॥१२॥

जैसे घट, पट आदि पदार्थोंको तुम तटस्थरूपसे देख रहे हो, वैसे ही हे विद्याधर, अहन्ता आदिका अभिमान छोड़ करके शरीरको पहले तटस्थरूपसे देख लेनेके बाद तुम अहन्ता, मन, बुद्धि और ज्ञान आदिको भी तटस्थरूपसे ही देखते रहो ॥ १३ ॥

तदनन्तर हे विद्याधर, सर्वसाक्षिस्वरूप होकर तुम बाह्य जगत्के सम्पूर्ण पदार्थों तथा आन्तरिक मन, बुद्धि आदिका अनुभव न करते हुए अपनी स्वाभाविक स्थितिसे बैठे रहो ॥ १४ ॥

न केनचित्कस्यचिदेव कश्चि
द्दोषो न चैवेह गुणः कदाचित् ।
सुखेन दुःखेन भवाभवेन
न चास्ति भोक्ता न च कर्तृता च ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरो॰ यथाभूतार्थवेदनं नामैकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

## द्वादशः सर्गः

भुशुण्ड उवाच

ख एव व्योम सम्पन्नमिति सङ्कल्पनं यथा ।
भ्रान्तिमात्रमसद्रूपं तथाऽहम्भावभावनम् ॥ १ ॥

---

उस स्थितिमें सम्पूर्ण गुण, दोष आदिके विक्षेपोंके हेतुओंकी शान्ति रहती है, यह कहते हैं—'न केनचित्' इत्यादिसे ।

उस ज्ञानरूप अवस्थामें सम्पत्ति या विपत्ति तथा उससे उत्पन्न सुख या दुःख किसी कारणसे भी इस संसारमें किसीको कभी भी कोई गुण या दोष उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि उस दशामें कर्तृताके न रहनेसे भोक्तृता भी नहीं रहती* ॥१५॥

ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

---

## बारहवाँ सर्ग

[ अहंभाव भ्रान्तिमात्र है, जगत्‌का भ्रम चितिका विवर्त है, उसकी मूल अविद्या है तथा अविद्याके नाशका क्रम क्या है—इन सबका वर्णन ]

अविद्या ही अहंभावरूपी सूक्ष्मप्रपञ्चभाव है । उसीकी स्थूलरूपता होती है । इस रीतिसे समस्तविकल्पोंके चितिका विवर्तमात्ररूप होनेसे सबमें एकता दिखलाते हैं—'ख एव' इत्यादिसे ।

भुशुण्डजीने कहा—हे विद्याधर, आकाशमें ही दूसरा आकाश उत्पन्न हुआ

---

* देखो यह श्रुति क्या कह रही है—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' ।

खे खं जातमिति भ्रान्तेरहं कल्पयिता यथा ।
तथा निर्व्यपदेश्यात्म सदस्त्यसदिवाऽऽततम् ॥ २ ॥
खे खात्मैवास्ति चिद्रूपं तत्स्वकं बुध्यते वपुः ।
भासते यदिदन्त्वेन नाहमस्मि न चानहम् ॥ ३ ॥
ततश्चिद्रूपमस्तीदृग्यत्र स्थूलं खमप्यलम् ।
अणाविव महामेरुस्तत्संविच्चिर्हि खादिता ॥ ४ ॥
घनस्ततोऽचिदाभासः खादप्यतितरामणुः ।
जानाति यत्स्वभावं तदेतत्सर्गतया स्थितम् ॥ ५ ॥

---

है, यों अपने मनसे एक दूसरे आकाशकी कल्पना कर लेना ही जैसे एक ही आकाशमें सिर्फ भेदकी भ्रान्ति है, वैसे ही अज्ञात आत्मामें सूक्ष्मप्रपञ्चात्मक असद्रूप अहंभावकी कल्पना करना एकमात्र भ्रान्ति है ॥ १ ॥

दृष्टान्तमें कल्पना करनेवाला तो कोई तीसरा ही पुरुष प्रतीत होता है, वह तीसरा कौन है, यह पूछनेपर उसे बतलाते हैं—'खे खम्' इत्यादिसे ।

आकाशमें ही दूसरा आकाश उत्पन्न हुआ है, इस भ्रान्तिका कल्पक जैसे अहंभाव है वैसे ही अविद्यासे आच्छादित होनेसे असत्-सा प्रतीत हो रहा अतएव शब्दादिसे अव्यवहार्य आत्मरूप सद्वस्तु ही कल्पक है ॥ २ ॥

जैसे आकाशमें अद्वितीय आकाशात्मा ही है, दूसरे आकाशको तो कल्पक पुरुषका सङ्कल्पावच्छिन्न चिद्रूप अपने सङ्कल्पात्मक शरीरकी ही उस रूपमें कल्पना करके जानता है वैसे ही चूँकि अविद्योपहित चिदात्मा अपने अविद्यारूप शरीरकी 'मैं और यह' इत्यादि अभिमन्ता और अभिमन्तव्यरूपसे कल्पना करके अवभासता है । इसलिए अज्ञानसे अन्य न अहंभाव है और न अनहं-भाव ही है ॥ ३ ॥

इसलिए हे विद्याधर, प्रत्येकको यह समझ लेना चाहिए कि वह चिद्रूप ऐसा है कि जहाँ परमाणुमें महामेरुकी नाईं आकाश भी अति स्थूल है । सम्पूर्ण कल्पनाओंका अधिष्ठानभूत वह ब्रह्म परमसूक्ष्म है । उसी अतिसूक्ष्म ब्रह्मचितिकी कल्पना आकाश आदि यह स्थूल जगत्-रूप है ॥ ४ ॥

उस ब्रह्मकी परम सूक्ष्मरूपताका उपपादन करते हैं—'घन०' इत्यादिसे ।

अहन्ताखादिताद्यात्मविदः प्रसरणं जगत् ।
अम्भोद्रवप्रसरणं यथावर्तादिवेष्टनम् ॥ ६ ॥
अचित्प्रसरणं शान्तमस्पन्दीव जलद्रवः ।
निस्पन्दपवनाकारमाकाशहृदयोपमम् ॥ ७ ॥
न देशकालादिजगत्प्रसरेषु च युज्यते ।
घनाच्छून्यान्निराभासाच्चिन्मात्रविसराहृते ॥ ८ ॥
चिन्मात्रे प्रसृते काले व्योम्नि नावि जले स्थले ।
निद्रायां जाग्रति स्वप्ने भवेज्जगदिवोदितम् ॥ ९ ॥
प्रसरणाप्रसरणे न च सम्भवतो विदः ।
खादप्यत्यन्तस्वच्छत्वादक्षोभादेः सदैव हि ॥ १० ॥

---

आकाशसे भी अत्यन्तसूक्ष्म अज्ञानरूपी अनादि विवर्त है, जो कि आत्मचितिसे अत्यन्त स्थूल है उस तरहका परमसूक्ष्म चेतन ही 'मैं, यह' इत्यादिरूप अनादि वासनासे उत्तरोत्तर स्थूल हुए अपने स्वभावकी कल्पना करके जो सब पदार्थोंको जानता है वही यह सब सृष्टिरूपसे स्थित है ॥ ५ ॥

जैसे आवर्त आदि विकार जलद्रवके प्रसार हैं, वैसे ही आत्मामें अहन्ता आदि आध्यात्मिक तथा आकाश आदि आधिभौतिक यह जगत् आत्मचेतनका विस्तृत विवर्तरूप है ॥ ६ ॥

चितिके विवर्तका अभाव ही प्रलय है, जो निश्चल जलद्रवकी नाईं, स्पन्दन-शून्य पवनके आकारके सदृश तथा आकाशहृदयके तुल्य है ॥ ७ ॥

इस तरह देश, काल आदि जगत् तथा इसके अवान्तर हजारों कार्यरूपी प्रसारोंमें भी एकमात्र घन, शून्य और निराभास चितिके विवर्तके सिवा अन्य कोई पारमार्थिकरूप उपपन्न नहीं है ॥ ८ ॥

इसमें उपपत्ति दिखलाते हैं—'चिन्मात्रे' इत्यादिसे ।

चितिका ही विवर्त होनेसे काल, आकाश, नौका, जल, स्थल, निद्रा, जाग्रत् और स्वप्नमें यह जगत् उदितके सदृश भासता है ॥ ९ ॥

चितिका जगत्के आकारमें परिणामस्वरूप वास्तविक प्रसार क्यों नहीं है, इस आशङ्कापर कहते हैं—'प्रसरणा०' इत्यादिसे ।

आकाशसे भी अत्यन्त अधिक स्वच्छ होने तथा संचलन आदि सब तरहके

ज्ञश्चेतति न भोगादि न चैवात्मन्यसावहम् ।
द्रवत्वमम्भसीवान्तरद्वितीयः परे स्थितः ॥ ११ ॥
धीर्ह्रीः श्रीर्भीः स्मृतिः कीर्तिः कान्तिरित्यादिकं गणम् ।
न पश्यति विसङ्कल्पस्तमसीव पदान्यहेः ॥ १२ ॥
ब्रह्मेन्दुबिम्बस्फुरितचिज्ज्योत्स्नांशामृतद्रवः ।
दिक्कालासम्भवात्सर्गो नेश्वरादतिरिच्यते ॥ १३ ॥

---

बिकारोंसे शून्य होने से चितिका विस्तार और संकोच वास्तवमें नहीं होता [ अतएव इस संसारकी उत्पत्ति और नाश एकमात्र अज्ञानसे ही सिद्ध है ] ॥१०॥

सुख-दुःख आदि भोगोंके अनुभवरूप तथा देह आदिमें अहंभावरूप विकार तो चिदात्मामें दिखाई देते हैं, यदि यह कोई आशङ्का करे, तो उसपर कहते हैं—'ज्ञश्चेतति' इत्यादिसे ।

ज्ञानस्वरूप आत्मा विषयजनित सुख-दुःख आदि भोगोंका अनुभव नहीं करता और न इस आत्मामें 'यह तथा मैं' यह व्यवहार ही रहता है । किन्तु जलमें द्रवत्वके समान अद्वितीय आत्मा भीतर अपने कूटस्थस्वभावमें स्थित है । तात्पर्य यह है कि भोगादि विभ्रम चिदाभासको ही होते हैं, कूटस्थ आत्माको नहीं होते ॥ ११ ॥

सङ्कल्पशून्य आत्मा चिन्ता, लज्जा, हर्ष, भय, स्मृति, कीर्ति तथा इच्छा आदि मनकी वृत्तियोंके हेतु बाह्य विषयोंको ऐसे नहीं देखता, जैसे कि अन्धकारमें साँपके पैर ॥ १२ ॥

हे विद्याधर, ब्रह्मरूपी चन्द्रबिम्बसे स्फुरित जीवचिदाभासरूपी ज्योत्स्नाके अंशभूत चाक्षुष आदि ज्ञानमय अमृतका द्रवरूपी जो यह सर्ग है वह परमेश्वरसे भिन्न नहीं है, क्योंकि इस सृष्टिके आधारभूत दिशा और काल इन दोनोंका निरवयव और निष्क्रिय ब्रह्ममें रहना संभव नहीं है । दिशाके रहनेपर ही मूर्त-द्रव्यकी क्रियासे सर्गकालकी कल्पना की जा सकती है और वह क्रिया पहलेसे तो उपस्थित है नहीं । एवं कालके रहनेपर ही दिशा आदिकी उत्पत्तिकी कल्पना की जा सकती है, लेकिन प्रलयमें वह भी नहीं है, कारण कि क्रियाके अतिरिक्त उसका कोई साधक नहीं है । पूर्ण कूटस्थमें तो क्रियाका योग है ही नहीं । ऐसी स्थितिमें उन दोनोंके अभावमें किसी अन्यका अवकाश नहीं है, इस तरह यह सिद्ध है कि ब्रह्मसे अतिरिक्त किसी पदार्थकी सिद्धि नहीं है ॥ १३ ॥

आधिमान्यः स्फुरत्येवं परे स्फुरति भासुरम् ।
जगदाद्यात्मकं चित्तं चक्रौघत्वमिवाम्भसि ॥ १४ ॥
मज्जनोन्मज्जनारावैर्विवर्तावर्त्तवेष्टनैः ।
अच्छिन्नानुपदं क्षीणा भाति सर्गसरिच्चिरम् ॥ १५ ॥
यथाऽऽवर्तैः पयो भाति धूमो भाति यथा घनः ।
तथा जडात्मकतया तृतीयः सर्ग एतयोः ॥ १६ ॥
दारुणि क्रकचच्छेदे यथाऽऽवर्तादिकं तथा ।
अदिगादौ परे सर्गस्तदतद्रूपवानयम् ॥ १७ ॥
संसारकदलीस्तम्भाद्विना सङ्कल्पपल्लवम् ।
मृदुनोऽपि दृषत्क्रूरान्न किञ्चिल्लभतेऽन्तरम् ॥ १८ ॥

इस तरह भगवान् परमेश्वरके अपनेसे अभिन्न जगत्के आकारमें सर्वसाधारण सच्चिदानन्दात्मरूपसे खूब चमकते हुए स्फुरित होनेपर देह आदि किसी एक स्थानमें विशेष अभिमान करके उसके अनुकूल या प्रतिकूल हेय या उपादेयकी कल्पना द्वारा अहङ्कारात्मा ही अन्यकी नाईं स्फुरित होता है। इस तरह जलमें आवर्तसमूहकी नाईं यह सम्पूर्ण जगत्, जीव, बन्ध मोक्ष आदि की कल्पना है, जो कि एकमात्र भ्रान्त चित्त ही है, अणुमात्र भी और कुछ नहीं है ॥ १४ ॥

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक—इन दोनोंका रूपक द्वारा एकीकरण करके उपपादन करते हैं—'मज्जन०' इत्यादिसे।

मज्जन और उन्मज्जनके शब्दोंसे तथा विवर्तावर्तरूपी भ्रमणोंसे पूर्ण बराबर बह रही यह सृष्टिरूपी मरीचिनदी स्फुरित हो रही है, जो कि तत्त्वसाक्षात्कारसे शीघ्र ही चिरकालके लिए क्षीण हो जाती है। तात्पर्य यह है कि जैसे मृगतृष्णाकी नदी मरुभूमिके साक्षात्कारसे शीघ्र नष्ट हो जाती है वैसे ही यह सृष्टि भी परमात्मतत्त्वके साक्षात्कारसे शीघ्र ही सदाके लिए क्षीण हो जाती है ॥ १५ ॥

जैसे आवर्तोंसे जल या दूरसे धूमसमूह निबिड मेघरूपसे भासता है वैसे ही ब्रह्म और मन इन दोनोंके मध्यमें तीसरी यह सृष्टि विषयरूप होनेसे जड़ और सत्यरूपसे स्फुरित होनेके कारण अजडरूपसे भासती है ॥ १६ ॥

आरीसे लकड़ी चीरनेपर जैसे आवर्त आदि भासते हैं वैसे ही देश-कालादिसे शून्य परमात्मामें यह सृष्टि जड़ और अजड़रूपसे भासती है ॥ १७ ॥

मिथ्या होनेसे अपने स्वरूपसे अत्यन्त कोमल तथा अधिष्ठानसत्तासे

सहस्रखुरमूर्धाक्षिकरवक्त्रेहितोहितम् ।
नानाद्रितनुदिग्देशसरित्प्रादेशमात्रकम् ॥ १९ ॥
अन्तःशून्यमसारात्म बहुरागोपरञ्जितम् ।
स्फुरद्विरागविहितमार्जनामात्रतर्जनम् ॥ २० ॥
ससुरासुरगन्धर्वविद्याधरमहोरगम् ।
जडात्मपवनस्पन्दि परचेतनचेतितम् ॥ २१ ॥
पटे चित्रमहाराज्यमिव भासुरसुन्दरम् ।
परामर्शासहं चारु विकल्पस्फूर्जितं जगत् ॥ २२ ॥

---

पत्थरकी नाईं अतिदृढ़ इस संसाररूपी कदलीस्तम्भका स्फटिकशिलामें प्रतिबिम्बित कदलीस्तम्भसे तनिक भी असाम्य विवेकदृष्टिसे देखनेपर नहीं मिलता। यदि कुछ मिलता भी है तो सिर्फ वह सङ्कल्पकल्पित पल्लववैलक्षण्यकृत ही। कहनेका तात्पर्य यह कि सङ्कल्पकल्पित विलक्षण पल्लवके सिवा और कुछ तनिक भी वैसादृश्य इन दोनोंमें नहीं मिलता ॥ १८ ॥

पटके ऊपर विरचित चित्रगत राज्यके सादृश्यसे अब इस जगत्का वर्णन करते हैं—'सहस्र०' इत्यादि चार श्लोकोंसे।

हे विद्याधर, यह रमणीय सारा संसार पटके ऊपर विरचित चित्रगत महाराज्यके सदृश प्रकाशयुक्त, सुन्दर और विकल्पसे विस्फूर्जित है। हे विद्याधर, चित्रगत महाराज्यके सदृश ही यह भी परामर्शको न सहनेवाला * है। इसके अन्दर हजारों पैर, मस्तक, नेत्र, हस्त, मुख तथा इनसे अभिलषित और वितर्कित वस्तुएँ एवं नाना प्रकारके पर्वत, चतुर्विध प्राणियोंके शरीर, दिशाएँ और अनेक नदियां परमात्माके मापसे प्रादेशमात्रके समान परिच्छिन्न हैं। अनेक प्रकारके रञ्जक द्रव्योंसे रञ्जित चित्रगत महाराज्यकी नाईं यह सारा संसार भी अनेक प्रकारके कामादिरूप रंगोंसे रञ्जित है। विरुद्ध वर्णवाले मार्जनद्रव्यसे परिमार्जन कर देना ही एकमात्र जिसका नाश है ऐसे चित्रलिखित महाराज्यकी नाईं यह सारा संसार भी केवल तीव्र वैराग्यमात्रसे ही परिमार्जित होता है। हे विद्याधर, सुर, असुर, गन्धर्व, विद्याधर तथा महोरग आदिसे युक्त जड़ात्मकपवनसे स्पन्दनशील

---

* परामर्श यानी विचार, इसको नहीं सहनेवाला यह संसार है अर्थात् विचार करनेपर तनिक भी टीक नहीं सकता तथा चित्र भी दूसरे द्वारा हुए उपमर्दनको नहीं सह सकता।

स्पन्दात्मनि विकल्पांशे पतिताऽसत्यरूपिणि ।
संवित्प्रसरति भ्रान्तौ तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ २३ ॥
हृल्लेखाजालविसरैः सर्वावर्तविवर्तनैः ।
विसरत्स्नेहसंमिश्रजडानुदयचर्वणैः ॥ २४ ॥
अहमित्यादिचिद्रूपे विकल्पेनोन्मुखी सती ।
न पराद्व्यतिरिक्तैषा जलत्वादिव तोयता ॥ २५ ॥
चिदादित्यः स्व आत्मैव सर्ग इत्यभिधीयते ।
भूत्वाऽहमिति तेनान्यो न सर्गोऽस्ति न सर्जकः ॥ २६ ॥

---

तथा द्रष्टाचेतनसे चेतित चित्रलिखित महाराज्यकी नाईं यह सारा संसार भी सुर, असुर, गन्धर्व आदिसे युक्त सूत्रात्मासे स्पन्दनशील तथा ब्रह्मचेतनसे चेतित है ॥ १९–२२ ॥

अर्थशून्य तथा बाध्य होनेसे असत्यस्वरूप स्पन्दनात्मक विकल्पांशमें यानी विकल्पात्मक वृत्ति जिसमें उदित होती है ऐसे मनमें प्रतिबिम्बभावसे पतित संवित् भ्रान्तिमें ऐसे प्रसरणशील होती है, जैसे जलमें तैलबिन्दु ॥ २३ ॥

कैसे प्रसरणशील होती है, यह कहते हैं—'हृल्लेखा०' इत्यादिसे ।

मनको क्षोभित करनेवाले कामवासना आदि जालसमूहोंसे निबद्ध, सम्पूर्ण आवर्तरूप विकारोंसे समन्वित पुत्र, स्त्री आदिमें फैल रहे स्नेहसे मिश्रित मिथ्या होनेके कारण उत्पन्न न हुए ही इन शब्द-स्पर्श आदि विषयोंके बार-बार आस्वादनोंके द्वारा जो संवित् प्रसरणशील होती है वही चित्रगत महाराज्यरूपसे वर्णित यह संसार है ॥ २४ ॥

इस रीतिसे यह आदिचिति ही अहंभावादि विकल्पोंसे बहिर्मुखी हो जीवभावको प्राप्त करके भी परमात्मासे तनिक भी ऐसे भिन्न नहीं है; जैसे कि जलरूपतासे भिन्न तोयता नहीं है । तात्पर्य यह है कि भेदक उपाधियोंके विकल्पमात्र होनेसे 'जीव' और 'पर' शब्दका 'जल' और 'तोय' शब्दकी नाईं एक अर्थमें पर्यवसान है ॥ २५ ॥

उपाधिके अनुप्रवेश द्वारा नाम और रूपोंका व्याकरण करनेवाले अहमर्थ जीवके ब्रह्ममात्र होनेसे जीवका भोग्य सर्गशब्दार्थ भी एकमात्र ब्रह्म ही है, यही कहते हैं—'चिदादित्यः' इत्यादिसे ।

स्पन्दात्मिकायां सत्तायां यथाऽस्पन्दो जलद्रवः ।
तथा चिदात्मा व्योमत्वे न व्योमत्वादि वेत्ति हि ॥ २७ ॥
देशकालादिनिर्माणपूर्वकं वेदनं विदः ।
सर्गात्मकत्वात्तेनाम्बुद्रवसाम्यं न दूरगम् ॥ २८ ॥

---

यह चिद्रूपी सूर्य स्वात्मा ही है । यह उपाधिमें प्रवेश द्वारा 'अहम्' इत्यादि नामको प्राप्त होकर 'सर्ग' इस नामसे कहा जाता है । इसलिए यह सिद्ध है कि वास्तवमें चेतनसे अन्य न कोई सृष्टि है और न कोई इस सृष्टिका रचयिता ही है ॥ २६ ॥

'राहुका सिर' यहांपर जैसे राहु और उसके सिरमें अभेद सिद्ध है यानी जो राहु है वही तो उसका सिर है, इसी तरह जगत् और चितिमें अभेद सिद्ध है । इन दोनोंमें एकमात्र अविद्याके कारण ही भेदकी प्रतीति हो रही है । इसका दृष्टान्त देकर उपपादन करते हैं—'स्पन्दात्मिकायाम्' इत्यादिसे ।

जैसे स्पन्दरूप अपनी सत्तामें वस्तुतः जलद्रव स्पन्दरहित ही है उसमें स्पन्दकी प्रतीति तो एकमात्र विकल्प ही है,* वैसे ही आकाशादि प्रपञ्चकी रचनामें चिदात्मा न आकाशादिरूपसे स्थित है, न इन सबका कर्ता है और न आकाशादि पदार्थोंको अपनेसे भिन्न समझता ही है ॥ २७ ॥

जलद्रवकी भेदकल्पनामें देश और कालका भेद नियामक है । पूर्वकाल और पूर्वदेशमें स्थित जल उत्तरकाल और उत्तरदेशमें उपलब्ध होता है । उत्तरदेशकी प्राप्ति भी क्रियापूर्वक ही बाण आदिमें देखी गई है, इसी

---

* 'जलं स्पन्दते' ( जल स्पन्दित होता है ) इस स्थलपर थोड़ा विचार किया जाय । क्या जल ही स्पन्दरूपसे स्थित रहता है या अन्य कुछ ? जलसे भिन्न अन्य कोई स्पन्दनरूपसे स्थित रहता है, यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि अन्य किसीकी यहाँ उपलब्धि नहीं होती । यदि यही मान लिया जाय कि वहाँ कोई अन्य ही स्पन्दित होता है तब तो उस स्पन्दनको जलकी ही अपेक्षा है, यह नियम नहीं रह सकता; अतः दूसरा ही स्पन्दित होता है, यह प्रतीति होने लगेगी और साथ-साथ यह भी नहीं कह सकते कि वह नियम समवायके बलपर सिद्ध है, क्योंकि सम्बन्धकी अनवस्था होनेसे उसकी सिद्धि ही नहीं हो सकती । अब रही बात प्रथम पक्षकी । इस पक्षमें जल स्पन्दका कर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि स्पन्दात्मा स्पन्द नहीं करता, कारण कि यदि वह स्पन्द करे, तो उस स्पन्दमें कर्तृत्वापत्ति आ जायगी। इसलिए यह सिद्ध है कि जलद्रव अपनी स्पन्दात्मिका सत्तामें स्पन्दशून्य ही स्थित रहता है ।

मनोहम्भावबुद्ध्यादि यत्किञ्चिन्नामवेदनम् ।
अविद्यां विद्धि यत्नेन पौरुषेणाऽऽशु नश्यति ॥ २९ ॥

तरह जलमें भी द्रवणक्रियाभेदकी कल्पना कर सकते हैं। परन्तु अद्वितीय ब्रह्ममें तो देश और काल किसीका भेद नहीं है, अतः आकाश आदि भेदकी कल्पनामें कोई निमित्त न होनेसे जलद्रवका साम्य बहुत दूर चला गया; यदि यह कोई शङ्का करे, तो उसका समाधान देते हैं—'देश०' इत्यादिसे।

सृष्टिरूप होनेसे देश, काल आदिके निर्माणपूर्वक ही चिदात्माके आकाश आदि विकल्पज्ञानका हम वर्णन कर रहे हैं, इसलिए जलद्रवका साम्य कहीं दूर चला गया, यह कोई नहीं कह सकता † ॥ २८ ॥

इस तरह विकल्पोंके मन, अहङ्कार और बुद्धि आदिसे साध्य होनेके कारण आकाश आदि सृष्टिभेदके विकल्पसमयमें इनके असिद्ध होनेसे विकल्पकी कल्पना ही कैसे की जा सकती है? यह आशङ्का भी अनुपपत्ति आदि हजारों दोषोंसे पूर्ण एकमात्र अविद्याका स्वीकार कर लेनेसे ही अनायास परिहृत हो सकती है, इस आशयसे कहते हैं—'मनो०' इत्यादिसे।

हे विद्याधर, मन, अहंभाव, बुद्धि आदि जो कुछ भी विकल्पज्ञान है उन सबको तुम एकमात्र अविद्या ही समझो, जो पुरुषप्रयत्नसे शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥ २९ ॥

† आकाश आदि सृष्टिके विकल्पकी असंभावनाके ऊपर जो आक्षेप किया जा रहा है, सो क्या आकाश आदिकी सर्गात्मकदशामें आक्षेप किया जा रहा है या ब्रह्मदशामें? यदि यह कहा जाय कि ब्रह्मदशामें आक्षेप किया जा रहा है, तब तो यह आपत्ति हमें इष्ट है, क्योंकि ब्रह्मभावमें हम किसी तरहका कोई विकल्प स्वीकार करनेको तैयार नहीं हैं। यदि यह कहा जाय कि सर्गात्मकदशामें आक्षेप किया जा रहा है, तो इसपर हमारा यह कहना है कि सर्गात्मकदशामें तो यह कहना ही पड़ेगा कि वह सृष्टिकाल प्रलयकालसे पूर्व है। इस तरह कालविभाग और संसारासंसार देशभेदका भी कल्पना द्वारा निर्माण करके हम चिदात्माके आकाशादि विकल्पज्ञानका वर्णन कर रहे हैं, अतः किसीको सन्देह करनेका तनिक भी स्थान नहीं है कि जलद्रवका साम्य बिलकुल कहीं दूर चला गया। इस विषयमें वार्तिककारकी यह उक्ति भी स्मरणीय है—

'अविद्यास्तीत्यविद्यायामेवासित्वा प्रकल्प्यते।
ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं न कथंचन युज्यते ॥'

अर्द्धं मिथः सङ्कथया भागः शास्त्रविचारणैः ।
आत्मप्रत्ययतः शिष्टमविद्याया निवर्तते ॥ ३० ॥
चतुर्भागात्मनि कृते इत्यविद्याक्षये क्रमात् ।
समकालाच्च यच्छिष्टं तदनामार्थसन्मयम् ॥ ३१ ॥

श्रीराम उवाच

अर्द्धं मिथः सङ्कथया भागः शास्त्रविचारणैः ।
आत्मप्रत्ययतो भागः कथं तस्या निवर्तते ॥ ३२ ॥
समकाले क्रमाच्चेति मुनिनाथ किमुच्यते ।
तदनामार्थसच्चेति सच्चासच्चेति किं वद ॥ ३३ ॥

---

किस-किस पौरुषसे वह कितनी नष्ट होती है, यह बतला रहे हैं—'अर्धम्' इत्यादिसे ।

विनय, प्रणाम, दान, सम्मान आदिके द्वारा वशीभूत हुए तत्त्वज्ञानियोंके साथ परस्पर आध्यात्मिक बातचीत करनेके कारण प्रथम भूमिकापर्यन्त अभ्यस्त हुई उत्कट वैराग्य आदि चार साधनोंकी सिद्धिसे पुत्र, स्त्री, धन आदिमें ममताध्यासके हेतुभूत इस अविद्याका आधा भाग नष्ट हो जाता है, श्रवण, मनन आदि शास्त्रविचारोंसे इस अविद्याका विक्षेप शक्तिरूप चौथा अंश—जो प्रमाण और प्रमेयकी सम्भावना आदिरूप तथा देहादिमें अहन्तारूप है—नष्ट हो जाता है तथा ब्रह्मात्मसाक्षात्कारसे उसका बचा हुआ आवरणशक्तिरूप चौथा भाग भी सूर्योदयके बाद अन्धकारकी नाईं धीरे-धीरे क्रमशः नष्ट हो जाता है ॥ ३० ॥

पूर्वोक्त रीतिसे भूमिकाओंके अभ्यास द्वारा समकालमें और क्रमशः चार भागोंमें विभक्त अविद्याके नष्ट कर दिये जानेपर जो अवशिष्ट रहता है वह नामरूपरहित सन्मात्र ही परमपुरुषार्थ है ॥ ३१ ॥

संक्षेपसे कही गई बातको विस्तारसे सुननेकी इच्छा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'अर्धम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—महर्षे, अविद्याका आधा भाग विद्वानोंके साथ परस्पर आध्यात्मिक बातचीतोंसे, एक चतुर्थांश शास्त्रोंके विचारोंसे एवं दूसरा चतुर्थांश आत्मतत्त्वके साक्षात्कारसे कैसे नष्ट हो जाता है ? कृपाकर कहिये ॥३२॥

तदनन्तर हे मुनिनाथ, 'समकालमें' और 'क्रमशः' यह क्यों कहा जाता है ?

वसिष्ठ उवाच

सुजनेन विरक्तेन संसारोत्तरणार्थिना ।
सह चाप्यात्मविदुषा संसृतिं प्रविचारयेत् ॥ ३४ ॥
यतः कुतश्चिदन्विष्य सविरागममत्सरम् ।
जनं सज्जनमात्मज्ञं यत्नेनाऽऽराधयेद्बुधः ॥ ३५ ॥
सम्पन्ने सङ्गमे साधोरविद्यार्धं क्षयं गतम् ।
विद्धि वेद्यविदां श्रेष्ठ ज्येष्ठश्रेष्ठदशोदयात् ॥ ३६ ॥
अर्द्धं सज्जनसम्पर्कादविद्याया विनश्यति ।
चतुर्भागस्तु शास्त्रार्थैश्चतुर्भागं स्वयत्नतः ॥ ३७ ॥

---

तथा 'वह नामार्थरहित सन्मय ही है'—यहांपर 'मयट्' प्रत्ययसे असदंशको भी लेकर सत् और असत् जो कहा गया है, उसमें असदंश क्या है, सो भी दयाकर कहिये ॥ ३३ ॥

प्रश्नक्रमके अनुसार महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'सुजनेन' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, संसारसागरको तैर जानेकी इच्छा रखनेवाले विरक्त सज्जन पुरुषको आत्मज्ञानी विद्वान् तथा अन्य मुमुक्षुके साथ अपनी बुद्धिसे यह विचार करना चाहिए कि यह संसार क्या है, इसका परिणाम, मूल और सार क्या है तथा इसे तैर जानेका कौन-सा उपाय है ? ॥ ३४ ॥

विद्वान्को चाहिये कि वह जहां-कहींसे संसारसागरसे पार हो जानेकी इच्छा रखनेवाले विरक्त, मत्सररहित, आत्मज्ञानी सज्जन पुरुषको यत्नपूर्वक ढूंढ़कर उसकी आराधना करे ॥ ३५ ॥

हे वेत्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ श्रीरामजी, यह आप भलीभांति जान लीजिये कि सज्जन पुरुषका समागम हो जानेपर अविद्याका आधा भाग तो अन्य सब भूमिकाओंमें ज्येष्ठ तथा साधनचतुष्टयसम्पत्तिसे श्रेष्ठ शुभेच्छानामक प्रथम भूमिका प्रतिष्ठाके उदयसे ही क्षयको प्राप्त हो गया ॥ ३६ ॥

हे श्रीरामजी, अविद्याका आधा भाग तो सिर्फ सज्जन पुरुषोंके सम्पर्कसे ही नष्ट हो जाता है । बाकी बचे दो चतुर्थ भागोंमें एक भागको बुद्धिमान् पुरुषको

एकोऽभिलाष उत्पन्नो भोगेभ्यश्च निवार्यते ।
तत्क्षये यात्यविद्यायाश्चतुर्थांशः स्वयत्नतः ॥ ३८ ॥
साधुसङ्गमशास्त्रार्थस्वयत्नैः क्षीयते मलम् ।
एकैकेनाथ सर्वैश्च तुल्यकालं क्रमादपि ॥ ३९ ॥
यदविद्याक्षयैकात्म न किञ्चित्किञ्चिदेव च ।
शिष्यते तत्परं प्राहुरनामार्थमसच्च सत् ॥ ४० ॥
ब्रह्मेदं घनमजराद्यनन्तमेकं
सङ्कल्पस्फुरणमविद्यमानमेव ।
बुद्ध्वैवं व्यपगतमानमेयमोहो
निर्वाणं परिविहरन्विशोकमास्व ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्याने सङ्कल्पसर्गयोरैक्यप्रतिपत्तिर्नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

---

शास्त्रार्थोंके पर्यालोचनसे तथा दूसरेको अपने आत्मसाक्षात्काररूप यत्नसे नष्ट कर देना चाहिए ॥ ३७ ॥

संसारबन्धनसे मुक्त होनेकी कहीं एक उत्कट इच्छा उत्पन्न हो गई, तो उस मुमुक्षु पुरुषको वैराग्य आदि सम्पत्ति ही भोगों तथा उनके साधनोंसे दूर हटा देती है और भोगोंके नष्ट होनेसे अविद्याका चतुर्थ अंश अपने यत्नसे ही नष्ट हो जाता है ॥ ३८ ॥

सज्जनोंकी सङ्गति, शास्त्रोंकी चर्चा और अपने प्रयत्न—इन सबकी एक साथ प्राप्ति होनेपर समकालमें यानी एक ही कालमें तथा एक-एककी प्राप्ति होनेपर क्रमशः अविद्यारूपी मल क्षीण हो जाता है ॥ ३९ ॥

अविद्याका क्षय हो जाना ही जिसका एकमात्र अपना स्वरूप है ऐसा जो अविद्याके नाशके बाद अकिञ्चिद्रूप या किंचिद्रूप शेष रहता है वह परमार्थभूत नामार्थरहित, असत् और सत् भी * कहा गया है ॥ ४० ॥

हे श्रीरामजी, यह परिशिष्टवस्तु, आनन्दैकघन, जरादिविकारशून्य अनन्त, एक

---

* अर्थक्रियाव्यवहारके योग्य न रहनेसे वह 'असत्' तथा अबाध्य परम पुरुषार्थरूप होनेसे वह 'सत्' कहा गया है ।

## त्रयोदशः सर्गः

भुशुण्ड उवाच

जगत्प्रसररूपस्य न देश उपयुज्यते।
न कालो धारणे स्तम्भ आलोकस्याम्बरे यथा॥ १॥
मनोमनननिर्माणमात्रमेतज्जगत्त्रयम्।
शान्तं तनु लघु स्वच्छं वातान्तः सौरभादपि॥ २॥
चिच्चमत्कृतिमात्रस्य साधो जगदणोः किल।
वातान्तः सौरभं मेरुरन्यानुभवयोगतः॥ ३॥

---

ब्रह्म ही है। जीव और जगद्रूप तो विकल्पका स्फुरण होनेसे सर्वथा अविद्यमान ही है। इसलिए हे श्रीरामजी, आप अपनेको परमात्मतत्त्वरूप जानकर प्रमाण, प्रमेय आदि त्रिपुटीके मोहसे शून्य होते हुए ब्रह्म ही होकरके सर्वातिशायी बृहत् होनेसे सब ओरसे व्याप्त होकर विहार करते हुए शोकशून्य स्थित रहिये॥ ४१॥

बारहवाँ सर्ग समाप्त

---

## तेरहवाँ सर्ग

[ मायाके कार्यमें देश आदिकी अपेक्षाका अभाव तथा परमाणुके उदरमें इन्द्रके राज्यकी कल्पनाका विस्तार—यह वर्णन ]

'देश कालादि निर्माणपूर्वकं वेदनं विदुः' इत्यादि जो पूर्व सर्गमें कहा गया है, उसका उपपादन करनेके लिए इन्द्र-त्रसरेणु आख्यान कहनेके पहले भूमिका बाँधते हैं—'जगत्' इत्यादिसे।

भुशुण्डजीने कहा—हे विद्याधर, इस मायिक विस्तृत जगद्रूपके धारणमें देश और कालकी अपेक्षा इस तरह नहीं है, जिस तरह आकाशमें फैले हुए आलोकके धारणमें खम्भोंकी अपेक्षा नहीं है॥ १॥

शान्त, पवनके अन्दर स्थित सुगन्ध या प्रकाशसे भी अति सूक्ष्म, लघु और स्वच्छ यह त्रिलोकी मनके मननकी रचनामात्र है॥ २॥

हे साधो, चितिके चमत्कारमात्ररूपसे दृष्ट इस जगद्रूपी अणुकी अपेक्षा वायुके अन्तर्गत सौरभ भी मेरुकी नाईं स्थूल है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं

यं प्रत्युदेति सर्गोऽयं स एवैनं हि चेतति ।
पदार्थः सन्निवेशं स्वमिव स्वप्नं पुमानिव ॥ ४ ॥
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यद्वृत्तं देवराजस्य त्रसरेणूदरे पुरा ॥ ५ ॥
क्वचित्कदाचित्कस्मिंश्चित्किञ्चित्कल्पद्रुमेऽभवत् ।
कस्यांचिद्युगशाखायां फलं जगदुदुम्बरम् ॥ ६ ॥
ससुरासुरभूतौघमशकाहितघुङ्घुमम् ।
शैलमांसलपातालद्युभूम्युग्रकपाटकम् ॥ ७ ॥
चिच्चमत्कृतिचारूच्चैर्वासनारसपीवरम् ।
विविधानुभवामोदं चित्तास्वादमनोहरम् ॥ ८ ॥

---

है, क्योंकि वायुके अन्दर स्थित सौगन्ध या सौरभका तो अन्य पुरुष भी अपनी घ्राण आदि इन्द्रियोंके द्वारा अनुभव करते हैं, परन्तु यह संसारकी सृष्टि तो जिस पुरुषके मनमें उदित होती है वही इसका ऐसे अनुभव करता है, जैसे मनोराज्यके पदार्थका मनोराज्य साक्षी द्वारा या अपने स्वप्नका स्वप्नद्रष्टा पुरुष स्वयं अनुभव करता है ॥ ३, ४ ॥

पूर्वसिद्ध देश और कालकी अपेक्षा न रखनेवाले तथा दूसरेके अनुभवमें न आनेसे परम सौम्यरूप इसी विषयका एक बहुत पुराना इतिहास विद्वान् लोग उदाहरणरूपमें कहा करते हैं; जो कि त्रसरेणुके उदरमें बहुत दिन पहले इन्द्रको अनुभूत हुआ था ॥ ५ ॥

कभी कहीं किसी एक कल्पवृक्षमें ( सब तरहकी कल्पनाओंके आधारभूत मायाशबल ब्रह्ममें युगकी सन्धिरूप शाखामें ) ब्रह्माण्डरूपी गूलरका फल पैदा हुआ ॥ ६ ॥

उस फलका वर्णन करते हैं—'ससुरा०' इत्यादिसे ।

वह फल अन्य फलोंसे विलक्षण था । वह सुर और असुर आदि अनेकविध भूतोंके समूहरूपी मच्छड़ोंकी भनभनाहटसे युक्त था तथा अनेक शैलरूपी कीलोंसे जटित दृढ़ पाताल, स्वर्ग और भूमण्डलरूपी दुर्धर्ष कपाटोंसे समन्वित था ॥ ७ ॥

वह फल चितिकी चमत्कृतिरूप विचित्र रचनाशक्तिसे सुन्दर, बहुत बड़ा,

बृहद्ब्रह्मतरुप्रौढसत्ताव्रततिकोटिगम् ।
अहङ्कारमहावृन्तं समालोकसमुज्ज्वलम् ॥ ९ ॥
मोक्षद्वारविकास्यास्यं सरिदब्धिशिरावृतम् ।
मात्रापञ्चककोशस्थं तरत्तारकसीकरम् ॥ १० ॥
कल्पावसानजरठं काककोकिलगाम्यथ ।
पतितं शान्तिमायातं क्वाप्यन्तावासनं गतम् ॥ ११ ॥
तत्राऽभूदमराधीशः शक्रस्त्रिभुवनेश्वरः ।
क्षौद्रकुम्भनिषण्णानां क्षुद्राणामिव नायकः ॥ १२ ॥
गुरूपदेशस्वाभ्यासात्स क्षीणावरणोऽभवत् ।
महात्मा भावितान्तात्मा पूर्वापरविदां वरः ॥ १३ ॥
नारायणादिषु ततः कदाचिद्वीर्यशालिषु ।
क्वचिदेव निलीनेषु सत्स्वेकः स सुराधिपः ॥ १४ ॥

---

वासनारूपी रससे स्थूल, अनेकविध शब्दादि विषयोंके अनुभवरूपी सुगन्धसे समन्वित तथा चित्तके आस्वादसे मनोहर था ॥ ८ ॥

पूर्वोक्त महान् ब्रह्मरूपी कल्पतरुमें आविर्भूत सूक्ष्म जगत्की सत्तारूपी करोड़ों लताओंके अन्तर्गत वह फल लगा था और अहङ्काररूपी महान् बृंतसे युक्त वह फल साक्षी चेतनसे उज्ज्वल था ॥ ९ ॥

ज्ञानरूपी विकसित मुखवाला, अनेक नदी और समुद्ररूपी नाड़ियोंसे आवृत, पञ्चतन्मात्रारूपी कोशमें स्थित, ऊपरमें तैर रहे नक्षत्रोंरूपी हिमकणोंसे परिपूर्ण, महाकल्पके अवसानमें पककर गिरनमें उन्मुख, तदनन्तर मूर्खरूपी कौवों या विवेकी जनरूपी कोकिलोंसे भक्ष्यमाण गिरनेपर शान्तिको प्राप्त तथा कहींपर वासना-मात्र शेषस्वरूप नाश या ब्रह्मभावको प्राप्त होनेवाला वह फल था ॥ १०,११ ॥

उस गूलरके भीतर तीनों भुवनका स्वामी देवताओंका ईश इन्द्र ऐसे रहता था, जैसे क्षौद्रकुम्भके भीतर स्थित मधुमक्खियोंका स्वामी ॥ १२ ॥

अपने अन्तःकरणमें आत्माका निरन्तर विचार करनेवाला पूर्वापरवेत्ताओंमें श्रेष्ठ वह महात्मा गुरुके उपदेश तथा अपने अभ्याससे अविद्यारूपी आवरणसे रहित हो गया था ॥ १३ ॥

इसके बाद अपने पराक्रमसे सुशोभित नारायण आदि जब कहीं क्षीर-सागरमें

शस्त्रज्वालानलोद्गारैरयुध्यत महासुरैः ।
विजितस्तैर्महावीर्यैरतो व्यद्रवदाद्रुतम् ॥ १५ ॥
दिशो दश सुवेगेन दुद्रावाऽभिद्रुतोऽरिभिः ।
न विश्रामास्पदं प्राप परलोक इवाऽधमः ॥ १६ ॥
तद्भ्रान्तदृष्टिष्वरिषु मनाक् छिद्रमवाप्य सः ।
प्रशमं कायसङ्कल्पं नीत्वा स्वं स्वान्तरे बहिः ॥ १७ ॥
कमप्यर्कांशुकोशस्थं त्रसरेणुं विवेश सः ।
संविद्रूपतया पद्मकोशं मधुकरो यथा ॥ १८ ॥
स तत्राऽऽशु विशश्राम चिरादाश्वासमाययौ ।
अथ विस्मृतसङ्ग्रामो निर्वृत्ति समुपागमत् ॥ १९ ॥
कल्पितं सद्म तत्राथ स क्षणादनुभूतवान् ।
तस्मिन्सद्मनि पद्मान्ते रेमे स्व इव विष्टरे ॥ २० ॥

---

शयन कर रहे थे तब अकेले उस सुरेश्वरने शस्त्रोंकी ज्वालारूपी अग्निको धारण करनेवाले बड़े-बड़े पराक्रमी असुरोंके साथ युद्ध किया और बादमें उनसे पराजित होकर वह शीघ्र युद्धभूमिसे भागा ॥ १४, १५ ॥

और शत्रु उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगे । शत्रुओंके पीछा करनेपर दसों दिशाओंमें बड़े वेगसे भागते हुए उसने कहींपर भी अपने विश्रामका स्थान ऐसे नहीं प्राप्त किया, जैसे पापी पुरुष उत्तम परलोक नहीं प्राप्त करता ॥ १६ ॥

इसके पश्चात् जब उसके शत्रुओंकी दृष्टि इधर-उधर कहीं थोड़ी देरके लिए भ्रान्त हो गयी तब अपने छिपनेका किञ्चित् अवसर पाकर वह अपने स्थूलाकार सङ्कल्पको अपने अन्तःकरणके अन्दर ही सूक्ष्मभूतमें विलीन करके अत्यन्त अणु बनकर बाहर सूर्यकी किरणोंके कोशमें स्थित किसी एक त्रसरेणुके भीतर अपने संविद्रूप प्रवेशसङ्कल्पसे ऐसे प्रविष्ट हो गया, जैसे पद्मकोशके भीतर मधुकर प्रविष्ट हो जाता है ॥ १७, १८ ॥

वहां जाते ही वह शीघ्र विश्राम करने लगा । चिरकालके बाद उसने वहां शान्ति प्राप्त की । तदनन्तर बहुत दिनों तक वहीं पड़े रहनेके कारण वह अपना संग्राम भूल गया, जिससे बाहर निकलनेकी उसकी स्मृति भी समाप्त हो गई । वहांपर उसने अपने रहनेके लिए एक घरकी कल्पना की और तत्काल ही

गृहस्थः स ददर्शाथ कल्पितं नगरं हरिः ।
मणिमुक्ताप्रवालादिकृतप्राकारमन्दिरम् ॥ २१ ॥
नगरान्तर्गतोऽपश्यत्ततो जनपदं हरिः ।
नानाद्रिग्रामगोवाटपत्तनारण्यराजितम् ॥ २२ ॥
तादृग्प्रतिश्चेतितवान्स शक्रो भुवनं ततः ।
साद्रयब्ध्युर्वीनदीशान्तं सक्रियाकालकल्पनम् ॥ २३ ॥
तादृग्प्रतिश्चेतितवान् स शक्रस्त्रिजगत्ततः ।
सपातालमहीव्योमविष्टपार्कादिपर्वतम् ॥ २४ ॥
तत्राऽतिष्ठत्सुरेशत्वे स भोगभरभूषितः ।
पुत्रो बभूव तस्याथ कुन्दो नामाथ वीर्यवान् ॥ २५ ॥

---

उसका अनुभव किया । उस अपने कल्पित घरके भीतर पद्मासनके ऊपर बैठकर उसने ऐसे रमण किया, जैसे कि अपने स्वर्गलोकमें स्थित प्रसिद्ध सिंहासनके ऊपर बैठकर रमण करता था ॥ १९, २० ॥

उस गृहके भीतर स्थित इन्द्रने एक ऐसा कल्पित नगर देखा, जहाँपर चहार-दीवारियोंसे घिरे मणि-मुक्ता और प्रवालोंसे विरचित अनेक मन्दिर चमचमा रहे थे ॥ २१ ॥

उसके बाद उस नगरके भीतर पहुँचकर इन्द्रने एक देश देखा, जिस देशके भीतर अनेक प्रकारके पर्वत, ग्राम, गोशालाएँ, नगर और बहुत-से जङ्गल विराजमान थे ॥ २२ ॥

इसके अनन्तर उसी तरहके सङ्कल्पसे युक्त इन्द्रने भूलोकका अवलोकन किया, जो अनेक पर्वतों, समुद्रों, भूमियों, नदियों, राजाओं तथा उनकी राज्य-सीमाओंसे युक्त और क्रिया एवं काल आदिकी कल्पनाओंसे समन्वित था ॥२३॥

इसके पश्चात् वैसे ही सङ्कल्पसे युक्त इन्द्रने तीनों जगत्का अनुभव किया, जो पाताल, पृथिवी, आकाश, स्वर्ग, सूर्य, पर्वत आदि अनेक पदार्थोंसे युक्त था ॥ २४ ॥

तदनन्तर अनेक तरहके भोगोंसे परिपूर्ण वह इन्द्र देवताओंके अधीशपनके पदपर देवलोकमें अधिष्ठित हो गया और कुछ काल बीत जानेके बाद उसे कुन्द नामक एक महापराक्रमी पुत्र पैदा हुआ ॥ २५ ॥

ततो जीवितपर्यन्ते त्यक्त्वा देहमनिन्दितः ।
निर्वाणमाययौ शक्रो निःस्नेह इव दीपकः ॥ २६ ॥
कुन्दस्त्रैलोक्यराजोऽभूज्जनयित्वा सुतं निजम् ।
कालेन जीवितस्यान्ते जगाम परमं पदम् ॥ २७ ॥
तत्पुत्रोऽपि तथैवाथ कृत्वा राज्ये सुतं निजम् ।
जगाम जीवितस्यान्ते पावनं परमं पदम् ॥ २८ ॥
एवं पौत्रसहस्राणि समतीतानि सुन्दर ।
तत्राद्यापि सुरेशस्य येषां राज्ये स्थितोंऽशकः ॥ २९ ॥
इत्यद्ययावदमरेश्वरवंश एव
सङ्कल्पिते जगति शक्रपदं विधत्ते ।
तस्मिन् क्षतेऽपि गलितेऽपि हतेऽपि नष्टे
क्वाप्यम्बरे दिनकरातपपावनाणौ ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्याने त्रसरेण्वन्तरसर्गसङ्घवर्णनं नाम त्रयोदशः सर्गः ॥१३॥

---

तत्पश्चात् अनिन्दित वह इन्द्र जीवनके अन्तमें इस पाञ्चभौतिक शरीरका त्याग कर, तैलरहित दीपककी नाईं, निर्वाण ( मोक्ष ) को प्राप्त हो गया ॥ २६॥ उसका पुत्र कुन्द तीनों लोकका राजा हुआ और पुत्र उत्पन्न करके समयसे जीवनका अन्त आनेपर वह भी परम पदको प्राप्त हो गया ॥ २७ ॥

उस कुन्दका भी लड़का अपने पिताके ही समान बहुत वर्षोंतक राज्य करके अपने पुत्रको राज्यसिंहासनपर बैठाकर जीवनके अन्तमें परम पावन पदको प्राप्त हो गया ॥ २८ ॥

हे सुन्दर, इस तरह उस सुरेशके हजारों पुत्र-पौत्र आदि हो गये। आज भी जिनके उस राज्यमें अंशक नामका राजा राजसिंहासनपर स्थित है ॥ २९ ॥

हे विद्याधर, इस रीतिसे, जैसा कि मैंने तुमसे वर्णन किया, दिनकरके आतपसे पवित्र उस त्रसरेणुके आकाशप्रदेशमें कहीं क्षत, गलित, हत या सर्वथा नष्ट हो जानेपर भी इन्द्रके सङ्कल्पित त्रसरेणुके अन्दर स्थित जगत्‌में उस अमरेश्वरका वंश ही इन्द्रके राज्यका आज भी पालन कर रहा है ॥ ३० ॥

तेरहवां सर्ग समाप्त

## चतुर्दशः सर्गः

### भुशुण्ड उवाच

तस्य शक्रस्य कुलजः कश्चिदासीत्सुराधिपः ।
तत्रोत्तमगुणः श्रीमान्पाश्चात्या यस्य सा तनुः ॥ १ ॥
अथेन्द्रकुलपुत्रस्य तस्य तत्र बभूव ह ।
प्रतिभाज्ञानसम्प्राप्तिर्बृहस्पतिगिरोदिता ॥ २ ॥
ततो विदितवेद्योऽसौ यथाप्राप्तानुवृत्तिमान् ।
चकार जगतां राज्यमाज्यपानामधीश्वरः ॥ ३ ॥
युयुधे दानवैः सार्द्धमजयत्सर्वशात्रवान् ।
शतं चकार यज्ञानामज्ञानोत्तीर्णमानसः ॥ ४ ॥
उवास कार्यवशतो बिसबालान्तरे चिरम् ।
अन्यान्यपि च वृत्तान्तशतान्यनुबभूव ह ॥ ५ ॥

---

## चौदहवाँ सर्ग

[ उस कुलमें उत्पन्न इन्द्रकी बिसतन्तुमें जगत्‌की रचना तथा सब तरहके विचारकर देखनेपर ब्रह्मदृष्टिमें आकाशकी इन्द्रताका वर्णन ]

भुशुण्डजीने कहा—हे विद्याधर, पूर्वोक्त उस इन्द्रके कुलमें उत्तम गुणोंसे पूर्ण श्रीसम्पन्न कोई इन्द्र हुआ। उस देवलोकमें उसका वह अन्तिम शरीर था ॥१॥

कुछ दिनोंके बाद उस देवलोकमें इन्द्रके वंशमें उत्पन्न हुए लड़केको बृहस्पतिकी उपदेशवाणीसे आत्म-तत्त्वसाक्षात्कारज्ञानकी प्राप्ति हुई ॥ २ ॥

तदनन्तर वेद्यवस्तुका ज्ञान प्राप्त करानेवाले तथा प्रारब्धानुसार प्राप्त कार्योंका सम्पादन करनेवाले देवताओंके उस अधीश्वरने समस्त जगतका राज्य किया ॥३॥

उसने दानवोंके साथ युद्ध किया, अपने शत्रुओंको जीता तथा अज्ञानको पार कर चुके मनवाले उस राजाने सौ अश्वमेध यज्ञ किये ॥ ४ ॥

उसने अपने किसी कार्यवश कमलदण्डके कोमल तन्तुके अन्दर चिरकालतक निवास किया। उस बिसतन्तुके भीतर कल्पित ब्रह्माण्डमें राज्य करना तथा युद्धमें जय-पराजय प्राप्त करना आदि भिन्न-भिन्न सैकड़ों वृत्तान्तोंका भी उसने खूब अनुभव किया, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ५ ॥

कदाचिदासीत्तस्येच्छा प्रबोधबलशालिनः ।
ब्रह्मतत्त्वमवेक्षेऽहं यथावद्ध्यानवानिति ॥ ६ ॥
सोऽपश्यत्प्रणिधानेन तत एकान्तसंस्थितः ।
सबाह्याभ्यन्तरेऽशेषकारणत्यागशान्तधीः ॥ ७ ॥
सर्वशक्तिपरं ब्रह्म सर्ववस्तुमयं ततम् ।
सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वैः सर्वत्र सर्वगम् ॥ ८ ॥
सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्त्य संस्थितम् ॥ ९ ॥
सर्वेन्द्रियगुणैर्मुक्तं सर्वेन्द्रियगुणान्वितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १० ॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ ११ ॥
सर्वत्र चन्द्रार्कमयं सर्वत्रैव धरामयम् ।
सर्वत्र पर्वतमयं सर्वत्राब्धिमयं तथा ॥ १२ ॥

---

ज्ञान-बलयुक्त उस राजाको कभी अचानक ऐसी इच्छा उत्पन्न हुई कि मैं भलीभांति ध्यान लगाकर मायाशबलित ब्रह्मका स्वभाव देखूँ ॥ ६ ॥

इसके बाद उसने एकान्तमें स्थित होकर बाहर और भीतरके सम्पूर्ण विक्षेप कारणोंके त्यागसे शान्तबुद्धि होते हुए समाधि लगा करके सर्वविध शक्तियोंसे सम्पन्न, सर्ववस्तुमय, सर्वत्र व्याप्त, सब तरहसे सर्वदा सर्वरूप और सबके साथ, सर्वगामी परब्रह्मको देखा, जो अनेक हाथ और पैरोंसे युक्त था, चारों तरफ जिसकी आँखें, मस्तक और अनेक मुख थे, सभी ओर अनेक श्रोत्रेन्द्रियोंसे युक्त तथा लोकमें सबको आवृत करके जो स्थित था ॥ ७–९ ॥

वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंके गुणोंसे निर्मुक्त होता हुआ भी उनके रूप आदि गुणोंके ग्रहण करनेकी शक्तियोंसे समन्वित था। परमार्थमें सबसे अलग रहता हुआ भी वह व्यवहारमें सबको धारण किये हुए था। निर्गुण रहनेपर भी वह सम्पूर्ण गुणोंका भोक्ता था ॥ १० ॥

समस्त प्राणियोंके बाहर-भीतर स्थित अचर तथा चर, सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय एवं दूरस्थ होनेपर भी वह समीपमें ही स्थित था ॥ ११ ॥

सर्वत्र चन्द्र-सूर्यमय, सर्वत्र पृथिवीमय, सर्वत्र पर्वतमय, सर्वत्र सागरमय,

सर्वत्र सारगुरुकं सर्वत्रैव नभोमयम् ।
सर्वत्र संसृतिमयं सर्वत्रैव जन्मयम् ॥ १३ ॥
सर्वत्रैव च मोक्षात्म सर्वत्रैवाद्यचिन्मयम् ।
सर्वत्र सर्वार्थमयं सर्वतः सर्ववर्जितम् ॥ १४ ॥
घटे पटे वटे कुड्ये शकटे वानरे नरे ।
धाम्नि व्योम्नि तरावद्रावनिले सलिलेऽनले ॥ १५ ॥
नानाचारविचाराणि विविधावृत्तिमन्ति च ।
परमाण्वंशमात्रेऽपि त्रिजगन्ति ददर्श सः ॥ १६ ॥
मरीचस्यान्तरे तैक्ष्ण्यं शून्यत्वमिव चाऽम्बरे ।
त्रिजगत्सत्यसति च विद्यते चिन्मयात्मनि ॥ १७ ॥
इत्येवं भावयन्मुक्तभावया शुद्धसंविदा ।
शक्रः क्रमेण तेनैव तथैव ध्यानवानभूत् ॥ १८ ॥
ध्यानेन सर्वमेकत्र पश्यंश्चिरमुदारधीः ।
ददर्शेममसौ सर्गमस्मदीयं महामतिः ॥ १९ ॥

---

सर्वत्र चित्सार, गुरुरूप, सर्वत्र आकाशमय, सर्वत्र संसृतिमय, सर्वत्र जगन्मय, सर्वत्र मोक्षरूप, सर्वत्र आद्यचिन्मय, सर्वत्र सर्वपदार्थमय तथा सर्वत्र वह सबसे रहित था ॥ १२–१४ ॥

घट, पट, वट, शकट, भित्ति, वानर, तेज, गृह, आकाश, वृक्ष, पर्वत, वायु, जल और अग्नि आदि सब पदार्थोंमें तथा परमाणुके एक अंशमात्रमें भी नाना प्रकारके प्राणियोंके शारीरिक आचारों तथा मानसिक विचारोंसे युक्त एवं स्वर्ग, नरक आदिके गमनागमनादिसे समन्वित उसने तीनों जगत्‌को देखा ॥ १५, १६ ॥

मरीचके भीतर तीक्ष्णता तथा आकाशके भीतर शून्यताकी नाईं तीनों जगत सदसद्रूप ( आविर्भावकालात्मक एवं तिरोभावकालात्मक ) चिन्मय परमात्मामें विद्यमान हैं ॥ १७ ॥

इस तरह जीवभावसे शून्य शुद्ध ज्ञानसे देखता हुआ वह इन्द्र पूर्ववासना-कल्पित उसी शरीरसे क्रमशः वैसे ही ध्यानवान् हो गया ॥ १८ ॥

महामति उदारबुद्धि उस इन्द्रने ध्यान लगाकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको माया-शबलित ब्रह्ममें देरतक देखते हुए हम लोगोंके द्वारा अनुभूयमान इस ब्रह्माण्डको देखा ॥ १९ ॥

ततोऽस्मिन् विचरन्सर्गे शक्रान्ते शक्रतां गतः ।
चकार जगतां राज्यं वृत्तान्तशतशोभितम् ॥ २० ॥
विद्याधरकुलाधीश इत्यद्यैव स देवराट् ।
तस्येन्द्रस्य कुलोत्पन्न इति विद्धि यथास्थितम् ॥ २१ ॥
ततो हृदयबीजस्थप्राङ्मुख्याभ्यासयोगतः ।
बिसबालनिवासादिवृत्तान्तमनुभूतवान् ॥ २२ ॥
यथैष शक्रः कथितस्त्रसरेणूदरास्पदः ।
बिसबालास्पदश्चैतत्कुलजः कान्तिमानथ ॥ २३ ॥
तथा शतसहस्राणि तत्रैतश्चान्यतश्च खे ।
तादृशव्यवहाराणि समतीतानि सन्ति च ॥ २४ ॥
वहतीयमविच्छिन्ना चिरायैवं तरङ्गिणी ।
तावद्दृश्यसरित् प्रौढा रूढारूढे च तत्पदे ॥ २५ ॥

---

तदनन्तर हम लोगोंके इस ब्रह्माण्डमें पाताल, भूमि आदि लोकोंके क्रमसे इन्द्र-लोकके भीतर मनसे विचरण करता हुआ वह इन्द्रके समीप पहुँचा। वहां इन्द्रको देखते ही 'मैं इन्द्र हूँ' इस संस्कारके उद्‌बुद्ध होने तथा पूर्वमें किये गये सैकड़ों अश्वमेध यज्ञोंके फलकी प्राप्ति अनिवार्य होनेसे इन्द्र हो गया और सैकड़ों वृत्तान्तोंसे शोभित अनेक भुवनोंका राज्य किया ॥ २० ॥

हे विद्याधरकुलाधीश, इस रीतिसे उस त्रसरेणुके अन्तर्गत इन्द्रके कुलमें उत्पन्न वह इस ब्रह्माण्डमें भी देवोंका राजा बनकर स्थित है, यह तुम जान लो ॥ २१ ॥

इस ब्रह्माण्डका इन्द्र बन जानेके बाद, उसने हृदयमें बीजके सदृश संस्काररूपसे स्थित पूर्वकालके ज्ञानयोगाभ्यासरूप योगसे बिसतन्तुके भीतर स्थित अपने प्राक्तन वृत्तान्तोंका स्मरण किया ॥ २२ ॥

सर्वशक्तिसम्पन्न ब्रह्ममें सर्वत्र सबका सद्भाव होनेसे इस तरहके सैकड़ों इन्द्र विद्यमान हैं, यह कहते हैं—'यथैषः' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

त्रसरेणुके उदरमें बिसतन्तुके भीतर अपना निवास बनाकर कान्तिमान् जैसे यह इन्द्र कहा गया है, वैसे ही इधर-उधर उस तरहके सैकड़ों हजारों व्यवहार चिदाकाशमें हो चुके हैं और हो भी रहे हैं ॥ २३, २४ ॥

हे विद्याधर, जबतक आत्मसाक्षात्कार नहीं होता, तबतक प्रबल यह दृश्यरूप

इति मायेयमादीर्घा प्रसृता प्रत्ययोन्मुखी।
सत्यावलोकमात्रातिविलयैकविलासिनी ॥ २६ ॥
यतः कुतश्चिन्मायेयं यत्र क्वचन वाऽनघ।
यथाकथञ्चित्सम्पन्नमात्रैव परिदृश्यते ॥ २७ ॥
अहंभावचमत्कारमात्राद्वृष्टिरिवाम्बुदात् ।
जायते मिहिकेवाऽऽशु प्रेक्षामात्रविनाशिनी ॥ २८ ॥
येनायताभिमतदर्शनद्रष्टृदृश्य-
मुक्तस्वभावमवभासनमात्मतत्त्वम्।
सर्वार्थशून्यमत एव च शून्यरूप-
मेकं खमात्रमिव मात्रविकल्पमेव ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्यानान्तर्गतेन्द्राण्वाख्याने सर्गसङ्कल्पयोरैक्यप्रतिपादनं नाम चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

---

नदी अविच्छिन्नरूपसे चिरकालतक बहती ही रहती है और चौथी भूमिकासे लेकर छठी भूमिकाओं तक उस ब्रह्मपदके अर्धरूढ़ तथा अर्ध अनारूढ़ होनेपर बहुत दूरतक लम्बी-चौड़ी फैली हुई यह माया माया-रूपसे अनुभवमें आ जाती है। एकमात्र विलासमें ही तत्पर रहनेवाली यह माया केवल सत्य परमात्माके साक्षात्कारसे विलयको प्राप्त होती है ॥ २५, २६ ॥

चूँकि यह माया है, इसीलिए इसके वैचित्र्यमें कोई विशेष हेतु ढूँढ़नेकी आवश्यकता नहीं है, यह कहते हैं—'यतः' इत्यादिसे ।

हे अनघ, यह माया जिस किसी कारणसे जहां कहीं यथा कथंचित् उत्पन्न हुई दिखाई देती है, अतः इसकी विचित्रताओंके विषयमें विशेष चिन्ता नहीं करनी चाहिए ॥ २७ ॥

अथवा एकमात्र अहङ्काराध्यास ही इसके वैचित्र्यमें निश्चित हेतु है, यह कहते हैं—'अहम्भाव०' इत्यादिसे ।

मेघसे वृष्टिके सदृश अहंभावरूप चमत्कारसे कुहरेके जैसी यह माया उत्पन्न होती है और आत्माके साक्षात्कारमात्रसे क्षण भरमें ही शीघ्र नष्ट हो जाती है ॥२८॥

चूँकि सर्वसाक्षिब्रह्मका रूप परमार्थतः समस्त विकल्पोंसे रहित ही है, इसीलिए

## पञ्चदशः सर्गः

भुशुण्ड उवाच

यत्राहन्त्वं जगत्तत्र पूर्वमागत्य तिष्ठति ।
पराण्वन्तरपीन्द्रस्य त्रसरेणूदरे यथा ॥ १ ॥
भ्रमस्य जागतस्यास्य जातस्याऽऽकाशवर्णवत् ।
अहम्भावोऽभिमन्तात्मा मूलमाद्यमुदाहृतम् ॥ २ ॥
वासनारससंसिक्तादहंबीजकणादयम् ।
ब्रह्माद्रौ व्योमविपिने जायते त्रिजगद्द्रुमः ॥ ३ ॥

---

अहङ्कारके वशसे विस्तृत हुए मानस विकल्पों तथा द्रष्टा, दर्शन, दृश्य—इस त्रिपुटीरूप इन्द्रियके विकल्पोंसे मुक्तस्वभाव ( जाग्रदवस्थासे शून्य ) होनेके कारण वासनामय स्वाप्निक पदार्थोंसे रहित है । शून्यरूप एकमात्र आकाशकी तरह पूर्ण अवभासवाला एक चिद्रूप आत्मतत्त्व ही परिशिष्ट है ॥ २९ ॥

चौदहवाँ सर्ग समाप्त

---

## पन्द्रहवाँ सर्ग

[ जगत्की भ्रान्तिका बीज तथा स्वरूप अहंभाव है, इसके परिमार्जनसे जगत्के अभाव द्वारा शुद्ध परमात्माके शेष रह जानेसे कृतार्थता सिद्ध हो जाती है, यह वर्णन ]

'अहंभावचमत्कारमात्राद्वृष्टिरिवाम्बुदात्' यह जो ऊपर कहा गया है, इसमें उपपादकरूपसे इन्द्र और त्रसरेणुकी आख्यायिकाकी योजना करते हैं—'यत्र०' इत्यादिसे ।

भुशुण्डजीने कहा—हे विद्याधर, जहांपर अहन्ता रहती है वहांपर जगत् पहले हीसे* आकर ऐसे बैठा रहता है, जैसे त्रसरेणुके भीतर परमाणुके अन्दर इन्द्रका साम्राज्य आदि प्रपञ्च ॥ १ ॥

आकाशके वर्णके सदृश आविर्भूत इस जागतिक भ्रमका अभिमानकर्ता अहंभाव ही आद्य मूल कहा गया है ॥ २ ॥

वासनारूपी रससे सींचे गये अहंभावरूपी बीजकणसे ब्रह्मरूपी पर्वतके

---

* अभिनव स्वप्नप्रपञ्चमें भी मैं पूर्वसिद्ध ही जगत्को देख रहा हूँ, यह सबको अनुभव भी है, इस अभिप्रायसे 'पूर्वमागत्य तिष्ठति' यह उक्ति है ।

तारकापुष्पनिकरो विलीनाचलपल्लवः ।
सरित्सारशिरापूरो वासनासारतत्फलः ॥ ४ ॥
अहन्त्वसलिलस्येदं जगत्स्पन्द उदाहृतः ।
चिच्चमत्करणस्वादुर्वासनाविसरद्रवः ॥ ५ ॥
तारकासीकरासारो नभोऽनन्तनिखातवान् ।
भावाभावमहावर्तो नानागिरितरङ्गकः ॥ ६ ॥
त्रिलोकीविलिखल्लेखो विलोलालोकफेनिलः ।
ब्रह्माण्डबुद्बुदोद्भेदः कपाटापीडपीवरः ॥ ७ ॥
भूपीठदृढडिण्डीरपिण्डश्छिद्रनमद्द्रुमान् ।
चित्राजवं जवीभावमज्जनोन्मज्जनात्मकः ॥ ८ ॥

ऊपर अव्याकृत आकाशरूपी विपिनमें यह त्रिलोकीरूपी वृक्ष उत्पन्न होता है ॥३॥

इस वृक्षके सभी तारे पुष्पसमूह हैं, मेघमिहिकारूपी वनसे ढके समस्त पर्वत इसके पल्लव हैं, गङ्गा आदि सब नदियां इसकी नाड़ियोंके प्रवाह हैं तथा हे विद्याधर, वासनारूपी बीजांशोंसे परिपूर्ण नानाविध भोग ही तो इसके सुन्दर फल हैं ॥ ४ ॥

अब अहङ्कारका महाजलरूपसे तथा जगत्‌का उसके कार्यभूत तरङ्ग आदि रूपसे वर्णन करते हैं—'अहन्त्व०' इत्यादि पाँच श्लोकोंसे ।

हे विद्याधर, यह जगत् अहङ्काररूपी सलिलका स्पन्द ( विलास ) कहा गया है । चितिके वैषयिक सुखरूपी माधुर्यसे परिपूर्ण वासनाओंका प्रसार ही इसका द्रव है ॥ ५ ॥

तारोंके समूहरूपी सीकरोंकी मूसलाधार वृष्टि करनेवाला तथा आकाशके कारण अनन्त निखातों ( सरोवरों ) से परिपूर्ण यह जगत् अहङ्काररूपी महाजलका विलास है । नाना प्रकारके अनेक पर्वतोंरूपी तरङ्गोंसे समन्वित इसमें सम्पत्तियों और विपत्तियों के अनेक आवर्त उठते-रहते हैं ॥ ६ ॥

इसमें चित्रलिखित रेखाओंकी नाईं तीनों लोकके जनसमूहरूपी रेखाएँ आविर्भूत हो रही हैं तथा सूर्य और चन्द्र आदिके प्रकाशोंके कारण वह फेनयुक्त हो गया है । इसमें अनेकों ब्रह्माण्डरूपी बुलबुलोंके उद्भेद उपस्थित हैं तथा कपाटकी नाईं मोक्षद्वारको रोक रखनेवाले मोहसे यह अभिवृद्ध है ॥ ७ ॥

भूपीठरूपी दृढ समुद्रफेनके पिण्डसे युक्त, अनेक जीवोंके कारण जलकाकोंसे

जरामरणमोहादिवीचीचयचमत्कृतिः ।
उत्पन्नध्वंसिदेहादिबिन्दुवृन्दैकबन्धुरः ॥ ९ ॥
अहन्त्वपवनस्पन्दो जगदित्यवगम्यताम् ।
अहन्त्वपद्मसौगन्ध्यं जगदित्यवबुध्यताम् ॥ १० ॥
नाहन्त्वजगती भिन्ने पवनस्पन्दवत्सदा ।
पयो द्रवत्वमिव च वह्निरौष्णमिव च ॥ ११ ॥
जगदस्त्यहमर्थेऽन्तरहमस्ति जगद्धृदि ।
अन्योन्यभाविनी त्वेते आधाराधेयवत्स्थिते ॥ १२ ॥
जगद्बीजमहन्त्वं यो मार्ष्टि बोधादवेदनात् ।
अलं चित्रं जलेनेव तेन धौतं जगन्मलम् ॥ १३ ॥

---

समन्वित तथा उनके नाना प्रकारके वेगपूर्वक ऊपर, नीचे, तिरछे भ्रमणोंके कारण यह मज्जन और उन्मज्जनरूप है ॥ ८ ॥

यह जरा-मरण और मोहादिरूपी तरङ्गोंके समूहरूप चमत्कारसे परिपूर्ण है तथा उत्पत्ति और विनाशशील देहादि पदार्थरूपी बिन्दुओंके वृन्दसे अत्यन्त सुन्दर है ॥ ९ ॥

अब दूसरी रीतिसे जगत्‌का वर्णन करते हैं—'अहन्त्व०' इत्यादिसे ।

हे विद्याधर, तुम इस जगत्‌को अहङ्काररूपी पवनका स्पन्द समझो तथा यह भी जान लो कि यह जगत अहङ्काररूपी कमलकी सुगन्ध है ॥ १० ॥

पवन तथा उसके स्पन्द, जल और उसके द्रवत्व एवं अग्नि तथा उसकी उष्णताके सदृश यह अहङ्कार और जगत् सदा अभिन्नरूप है ॥ ११ ॥

परस्पर बीजताका वर्णन करते हैं—'जगत्' इत्यादिसे ।

हे विद्याधर, अहङ्कारके अन्दर यह जगत् तथा उस जगत्‌के अन्दर अहङ्कार स्थित है । ये दोनों परस्पर एक दूसरेको उत्पन्न करनेवाले तथा परस्पर एक दूसरेके अधीन स्थितिवाले हैं ॥ १२ ॥

यही कारण है कि अहङ्कारके परिमार्जनसे जगत्‌का परिमार्जन हो जाता है, यह कहते हैं—'जगत्' इत्यादिसे ।

जो मनुष्य जगत्‌के बीज इस अहङ्कारको अनहंभावरूप ज्ञानसे नष्ट कर

अहन्त्वं नाम तत्किञ्चिद्विद्याधर न विद्यते ।
अकारणमवस्तुत्वाच्छशशृङ्गमिवोदितम् ॥ १४ ॥
ब्रह्मण्यतितते ऽनन्ते सङ्कल्पोल्लेखवर्जिते ।
अहन्त्वकारणाभावान्न कदाचन सन्मयम् ॥ १५ ॥
अवस्तुन्येति सर्गादौ न सम्भवति कारणम् ।
अतोऽहन्त्वादि नास्त्येव वन्ध्यासुत इव क्वचित् ॥ १६ ॥
तदभावाज्जगन्नास्ति चित्त्वं जगदभावतः ।
शिष्टं निर्वाणमेवाऽतः शान्तमास्व यथासुखम् ॥ १७ ॥
अभावादुपपत्तिस्थादेवं जगदहन्त्वयोः ।
रूपालोकमनस्काराः शान्तास्तव न चेतरत् ॥ १८ ॥

---

देता है मानो वह मलसे परिपूर्ण जगद्रूपी चित्रको उसी ज्ञानरूपी जलसे बिलकुल धो डालता है ॥ १३ ॥

तत्त्वदृष्टिसे अहङ्कारको असद्रूप देखना ही इसका परिमार्जन है—यह कहते हैं—'अहन्त्वम्' इत्यादिसे ।

इसलिए हे विद्याधर, परमार्थमें यह अहंभाव कुछ नहीं है। अवस्तुरूप होनेसे खरहेके सींगके समान बिना कारण ही यह उदित है ॥ १४ ॥

यह कैसे, इसपर कहते हैं—'ब्रह्मण्य०' इत्यादिसे ।

सर्वत्र व्याप्त, अनन्त, सङ्कल्पोंके उल्लेखोंसे शून्य ब्रह्ममें अहङ्कारका कोई कारण ही नहीं है, अतः वह कभी भी सद्रूप नहीं है ॥ १५ ॥

कारण रहते भी लोकमें अवस्तुके लिए वह कुछ नहीं कर सकता, प्रकृत सर्ग आदिमें तो कारणका संभव ही नहीं है। इसलिए वन्ध्या स्त्रीके पुत्रकी नाईं अहंभाव आदि कहींपर हैं ही नहीं ॥ १६ ॥

अहंभावादिरूप बीजके अभावसे यह जगत् भी नहीं है और इस जगत्के अभावसे कैवल्यरूपी निर्वाण ही चिन्मात्र अवशिष्ट है। अतः हे विद्याधर, शान्त ब्रह्मस्वरूप होकर तुम सुखपूर्वक बैठे रहो ॥ १७ ॥

इस प्रकार उपपत्तिमें प्रतिष्ठित जगत् और अहङ्कारके अभावसे बाह्यरूप, आलोक आदि संसार तथा आभ्यन्तर मानसिक संसार सब तुम्हारे शान्त हो चुके। इन दोनोंसे अतिरिक्त हेय कोई दुःख अब तुम्हें नहीं है, अतः हे विद्याधर, तुम शान्त बैठे रहो ॥ १८ ॥

यन्नास्ति तत्तु नास्त्येव शेषं शान्तमसि ध्रुवम् ।
सम्प्रबुद्धोऽसि मा भूयो निर्मूलां भ्रान्तिमाहर ॥ १९ ॥

व्यपगतकलनाकलङ्कशुद्धः
शिवमसि शान्तमसीश्वरोऽसि नित्यः ।
खमपि भवति पर्वतोपमानं
जगदपि वा परमाणुरूपमेव ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरनिर्वाणं नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

## षोडशः सर्गः

भुशुण्ड उवाच

कथयत्येवमप्येवं स विद्याधरनायकः ।
आसीत्संशान्तसंवित्तिः समाधिपरिणामवान् ॥ १ ॥

---

जो नहीं है वह तो सर्वथा नहीं है ही, अतः विक्षेपादि दुःखरहित शान्त ब्रह्मरूप ही तुम हो । हे विद्याधर, इसमें सन्देह नहीं कि अब तुम अच्छी तरह प्रबुद्ध हो चुके हो, अब फिर तुम निर्मूल भ्रान्तिको मत अपनाओ ॥ १९ ॥

बाह्य और आभ्यन्तर दृश्यप्रपञ्चके कल्पनरूपी कलङ्कसे शून्य अतएव शुद्ध, शिव, शान्त, नित्य ईश्वररूप ही तुम हो । हे विद्याधर, अध्यारोपदृष्टिसे आकाश भी पर्वतके सदृश होता है तथा अपवाददृष्टिसे तो ब्रह्माण्ड भी परमाणुरूप आकाश ही हो जाता है ॥ २० ॥

पन्द्रहवां सर्ग समाप्त

—o—

## सोलहवां सर्ग

[ इस उपदेशको सुनकर विद्याधरकी समाधिमें लीनता तथा अनहंभावकी प्रशंसा द्वारा कथाकी समाप्तिका वर्णन ]

भुशुण्डजीने कहा—हे मुने, मैं यों कह ही रहा था कि उस विद्याधरनायक-का समस्त दृश्यज्ञान शान्त हो गया नीरक्षीरके समान समाधिरूपी चित्तके परिणामसे युक्त हो गया यानी समाधिमें लीन हो गया ॥ १ ॥

प्रबोध्यमानोऽपि मया भूयोभूयस्ततस्ततः ।
न पपात पुरो दृश्ये परं निर्वाणमागतः ॥ २ ॥
स प्राप परमं स्थानं तावन्मात्रप्रबोधवान् ।
केनचिन्नाधिकेनाङ्ग यत्नेनातिशयैषिणा ॥ ३ ॥
अत उक्तं मया राम यदि शुद्धे हि चेतसि ।
उपदेशः प्रसरति तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ४ ॥
नाहमित्यस्ति तेनान्तर्मैनं भावय शान्तये ।
एतावदुपदेशोक्तिः परमा नेतराऽस्ति हि ॥ ५ ॥
एषैवाभव्यमनसि पतिता प्रविलीयते ।
उत्ताने मसृणादर्शे मुक्ताफलमिवाऽमलम् ॥ ६ ॥

---

तदनन्तर बार-बार मैंने उसे इधर-उधरसे जगाया, लेकिन परम निर्वाणपदको प्राप्त वह फिर शब्दादि विषयोंकी ओर न गिरा ॥ २ ॥

हे महर्षे, मुख्य अधिकारी होनेके कारण मेरे सिर्फ उतने उपदेशसे ही प्रबोधवान् होकर वह परमपदरूप स्थान को प्राप्त हो गया। श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि किसी और अधिक अतिशयशाली यत्नसे नहीं ॥ ३ ॥

अब महाराज वसिष्ठजी अपने पूर्वोक्त अर्थमें विद्याधरके चित्तका उदाहरण देकर वर्णनमें शीघ्रता होनेके कारण भुशुण्डजीकी उक्तिको छोड़ करके भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके प्रति कहते हैं—'अतः' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसीलिए पहले मैंने आपसे कहा था कि शुद्ध चित्तमें उपदेश ऐसे फैलता है, जैसे कि जलमें तैलबिन्दु ॥ ४ ॥

वह कौन-सा उपदेश है? यह पूछनेपर उसको कहते हैं—'नाहम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, आपके चिदेकरस प्रत्यगात्मामें अहङ्कारका-अंश बिलकुल नहीं है, अतः आप अपनी शान्तिके लिए असद्रूप इसकी भावना कभी मत कीजिये, बस यही मेरी सर्वोत्तम सारसंग्रहभूत उपदेशवाणी है और कुछ अन्य नहीं ॥ ५ ॥

यही अभव्य पुरुषके चित्तमें पड़कर ऐसे नहीं ठहर पाती, जैसे कि उलटे चिकने साफ दर्पणमें निर्मल मुक्ताफल नहीं ठहर पाता ॥ ६ ॥

भव्ये तु शान्तमनसि लगत्यभ्येत्यविच्युतिम् ।
प्रविश्यान्तर्विचाराख्यामर्चिरर्कमणौ यथा ॥ ७ ॥
अहंभावनमेवोच्चैर्बीजं दुःखाख्यशाल्मलेः ।
ममेदं तद्वदादीति शाखाप्रसरकारणम् ॥ ८ ॥
अहमादौ ममेत्यन्तस्ततत इच्छा प्रवर्तते ।
इदमर्थशतानर्थकारिणी भवभारिणी ॥ ९ ॥
एवंविधा मुनिश्रेष्ठ मूढा अपि चिरायुषः ।
भवन्त्यनियमो ह्यङ्ग दीर्घायुष्यस्य कारणम् ॥ १० ॥
अन्तःशुद्धमनस्का ये सुचिरायाभयप्रदम् ।
मनागप्युपदिष्टास्ते प्राप्नुवन्ति परं पदम् ॥ ११ ॥

परन्तु भव्य शान्तपुरुषके मनमें जाकर शीघ्र लग जाती और खूब चिपक जाती है तथा उसके अन्तःकरणमें प्रविष्ट होकर यह सम्पूर्ण मोहरूपी जंगलको जलानेमें समर्थ विचारनामक अग्निशिखा ऐसे पैदा करती है, जैसे कि सूर्यकान्त मणिके भीतर प्रविष्ट होकर सूर्यकी किरण अग्निशिखा पैदा करती है ॥ ७ ॥

इस संसारके दुःखरूपी सेमरके वृक्षका महान् बीज अहंभावना ही है तथा उस अहंभावनाके समान ही 'यह मेरा है' यह भावना भी इस वृक्षकी मूल है, क्योंकि रागादिरूपी शाखाओंके प्रसारकी कारण वही है ॥ ८ ॥

उसीको बतला रहे हैं—'अहम्भावन०' इत्यादिसे ।

बीजावस्थाके स्थानमें तो अहंभाव, इसके कार्यभूत वृक्षके स्थानमें ममभाव (यह मेरा है, यह भाव) तथा इस वृक्षकी शाखाओंके स्थानमें इच्छा प्रवृत्त होती है, जो कि इदमर्थरूप अनेक अनर्थों तथा संसार को प्रदान करनेवाली है ॥ ९ ॥

इस तरह अपने पूर्वकथनका प्रकृत सम्मतिसे समर्थन करके फिर भुशुण्डजीकी कथाका ही अनुसरण करते हुए महाराज वसिष्ठजी विद्याधरकी कथाका उपसंहार करते हैं—'एवंविधा' इत्यादिसे ।

हे मुनिश्रेष्ठ, इस तरह मूढ भी कभी-कभी चिरजीवी होते हैं, अतः दीर्घायुका कारण तत्त्वज्ञान है, यह कोई नियम नहीं है ॥ १० ॥

परन्तु शुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुषके ज्ञानमें चिरकालिक अभ्यास ही कारण है, यह नियम तो है ही, इस आशयसे कहते हैं—'अन्तःशुद्धमनस्काः' इत्यादिसे ।

वसिष्ठ उवाच

मेरुमूर्द्धनि मामेवमुक्त्वा स विहगाधिपः ।
तूष्णीं बभूव मुक्तात्मा ऋष्यमूक इवाम्बुदः ॥ १२ ॥
अहमापृच्छ्य तं सिद्धं विद्याधरमथो पुनः ।
प्राप्त आत्मास्पदं राम मुनिमण्डलमण्डितम् ॥ १३ ॥
एतत्तवाद्य कथितं बलिभुक्कथोक्तं
विद्याधरोपशमनं लघुबोधनोत्थम् ।
अस्मिन् भुशुण्डविहगेन्द्रसमागमे मे
चैकादशेह हि गतानि महायुगानि ॥ १४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्याने विद्याधरनिर्वाणं नाम षोडशः सर्गः ॥१६॥

---

चिरकालके अभ्याससे जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, वे महानुभाव तो थोड़ा भी उपदेश पाकर अभयप्रद परम पदको ( ज्ञानको ) प्राप्त कर लेते हैं ॥ ११ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरु पर्वतके शिखरपर इस तरह मुझसे कहकर विहगोंके अधिपति मुक्तात्मा वे भुशुण्डजी ऐसे चुप हो गये, जैसे कि ऋष्यमूक पर्वतके ऊपर मतङ्ग ऋषिके आश्रममें उनके शापके भयसे मूक होकर मेघ चुप हो जाते हैं ॥ १२ ॥

हे श्रीरामजी, तदनन्तर उस सिद्ध भुशुण्डजीसे पूछकर उनकी आज्ञासे मैं उस विद्याधरके पास उक्त संवादके विषयमें पूछताछ करनेके लिए चला गया। वहांसे सारी बातें ठीक-ठीक जानकर मैं फिर मुनिमण्डलमण्डित अपने आश्रममें आ गया ॥ १३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आज मैंने आपसे काकभुशुण्डजीके द्वारा कही गई कथासे प्रतिपादित विद्याधरकी परम विश्रान्ति, जो तत्त्वज्ञानके कारण तत्काल ही उत्पन्न हुई थी, सुनाई। हे रामचन्द्रजी, इस वर्णित मेरे विहगेन्द्र भुशुण्डजीके समागमके अनन्तर इस कल्पके ग्यारह दिव्य युग बीत चुके हैं ॥ १४ ॥

सोलहवां सर्ग समाप्त

## सप्तदशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अनहंवेदनादेवं शुभाशुभफलप्रदा ।
संसारफलिनी नूनमिच्छान्तरुपशाम्यति ॥ १ ॥
अनहंवेदनाभ्यासात्समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
भूत्वा शान्तभवापीडो न नरः परिताम्यति ॥ २ ॥
अहन्तापुटकोड्डीनपरबोधबलेरितः ।
अहमित्यर्थपाषाणो न जाने क्वाऽऽशु गच्छति ॥ ३ ॥

## सत्रहवाँ सर्ग

[ अनहंभावरूप अग्निसे अहंभावरूप बीजके दग्ध हो जानेपर देहादिसंसारका पूर्णरूपसे बाध हो जानेके बाद यह संसार बिलकुल मिथ्या भासने लगता है, यह वर्णन ]

सम्पूर्ण संसृतिका मूल काम ही है, इसलिए अनहंभाव द्वारा सबसे पहले उसीकी निवृत्ति कहते हैं—'अनहंवेदना०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, इस तरह अनहंभावके ज्ञानसे शुभ और अशुभ फल देनेवाली तथा संसाररूप फलसे परिपूर्ण इच्छा अन्तःकरणमें ही शान्त हो जाती है, यह निश्चित है ॥ १ ॥

कामका उपरम हो जानेपर लोभ आदि दोषोंके क्षयसे वैराग्य आदि सम्पत्ति द्वारा सम्पूर्ण मानसिक दुःखोंका क्षय हो जाता है, यह कहते हैं—'अनहम्' इत्यादिसे ।

अनहंभावज्ञानके अभ्याससे ढेला, पत्थर और सुवर्णको एक-सा समझनेवाला मनुष्य सांसारिक पीड़ाओंसे शान्त होकर फिर किसीकी इच्छा नहीं करता ॥ २ ॥

साधनसम्पन्न पुरुषको श्रवण आदिके द्वारा ज्ञानोदय होनेपर ब्रह्मसे अतिरिक्त अहमर्थका, बाधसे, असत्त्व ही पर्यवसित होता है, इस आशयसे कहते हैं—'अहन्ता०' इत्यादिसे ।

श्रवण आदिके द्वारा ज्ञाननिर्मथनके अभ्याससे अहन्तारूप प्रमातारूपी यन्त्रके पुटकसे अग्निज्वालाकी नाईं आविर्भूत परब्रह्मसाक्षात्काररूपी बोधके बलसे फेंका गया अहमादि दृश्य पदार्थरूपी पाषाण, अग्नियन्त्र द्वारा फेंके गये पाषाणकी तरह, उड़कर शीघ्र ही न जाने कहां चला जाता है ॥ ३ ॥

अहन्तापुटकोड्डीनब्रह्मवीरबलेरितः ।
अहमित्यर्थपाषाणो न जाने क्वाऽऽशु गच्छति ॥ ४ ॥
अहन्तापुटकोड्डीनो ब्रह्मवीरबलेरितः ।
शरीरयन्त्रपाषाणो न जाने क्वाऽऽशु गच्छति ॥ ५ ॥
अहमर्थहिमं स्वन्तरनहन्ताचिदर्चिषा ।
उड्डीयेव विलीनं सन्न जाने क्वाऽऽशु गच्छति ॥ ६ ॥
अहंरसो विलीनोन्तरनहन्ताचिदर्चिषा ।
शरीरपर्णाद्दुर्वर्णान्न जाने क्वाऽऽशु गच्छति ॥ ७ ॥
शरीरपर्णान्निष्पीतस्त्वहंभावरसासवः ।
अनहन्तार्कमार्गेण परतामधिगच्छति ॥ ८ ॥

---

अन्तिम साक्षात्कारवृत्तिमें आरूढ हुआ ब्रह्म ही अज्ञान, अहङ्कार आदिके निरासमें समर्थ है, इस आशयसे कहते हैं—'अहन्ता०' इत्यादिसे।

अहन्तारूप प्रमातारूपी यन्त्रपुटकसे आविर्भूत ब्रह्मसाक्षात्काररूपी वीरके बलसे फेंका गया अहमादि दृश्यपदार्थरूपी पाषाण न जाने कहाँ शीघ्र उड़कर चला जाता है ॥ ४ ॥

अज्ञान और अहङ्कारकी नाईं व्यष्टिसमष्टिरूप स्थूलदेहका भी निवर्तक ब्रह्म ही है, इस आशयसे कहते हैं—'अहन्ता०' इत्यादिसे।

अहन्तारूप प्रमातारूपी यन्त्रपुटकसे आविर्भूत हुए ब्रह्मसाक्षात्काररूपी वीरके बलसे फेंका गया शरीरयन्त्ररूपी पाषाण उड़कर न जाने कहाँ शीघ्र चला जाता है ॥ ५ ॥

अथवा अनहंभावनावृत्तिमें प्रतिफलित चितिसे ही अहन्ताका नाश होता है, यही पक्ष रहे, इस आशयसे कहते हैं—'अहमर्थ०' इत्यादि दो श्लोकोंसे।

अहमर्थरूप हिम अनहंभावात्मक चितिरूपी अग्निसे भीतर विलीन होकर मानो उड़ करके न जाने कहाँ शीघ्र चला जाता है ॥ ६ ॥

अनहंभावात्मक चितिरूपी अग्निकी ज्वालासे ब्रह्मविद्याके अधिकारी उत्कृष्ट ब्राह्मण आदि वर्ण तथा परिपाकके कारण पाण्डुवर्ण शरीररूपी पत्तेसे अहंभावरूपी रस अन्तःकरणमें ही गलकर न जाने शीघ्र कहाँ चला जाता है ॥ ७ ॥

अथवा बाधित अहन्तादिकी शून्यता नहीं है, किन्तु ब्रह्मता ही है, इस आशयसे कहते हैं—'शरीर०' इत्यादिसे।

शयने कर्दमे शैले गृहे व्योम्नि स्थले जले ।
स्थूला सूक्ष्मा निराकारा रूपान्तरगतापि च ॥ ९ ॥
यत्र तत्र स्थिता सुप्ता प्रबुद्धा भस्मतां गता ।
धृता नीता निमग्ना च दूरस्था निकटा सती ॥ १० ॥
शरीरवटधानान्तःस्थिताहन्त्वनवाङ्कुरा ।
शाखाजालं तनोत्याशु संसाराख्यमिदं क्षणात् ॥ ११ ॥
अहन्त्ववटधानान्तःस्थितदेहबृहद्द्रुमः ।
संसारशाखानिवहं यत्र तत्र तनोत्यलम् ॥ १२ ॥
शाखाशतेद्धदलपुष्पफलद्रुमोऽस्ति
बीजोदरे ननु दृशा परिदृश्यतेऽसौ ।

---

शरीररूपी पत्तेसे भलीभांति पीया गया अहंभावरूपी रसासव अनहन्तारूपी सूर्यकी किरण द्वारा अपने कारणभूत सूक्ष्मजलात्मक ब्रह्मरूपताको प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

तत्त्वज्ञानके बिना तो कहीं कभी किसी अवस्थामें भी देह या अहङ्कारका आत्यन्तिक उच्छेद नहीं हो सकता, क्योंकि परस्पर एक दूसरेके बीज होनेके कारण परस्परमें उनकी भीतर सत्ता है, अतः जगद्भावसे इन दोनोंकी सर्वत्र उत्पत्ति है, यह कहते हैं—'शयने' इत्यादिसे ।

तत्त्वज्ञानके बिना स्थूल, सूक्ष्म, निराकार, रूपान्तरको प्राप्त सुप्त, प्रबुद्ध, भस्मीभूत, धृत, आनीत, निमग्न, दूरस्थ या निकटमें रहकर शयन, कर्दम, शैल, गृह, आकाश, स्थल तथा जलमें जहां-तहां कहीं भी स्थित शरीररूपी वटधाना ( वटबीज ), जिसके भीतर अहंभावरूपी नवीन अङ्कुर उद्भूत है, क्षणभरमें ही शीघ्र सम्पूर्ण दिशाओंमें व्याप्त हो जानेवाले इस संसाररूपी शाखासमूहका विस्तार कर देती है ॥ ९–११ ॥

इस तरह अहंभावरूपी वटबीजके भीतर शरीररूपी महान् वृक्ष भी स्थित है, यह समझना चाहिए, यह कहते हैं—'अहन्त्व०' इत्यादिसे ।

अहन्त्वरूपी वटबीजके भीतर महान् शरीररूपी वृक्ष स्थित होकर जहां-तहां संसाररूपी शाखासमूहका खूब विस्तार करते रहता है ॥ १२ ॥

बटादिबीजके दृष्टान्तसे ही पूर्वोक्त अर्थका अनुभव कराते हैं—'शाखा०' इत्यादिसे ।

देहोऽस्त्यहन्त्वकणिकान्तरशेषदृश्य-
संवित्परीत इति बुद्धिदृशैव दृष्टम् ॥ १३ ॥

देहादहन्त्वमनवाप्तवतो विचारै-
श्चिद्व्योममात्रवपुषो वपुषोऽथवोच्चैः ।
नाऽहन्त्वबीजजठरादसतोऽभ्युदेति ।
संसारवृक्ष इह बोधमहाग्निदग्धात् ॥ १४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अहन्त्वासत्तायोगोपदेशो नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

---

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह प्रसिद्ध है कि जैसे बीजके भीतर सैकड़ों शाखाओंसे विराजमान दलों, पुष्पों और फलोंसे समन्वित वृक्ष है, क्योंकि उसके रहनेसे ही तो अङ्कुरादिके रूपमें निकलते हुए उसे सब लोग अपनी आँखोंसे देखते हैं, वैसे ही अहङ्काररूपी सूक्ष्म बीजके भीतर समस्त दृश्योंसे युक्त यह देह है, इसे सूक्ष्मबुद्धिरूपी अपनी आँखोंसे विद्वान् पुरुषोंने ही देखा है ॥ १३ ॥

इस तरह अविचारके फल सर्वत्र अनिर्मोक्षको बतलाकर अब विचारके फल मोक्षको बतलाते हैं—'देहाद०' इत्यादिसे ।

श्रवण आदि विचारोंसे तत्त्वबोध होनेपर चिदाकाशमात्र शरीरधारी जीवन्मुक्त पुरुषके अहन्ताको न प्राप्त किये हुए विद्यमान भी शरीरसे या निरतिशयानन्द पदमें प्रतिष्ठित हुए विदेहयुक्त पुरुषके बोधरूपी महाग्निसे दग्ध हुए असद्भूत अहन्तारूपी बीजके जठरसे यह संसाररूपी वृक्ष फिर कहीं नहीं पैदा होता ॥१४॥

सत्रहवां सर्ग समाप्त

## अष्टादशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

मरणं सर्वनाशात्म न कदाचन विद्यते।
स्वसङ्कल्पान्तरस्थैर्यं मृतिरित्यभिधीयते ॥ १ ॥
पश्येमे पुर उद्यन्त इव मन्दरमेरवः।
आरूढा अपि दिग्वातैः सरिद्बिम्बितशैलवत् ॥ २ ॥

---

## अठारहवाँ सर्ग

[ सर्वत्र आकाशमें पवन द्वारा उड़ाये जा रहे मृत जीवके मनमें स्थित अनन्त जगत्का वर्णन ]

'देहोऽस्त्यहन्त्वकणिकान्तरशेषदृश्यसंवित्परीत इति बुद्धिदृशैव दृष्टम्' यह जो ऊपर कहा गया है, उसमें कैसे और किस तरहकी बुद्धिदृष्टि है? इन दोनोंका मृत जीवके वासनामय अनन्त जगत्के व्युत्पादन द्वारा समर्थन करनेके लिए भूमिका रचते हैं—'मरणम्' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, पामर ही मन, बुद्धि, अहङ्कार आदि समस्त वस्तुओंके नाशको मरणरूपसे समझते हैं, वह वास्तवमें मरण-स्वरूप नहीं है। यदि वैसा मान लिया जाय, तो कृतहानि आदि दोषोंकी प्राप्ति अवश्य होने लगेगी। किन्तु मनुष्यादिशरीरोंमें आत्मभावके कारण प्रारब्धका क्षय होनेपर उसके अनुरूप सङ्कल्पके तिरोभावके बाद देवादिशरीरमें अहंभावादिके जनक कर्मकी उत्पत्ति हो जानेपर उसके अनुरूप अपने दूसरे सङ्कल्पका, उसके भोजक अदृष्ट क्षयपर्यन्त स्थिर रहना ही, मरण कहलाता है यानी अपने सम्पूर्ण सङ्कल्पोंका रूपान्तरमें स्थित रहना ही मृति है ॥ १ ॥

ठीक है, ऐसा ही सही, इससे प्रकृतमें क्या आया? इसपर कहते हैं—'पश्ये०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामजी, इस तरह तत्-तत् जीवोंके सङ्कल्पसे कल्पित जगत्के भीतर स्थित हुए भी ये मन्दराचल और सुमेरु आदि दिशाओंमें वायु द्वारा सर्वत्र इधर-उधर उड़ाये जा रहे, नदियोंमें प्रतिबिम्बित पर्वतोंकी नाईं, मेरे आगे दिखाई दे रहे हैं, आप भी देखिये न ॥ २ ॥

उपर्युपर्यन्तरन्तः कदलीदलपीठवत् ।
श्लिष्टाश्लिष्टस्वरूपाः खे मिथः संसृतयः स्थिताः ॥ ३ ॥

श्रीराम उवाच

पश्येमे पुर उद्यन्त इति वाक्यार्थमक्षतम् ।
न किञ्चिदवगच्छामि यथावन्मुनिनायक ॥ ४ ॥

वसिष्ठ उवाच

प्राणस्याऽऽभ्यन्तरे चित्तं चित्तस्याऽऽभ्यन्तरे जगत् ।
विद्यते विविधाकारं बीजस्यान्तरिव द्रुमः ॥ ५ ॥
मृते पुंसि नभोवातैर्मिलन्ति प्राणवायवः ।
सरिज्जलैरिवाम्भोधिजलान्यात्मद्रुतानि हि ॥ ६ ॥

---

केलेके स्तम्भके भीतर-भीतर छील-छीलकर देखनेसे प्राप्त दलके समान एक दूसरेके ऊपर-ऊपर स्थित हुए समान अदृष्टवाले जीवोंके परस्पर मिले हुए तथा भिन्न अदृष्टवालोंके न मिले हुए भी आकाशमें अनेक संसार अवस्थित दिखाई देते हैं ॥ ३ ॥

उक्त अर्थकी असंभावना करते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'पश्येमे' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिनायक, 'पश्येमे पुरः उद्यन्त' इस वाक्यका पूर्ण अर्थ मैं कुछ भी नहीं जान रहा हूँ, अतः कृपाकर मुझे ठीक-ठीक समझाइये ॥ ४ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, यह तो लोक और वेदमें सब जगह प्रसिद्ध ही है कि मृत प्राणियोंके प्राण आकाशमें उत्क्रमण करते हैं। तो ऐसी दशामें यदि प्राण हैं, तो उनके भीतर चित्त और चित्तके भीतर विविधाकार जगत् भी ऐसे विद्यमान हैं, जैसे कि बीजके अन्दर वृक्ष [ इसकी आप संभावना कर सकते हैं ] ॥ ५ ॥

ठीक है, रहें, किन्तु वे दिशाओंमें वायुद्वारा इधर-उधर कैसे पहुँचाये जाते हैं ? इसपर कहते हैं—'मृते' इत्यादिसे ।

पुरुषके मर जानेपर उसके शरीरसे उत्क्रान्त हुए प्राणवायु बाह्याकाशमें पूर्ण पवनोंके साथ ऐसे मिल जाते हैं, जैसे स्वरूपतः द्रुत होनेके कारण समुद्रके जल नदियोंके जलके साथ मिल जाते हैं ॥ ६ ॥

इतश्चेतश्च यान्तीव तेषामन्तर्जगन्त्यलम् ।
व्योमवातविनुन्नानां सङ्कल्पैकात्मकान्यपि ॥ ७ ॥
सप्राणवातैः पवनैः स्फुरत्सङ्कल्पगर्भितैः ।
सर्वा एव दिशः पूर्णाः पश्यामीमाः समन्ततः ॥ ८ ॥
अत्रैते पश्य पश्यामि सङ्कल्पजगताङ्गणे ।
बुद्धिदृष्ट्या समुह्यन्ते पुरो मन्दरमेरवः ॥ ९ ॥
खवातेऽन्तर्मृतप्राणाः प्राणानामन्तरे मनः ।
मनसाऽन्तर्जगद्विद्धि तिले तैलमिव स्थितम् ॥ १० ॥
खवातैः खसमाः प्राणा यथोह्यन्ते मनोमयाः ।
उह्यन्ते वै तथैतानि तदङ्गानि जगन्त्यपि ॥ ११ ॥
स भूतान्यम्बरोर्व्यादिवृन्दादि त्रिजगन्त्यपि ।
उह्यन्ते चाप्यरूढानि पुरः सर्वत्र गन्धवत् ॥ १२ ॥

---

अतः आकाशवायुसे विशेषतः आकृष्ट हुए उन प्राणोंके अन्तर्गत एकमात्र सङ्कल्परूपसे स्थित अनेक जगत भी इधर-उधर खूब भ्रमण करते हुए जो दिखाई दे रहे हैं वे ही मानो वायु द्वारा इधर-उधर उड़ाये जा रहे प्रतीत हो रहे हैं ॥ ७ ॥

स्फुरित हो रहे सङ्कल्पोंसे परिपूर्ण प्राणवायुके सहित पवनोंसे इन सब दिशाओंको मैं चारो ओरसे परिपूर्ण देख रहा हूँ ॥ ८ ॥

यहां मैं देख रहा हूँ कि इस सङ्कल्पकल्पित आँगनमें मेरे सामने ये अनेक मन्दराचल और सुमेरु पर्वत उड़ रहे हैं । हे श्रीरामजी, आप भी अपनी बुद्धि-दृष्टिसे देखिये ॥ ९ ॥

आकाशमें विद्यमान वायुके भीतर मृत प्राणियोंके प्राण, उन प्राणोंमें उनका मन और उसी मनमें जगत्को हे श्रीरामजी आप ऐसे स्थित जानिये, जैसे तिलमें तैल स्थित रहता है ॥ १० ॥

इतने बड़े वजनदार ये जगत् भला वायु द्वारा कैसे उड़ाये जा रहे हैं, इसपर कहते हैं—'खवातैः' इत्यादिसे ।

आकाशवायुके द्वारा आकाशवायुके समान ( लघु ) मनोमय प्राण जैसे उड़ाये जा रहे हैं वैसे ही मनके अङ्गभूत ये अनेक जगत भी उड़ाये जा रहे हैं ॥ ११ ॥

चार प्रकारके प्राणियोंके तथा आकाश, पृथिवी आदि समूहोंके सहित

तानि बुद्धैयैव दृश्यन्ते न दृष्ट्या रघुनन्दन।
पुरः सङ्कल्परूपाणि स्वस्वप्नपुरपूरवत् ॥ १३ ॥
सर्वत्र सर्वदा सन्ति सुसूक्ष्माण्येव खादपि।
कल्पनामात्रसारत्वान्न चोह्यन्ते मनागपि ॥ १४ ॥
तान्येव दृढभावत्वात्स्वेषु लोकेषु तेष्वलम्।
सत्यान्येव चिदंशस्य सर्वगत्वाद्भवानिव ॥ १५ ॥
प्रतिबिम्बं पुराणीव पुरः प्राणसरिद्रये।
अरूढान्यपि चोह्यन्ते रूढान्यपि च नैव च ॥ १६ ॥
सौरभाणि समुह्यन्ते वाताङ्गस्थानि राघव।
जगन्ति प्राणसंस्थानि व्योमात्मकमयानि तु ॥ १७ ॥

---

अप्रतिष्ठित ये तीनों लोक भी एक देशसे दूसरे देशमें ऐसे सर्वत्र मेरे सामने उड़ाये जा रहे हैं, जैसे कि गन्ध ॥ १२ ॥

हे रघुनन्दन, अपने स्वप्नमें देखे गये नगरसमूहके तुल्य ये सङ्कल्पकल्पित जगत् बुद्धिचक्षुसे ही सामने दिखाई देते हैं, चर्मचक्षुसे नहीं ॥ १३ ॥

आकाशसे भी अत्यन्तसूक्ष्म सङ्कल्पकल्पित ये मनोमय जगत् सब जगह सर्वदा ही हैं और कल्पनामात्र सार होनेसे तनिक भी कहीं नहीं पहुँचाये जाते ॥ १४ ॥

यद्यपि वे सब कल्पनामात्रसार होनेसे असत्यरूप ही हैं, अतः कहीं इधर-उधर नहीं उड़ाये जाते, तथापि वे उन तत्-तत् जीवोंके भोग्यरूप अपने अपने स्वर्ग, नरक, पृथिवी आदि लोकोंमें उनका दृढ़भाव होनेके कारण एवं सुख, दुःख आदि भोगोंकी क्रियामें समर्थ होनेके कारण सत्यरूप ही हैं; क्योंकि उनकी सत्यताके सम्पादक अधिष्ठान चिदंश तो सर्वगामी ही है। इसलिए हे रघुनन्दन, जिस तरह मेरी दृष्टिसे श्रवण आदि अर्थक्रियामें समर्थ मेरे सामने आप सत्यरूप दीखते हैं उसी तरह ये भी दीखते हैं ॥ १५ ॥

सामने स्थित प्राणरूप नदीके वेगमें प्रतिबिम्बित नगरोंकी नाईं वासनामात्र होनेसे अनाविर्भूत तथा आविर्भूत हुए ये अनेक जगह इधर-उधर पहुँचाये जाते हैं और नहीं भी पहुँचाये जाते ॥ १६ ॥

हे राघव, जैसे वायुमें स्थित सौगन्ध्य इधर-उधर ले जाये जाते हैं वैसे ही

कुम्भे देशान्तरं नीते यथाऽन्तर्व्योम्नि नान्यता ।
स्पन्दनादिमये चित्ते तथैव त्रिजगद्भ्रमे ॥ १८ ॥
इत्थं न सज्जगत्भ्रान्तिरसत्यैवोदितेव ते ।
न विनश्यति नोदेति केवलं ब्रह्मरूपिणी ॥ १९ ॥
यदि वाप्युदिते वातैस्तत्तदस्या न लक्ष्यते ।
तदन्तःसंस्थितैः स्पन्दो नावि कोशगतैरिव ॥ २० ॥
यथा स्पन्दोऽङ्गलग्नायां नाव्यन्तःसंस्थितैरपि ।
न लक्ष्यते तथा पृथ्व्यां तत्संस्थैस्तन्मयैरपि ॥ २१ ॥

---

प्राणवायुमें स्थित आकाशात्मक जगत् भी इधर-उधर ले जाये जाते हैं ॥ १७ ॥

यही कारण है कि तीनों जगत्के भ्रमरूपसे चित्तमें स्पन्दन और भेदके रहनेपर भी आत्मामें स्पन्दन और भेद नहीं है, यह कहते हैं—'कुम्भे' इत्यादिसे।

घटको देशान्तरमें पहुँचा देनेपर भी जैसे घटके अन्तर्गत आकाशमें कोई भेद नहीं है, वैसे ही स्पन्दनमय चित्तमें तीनों जगत्का भ्रम रहनेपर भी आत्मामें स्पन्दन और भ्रम नहीं है ॥ १८ ॥

जैसे मृत प्राणियोंके प्राणमें स्थित जगत् सङ्कल्पमात्र होनेसे असद्रूप है, इसी तरह हे श्रीरामजी, आपका भी यह जगत् असद्रूप ही है । एकमात्र भ्रान्ति ही उदित हुई-सी है । परमार्थमें तो वह भ्रान्ति भी न तो नष्ट होती है और न उदित ही होती है । अर्थात् तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर तो वह भ्रान्ति भी एकमात्र ब्रह्मरूपिणी ही है ॥ १९ ॥

व्यवहारदृष्टिसे जगत् और इसकी भ्रान्ति दोनों यदि वायुके भीतर उड़ते हुए ही उदित हैं, तो फिर हम लोग इस पृथिवीको निश्चलरूपसे कैसे देख रहे हैं ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'यदि' इत्यादिसे ।

जगत् और इसकी भ्रान्ति ये दोनों उदित नहीं हैं, यह तो परमार्थमें निश्चित ही है । अथवा व्यवहारदृष्टिसे यदि उदित हैं, तो भी वायुद्वारा किये गये इस पृथिवीके तत्-तत् भ्रमण, परिवर्तन आदिको इसके भीतर बैठे हुए हम लोग ऐसे नहीं देख रहे हैं, जैसे कि नौकामें उत्पन्न हो रहे स्पन्दको उसके भीतर बैठे हुए मनुष्य नहीं देखते ॥ २० ॥

इसीको पुनः स्पष्टरूपसे बतलाते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

यथाऽयोजनविस्तीर्णं लघौ सद्मानुभूयते ।
यत्तस्य पादपस्तम्भे परमाणौ यथा जगत् ॥ २२ ॥
वस्त्वल्पमप्यतिबृहल्लघुसत्वो हि मन्यते ।
मूषिकाः स्वाञ्जलिद्रव्यं नवपङ्कमिवार्भकाः ॥ २३ ॥

---

जैसे अङ्गमें संलग्न नौकाके भीतर स्थित मनुष्यों तथा उसमें जटित कील आदिकोंको उसकी गति लक्षित नहीं होती, वैसे ही पृथिवीके भीतर स्थित पार्थिव देहादिमय होते हुए भी हम लोगोंको इसकी गति लक्षित नहीं होती ॥ २१ ॥

इस तरह 'पश्येमे पुर उद्यान्त इव मन्दरमेरवः' इस अपनी उक्तिका श्रीरामचन्द्रजीसे उपपादन करके 'उपर्युपर्यन्तरन्तः कदलीदलपीठवत्' इस उक्तिमें भी छोटेमें बड़ेके समावेशको पहले बड़ेमें अल्पत्वकी कल्पना करके दिखलाते हैं— 'यथा' इत्यादिसे ।

छोटे-से वृक्षस्तम्भमें विचित्रव्यूहरचनापूर्वक निर्माण करनेके लिए प्रयत्नशील शिल्पकारकी बुद्धिसे अल्पत्वकी कल्पना द्वारा जैसे योजनों दूरतक विस्तीर्ण हुआ घर अनुभूत होता है, वैसे ही भीतर-भीतर अत्यन्त सूक्ष्म भी परमाणुमें यह संसार बुद्धिसे कल्पना द्वारा अनुभूत होता है ॥ २२ ॥

अथवा परमाणु आदिमें बृहद्रूपकी कल्पना करके उसमें बृहत् जगत्के समावेशका अनुभव नहीं करना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'वस्त्व०' इत्यादिसे ।

तुच्छ विचारवान् पुरुष छोटी-सी भी वस्तुको बहुत बड़ी मान बैठता है, जैसे कि रत्नोंके भण्डारमें प्रविष्ट हुई धनसम्बन्धशून्य मूषिकाएँ रत्नोंको बहुत नहीं मानतीं, किन्तु सिर्फ एक अञ्जुलीभर अन्नको ही वहां अपने बड़े भाग्यसे प्राप्त हुआ बहुत समझती हैं अथवा छोटे-छोटे बच्चे पहने हुए अपने बहुमूल्य आभरणोंको भी अधिक आदरकी दृष्टिसे नहीं देखते, किन्तु मृग या पक्षीके आकारके बने हुए नवीन नानाविध रङ्गोंसे रंगे गये चमकते हुए मिट्टीके पिण्डको ही अपने खेलनेकी बहुत बड़ी चीज समझते हैं; जिससे कि वे उस मिट्टीके खिलौनेसे लुब्ध होकर अपने बहुमूल्य आभरणोंको भी उसके बदलेमें दे डालते हैं ॥ २३ ॥

असत्येव स्वरूपेऽस्मिम् जगदाख्ये विदो भ्रमे ।
लोकान्तराधर्ममयी सा बृहङ्गस्य भावना ॥ २४ ॥
इदं हेयमुपादेयमिदमित्यन्तरज्ञता ।
यस्य तस्य भवायास्ति सर्वज्ञस्याऽपि मूढता ॥ २५ ॥
सचेतनो ह्यवयवी चेतत्यवयवान्यथा ।
स्वान्तरेव ततं जीवस्त्रिजगद्बुध्यते तथा ॥ २६ ॥

---

छोटेमें बड़ेका समावेश वस्तुतः नहीं हो सकता, भ्रान्तिसे तो हो ही सकता है, इस आशयसे कहते हैं—'असत्येव' इत्यादिसे ।

अज्ञानसे आवृत चितिके जगन्नामक भ्रममें असद्रूप ही पदार्थमें जीवितको यह लोक, मृतको परलोक तथा उनमें धर्माधर्मफलकी जो कल्पना है वह वृद्धि-दशाको* प्राप्त चित्तकी सङ्कल्परूप एकमात्र भावना ही है । इसका तात्पर्य यह है कि भावनाको वस्तुका अन्यथाभाव रोक नहीं सकता ॥ २४ ॥

मूर्खोंको भीतर-भीतर जगद्भ्रमकी भावना बनी रहे, कोई हानि नहीं, परन्तु आप-जैसे सर्वज्ञ महानुभावोंको भला भीतर-भीतर एक जगत्के पीछे दूसरा जगत विद्यमान है, यह भ्रान्ति कैसे, इस शङ्कापर कहते हैं—'इदम्' इत्यादिसे ।

यह वस्तु हेय है और यह वस्तु उपादेय है, इस तरहकी भेदभरी अज्ञता जिसके अन्दर उपस्थित है, सर्वज्ञ होते हुए भी उस पुरुषकी, व्यवहार चलानेके लिए जबतक प्रारब्धका बिलकुल क्षय नहीं हो जाता तबतक कुछ न कुछ, मूढ़ता उसके पीछे लगी ही रहती है ॥ २५ ॥

यही कारण है कि सर्वज्ञ रहते हुए भी समष्टिजीवात्मक हिरण्यगर्भको अपने अवयवोंकी नाईं भीतरमें ही तीनों जगत्का दर्शन होता है, यह कहते हैं—'सचेतनो' इत्यादिसे ।

जैसे सचेतन लौकिक व्यष्टिपुरुष अपने हाथ, पैर आदि अवयवोंका अपने भीतर ही अवलोकन करता है, वैसे ही समष्टिजीवात्मक हिरण्यगर्भ भी अपने ही भीतर व्याप्त तीनों जगत्का अवलोकन करता है ॥ २६ ॥

---

* बृहङ्गस्य यानी बृंहणको—वृद्धिको—प्राप्त हो रहे चित्तकी । यहाँपर बृह धातुसे 'घञ' प्रत्ययके अर्थमें 'क' प्रत्ययका विधान है । इसलिए भावमें यहाँ 'क' प्रत्यय करके 'अन्येष्वपि दृश्यते' [पा० ३।२।१०१] इस सूत्रसे गम् धातुसे ड प्रत्यय करनेके बाद बाहुलकात् 'नुम्' हुआ है।

संविदात्मपराकाशमनन्तमजमव्ययम् ।
व्योम्नोऽवयवरूपाणि तस्येमानि जगन्ति भोः ॥ २७ ॥
सचेतनोऽयःपिण्डोऽन्तः क्षुरसूच्यादिकं यथा ।
बुध्यते बुध्यते तद्वज्जीवोऽन्तस्त्रिजगद्भ्रमम् ॥ २८ ॥
अचिच्चिद्वाऽपि मृत्पिण्डः शरावोदञ्चनादिकम् ।
यथाङ्गं मनुते जीवस्तथाङ्गं मनुते जगत् ॥ २९ ॥
चिदचिद्वाङ्कुरो देहे वृक्षत्वं मन्यते यथा ।
वृक्षशब्दार्थरहितं ब्रह्मेदं त्रिजगत्तथा ॥ ३० ॥

परन्तु मायोपहित ईश्वर ही इस तरह देखता है, यह कहते हैं—'संविदात्म०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, संविदात्मक, परमाकाश अनन्त, अज एवं अविनाशी ईश्वर है । उसी मायोपहित परमाकाशरूप ईश्वरके अवयवस्वरूप ये समस्त जगत् हैं ॥२७॥

प्रलयकालमें ईश्वर अपने अन्तर्गत समस्त जगत्को कैसे देखता है ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'सचेतनो०' इत्यादि चार श्लोकोंसे ।

यदि लोहेका गोला सचेतन हो, तो वह भी अपने अन्दर सूक्ष्मरूपसे स्थित छुरे, सूई, कैंची आदि अपने भावी विकारको जैसे देख सकता है, वैसे ही समष्टिजीवात्मक ईश्वर भी अपनेमें लीन किये समस्त संस्कारोंसे समन्वित होकर तीनों जगत्के भ्रमको देखता है ॥ २८ ॥

अधिष्ठान सद्रूपकी प्रधानतासे चिति या आरोपित मिट्टी आदिरूपके प्राधान्यकी विवक्षासे अचितिरूप मिट्टीका पिण्ड शराव, उदञ्चन आदिको जैसे अपना अङ्ग मानता है वैसे ही समष्टिजीवरूप ईश्वर भी जगत्को अपना अङ्ग मानता है ॥ २९ ॥

उपहितके प्राधान्यसे चिति या आरोपित मिट्टी आदिरूपके प्राधान्यसे अचितिरूप अङ्कुर अपनी देहमें जैसे वृक्षत्व मानता है, वैसे ही वृक्ष शब्दार्थसे रहित ब्रह्म इन तीनों लोकोंको अपनेमें ही स्थित मानता है* ॥ ३० ॥

* विशेषता यही है कि जीवसंस्कारोपहितरूपसे वृक्षशब्दादिसहित ब्रह्म अपनेको मानता है तथा जीवसंस्कारसे अनुपहित ईश्वररूपसे वह अपनेको वृक्षशब्दादिके अर्थसे रहित यानी अनादि-सिद्ध विद्यासे बाधित मानता है ।

चिद्वाऽचिद्वा यथाऽऽदर्शो बिम्बितं वाप्यबिम्बितम् ।
नगरं वेत्ति नो वाऽपि तथा ब्रह्म जगत्त्रयम् ॥ ३१ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यमात्रमेव जगत्त्रयम् ।
अहन्त्वजगतोस्तेन भेदो नास्त्येतदात्मनोः ॥ ३२ ॥
कल्पितेनोपमानेन यदेतदुपदिश्यते ।
तत्रोपमैकदेशेन उपमेयसधर्मता ॥ ३३ ॥
यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
अमुष्वतः पराणुत्वं जीवस्यैतत्स्मृतं वपुः ॥ ३४ ॥

---

परिणामदृष्टिसे जीव और ईश्वरके सृष्टि और सृष्टिके अभावकालमें जगत्‌के अवलोकनमें दृष्टान्त कहकर विवर्तदृष्टिसे भी कहते हैं—'चिद्वा' इत्यादिसे।

जैसे चिति या अचितिरूप दर्पण बिम्बित या प्रतिबिम्बित नगरको अपने भीतर जानता है वैसे ही ब्रह्म भी तीनों जगत्‌को जीव और ईश्वरकी उपाधिसे उपहित दृष्टिसे जानता है तथा अनुपहित शुद्ध दृष्टिसे नहीं भी जानता है† ॥३१॥

इस तरह श्रीरामचन्द्रजीके प्रश्नोंका समाधान देकर प्रासङ्गिक सभी बातें समाप्तकर 'नाहन्त्वजगती भिन्ने पवनस्पन्दने यथा' इस पूर्व प्रस्तुत अर्थका प्रकारान्तरसे समर्थन करनेके लिए अनुसन्धान करते हैं—'देश०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामजी, देश, काल, क्रिया तथा द्रव्यरूप ही ये तीनों जगत् हैं और अहङ्कार भी इन देश, काल आदिके साथ अभेद सम्बन्धाभिमान रखनेके कारण देश, काल आदि रूप ही है, अतः देश-कालादिरूप जगत् और अहङ्कार—इन दोनोंमें भेद नहीं है ॥ ३२ ॥

इसीका अनुभव करानेके लिए श्रुति और मैंने मिट्टीके पिण्ड और लोहेके गोले आदिके दृष्टान्त यद्यपि अचेतन हैं, तथापि उनमें चेतनत्वका आरोप करके एक देशके साम्यसे उनका उपन्यास किया है, यह कहते हैं—'कल्पितेन' इत्यादिसे।

कल्पित जडात्मक लोहे आदिके उपमानरूपसे जो मैंने उपदेश दिया है, वहाँ उपमाके केवल एक अंशसे उपमेयके साथ सधर्मता—समानता है ॥ ३३ ॥

जो कुछ यह स्थावर-जङ्गमरूप जगत् दिखाई दे रहा है वह सब अपनी

---

† देखिये श्रुति—'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्यादि ।

सर्वसंवेदनत्यागे शुद्धसंस्पन्ददे पदे ।
न मनागपि भेदोऽस्ति निःसङ्गोपलकोशवत् ॥ ३५ ॥
यो यो नाम विकल्पांशो यत्र यत्र यथा यथा ।
यदा यदा येन येन दीयते स तथैव चित् ॥ ३६ ॥
अचित्त्वान्नास्ति मनसि सङ्कल्पः ख इवाङ्कुरः ।
चित्त्वात्तु चेतसो विद्धि चितिरेवेह कल्पनम् ॥ ३७ ॥

---

वास्तविक ब्रह्मभावरूपी परमसूक्ष्मताका त्याग न कर रहे जीवका विवर्तरूप स्थूल शरीर ही है ॥ ३४ ॥

यही कारण है कि अधिष्ठानदृष्टिसे समस्त विवर्तोंका ज्ञानसे बाध होनेपर सब ओर शुद्धात्माका प्रसार करनेवाले पूर्ण पदमें किसी तरहसे तनिक भी जीव-जगत्का भेद नहीं है, यह कहते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

सम्पूर्ण पदार्थका ज्ञानसे बाध होनेपर शुद्ध संस्पन्दन प्रदान करनेवाले आत्मपदमें निःसङ्ग पाषाणकोशकी नाईं तनिक भी भेद नहीं है ॥ ३५ ॥

परन्तु ज्ञानसे समस्त पदार्थोंका बाध न होनेपर तो सर्वदा सर्वत्र सम्पूर्ण विकल्पोंके रूपसे ही चिति विवर्तित होती है, यह कहते हैं—'यो यो नाम' इत्यादिसे ।

अबाध दशामें जो-जो विकल्पांश जहां-तहां जैसे-जैसे जब-जब जिस-जिस रूपसे मूढ़ोंसे दिया जाता है वह उसी रूपसे चिति ही विवर्तित होती है ॥३६॥

मनमें भी चितिका अनुप्रवेश रहनेसे ही विचित्र सङ्कल्पोंकी सामर्थ्य होती है, स्वतः नहीं, इसलिए यह निश्चित है कि चितिमें ही सम्पूर्ण विवर्तकी स्वतन्त्रता निहित है, यह कहते हैं—'अचित्त्वात्' इत्यादिसे ।

आकाशमें अङ्कुरकी नाईं चितिका अभाव रहनेपर मनमें किसी तरहका सङ्कल्प नहीं उठता । चितिके उसमें अधिष्ठित रहनेसे ही नाना प्रकारके सङ्कल्प मनमें उठते रहते हैं, इसलिए हे श्रीरामजी, आप यह जान लीजिये कि इस संसारमें जितनी कल्पनाएँ मनमें उदित होती हैं वे सबके सब चिति-स्वरूप ही हैं ॥ ३७ ॥

या योदेति विकल्पश्रीरप्रबुद्धाशयं प्रति ।
सर्वगत्वादनन्तत्वाच्चिद्व्योम्नः सा न सन्मयी ॥ ३८ ॥
यथोदेति विकल्पश्रीः प्रबुद्धेनोदितैव सा ।
सर्वगत्वादनन्तत्वाच्चिद्व्योम्नः सा न सन्मयी ॥ ३९ ॥
सर्वसङ्कल्पकलना सत्येत्याबालमक्षतम् ।
स्वप्नादावनुभूतोऽन्तरर्थः केनापि लभ्यते ॥ ४० ॥
सङ्कल्पो वासना जीवस्त्रयोऽर्था लिखिताश्रिता ।
सोऽनुभूतोऽप्यसत्यः स्यादसत्त्वस्यैव नो सतः ॥ ४१ ॥

---

अज्ञानीके हृदयमें जो-जो विकल्पश्री उदित होती है वह सब चिदाकाशके सर्वगामी और अनन्त होनेसे सद्रूप नहीं है ॥ ३८ ॥

अज्ञानीमें जिस तरह विकल्पश्री उदित होती है उस तरह प्रबुद्धमें वह उदित नहीं होती, यह निश्चित है । चिदाकाशके सर्वव्यापक तथा देश, काल और वस्तु कृत परिच्छेदसे शून्य होनेके कारण वह सद्रूप नहीं है ॥ ३९ ॥

यदि विकल्पश्री असद्रूप ही है, तो फिर बाल-गोपालतक सभीको सत्य-सी इसकी प्रतीति कैसे होती है, इस आशङ्कापर कहते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

जाग्रत्कालकी कल्पनाएँ ही सत्य प्रतीत होती हैं, यह बात नहीं है, किन्तु स्वप्नकाल आदिकी भी सभी कल्पनाएँ सत्यरूप प्रतीत होती हैं। यह बात बालकतक जानते हैं। परन्तु हे श्रीरामजी, स्वप्न एवं भ्रान्ति आदिमें उपलब्ध हुए गज, रजत आदि पदार्थ किसीके भी द्वारा अपने भीतर सत्यरूपसे गृहीत नहीं होते ॥ ४० ॥

सत्यस्वरूप यह संसार भला असत्यरूप कैसे होगा ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'सङ्कल्प०' इत्यादिसे ।

जाग्रत् और स्वप्नके सङ्कल्प, वासनामय सुषुप्ति तथा इन दोनोंमें प्रतिबिम्बित चिद्रूप भोक्ता जीव—ये तीनों पदार्थ सत्यकूटस्थ चितिके द्वारा अपने स्वरूपमें चित्रकी नाईं चित्रित हुए हैं, इसलिए चित्रसंसारके सदृश यह संसार अधिष्ठानसत्तासे सत्यस्वरूप अनुभूत होता हुआ भी असत्यरूपी जीवकी ही दृष्टिमें असत्यरूप है, अधिष्ठान सत्की दृष्टिमें नहीं, क्योंकि उसके साथ तो उसका स्पर्श ही नहीं है । तात्पर्य यह कि जैसे चित्तमें प्रतिबिम्बित या स्वप्नमें देखे गये घोड़े, चित्र या स्वप्नके पुरुषोंके ही, चढ़नेके काममें आते हैं, इन

असत्यताभिधं सत्यं मुक्त एव भवेच्छिवः ।
साऽतिवाहिकदेहैकपरिक्षयविकासवान् ॥ ४२ ॥
जगन्ति वातैरुह्यन्ते व्योम्नि शाल्मलितूलवत् ।
नोह्यन्ते चोपलानीव न च सन्त्येव कल्पनात् ॥ ४३ ॥
इत्यस्मिन्नखिलपदार्थसार्थकोशे
व्योमन्यप्यतिविततं जगन्ति सन्ति
अन्योन्यं परिमिलितानि कानिचिच्च
नान्योन्यं परिमिलितानि कानिचिच्च ॥ ४४ ॥

---

दोनोंके बाहर रहनेवाले सत्य पुरुषके चढ़नेके काममें नहीं आते; वैसे ही असत्पुरुषके लिए ही यह असद्रूप संसार भी है, सत्पुरुषके लिए नहीं है ॥ ४१ ॥

अथवा 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतिसे सत्यपुरुषमें ही यह असद्रूप संसार, अपने अबोधके कारण, भले ही बना रहे, तथापि वह पुरुष तो नित्यमुक्त ही कहा गया है; क्योंकि जिस तरह तत्त्वज्ञानके पहले सत्यस्वरूप वह ब्रह्म अपनी सत्यताको जगत्‌में सङ्क्रमितकर स्वयं सत्यत्वनामको प्राप्त होता है, वैसे ही तत्त्वज्ञानके बाद वह भी बाधित हुए जगत्‌से अपनी सत्ताको अपनेहीमें उपसंहृत करके उसके असत्य नामको भी स्वयं प्राप्त होता है। इसलिए यह निश्चित है कि अधिष्ठानमात्रके परिशेषसे अन्य दूसरी कोई प्रपञ्चकी असत्यता कदापि नहीं कही जा सकती, क्योंकि आतिवाहिक देहके सहित अकेले एकमात्र अपने अज्ञानका परिक्षय होनेपर पूर्णतारूप विकाससे युक्त प्रत्यगात्मा ही शिव-स्वरूप शेष रह जाता है ॥ ४२ ॥

यही कारण है कि अज्ञानदृष्टिसे ही ये जगत् इधर-उधर उड़ाये जा रहे हैं, तत्त्वदृष्टिसे नहीं, यह जो पहले कहा है, उसका अब उपसंहार करते हैं—'जगन्ति' इत्यादिसे ।

इसलिए सेमलकी रुईके समान आकाशमें ये जगत् इधर-उधर वायुद्वारा उड़ाये जा रहे हैं, यह उक्ति भी अज्ञानियोंकी दृष्टिसे ही है। परमार्थमें तो कल्पनामात्र होनेसे न तो ये जगत् हैं और न पत्थरकी तरह इधर-उधर उड़ाये ही जा रहे हैं ॥ ४३ ॥

इस वर्णित रीतिसे अखिल पदार्थसमूहोंके कोशभूत अज्ञात प्रत्यगात्मरूप,

सर्वत्वात्परमचितेरनन्तरूपा-
ण्यारम्भप्रचुरदिगन्तसंभृतानि ।
लोलाम्बूदरपुरबिम्बभङ्गुराणि
स्वान्तःस्थाविरलमहापुरोपमानि ॥ ४५ ॥

सस्थैर्याण्यपि सततं क्षणक्षयाणि
व्यक्ताक्षाण्यपि सततं निमीलितानि ।
सालोकान्यपि परितस्तमोवृतानि
चिद्रूपार्णवलहरीविवर्तनानि ॥ ४६ ॥

पृथक्स्थितानि व्यतिमिश्रितानि
जलानि चैवाम्बुनिधौ नदीनाम् ।

---

परमार्थतः सर्वत्र व्याप्त तथा शून्याकाशके सदृश चिदाकाशमें अविद्या द्वारा अनन्त जगत् स्थित हैं। वे कितने तो कतिपय जीवोंके भोजक अदृष्टका साम्य होनेपर जागर अवस्था तथा ब्रह्माण्डकी एक परस्पर मिले हुए रहते हैं एवं अदृष्टका वैषम्य होनेपर तो ब्रह्माण्डभेद और स्वप्नावस्थामें परस्पर मिले हुए नहीं भी रहते हैं ॥ ४४ ॥

उन्हींको विशेषरूपसे कहते हैं—'सर्वत्वात्' इत्यादि तीन श्लोकोंसे।

ब्रह्मके सर्वशक्तिसम्पन्न होनेके कारण गुण, वस्तु, क्रिया और जात्यादिसे अनन्तरूप, नानाविध कार्योंका आरम्भ किये हुए दिगन्तोंमें संस्थित जनोंसे परिपूर्ण, चञ्चल जलाशयके भीतर प्रतिबिम्बित नगरके समान क्षणभङ्गुर अतएव अपने अन्तःकरणमें स्थित, सम्पूर्ण सामग्रियोंसे भरे देव, गन्धर्व आदिके नगरोंके समान ये सब संसार हैं ॥ ४५ ॥

अनुवृत्त वस्तुके ( ब्रह्मके ) स्वरूपसे निरन्तर स्थैर्ययुक्त भी व्यावृत्तभावविकारोंके कारण क्षणभङ्गुर एवं जाग्रदवस्थामें व्यक्ताक्ष ( इन्द्रियोंसे प्रकट हुए ) भी निमीलित ( तत्त्वतः अप्रकट ) तथा आत्मज्योतिसे प्रकाशयुक्त होनेपर भी उसके अज्ञानरूपी तमसे आवृत होनेके कारण चारों ओर अन्धकारसे आवृत हुए ये संसार चिद्रूपी समुद्रके तरङ्गोंके विवर्तनरूप हैं ॥ ४६ ॥

पृथक्रूपसे स्थित हुए इनके एकत्र मिलकर रहनेमें तथा एकत्र मिले हुए इनके पृथक्रूपसे स्थित रहनेमें क्रमशः दो दृष्टान्त कहते हैं—'पृथक्' इत्यादिसे।

तारार्कचन्द्रग्रहमण्डलानां
समोदितानां नभसीव भासः ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जगज्जालकोशसाधर्म्ययोगोपदेशो नामाष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

## एकोनविंशः सर्गः

श्रीराम उवाच

मुने जीवस्य यद्रूपमाकृतिग्रहणं तथा ।
यथा च परमात्मत्वं स्थानं यच्चास्य तद्वद ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

स्वसङ्कल्पेन चेत्योक्तं चिदित्यपरनामकम् ।
अनन्तं चेतनाकाशं जीवशब्देन कथ्यते ॥ २ ॥

---

जैसे नदीरूपी पात्रमें पृथक्‌रूपसे स्थित हुए भी जल सागरमें बिलकुल मिले हुए रहते हैं तथा आकाशमें एक ही समयमें उदित हुए भी सब तारोंके प्रकाश 'यह इसका प्रकाश है' इस तरहसे विवेचन करनेमें अशक्य होनेके कारण एकमें सर्वथा मिले हुए भी एकके चलनेपर दूसरेके न चलनेसे पृथक् स्थित हुए रहते हैं, वैसे ही पृथक्-पृथक्‌रूपसे स्थित हुए भी ये सब संसार आत्मामें एक-रूपसे स्थित हैं ॥ ४७ ॥

अठारहवाँ सर्ग समाप्त

—०—

## उन्नीसवाँ सर्ग

[ जीवका स्वरूप, उसका तत्त्व, समष्टि-व्यष्टि शरीरोंकी कल्पना तथा स्थान एवं करणोंकी भिन्नतासे भोगभेद—इन सबका वर्णन ]

श्रीरामजीने कहा—हे मुने, जीवका जो स्वरूप है यानी शास्त्रीय व्यवहारमें उपयोगी तथा पारमार्थिक जैसा उसका रूप है, उसकी स्थूल देहकी जैसी कल्पना होती है, जिस रीतिसे उसकी परमात्मरूपता है तथा जो उसका स्थान हो, वह सब हमसे कहिए ॥ १ ॥

मोक्षशास्त्रमें जो समष्टिजीव प्रसिद्ध है, उसका परिशोधन हो जानेपर वह

न पराणुर्न च स्थूलं न शून्यं न च किश्चन ।
चिन्मात्रं स्वानुभूत्यात्म सर्वगं जीव उच्यते ॥ ३ ॥
अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् ।
न किञ्चिन्मात्रकं चैव सर्वं जीवं विदुर्बुधाः ॥ ४ ॥
यस्य यस्य पदार्थस्य यो भावस्तेन तत्र तम् ।
स्थितं विद्धि तदाभासं तदात्मैकान्तवेदनात् ॥ ५ ॥

---

ब्रह्मके साथ अभिन्न बन जानेमें योग्य हो जाता है, यह पहले बतलाते हैं—'स्व०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, अनन्त व्यापक जो चेतन ब्रह्म है, वही अपने संकल्पसे प्राण द्वारा 'जीव' यों व्यवहृत होकर तथा चक्षु आदि द्वारा दूसरा 'चित्' नामवाला होकर जीवशब्दसे कहा जाता है ॥ २ ॥

उसका पारमार्थिक स्वरूप बतलाते हैं—'न' इत्यादिसे ।

भद्र, जो परम अणुरूप नहीं है, जो स्थूल नहीं है, जो न शून्यस्वरूप है, जो शून्य आकाशके अन्तर्गत है, जो चिन्मात्र, अनुभवस्वरूप है और सर्वत्र व्यापक है, वही जीव कहलाता है ॥ ३ ॥

जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तुओंसे भी सूक्ष्म है, जो गुरुतर वस्तुओंमें सबसे बढ़-चढ़कर गुरुतर ( स्थूलतम ) है, जो तुच्छरूप नहीं है और जो सर्वात्मक है, उसीको पण्डित लोग जीव कहते हैं ॥ ४ ॥

जीवकी सर्वव्यापकताको अनुभवपर चढ़ाते हैं—'यस्य' इत्यादिसे ।

जिस-जिस पदार्थका जो असाधारण स्वरूप है, उस उस पदार्थमें उस उस रूपसे स्थित उसी जीवको ही आप जानिए, इसलिए उस उस पदार्थके रूपमें जीव ही भासमान होता है क्योंकि बार-बार देखनेपर तत्-तत् पदार्थोंके आकारमें ही उसका अनुभव होता है, यह अकाट्य नियम है । तात्पर्य यह है कि घट और चक्षुका सम्बन्ध होनेपर चक्षुके द्वारा निकला हुआ अन्तःकरण स्ववृत्तिमें सम्बद्ध

---

* 'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरणवाणि' इत्यादि श्रुतिमें प्रदर्शित निजी सङ्कल्प द्वारा अपनेसे प्रकाशित होनेवाले सूक्ष्म भूतरूप उपाधिमें प्रवेशसे उसके स्तम्भक प्राणोंके धारणसे तथा 'जीव प्राणधारणे' इस धातुके अर्थके अनुगमसे प्राणके द्वारा परब्रह्मका जीवशब्दसे व्यवहार किया गया है, यह भाव है ।

स चेतति यथा यत्र यद्यदाशु तदेव हि ।
तथा तत्र तदा राम भवत्यनुभवात्मकम् ॥ ६ ॥
पवनस्य यथा स्पन्दश्चेत्यं जीवस्य वै तथा ।
स्वसंविन्मात्रनिर्णेयं नोपदेशाम यक्षवत् ॥ ७ ॥
यथैवास्पन्दनाद्वातः सन्नैवेत्यसदात्मताम् ।
तथैवाचेतनाज्जीवो जीवन्नेति परां गतिम् ॥ ८ ॥
जीवश्चिद्घनरूपत्वादहमित्येव चेतनात् ।
देशकालक्रियाद्रव्यशक्तीर्निर्माय तिष्ठति ॥ ९ ॥

---

घटावच्छिन्न जीवचैतन्यको ही 'यह घट प्रकाशित होता है' इस रूपसे घटस्वभावके तादात्म्यरूपसे ही अनुभव कराता है ॥ ५ ॥

हे श्रीरामजी, अतएव समष्टिजीव जहाँपर जिस रूपसे सङ्कल्प करता है, वहाँपर उस रूपका हो जाता है, क्योंकि समष्टिजीव जो सङ्कल्प करता है, वह सत्य ही होता है और व्यष्टिजीव जैसा रहता है, वैसा ही सङ्कल्प करता है ॥६॥

ऐसी स्थितिमें यह निष्कर्ष निकला कि जो चित्रविचित्र समस्त वस्तुओंका समष्टिजीवको भास होता है, वह भासरूप सर्ग पवनके स्पन्दकी नाईं समष्टिजीवका स्वानुभवसिद्ध स्वभाव है, न कि बालककी यक्षभ्रान्तिके सदृश उपदेशाभ्याससे उत्पन्न है, यह कहते हैं—'पवनस्य' इत्यादिसे ।

जैसे पवनकी संचलनक्रिया स्वभावसिद्ध है, वैसे ही समष्टिजीवका चित्र-विचित्र वस्तुओंका अनुभवात्मक सर्ग ( संसार ) स्वभाव ही है, यह अपने अनुभवसे निर्णय कर लेना चाहिए, बालककी यक्षभ्रान्तिके सदृश इसका हम उपदेशसे साधन करना नहीं चाहते ॥ ७ ॥

इसलिए मुक्ति, सुषुप्ति और महाप्रलय-कालमें बाह्य आभ्यन्तर सभी पदार्थ चेतनसे, जीवभावके रहते भी, शान्त हो जाते हैं, यह कहते हैं—'यथैवा०' इत्यादिसे ।

जैसे संचलनक्रियाके न होनेसे अपना अस्तित्व रहते भी वायु असद्रूप बन जाता है, वैसे ही चित्र-विचित्र पदार्थोंका प्रकाश न होनेसे मुक्ति आदि अवस्थाओंमें अपना अस्तित्व रहते भी जीव ब्रह्मरूप बन जाता है ॥ ८ ॥

अब जीव किस-किस तरहके आकारोंको ग्रहण करता है, इसको बतलानेके

देशकालक्रियाद्रव्यचर्चिताचर्चितां स्वयम् ।
असत्यां सत्यवत्स्फारां तावन्मात्रशरीरिकाम् ॥ १० ॥
चेतसा ह्यसदाकारां प्रालेयपरमाणुताम् ।
पश्यत्यात्मन्यथात्मत्वे स्वप्ने स्वमरणोपमाम् ॥ ११ ॥
स्वप्नस्वावयवान्यत्वसदृशीं तां विभावयन् ।
विस्मृत्य चेतनां सत्तां तत्तामेवाऽऽशु गच्छति ॥ १२ ॥
एवंरूपो बुद्ध्यमानः प्रोच्छूनत्वमथात्मनि ।
पश्यत्याशु स्वमात्मानं चन्द्रबिम्बमिव द्रुतम् ॥ १३ ॥

---

लिए सबसे पहले अनेक प्रकारकी शक्तियोंसे सम्पन्न होकर उत्पन्न हुए तथा समस्त कल्पनाओंके मूलस्तम्भस्वरूप समष्टि अहङ्कारके अध्यासका दिग्दर्शन कराते हैं—'जीवः' इत्यादिसे ।

जो समष्टिजीव है, वह असलमें चैतन्यघनका ही स्वरूपभूत है और 'अहम्' रूपसे स्फुरित होता है, इसीसे देश, काल, क्रिया और द्रव्यकी असीम शक्तिका निर्माण ( आविर्भाव ) कर वह अवस्थित रहता है ॥ ९ ॥

अब सूक्ष्मभूतोंके संस्कारोंकी उत्पत्तिरूप समष्टिचित्तकी कल्पना बतलाते हैं—'देशकाल०' इत्यादिसे ।

अनन्तर देश, काल, क्रिया और द्रव्यसे युक्त ( संस्काररूपसे थोड़ा-सा आविर्भाव होनेके कारण युक्त ) एवं उनसे अयुक्त ( स्थूलरूपसे भलीभाँति आविर्भाव न होनेके कारण अयुक्त ) स्वयं असत्य होती हुई भी सत्य वस्तुके सदृश स्फुरित हो रही, केवल असत्य स्वरूपवाली समष्टिचित्तरूपताके कारण तथा सूक्ष्मतम जलका सम्बन्ध होनेके कारण हिम परमाणुके सदृश, असदाकार परमाणुरूपताका आत्मामें अवलोकन करता है यानी आत्माको परिच्छिन्न समझ बैठता है। अपनी आत्मरूपताके विषयमें, स्वप्नमें अपने मरणके सदृश तथा स्वप्नमें व्याघ्रादिरूपताके दर्शनसे प्रतीयमान अपने हाथ, पैर आदि अवयवोंकी अन्यरूपताके सदृश उसकी ( समष्टि चित्तरूप विष्णुरूपताकी ) भावना करता हुआ चेतन सत्ताको भूलकर उसीकी कल्पनाके पीछे-पीछे दौड़ता रहता है ॥ १०-१२ ॥

अनन्तर इस तरहका जाना गया उक्त चेतन अपने स्वरूपमें तत्काल स्थूल-रूपताका ( पञ्चीकरणसे स्थूलता सम्पादन कर स्थूल समष्टि विराट्रूप

आत्मन्यथेन्दुबिम्बात्मन्यसौ संवित्तिपञ्चकम् ।
काकतालीयवद्भिन्नमुदितं चेतति स्वयम् ॥ १४ ॥
पञ्चानां संविदां पञ्च भिन्नान्यङ्गान्यसावथ ।
बुद्ध्यते तानि तद्रूपरन्ध्राण्यनुभवत्यपि ॥ १५ ॥
स पञ्चावयवः पश्चाद्राजते पुरुषो विराट् ।
अनन्ताकारसंवित्तिरव्यक्तात्मा निरामयः ॥ १६ ॥
मनोमयोऽसावुदितः परस्मात्प्रथमोत्थितः ।
आकाशविशदः शान्तो नित्यानन्दविभामयः ॥ १७ ॥

---

होकर स्थूलरूपताका ) अनुभव करता है और उसमें अपने समष्ट्यात्मक द्रवस्वभाव मनको चन्द्रबिम्बके सदृश समझने लग जाता है, यही उसकी बुद्धिसमष्टिरूप ब्रह्मरूपता है ॥ १३ ॥

विराट् देहमें उसके भोगकी उपपत्तिके लिए समष्टिरूप मनसे आदित्य-आदिरूप पांच इन्द्रियों और उनके स्थलभेदकी कल्पनाको कहते हैं—'आत्मनि' इत्यादिसे ।

अनन्तर चन्द्रबिम्बस्वरूप अपने स्वरूपमें काकतालीय न्यायके सदृश अकस्मात् उत्पन्न हुई भिन्न-भिन्न पांच इन्द्रियोंके रूममें यह स्वयं प्रकाशित होने लगता है ॥ १४ ॥

इसके बाद पाँच इन्द्रियोंके अलग-अलग पांच स्थानोंके रूपमें यह अपना अनुभव करता है और उनके स्थानभूत अलग-अलग रूप आदिके उपभोगद्वारोंका भी अनुभव करता है ॥ १५ ॥

पीछे आदित्य, दिशा, जल, वायु और पृथिवीरूप पांच इन्द्रिय-स्थानरूप अवयवोंसे युक्त होकर रूप आदि पांच विषयोंका उपभोग कर रहा विराट् पुरुष बन जाता है, यह विराट् पुरुष अनेक मानसिक विकल्पोंके कारण अनन्त आकारकी कल्पनाओं द्वारा अनन्त आकारोंके विज्ञानसे युक्त रहता है, इसका स्वरूप अव्यक्त है तथा समस्त विकारोंसे शून्य है ॥ १६ ॥

उसके मनोमयरूप होनेपर भी स्वतःसिद्ध ज्ञानैश्वर्यसे एवं सब शक्तियोंसे सम्पन्न होनेके कारण वह जीव और ईश्वर दोनोंरूप है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—**'मनोमयोऽसावुदितः'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

स चाप्यपञ्चभूतात्मा पञ्चभूतात्मकोपमः ।
विराडात्मैकपुरुषः परमः परमेश्वरः ॥ १८ ॥
स्वयमेवाऽऽशु भवति स्वयमेव विलीयते ।
स्वयमेव प्रसरति स्वयं सङ्कोचमेति च ॥ १९ ॥
स्वसङ्कल्पकृतेनाऽसौ कल्पौघेन क्षणेन च ।
यदृच्छयोदेति पुनः पुनर्भूत्वोपशाम्यति ॥ २० ॥
मनोमात्रैकरूपात्मा प्रकृतेर्देह एष सः ।
एष पुर्यष्टकं प्रोक्तः सर्वस्यैवाऽऽतिवाहिकः ॥ २१ ॥
सूक्ष्मः स्थूलोऽम्बरात्मैष व्यक्तोऽव्यक्तोऽन्तवर्जितः ।
सर्वस्य बहिरन्तश्च न किञ्चित्किञ्चिदेव च ॥ २२ ॥

---

यह मनोमयरूपसे उदित हुआ हिरण्यगर्भ सर्वप्रथम परब्रह्मसे आविर्भूत है, अतः आकाशके समान विशद, शान्त, नित्य, आनन्दस्वरूप एवं प्रकाशमय है ॥ १७ ॥

समस्त प्राणियोंका समष्टिरूप अद्वय विराट् पुरुष परम परमेश्वररूप है, और पञ्चभूतात्मा न होनेपर भी पञ्चभूतात्माके सदृश भासमान है ॥ १८ ॥

ईश्वररूप होनेसे वह अपने आविर्भाव और तिरोभावमें बिलकुल स्वतन्त्र है, यह कहते हैं—'स्वयमेवा०' इत्यादिसे ।

सर्वशक्ति-सम्पन्न होनेसे वह शीघ्र ही स्वयं आविर्भूत होता है, स्वयं विलीन हो जाता है, स्वयं विस्तारको प्राप्त होता है तथा स्वयं ही सङ्कोचको भी प्राप्त हो जाता है ॥ १९ ॥

अपने सङ्कल्पसे कल्पित अनेक कल्पोंमें तथा क्षणभरमें वह अपनी इच्छाके अनुसार स्वयं उदित होता है तथा पुनः पुनः उदित हो होकर वह फिर-फिर शान्त भी हो जाता है ॥ २० ॥

केवल मनोमात्रस्वरूपात्मक यह जीव ही सबके उपादानभूत ईश्वररूप प्रकृतिका शरीर है और यही व्यष्टिरूपसे सब जीवोंका पुर्यष्टक ( सूक्ष्म ) शरीर भी कहा गया है ॥ २१ ॥

यही अव्यक्त अनन्त आकाशात्मा परमेश्वर पिपीलिकादि सूक्ष्म देहोंमें सूक्ष्म, स्थूल पदार्थोंमें स्थूल, सबके बाहर और भीतर व्यक्ताव्यक्त, परमार्थमें किञ्चिद्रूप न होनेपर भी व्यवहारमें किञ्चिद्रूप यानी परिच्छिन्नरूप [illegible] २२ ॥

अङ्गानि राम तस्याऽष्टौ मनःषष्ठानि पञ्च च ।
साहंभावानीन्द्रियाणि भावाभावमयानि च ॥ २३ ॥
तेन गीता इमे वेदाः सहशब्दार्थकल्पनाः ।
नियतिः स्थापिता तेन तथाऽद्यापि यथास्थिता ॥ २४ ॥
अनन्तमूर्ध्वं मूर्द्धाऽस्य तथाऽधः पादयोस्तलम् ।
अपराकाशमुदरमिदं ब्रह्माण्डमण्डपम् ॥ २५ ॥
लोकान्तराण्यनन्तानि पार्श्वकाः क्षतजं पयः ।
मांसपेश्यः क्षितिधराः सरितः सन्तताः शिराः ॥ २६ ॥
रक्ताधारा जलधयो द्वीपान्येवाऽऽन्त्रवेष्टनम् ।
बाहवः ककुभः स्फारास्तारका रोमसन्ततिः ॥ २७ ॥
पञ्चाशदनिलस्कन्धा एकोनाः प्राणवायवः ।
मार्तण्डमण्डलं चण्डं पित्तं जठरपावकः ॥ २८ ॥

---

हे श्रीरामजी, मूर्त एवं अमूर्तस्वरूप पञ्चज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रियसहित प्राण, षष्ठेन्द्रिय मन और अहङ्कार—ये आठ उस पुरुषके अङ्ग हैं ॥ २३ ॥

उसीने अपने चार मुखोंसे शब्दार्थोंकी कल्पनासे युक्त इन चारों वेदोंका गान किया है । उसीने शास्त्रीय सदाचार आदिकी मर्यादा इस ढंगसे स्थापित की है कि आज भी ज्योंकी त्यों व्यवस्थितरूपसे चली आ रही है ॥ २४ ॥

अनन्त आकाश इस पुरुषका मस्तक है, पृथिवी इसके पैरका तलवा है, मध्याकाश इसका उदर* है तथा यह ब्रह्माण्ड इसका शरीर है ॥ २५ ॥

अनन्त लोक इस विराट् पुरुषके पार्श्वके अवयव हैं, जल रक्त हैं, समस्त पर्वत मांसपेशियां हैं और निरन्तर बह रही ये नदियां इसकी नाडियां हैं ॥ २६ ॥

ये सब समुद्र रक्तसञ्चयकी पेशियां हैं, सभी द्वीप छः कोशोंके वेष्टन हैं, दिशाएँ बाहु हैं और ये चमकते तारे † रोमसमूह हैं ॥ २७ ॥

आवह, प्रवह आदि उनचास पवन इसकी प्राणवायु, मार्तण्डमण्डल इसकी क्रूर आंखें और बडवानल इसका चित्त है ॥ २८ ॥

---

* देखिये यह श्रुति—'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ' ।

† यद्यपि छान्दोग्य श्रुतिमें 'लोमानि बर्हिः' यह कहा गया है तथापि दूसरी श्रुतिके अनुरोधसे यहाँ 'तारका' यह उक्ति है ।

शशाङ्कमण्डलं जीवः श्लेष्मा शुक्रं सितं बलम् ।
मनः सङ्कल्पकोशात्म सारात्मा परमामृतम् ॥ २९ ॥
मूलं शरीरवृक्षस्य बीजं कर्मद्रुमस्य च ।
प्रसवात्सर्वभावानामिन्दुरानन्दकारणम् ॥ ३० ॥
यदिन्दुमण्डलं नाम स सम्राड् जीव उच्यते ।
शरीरकर्ममनसां बीजं मूलं च कारणम् ॥ ३१ ॥
अस्मादिन्दुविराड्जीवात्प्रसरन्ति जगत्त्रये ।
जीवा मनांसि कर्माणि सुखान्यत्राऽमृतानि च ॥ ३२ ॥
विराज एते सङ्कल्पा ब्रह्मविष्णुहरादयः ।
तस्य चित्तचमत्काराः सुरासुरनभश्चराः ॥ ३३ ॥

चन्द्रमण्डल ही इस विराट् पुरुषका जीव, श्लेष्मा, वीर्य, बल, चर्बी और सङ्कल्पात्मक मन है तथा ब्रह्म ही साररूप आत्मा है ॥ २९ ॥

बीजादिभाव भी मनका ही होता है, यह कहते हैं—'मूलम्' इत्यादिसे ।

चन्द्ररूपी मन ही शरीररूपी वृक्षका मूल, कर्मरूपी वृक्षका बीज तथा सम्पूर्ण भाव पदार्थोंका उत्पादन करने एवं अन्नादिरूपसे वर्धन करनेसे आनन्दका कारण है ॥ ३० ॥

वही विराट् शरीरमें जीव है, क्योंकि अन्नरूप उसीसे समष्टि प्राणोंका धारण होता है, इस आशयसे कहते हैं—'यदिन्दु०' इत्यादिसे ।

जो यह चन्द्रमण्डल है वही सम्राट् जीव कहलाता है । अन्नमय व्यष्टि-शरीरोंका वह बीज है, प्राणहेतुक सम्पूर्ण कर्मोंका मूल है और व्यष्टिमनका वही कारण* है ॥ ३१ ॥

उसीको फिर स्पष्टरूपसे कहते हैं—'अस्मादिन्दु०' इत्यादिसे ।

इस चन्द्ररूपी विराट् जीवसे इन तीनों लोकोंमें सब जीव कर्म, मन, विषयभोग तथा मोक्ष प्रवृत्त होते हैं ॥ ३२ ॥

इस चन्द्ररूपी विराट्जीवके सङ्कल्पस्वरूप ही ये ब्रह्मा†, विष्णु और भगवान्

* इसमें 'चन्द्रमा मनसो भूत्वा हृदयं प्राविशत्' यह श्रुति प्रमाण है ।

† ब्रह्मा आदिके शरीर भी चन्द्ररूपी अमृतके परिणाम ही हैं । देखिये इस विषयमें श्रुति क्या कह रही है—

'सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः ।
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥'

चित्स्वभावो बुद्ध्यमानः प्रालेयपरमाणुताम् ।
यदादौ भावयत्याशु तदा तत्रैव तिष्ठति ॥ ३४ ॥
तेनैतदेव जीवस्य स्थानं विद्धि रघूद्वह ।
पञ्चावयवमेतत्तच्छरीरमनुभूयते ॥ ३५ ॥
विराड्जीवाच्चन्द्रमसो जीवभूतानि देहिनाम् ।
प्रसरन्त्यन्नजातानि प्रालेयविसरात्मना ॥ ३६ ॥
तान्येव देहिदेहेषु जीवा जीवन्ति जीविषु ।
मनो भूत्वा विचेष्टन्ते कर्मजन्मसु कारणम् ॥ ३७ ॥
एवं विराट्सहस्राणि महाकल्पशतानि च ।
गतान्यथ भविष्यन्ति नानाचाराणि सन्ति च ॥ ३८ ॥

---

शङ्कर आदि देवता हैं तथा उसीके चित्तके चमत्काररूप ये सुर, असुर और पक्षी आदि नाना प्रकारके जीव-समुदाय हैं ॥ ३३ ॥

चित्तोपहित चितिके विवर्तरूपसे चित्की चमत्कारताको प्रकट करते हैं—'चित्स्वभावः' इत्यादिसे ।

सृष्टिके आदिमें चन्द्रमाकी अत्यन्तसूक्ष्म अमृत कलात्मताको साक्षीरूपसे जान रहा विराट् प्रजापति जब देवतादिके शरीराकारका सङ्कल्प करता है, तब शीघ्र वह चतुर्मुखादि शरीरभावमें ही स्वयं सिद्धकी नाईं स्थित हो जाता है, तात्पर्य यह कि वह सत्यसङ्कल्पवाला होनेसे शीघ्र सङ्कल्पितरूपमें ही परिणत हो जाता है ॥ ३४ ॥

इसलिए, हे रघूद्वह, इस चन्द्रमण्डलको ही आप सम्पूर्ण जीवसमष्टिरूप विराट् जीवका स्थान और अपञ्चीकृत पञ्चभूतावयवयुक्त शरीर समझिये इसीका जाग्रदवस्थारूपसे सबको अनुभव होता है ॥ ३५ ॥

चन्द्ररूपी विराट् जीवसे व्यष्टि जीवका प्रसार जो पहले कहा गया है उसका उपपादन करते हैं—'विराड्जीवात्' इत्यादिसे ।

चन्द्रमारूपी विराट्जीवसे प्राणियोंके जीवनके साधनभूत अन्न आदि सब पदार्थ, जो औषधियोंमें चन्द्रकलाओंके प्रसाररूप हैं, सर्वत्र प्रसृत होते हैं ॥ ३६ ॥

वे ही जीवित प्राणियोंके शरीरोंमें जीव होकर जीते हैं और मन हो करके अनेक जन्मोंके कारणभूत कर्म किया करते हैं ॥ ३७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह नानाविध आचारोंसे युक्त असंख्य विराट्के

सर्वतोऽनुभवरूपयाऽनया सत्तयोत्तमपदादभिन्नया ।
अन्तवर्जितमहाङ्गसङ्गया तिष्ठतीति पुरुषः परो विराट् ॥२९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विराडात्मवर्णनं नामैकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

## विंशतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

सङ्कल्पपुरुषस्त्वेष यद्यत्कल्पयति स्वयम् ।
तत्तथा तादृशं पञ्चभूतात्मा भवतीव खम् ॥ १ ॥

---

शरीर तथा असंख्य महाकल्प बीत चुके हैं, आगे चलकर होंगे और इस समय हैं भी ॥ २८ ॥

हे श्रीरामजी, ब्रह्मसे अभिन्न, अतएव अवधिशून्य एवं महान् व्यष्टि और समष्टिके देहसम्बन्धसे युक्त इस अनुभवरूप अधिष्ठान-सत्तासे ही 'तद्विवर्तो विराट् पुरुषः' इस वर्णित रीतिसे सब देश और सब कालोंमें परम विराट् पुरुष इस मायावृत ब्रह्ममें ही अवस्थित रहता है ॥ २९ ॥

उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

---

## बीसवाँ सर्ग

[ वासना, कर्म और इच्छाके अनुसार सङ्कल्पोंके सर्जनसे व्यष्टि-जीवोंकी समष्टिके साथ समताका वर्णन ]

ब्रह्म विराट् पुरुषके सत्यसङ्कल्पके अनुसार ही विवर्त धारण करता है, यह कहते हैं—'सङ्कल्प०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, पञ्चभूतात्मा विराट् पुरुष स्वयं जिस-जिस तरहकी कल्पना करता है, उस-उस तरहसे ब्रह्मरूप आकाश भी विवर्तभावको धारण कर लेता है ॥ १ ॥

सर्वं राम जगज्जातं तत्सङ्कल्पं विदुर्बुधाः ।
तादृग्रूप पञ्चकात्मविषयोन्मुखमाततम् ॥ २ ॥
जगत्पदार्थसार्थस्य विराट् सर्वस्य कारणम् ।
कारणेन समान्येव कार्याणि च भवन्त्यतः ॥ ३ ॥
यथैष स विराडेवं विराट् प्रत्येकमात्मनि ।
स्वसंविदि प्रसरति बोधवान् न त्वबोधवान् ॥ ४ ॥
आसरीसृपमारुद्रमेवमभ्युदितो भ्रमः ।
अणावप्यद्रिविस्तारो बीजकोश इव द्रुमः ॥ ५ ॥
आसरीसृपमारुद्रं विराट् प्रत्येकमात्मनि ।
पराणावप्यनन्तात्मबोधतो न त्वबोधतः ॥ ६ ॥

---

चूँकि ब्रह्म पूर्वकी उपासनासे मिश्रित वासनासे सृष्टिके आरम्भमें पञ्चभूतात्मक विराट्-स्वरूप बनकर उपासनाके फलभूत पञ्चमहाभूतात्मक विषय-समष्टिका उपभोग करनेमें तत्पर हुआ है, अतः विद्वान् पुरुष समस्त जगत्को विराट् पुरुषका एक सङ्कल्प ही मानते हैं ॥ २ ॥

यतः मिट्टी आदि हेतुओंसे उत्पन्न कसोरे आदि मिट्टीके स्वभावसे ही ओत-प्रोत रहते हैं, यह देखा गया है, अतः समस्त जगत्के पदार्थोंका कारण विराट् होनेसे जगत् भी विराट्के स्वभावसे ओत-प्रोत है ॥ ३ ॥

जैसा विराट् पुरुष ( समष्टिजीव ) समस्त जगत्का निर्माण करता है, वैसा ही व्यष्टिजीव भी अपनेमें समस्त जगत्का निर्माण करता है; क्योंकि मानसिक वृत्तिके अनुसार जब व्यष्टिजीवको बाह्याकार विज्ञान उत्पन्न होता है, तब व्यष्टिजीव भी समष्टिजीवके अनुसार तत्-तत् पदार्थोंके स्वरूपज्ञानसे युक्त रहता ही है ॥ ४ ॥

भद्र, तुच्छसे तुच्छ कीटादि तक और बड़ेसे बड़े रुद्र तक इस तरहका जगत्-रूप भ्रम जो उत्पन्न हुआ है, वही यह सृष्टि है। जैसे छोटेसे बीजमें बड़ा वृक्ष उत्पन्न होता है, वैसे ही छोटेसे छोटे अणुरूप आत्मामें यह विशाल पर्वतरूप भ्रम उत्पन्न हुआ है ॥ ५ ॥

ऐसा भले ही हो, इससे प्रकृतमें क्या आया? इसपर कहते हैं—'आसरीसृप०' इत्यादिसे।

कीट तक और रुद्र तक जितने व्यष्टिजीव हैं, वे सब अपनेमें जगत्का

याद्दगेव विराडात्मन्येष विस्तार आगतः ।
ताद्दगेवेह सर्वस्मिन्नणुमात्रेऽपि भूतके ॥ ७ ॥
परमार्थेन न स्थूलं न सूक्ष्मं किञ्चन क्वचित् ।
यद्यथा विततं यत्र तत्तथाऽऽश्वनुभूयते ॥ ८ ॥
मनश्चन्द्रमसो जातं मनसश्चन्द्र उत्थितः ।
जीवाज्जीवोऽथवैकैषा सत्ता द्रवजलाङ्गवत् ॥ ९ ॥
शुक्रसारं विदुर्जीवं प्रालेयकणसंनिभम् ।
आनन्दोऽचलसन्दोहस्तत एव प्रवर्तते ॥ १० ॥

---

निर्माण करते हैं और ये सब परम सूक्ष्म शरीरके रहते भी अनन्त आत्मस्वरूपको समझकर ही, न कि समझे बिना निर्माण करते हैं ॥ ६ ॥

जैसे विराट् आत्मामें इस समस्त जगत्का विस्तार कल्पनावश हुआ है, वैसे ही सभी इन मच्छर आदि सूक्ष्म भूतोंमें जगत्का विस्तार हुआ है ॥ ७ ॥

भद्र, परमार्थतः न स्थूल है और न कुछ कहीं सूक्ष्म ही है, परन्तु भ्रान्तिसे जहां कहीं जो कुछ बन जाता है, वहां वह तत्क्षण ही अनुभूत हो जाता है ॥८॥

व्यष्टिमन और व्यष्टिमनसे उपहित जीव—इन दोनोंका तो विराट् कारण है, अतः उनकी समानता कैसे ? इसपर कहते हैं—'मनश्चन्द्र०' इत्यादिसे ।

मन चन्द्रमासे उत्पन्न हुआ है और मनसे चन्द्रमा उत्पन्न हुआ है, समष्टि जीवसे व्यष्टिजीव उत्पन्न हुआ है अथवा समष्टिजीव और व्यष्टिजीव दोनोंकी सत्ता एक ही है; अतः भेदका अवसर ही नहीं है, इसलिए उसमें कारणत्वका प्रसङ्ग कैसे हो सकता है ॥ ९ ॥

इस तरह उपाधिरूप मनकी कारणताका निरासकर अब उपहित जीवके प्रति कारणताका निरास करनेके लिए उपाधिका स्वरूप बतलाते हैं—'शुक्रसारम्' इत्यादिसे ।

सबसे पहले हिमकणके सदृश तथा शुक्र ( वीर्य ) रूप उपाधिसे युक्त जीव होता है, यह मुनियोंका मत है । इस शुक्रोपहित जीवसे ही माता-पिताके मैथुनकालमें अचल पूर्णानन्द ब्रह्मका भोगाकार वृत्तिमें प्रतिबिम्ब पड़नेसे रतिरूप आनन्द प्रवृत्त होता है, 'इसी आनन्दकी एक मात्राको लेकर दूसरे प्राणी अपने-अपने आनन्दका निर्वाह करते हैं' इस अर्थकी प्रतिपादक श्रुति भी इस विषयमें प्रमाण है ॥१०॥

तं चेतति तदाभासं पूर्णमात्मस्थमात्मा ।
तत्र तन्मयतां धत्ते तेन तन्मयरूपिणी ॥ ११ ॥
जीवसंविदथैषान्तर्यदुपायाति पञ्चताम् ।
न तत्र कारणं किञ्चिद्विद्यते न च कार्यता ॥ १२ ॥
प्रतियोगिव्यवच्छित्तेरभावात्स्वस्वभावयोः ।
स्वभावोर्क्तिन चैवाऽत्र भवत्यर्थानुसारिणी ॥ १३ ॥
जीवो जीवत्वमेव स्वजीवत्वादेव च स्वतः ।
अन्तस्त्वेन बहिष्ट्वेन दृश्यते न च वायुवत् ॥ १४ ॥

---

उसी ब्रह्मके आभासरूप आनन्दका, जो शुक्रयुत जीवात्मक चैतन्यमें स्थित है, वीर्यरूप स्वभावके द्वारा अनुभव करता है, उसीमें तादात्म्याध्यासरूप तन्मयता धारण कर चिति तद्रूप बन जाती है ॥ ११ ॥

अनन्तर यह जीवचिति उस वीर्यमें पञ्चभूतात्मक देहरूपताको धारण करती है, यही इसकी उपहितता है, ऐसी स्थितिमें उसमें न तो कोई कारणता है और न कोई कार्यरूपता ही है ॥ १२ ॥

यदि उपाधियुक्त स्वरूपमें कोई भी कारण नहीं है, तो वह जीवोंका अनागन्तुक स्वरूप स्वभावरूप ही माना जायगा, स्वभाव तो किसीका चला जाता नहीं, ऐसी स्थितिमें जीवोंकी मुक्ति ही नहीं होगी, इस प्रकारकी आशङ्काकर कहते हैं—'प्रतियोगि०' इत्यादिसे ।

आप जो इस औपाधिक रूपके विषयमें कहते हैं कि वह अनागन्तुक जीवका स्वभाव ही है, वह आपका कथन किसी अर्थसे पूर्ण नहीं है यानी वह कोई मूल्य ही नहीं रखता, क्योंकि स्व और स्वभावमें कोई प्रतियोगी और व्यवच्छेद है ही नहीं। सारांश यह है कि स्वशब्दार्थसे युक्त जो भाव है, यही तो स्वभावशब्दका अर्थ है, यहाँ स्वशब्दका अर्थ यदि शुद्ध आत्मा मान लिया जाय, तो शुद्ध वस्तु अद्वितीय है, अतः न तो वह प्रतियोगी है और न उसका कोई व्यवच्छेद ही है, इसलिए अव्यावर्तक ( किसीसे भिन्नता न करनेवाले ) स्वशब्दार्थसे भिन्न भावशब्दार्थका निरूपण न हो सकनेके कारण स्वशब्दार्थविशिष्ट भावशब्दार्थका ( स्वभावार्थका ) साधन करना ही नहीं बन सकता ॥ १३ ॥

यदि स्वशब्दका अर्थ उपाधिसे युक्त आत्मा मान लिया जाय, तो भी यह

नीहारेणेव संवीतश्चेत्यवस्तुपरायणः ।
जात्यन्ध इव पन्थानं मारुतात्मा न पश्यति ॥ १५ ॥
जगज्जृम्भिकया जीवः स्वमैक्यं द्वित्वमास्थितः ।
स्पन्दशक्त्येव पवन आवृतात्मा न पश्यति ॥ १६ ॥

स्वशब्दार्थसे पृथक् भावशब्दार्थ नहीं पा सकता, जिससे कि स्वशब्दार्थसे भाव-शब्दार्थमें कोई विशेष बात आ जाय, यह कहते हैं—'जीवः' इत्यादिसे ।

उपाधिसे युक्त जीव भी स्वयं उपहित-स्वरूप ही है, क्योंकि उसमें जीवत्व-रूप उपहितरूपता ही विराजमान है; अतः उपहितरूपको छोड़कर और कोई दूसरा रूप, जो कि भावशब्दका अर्थभूत तथा स्वविशेष्यताके लिए योग्यता रखता हो, भीतर या बाहर यहाँ दृष्टिगोचर नहीं होता । यही रूप—जैसे 'वायु बहती है' यहाँपर क्रियारूप ही वायुका विकल्पवृत्तिसे भेद मानकर 'बहती है' कहा जाता है वैसे ही 'जीवो जीवत्वम्' आदि द्वारा—धर्मधर्मिभावरूप भेद मानकर कहा जाता है ॥ १४ ॥

यदि नित्य या अनित्य स्वभावभूत जीवस्वरूप नहीं है, तब वह है क्या चीज, जो संसारमें फँस जाती है ? यदि यह कोई प्रश्न करे, तो इस प्रश्नका उत्तर यही है कि वह चीज अनिर्वचनीय अज्ञानसे आवृत ब्रह्म ही है यानी अपने विपरीत स्वरूपका अवलोकन ही उक्त चीज है और यही संसारमें फँसती है, यह कहते हैं—'नीहारेणेव' इत्यादिसे ।

जैसे कुहरेसे आच्छादित वस्तुका स्वरूपतः ज्ञान न होकर विपरीत ज्ञान होता है, वैसे ही नीहारके सदृश स्वरूप-आच्छादन करनेवाले अज्ञानसे आवृत आत्माका भी स्वरूपतः ज्ञान न होकर जो विपरीत अवलोकन है, वही जीवका स्वरूप है, इसीसे विषयात्मक वस्तुओंकी ओर उसकी प्रवृत्ति झुकी हुई रहती है । जड़ इन्द्रिय आदिरूप अपनेको मानकर वह—जन्मान्ध पुरुष जैसे मार्गको नहीं देखता, वैसे ही—अपने स्वरूपको नहीं देखता ॥ १५ ॥

जगत्के रूपमें वर्धित अविद्याशक्तिके प्रभावसे तिरस्कृत अतएव अपनी एकताकी द्वैतरूपमें ( द्रष्टा-दृश्यरूपमें ) कल्पना कर उसीमें अभिनिवेश करके जीवात्मा बैठा रहता है । इसीलिए पवन जैसे अपनी स्पन्दनशक्ति नहीं देखता, वैसे ही अविद्याशक्तिसे आवृत वह आत्मा अपने स्वरूपको नहीं देखता ॥ १६ ॥

अज्ञानस्य महाग्रन्थेर्मिथ्यावेद्यात्मनोऽसतः ।
अहमित्यर्थरूपस्य भेदो मोक्ष इति स्मृतः ॥ १७ ॥

व्यपगतघनचेतनः स्समन्ता-
दहमिति नूनमबुध्यमान आस्व ।
अनभिधघनचेतनैकरूपः
क्षितसदसत्सदसत्सदोदितश्च ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जीवनिर्वाणयोगोपदेशो नाम विंशः सर्गः ॥२०॥

---

इसीलिए विद्यासे अविद्याका विनाश सम्भव होनेके कारण अनिर्मोक्ष दोष नहीं आ सकता, यह कहते हैं—'अज्ञानस्य' इत्यादिसे ।

मिथ्या विषयरूप, असत् तथा 'अहम्' रूप अज्ञानरूपी सबसे बड़ी गाँठका जो भेदन है, वही मोक्ष है, यह मुनियों द्वारा कहा गया है ॥ १७ ॥

इसलिए हे श्रीरामजी, सबसे पहले आप अज्ञानरूप घनमेघसे छुटकारा पाये हुए चैतन्य प्रकाशरूप बन जाइए, फिर अपनेको अहङ्कारकी उपाधिसे परिच्छिन्न न समझिए यानी शोधित त्वंपदार्थरूप हो जाइए, फिर मूर्त, अमूर्त और मूलाज्ञानके बाधसे युक्त निरन्तर उदितस्वभाव होकर नामशून्य, आनन्दैकरसघन एकमात्र चेतनरूप ( शोधित तत्पदार्थरूप ) हो जाइए और इस प्रकार होकर आप चारों ओरसे पूर्ण बनकर स्थित रहिए ॥१८॥

बीसवाँ सर्ग समाप्त

## एकविंशतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

ज्ञानिनैव सदा भाव्यं राम न ज्ञानबन्धुना ।
अज्ञातारं वरं मन्ये न पुनर्ज्ञानबन्धुताम् ॥ १ ॥

श्रीराम उवाच

किमुच्यते ज्ञानबन्धुर्ज्ञानी चैव किमुच्यते ।
किं फलं ज्ञानबन्धुत्वे ज्ञानित्वेऽपि च किं फलम् ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

व्याचेष्ट यः पठति च शास्त्रं भोगाय शिल्पिवत् ।
यतते न त्वनुष्ठाने ज्ञानबन्धुः स उच्यते ॥ ३ ॥

---

## इक्कीसवाँ सर्ग

[ शुभ और अशुभ दो तरहकी ज्ञानबन्धुता है, इनमें शुभ ग्राह्य है और अशुभ हेय है, इसका यत्नपूर्वक लक्षणों द्वारा वर्णन ]

इन दोनोंमें पहले हेय ज्ञानबन्धुताका वर्णन करनेके लिए भूमिका रचते हैं—'ज्ञानिनैव' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, मनुष्यको सदा ज्ञानी* ही होना चाहिए, ज्ञानबन्धु† नहीं होना चाहिए। मैं अज्ञानीको अच्छा समझता हूँ, परन्तु ज्ञानबन्धुताको अच्छा नहीं समझता ॥ १ ॥

श्रीरामजीने कहा—हे मुने, ज्ञानबन्धु किसे कहते हैं और ज्ञानी कौन कहा जाता है तथा ज्ञानबन्धु होनेमें कौन फल मिलता और ज्ञानी होनेमें कौन फल मिलता है, यह सब आप कृपाकर मुझे बतलाइये। प्रश्न करनेका मेरा आशय यह है कि किस स्वरूपको प्राप्त करके मनुष्य ज्ञानबन्धु होता है और किस स्वरूपको प्राप्त करके ज्ञानी कहा जाता है तथा इन दोनोंके फल क्या हैं, यह सब भलीभाँति मुझे बतलाइये ॥ २ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, जो शास्त्रोंको केवल अपने भोगके

---

* ज्ञानीका लक्षण आगे चलकर बतलाया जायगा ।

† ज्ञानके बहाने सत्कर्मोंमें श्रद्धाके त्यागसे भोगोंमें लम्पट बनाकर जो अपनेको और दूसरेको अनर्थोंके द्वारा बाँध देता है, वह ज्ञानबन्धु कहा गया है ।

कर्मस्पन्देषु नो बोधः फलितो यस्य दृश्यते ।
बोधशिल्पोजीवित्वाज्ज्ञानबन्धुः स उच्यते ॥ ४ ॥
वसनाशनमात्रेण तुष्टाः शास्त्रफलानि ये ।
जानन्ति ज्ञानबन्धूंस्तान्विद्याच्छास्त्रार्थशिल्पिनः ॥ ५ ॥
प्रवृत्तिलक्षणे धर्मे वर्तते यः श्रुतोचिते ।
अदूरवर्तिज्ञानत्वाज्ज्ञानबन्धुः स उच्यते ॥ ६ ॥
आत्मज्ञानं विदुर्ज्ञानं ज्ञानान्यन्यानि यानि तु ।
तानि ज्ञानावभासानि सारस्याऽनवबोधनात् ॥ ७ ॥

---

लिए शिल्पीकी तरह पढ़ता और उसकी व्याख्या करता है, परन्तु स्वयं जो ज्ञानके उपायभूत साधनचतुष्टयके सम्पादन और मनन आदिमें प्रयत्न नहीं करता वह पुरुष ज्ञानबन्धु कहा जाता है ॥ ३ ॥

जिसका शास्त्राभ्यासजनित शाब्दिक बोध भोग-व्यवहारोंमें वैराग्योपरम आदि फलोंसे फलित नहीं दीखता वह तत्त्वकथाओं द्वारा दूसरोंको ठगनेके लिए चातुर्यपूर्ण बोधरूपी शिल्पकारीसे अपना जीवन-निर्वाह करनेवाला होनेसे ज्ञान-बन्धु कहा गया है ॥ ४ ॥

एकमात्र भोजन, वस्त्र आदिसे सन्तुष्ट होकर भोजन आदिकी प्राप्तिको ही जो शास्त्राध्ययनका फल मानते हैं, उन शास्त्रार्थकथाका अभिनय करनेवालोंको नटादि शिल्पियोंके समान ही समझना चाहिए ॥ ५ ॥

शुभानामक दूसरी ज्ञानबन्धुताको लक्षण बतलाकर दिखलाते हैं—'प्रवृत्तिलक्षणे' इत्यादिसे ।

जो शास्त्रार्थज्ञानके उचित, किये जानेवाले वेदान्तश्रवणमें चित्तशुद्धि द्वारा अनुकूल निष्काम अग्निहोत्र आदि धर्मोंमें अथवा श्रुतिबोधित अपने अधिकार और कुलाचार आदिके उचित* सत्कर्मोंके अनुष्ठानमें प्रवृत्त होता है वह तत्त्वज्ञानका निकटवर्ती होनेके कारण ज्ञानबन्धु कहा जाता है ॥ ६ ॥

अनात्मशास्त्रोंके अभ्यासमें तत्पर हुए भी पुरुष तत्-तत् अर्थज्ञानोंसे सम्बद्ध होते दिखाई देते हैं, उनके तुल्य ये श्रीरामचन्द्रजी न हों, इसलिए आत्मज्ञानमें विशेष दर्शाते हैं—'आत्मज्ञानम्' इत्यादिसे ।

---

* इसमें 'विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा' इत्यादि श्रुति प्रमाण है ।

आत्मज्ञानमनासाद्य ज्ञानान्तरलवेन ये ।
सन्तुष्टाः कष्टचेष्टं ते ते स्मृता ज्ञानबन्धवः ॥ ८ ॥
ज्ञानादि तज्ज्ञेयविकाशशान्त्या
विना न सन्तुष्टधियेह भाव्यम् ।
त्वं ज्ञानबन्धुत्वमुपेत्य राम
रमस्व मा भोगभवामयेषु ॥ ९ ॥
अत्राऽऽहारार्थं कर्म कुर्यादनिन्द्यं
कुर्यादाहारं प्राणसंधारणार्थम् ।

---

आत्मज्ञानको ही ज्ञान कहते हैं, आत्मज्ञानसे भिन्न जो अन्य ज्ञान हैं वे सब जगत् और जीवके अधिष्ठानभूत ब्रह्मके बोधरूप न होनेसे ज्ञानावभास ही हैं ॥७॥

अतएव उस तरहके ज्ञानावभासकी प्राप्तिसे सन्तुष्ट रहनेवालोंमें अशुभ ज्ञान-बन्धुता ही है, यह कहते हैं—'आत्मज्ञान०' इत्यादिसे ।

दुष्ट अभिमान आदि दोष तथा पारलौकिक अनर्थरूप फलके लिए कष्ट चेष्टापूर्वक कर्म करते हुए जो आत्मज्ञानको न प्राप्त कर अन्य ज्ञानलेशकी प्राप्तिसे सन्तुष्ट रहते हैं वे अशुभज्ञानबन्धु कहे गये हैं ॥ ८ ॥

इसलिए जबतक सप्तमभूमिकाकी स्थिरता नहीं हो जाती तबतक मुमुक्षुको सन्तुष्ट होकर नहीं बैठे रहना चाहिए, यह कहते हैं—'ज्ञानादि' इत्यादिसे ।

बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंकी अनेक वृत्तिरूप ज्ञान, इन वृत्तियोंके कारण एवं आश्रय प्रमाता तथा इनके शब्दादि विषय और इन विषयोंके प्रकाश—इन सबकी आत्यन्तिक शान्तिसे होनेवाली पूर्णानन्दैकरस, स्वप्रकाश, ब्रह्मात्मैक्यकी प्रतिष्ठाके बिना अवान्तर भूमिकाओंके सिर्फ लाभसे 'अब मैं कृतार्थ हो गया हूँ' इस तरह सन्तुष्टबुद्धि होकर उत्तरोत्तर भूमिकाओंमें पहुँचानेवाले प्रयत्नोंसे मुमुक्षु पुरुषको यहाँ शिथिल नहीं हो जाना चाहिए । हे श्रीरामचन्द्रजी, आप सम्पूर्ण विद्याओंमें कुशल होते हुए भी अध्यात्मशास्त्रको छोड़ करके अन्यशास्त्रोंमें चातुर्य-पूर्ण आसक्तिसे ज्ञानकी उपेक्षा द्वारा या अनधिकारी पुरुषोंमें ज्ञानोपदेश देनेके कौशलके प्रदर्शनके द्वारा ज्ञानबन्धुताको प्राप्तकर उस ख्यातिलाभ आदिके द्वारा भोगरूपी सांसारिक रोगोंमें रमण न कीजिये ॥ ९ ॥

तब मुमुक्षुको किस तरह रहना चाहिए, इसपर कहते हैं—'अत्र' इत्यादिसे ।

प्राणाः संधार्यास्तत्त्वजिज्ञासनार्थं
तत्त्वं जिज्ञास्यं येन भूयो न दुःखम् ॥ १० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ज्ञानविचारो नामैकविंशतितमः सर्गः ॥ २१ ॥

## द्वाविंशः सर्गः

### वसिष्ठ उवाच

ज्ञानेन ज्ञेयनिष्ठत्वाद्योऽचित्तं चित्तमेव च ।
न बुध्यते कर्मफलं स ज्ञानीत्यभिधीयते ॥ १ ॥

---

इस संसारमें मुमुक्षु पुरुषको अपने आहारकी (हित, मित और मेध्य भोजनकी) प्राप्तिके लिए श्रुति-स्मृति तथा शिष्ट पुरुषों द्वारा अनुमोदित अनिन्द्य कर्म करना चाहिए तथा वह आहार भी अपने प्राणोंके धारणके लिए ही करना चाहिए एवं प्राणोंका धारण तत्त्वजिज्ञासाके लिए करना चाहिए और ऐसे तत्त्वकी जिज्ञासा करनी चाहिए, जिससे कि फिर जन्म, मरण आदि दुःखकी प्राप्ति न हो ॥ १० ॥

इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त

---

## बाईसवाँ सर्ग

[ सबसे पहले अनेक युक्ति-प्रयुक्तियोंसे ज्ञानियोंके लक्षणोंका वर्णन तथा प्रसङ्गसे जीव, जगत् और ब्रह्मके स्वरूपका वर्णन ]

निकृष्ट ज्ञान और उसका फल पहले बतलाया गया है, अब 'ज्ञानी चैव किमुच्यते', 'ज्ञानित्वेऽपि च किं फलम्' ( ज्ञानी किसे कहते हैं और ज्ञानी बन जानेपर क्या फल होता है ) इन प्रश्नोंका उत्तर कहनेके लिए सबसे प्रथम ज्ञानीके लक्षण कहते हैं—'ज्ञानेन' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, क्रमशः एक-एकके पीछे दूसरी-दूसरी भूमिकाओंके ऊपर चढ़नेसे परिपक्व हुए तत्त्वज्ञानसे ज्ञातव्य ब्रह्ममात्रमें दृढ़ निष्ठा हो जानेके कारण जो पुरुष प्रारब्ध फलका भोग करते हुए भी शब्द आदि विषयोंको और शब्दादि विषयाकारोंमें एवं काम-सङ्कल्पादि वृत्तियोंमें परिणत अन्तःकरणको

ज्ञात्वा सम्यगनुज्ञानं दृश्यते येन कर्मसु ।
निर्वासनात्मकं ज्ञस्य स ज्ञानीत्यभिधीयते ॥ २ ॥
अन्तःशीतलतेदृशसु प्राज्ञैर्यस्याऽवलोक्यते ।
अकृत्रिमैकशान्तस्य स ज्ञानीत्यभिधीयते ॥ ३ ॥
अपुनर्जन्मने यः स्याद्बोधः स ज्ञानशब्दभाक् ।
वसनाशनदा शेषा व्यवस्था शिल्पजीविका ॥ ४ ॥
प्रवाहपतिते कार्ये कामसङ्कल्पवर्जितः ।
तिष्ठत्याकाशहृदयो यः स पण्डित उच्यते ॥ ५ ॥

---

वस्तुसत् नहीं समझता, [ क्योंकि तत्त्वज्ञानसे बाधित हो जानेके कारण उनकी केवल अनुवृत्तिमात्र ही रहती है ] वह ज्ञानी कहलाता है ॥ १ ॥

जो ज्ञानी पुरुष अन्तःकरणके भोग्य विषयोंमें तथा उसकी चक्षु आदि द्वारा निर्गत ज्ञानात्मक वृत्तियोंमें साक्षीरूपसे स्थित चैतन्यमात्रको यथार्थरूप जानकर बाधित दृश्यको वासनात्मना भी नहीं देखता वह ज्ञानी है अथवा जिस तत्त्वके ज्ञात होनेसे चित्तकी समस्त वासनाएँ निकल जाती हैं, उस तत्त्वको भलीभाँति जानकर स्थित हुए जिसकी सब प्राणियोंके यथेष्ट व्यवहारोंमें भी अनुज्ञा ( सम्मति ) ही देखी जाती हो अर्थात् अपना धन आदिका अपहरण करनेवाले चोरोंकी प्रवृत्तिका भी जो अनुमोदन करता हो ,वह ज्ञानी है ॥ २ ॥

स्वाभाविक एकमात्र स्वात्मलाभसे युक्त जिस पुरुषकी व्यवहारोंमें भीतरसे शीतलता बुद्धिमानों द्वारा अनुभूत होती है वह ज्ञानी कहा जाता है ॥ ३ ॥

पुनर्जन्मका कारण जो अनादि अज्ञान है उसका निवर्तक तत्त्वज्ञान है, दूसरा नहीं, यह कहते हैं—'अपुनर्जन्मने' इत्यादिसे ।

जो बोध पुनर्जन्मका हेतु नहीं है वही ज्ञानशब्दके लिए योग्य है, इसको छोड़कर दूसरा जो शब्दज्ञानका चातुर्य है वह केवल अन्न-वस्त्र प्रदान करनेवाला है, इसलिए इस तरहका ज्ञान शिल्पज्ञानके सदृश 'जीविका' शब्दके लिए योग्य है, न कि ज्ञानशब्दके लिए ॥ ४ ॥

प्रारब्धके प्रवाहमें जो भी कार्य आ जाय, उसके लिए जो मनुष्य काम और सङ्कल्पको छोड़कर तत्पर रहता है एवं शरत्कालके आकाशके सदृश जिसका हृदय आवरणशून्य प्रकाशमान रहता है वही पण्डित कहा जाता है ॥ ५ ॥

अकारणं प्रवर्तन्त इव भावा अकारणात् ।
अविद्यमाना अप्येते विद्यमाना इव स्थिताः ॥ ६ ॥
आविर्भावतिरोभावैर्भावाभावभवाभवैः ।
पश्चात् कारणतां यान्ति मिथः कारणकर्मभिः ॥ ७ ॥
असतः शशशृङ्गादेर्मृगतृष्णाम्भसो यथा ।
आलोकनादलभ्यस्य कीदृक् स्यात्किल कारणम् ॥ ८ ॥
असतः शशशृङ्गादेः कारणं मार्गयन्ति ये ।
वन्ध्यापुत्रस्य पौत्रस्य स्कन्धमासादयन्ति ते ॥ ९ ॥

---

ये जो ज्ञानीके लक्षण बतलाये गये हैं उनकी युक्तिपूर्णता बतलानेके लिए तत्त्वज्ञान सम्पूर्ण द्वैतवासनाओंकी निवृत्ति कर देता है, इसका समर्थन करते हैं और इसी समर्थनके लिए असत्य अविद्यारूपता ही आखिरमें बच जानेके कारण जगत्में न तो किसी तरहकी हेतुता है और न सत्ता ही है, यह बतलाते हैं—'अकारणम्' इत्यादिसे ।

ये जो जगत्के नानाविध पदार्थ हैं वे किसी तरहके कारणके बिना ही उत्पन्न होते हैं और चूँकि कारणके अभाव रहते भी उत्पन्न हैं, इसलिए उनका अस्तित्व है ही नहीं । ये सब अविद्यमान ही विद्यमानकी नाईं स्थित हैं ॥ ६ ॥

आगेके वृद्धि आदि भावविकारोंमें भी कारणके न रहनेसे ही असत्त्व समझना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'आविर्भाव०' इत्यादि ।

कारणके न रहनेसे अविद्यमान भी वे आविर्भाव, तिरोभाव, सत्ता, असत्ता, उत्पत्ति, नाश आदि विकारोंसे युक्त होकर विद्यमान-से हुए स्थित हैं, पीछे सृष्टिकालमें कारणके व्यापारोंसे वे परस्पर कारणताको प्राप्त होते हैं । यह बात सृष्टिके प्रारम्भमें नहीं हो सकती, क्योंकि प्रलयमें बीज और अङ्कुर दोनोंका भी अभाव है ॥ ७ ॥

इस समय दिखाई दे रहा भी बीज सद्रूप अङ्कुरका कारण है या असद्रूप अङ्कुरका कारण है ? सद्रूप अङ्कुरका कारण तो वह हो नहीं सकता, क्योंकि सत्को कारणकी अपेक्षा ही नहीं रहती, असद्रूपका भी कारण नहीं हो सकता, यह कहते हैं—'असतः' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

शशशृङ्ग आदि तथा मृगतृष्णाजलके समान विचारसे अलभ्य इस जगत्का कारण कैसा होगा ? जो पुरुष असत् शशशृङ्ग आदिके कारणकी अन्वेषणा करते हैं,

असत्यप्रतिभासानामेतदेवाऽऽशु कारणम् ।
यदनालोकनं नाम समालोकक्षणक्षयम् ॥ १० ॥
परमात्मायते जीवो बुध्यमानस्त्वचेतनम् ।
चेतनं बुध्यमानस्तु जीव एवाऽवतिष्ठते ॥ ११ ॥

वे वन्ध्यापुत्रके या उसके पौत्रके कन्धेके ऊपर मानो आरोहण करते हैं ॥ ८,९ ॥

द्वैतका निष्कारण अस्तित्व माननेपर अनिर्मोक्ष-प्रसक्ति एवं मोक्षशास्त्रमें अप्रामाण्य आ जायगा, इसलिए इन दोनों दोषोंकी निवृत्ति करनेके लिए किसी कारणकी अवश्य कल्पना करनी चाहिए, यदि यह कहिए, तो इसपर यही समाधान हो सकता है कि एकमात्र ज्ञानसे निवृत्त होनेवाला मिथ्याभूत अज्ञान ही कारण है, यही कल्पना करनी चाहिए, दूसरे किसी सद्रूपकी नहीं, क्योंकि सद्रूप वस्तुकी ज्ञानसे निवृत्ति न हो सकनेके कारण आपका अनिर्मोक्ष-प्रसङ्ग ज्यों-का-त्यों बना रहेगा, इस आशयसे कहते हैं—'असत्य०' इत्यादिसे ।

भद्र, मिथ्याभूत जो पदार्थ हैं उनका यही एकमात्र कारण है, जिसका कि नाम अनालोकन यानी अज्ञान है और इस अज्ञानका ज्ञान-क्षणमें तत्काल ही विनाश हो जाता है ॥ १० ॥

संसार अज्ञानका कार्य है और तत्त्वसाक्षात्कारक्षणमें ही वह विनष्ट हो जाता है, इन दोनों बातोंका अनुभव कराते हैं—'पर०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, यह जीव—जड़ अहङ्कार, देह आदिको स्वभिन्न जानकर तत्काल ही तद्रूपत्वके अध्यास-संस्कारोंके उद्बोधसे उनको आत्मा समझ बैठता है, बस यही इसका संसार है और जब अपनेको सभी उपाधियोंसे विनिर्मुक्त चैतन्य-स्वरूप समझता है तब यही जीव सम्पूर्ण जगत‌के सारभूत निरतिशय आनन्दरूप होकर बैठ जाता है, यही इसका मोक्ष है* ॥ ११ ॥

* अथवा अचेतन यानी बुद्धि, स्थूल देह और चिदाभास—इन तीनोंसे रहित कूटस्थ अद्वितीय चैतन्यमात्रस्वरूप अपनेको समझकर जीव ब्रह्मस्वरूप बनकर स्थित रहता है और अपनेको चेतनरूप यानी बुद्धि, स्थूल देह एवं चिदाभासरूप समझकर तो जीव ही बनकर बैठता है यानी पूर्णभावको प्राप्त नहीं करता । चेतनशब्दके जो तीन अर्थ (बुद्धि, स्थूल देह और चिदाभास हैं, वे व्युत्पत्तिभेदसे किये गये हैं—(१) जीवः चेत्यते अनेन, (२) जीवः चेत्यते अस्मिन् और (३) चेत्यते इति चेतनम् । अथवा यह जीव अचेतनरूप घटादि विषयोंमें चक्षु आदिकी वृत्तियोंसे जनित फलसम्बन्धसे शून्य होकर अपनेको स्वप्रकाश चैतन्यरूप समझता हुआ परमात्मा बन जाता है और उससे शून्य न हुआ जीव ब्रह्मभावापन्न नहीं होता ।

परमात्मैव जीवोऽयं बुध्यमानस्त्वचेतनम् ।
आम्र एव रसापत्तेः प्रयाति सहकारताम् ॥ १२ ॥
चेतनं बुध्यमानस्तु जीव एवाऽवतिष्ठते ।
जीवो जीवितजीर्णेषु जातिजन्मसु जर्जरः ॥ १३ ॥
ये परां दृष्टिमायाता विद्धि तेषामपामिव ।
अरूपालोकमननं स्पन्दमस्पन्दनं सदा ॥ १४ ॥
ये परां दृष्टिमायाता दृश्यश्रीपारदर्शिनः ।
न विद्यमानमप्यस्ति तेषां वेदनमाततम् ॥ १५ ॥

---

उपर्युक्त श्लोकके पूर्वार्धका विवरण करते हैं—'परमात्मैव' इत्यादिसे ।

पूर्वोक्त रीतिसे अचेतनको यानी अहङ्कारादिशून्यरूपताको ही अपनी आत्मामें जान रहा यह जीव जागरूक होकर परमात्मरसके आवेशसे परमात्मरूपताको ऐसे प्राप्त हो जाता है, जैसे कि हेमन्त ऋतुमें एक तरहसे सोया हुआ आम वसन्त ऋतुमें रसावेशके कारण पल्लवित एवं पुष्पित होनेके बाद प्रबुद्ध-सा होकर सहकार-शब्दवाच्यताको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

उत्तरार्धका भी विवरण करते हैं—'चेतनम्' इत्यादिसे ।

परन्तु चेतनको अपनी आत्मामें जानता हुआ यह जीव तो जीव ही बनकर जीवनोंसे जीर्ण बन जानेवाले नानाविध योनियोंके जन्मोंमें जर्जर होकर अवस्थित रहता है ॥ १३ ॥

यही कारण है कि तत्त्ववेत्ताओंकी चेष्टाएँ अभिमानरहित होनेसे अस्पन्दरूप ही हुआ करती हैं, यह कहते हैं—'ये पराम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, यह आप जान लीजिये कि जो पराहष्टिको प्राप्त हो चुके हैं उनकी दृश्य-दर्शनाभिमानशून्य चेष्टाएँ, जलोंके नीचेकी ओर अभिसरणकी नाईं, प्रारब्ध कर्मका एकमात्र अनुसरण करनेवाली, अतः वे सदा अस्पन्दरूप ही रहती हैं ॥१४॥

जैसे दग्ध पटका दर्शन पटदर्शनरूप कभी नहीं होता, किन्तु भस्मदर्शनरूप ही होता है; वैसे ही बाधित दृश्यश्रीका दर्शन दृश्यातीत ब्रह्मदर्शनरूप ही होता है, अतः उनको द्वैतवेदन नहीं होता, इस आशयसे कहते हैं—'ये पराम्' इत्यादि ।

दृश्य-सौन्दर्यके पारदर्शी जो पराहष्टिको प्राप्त हो चुके हैं उन्हें विद्यमान भी विस्तृत दृश्य-प्रपञ्चका ज्ञान नहीं होता ॥ १५ ॥

ये परां दृष्टिमायाता विद्धि तेषामपामिव ।
स्पन्दमस्पन्दनं सर्वमवेदनवशादिह ॥ १६ ॥
अरूपालोकमननवेष्टिता मुक्तदामवत् ।
बुधाः कर्मसु चेष्टन्ते वृक्षपत्रेष्विवाऽनिलः ॥ १७ ॥
ये परां दृष्टिमायाताः संसृतेः पारदर्शिनः ।
न ते कर्म प्रशंसन्ति कूपं नद्यां वसन्निव ॥ १८ ॥
ये बद्धवासना मूढाः कर्म शंसन्ति तेऽनघ ।
श्रुतिस्मृत्युचितं तेन विना बोधं प्रयान्ति ते ॥ १९ ॥

---

दृश्यदर्शनके अभावमें भी जल दृष्टान्त दिये गये हैं, इस आशयसे कहते हैं—'ये' इत्यादि।

हे श्रीरामजी, जो यहाँ ब्रह्मरूपी सर्वोत्कृष्ट दृष्टिको प्राप्त हो चुके हैं, उनका स्पन्दन भी, जलकी नाईं, दृश्यप्रपञ्चका ज्ञान न होनेसे स्पन्दनशून्य ही रहता है ॥ १६ ॥

इसीलिए उन्हें कर्मबन्धनके सम्बन्धका अभाव रहता है, यह कहते हैं—'अरूपालोक०' इत्यादिसे।

चूँकि दृश्यदर्शनके अभिमानसे वेष्टित वे नहीं होते, इसीलिए मुक्तबन्धन वृषभके समान वे सांसारिक कर्मबन्धनके सम्बन्धसे शून्य रहते हैं। तत्त्वज्ञानी पुरुष प्रारब्धानुसार प्राप्त कर्मोंमें ऐसी चेष्टा किया करते हैं, जैसे वृक्षोंके पत्तोंमें पवन ॥ १७ ॥

पारलौकिक कर्मोंकी अपेक्षा तो उनसे बहुत दूर ही रहती है, इस आशयसे कहते हैं—'ये पराम्' इत्यादि।

जो इस संसारके पारदर्शी महानुभाव सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मदृष्टिको प्राप्त हो चुके हैं, वे कर्मोंकी उस तरह प्रशंसा नहीं किया करते, जिस तरह गङ्गाजीके तटपर निवास करनेवाला कूपकी प्रशंसा नहीं करता ॥ १८ ॥

अज्ञ पुरुषोंके लिए तो एकमात्र कर्म ही शरण है, यह कहते हैं—'ये' इत्यादिसे।

हे निष्पाप श्रीरामजी, जो मूर्ख सांसारिक विषयवासनाओंमें बँधे हुए रहते हैं, वे श्रुति एवं स्मृतिसे प्रतिपादित उचित कर्मकी प्रशंसा किया करते हैं तथा तत्त्वज्ञानके अभावसे उसी कर्मके द्वारा फलका भोग पाते हैं ॥ १९ ॥

इन्द्रियाणि पतन्त्यर्थं भ्रष्टं गृध्र इवाऽऽमिषम् ।
तानि संयम्य मनसा युक्त आसीत तत्परः ॥ २० ॥
नासन्निवेशं हेमास्ति नासर्गं ब्रह्म विद्यते ।
किन्तु सर्गादिशब्दार्थमुक्तं युक्तमतेः शिवम् ॥ २१ ॥
एकान्धकारे सम्पन्ने व्यवहारो युगक्षये ।
निर्विभागो निराभासो यथा ब्रह्मघने तथा ॥ २२ ॥

क्यों उनके लिए एकमात्र कर्म ही शरण है, इस आशङ्कापर कहते हैं—'इन्द्रियाणि' इत्यादिसे ।

अज्ञानियोंकी इन्द्रियां अधःपतनके हेतुभूत अर्थोंके ऊपर इस प्रकार गिरती हैं, जिस प्रकार नीचे गिरे हुए मांसके ऊपर गृध्र गिरता है । इसलिए हे श्रीरामजी, विद्वान्‌को चाहिए कि वह अपनी उन सभी इन्द्रियोंका मनसे निग्रह करके आत्मज्ञानके सम्पादनमें लग जाय और उसीमें सदा तत्पर हो अवस्थित रहे ॥ २० ॥

जले हुए तथा न जले हुए पटमें अवयवसाम्यकी नाईं बाधिताबाधित जगत्‌के अवयवसाम्यका भान अज्ञानियोंकी तरह यद्यपि तत्त्वज्ञानियोंको भी होता रहे, तथापि तत्त्वज्ञानियोंके लिए तो वह एकमात्र ब्रह्मरूप ही है, इस आशयसे कहते हैं—'नाऽसन्निवेशम्' इत्यादि ।

जैसे कटक, केयूर आदि रचनाविशेषरूप अर्थोंसे भिन्न सुवर्ण नहीं रहता, वैसे ही सृष्टिरूप अर्थसे रहित ब्रह्म भी नहीं रहता यों ज्ञानी-अज्ञानीको भान-साम्य है । किन्तु तत्त्वज्ञानीको सृष्टि आदि शब्दार्थसे रहित एकमात्र शिवरूप ही वह भासित होता है ॥ २१ ॥

सृष्टिशब्दार्थसे रहित होनेमें प्रलय दृष्टान्त है, यह कहते हैं—'एकान्धकारे' इत्यादिसे ।

जिस तरह कल्पके अन्तमें एकमात्र अन्धकारके रहते ब्रह्मघनमें निर्विभाग और निराभास ही सृष्टि रहती है उसी तरह तत्त्वज्ञानियोंको असद्रूप भी यह जगत् सद्रूप ब्रह्म ही भासता है ॥ २२ ॥

* तात्पर्य यह कि सत्कर्मका अवलम्बन न रहनेसे अज्ञानियोंका इन्द्रियोंके द्वारा अधःपतन हो ही जाता है । देखिये श्रुति क्या कहती है—

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥'

अभ्रोदरे भ्रमाङ्गानां स्पन्दास्पन्दमयी यथा ।
स्वसंविदात्मिका सत्ता भूतानामीश्वरी तथा ॥ २३ ॥
जलस्यान्तर्जलांशानां द्वैताद्वैतमयो यथा ।
स्वसंविदात्मा सुस्पन्दस्तथा ब्रह्मणि भूतदृक् ॥ २४ ॥
यथाऽम्बरेऽम्बरांशानां द्वैताद्वैतकृताऽऽत्मनि ।
अनन्या सृष्टिराभाति तथाऽनवयवे शिवे ॥ २५ ॥
जगतोऽन्तरहंरूपमहंरूपान्तरे जगत् ।
स्थितमन्योन्यवलितं कदलीदलपीठवत् ॥ २६ ॥

---

प्रलयमें स्पन्दनकी सत्ता नहीं है, यों असम्भावना करनेवालेके प्रति दृष्टान्त कहते हैं—'अभ्रोदरे' इत्यादिसे ।

जैसे आकाशमें इधर-उधर चल रहे मेघोंके उदरमें उदरके अवयवोंकी अविभागसे उनकी अस्पन्दमयी तथा दिशाओंके विभागसे स्पन्दमयी—स्वानुभव चैतन्यरूप ही सत्ता, विरुद्ध धर्मोंका एक कालमें सम्भव होनेके कारण, मानी जाती है वैसे ही प्रलयकालमें भी भूतोंकी ईश्वरकी स्पन्दमयी सत्ता है, यह सम्भावना करनी चाहिए ॥ २३ ॥

वहाँपर चिदाभासका स्पन्दन है, इसमें भी दृष्टान्त कहते हैं—'जलस्य' इत्यादिसे ।

जैसे तालाब आदिके भीतर स्थित तरल जल तथा उसके अंशोंका स्पन्दन द्वैताद्वैतमय है, क्योंकि तरलताके कारण भेद और अभेदका निर्वचन करना अत्यन्त कठिन है, वैसे ही ब्रह्ममें तत्-तत् जीवरूप आभास भी ब्रह्मसंविदात्मक ही है ॥२४॥

निरवयव ब्रह्ममें अवयवयुक्त जगत्के सद्भावमें भी दृष्टान्त देते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे निरवयव आकाशमें दिशाभेदरूप आकाशके अवयवोंकी अभिन्न सृष्टि भासती है, वैसे ही अवयवरहित ब्रह्मरूप आत्मामें यह द्वैताद्वैत सृष्टि भी अभिन्न-रूपसे विद्यमान है ॥ २५ ॥

इसी रीतिसे पूर्वोक्त अहङ्कार और जगत्—ये दोनों एक-दूसरेके अन्दर स्थित हैं, यह समझ लेना चाहिए, यह कहते हैं—'जगतोऽ०' इत्यादिसे ।

इसी रीतिसे जगत्के अन्तर्गत अहङ्कार और अहङ्कारके अन्तर्गत जगत्—

रूपालोकनमस्कारैरन्ध्रैर्बहिरिव स्थितम् ।
सृष्टिं पश्यति जीवोऽन्तः सरसीमिव पर्वतः ॥ २७ ॥

जीवो जगत्तयाऽऽत्मानं पश्यत्ययमकारणम् ।
हेमेव कटकादित्वं तदपश्यन्न पश्यति ॥ २८ ॥

जीवन्तोऽपि न जीवन्ति म्रियन्ते न मृता अपि ।
सन्तोऽपि च न सन्तीव पारावारविदः शुभाः ॥ २९ ॥

प्रबुद्धः सर्वकर्माणि कुर्वन्नपि न पश्यति ।
गृहकर्माणि गेहस्थो गोष्ठभाण्डमना इव ॥ ३० ॥

---

ये दोनों परस्पर एक दूसरेमें, केलेके पत्तोंके स्तरके समान, वेष्टित हैं ॥ २६ ॥

अहङ्कारात्मक जीव अपने भीतर स्थित जगत्को बाहर देखता है, इसमें भी दृष्टान्त देते हैं—'रूपा०' इत्यादिसे ।

जैसे हिमालय पर्वत अपने छिद्रोंसे निकले हुए जलको बाहर मानसरोवर आदि रूपमें स्थित देखता है वैसे ही यह जीव भी अपने अन्तर्गत जगत्को इन्द्रियों तथा मानसिक वृत्तियोंसे बाहर स्थित-सा देखता है ॥ २७ ॥

जैसे आपाततः भ्रान्तिसे सुवर्णपिण्डमें भूत और भावी कटक, केयूर आदि आकार दिखाई पड़ते हैं, किन्तु सुवर्णमात्र दृष्टि करनेपर दिखाई नहीं पड़ते, वैसे ही यह जीव बिना कारणके यानी एकमात्र भ्रान्तिसे अपनेको जगद्रूपसे देखता है ॥ २८ ॥

यही कारण है कि जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानियोंकी जन्म-मरणादिरूप सांसारिक स्थितियां अन्यदृष्टिसे विद्यमान रहती हुई भी नहीं ही रहती हैं, यह कहते हैं—'जीवन्तोऽपि' इत्यादिसे ।

इस जगतके पारावारदर्शी जीवन्मुक्त महापुरुष जीवन धारण करते हुए भी वस्तुतः जीवन धारण नहीं करते एवं मरे हुए नहीं रहते भी वे मरे हुए-जैसे तथा उपस्थित रहते हुए भी नहीं-से रहते प्रतीत होते हैं ॥ २९ ॥

जैसे घरके अन्दर स्थित भी पुरुष गोशाला आदिमें आसक्तचित्त हो गृह-कार्योंको नहीं देखता, वैसे ही ब्रह्ममें आसक्तचित्त तत्त्वज्ञानी पुरुष देहयात्राके निर्वाहके लिए कर्मोंको करते हुए भी उन्हें नहीं देखता ॥ ३० ॥

विराड् हृदि यथा चन्द्रः प्रतिदेहं यथास्थितः ।
जीवो हिमकणाकारः स्थूले स्थूलो लघौ लघुः ॥ ३१ ॥
अहमात्मा त्रिकोणत्वमुपगच्छति कल्पनम् ।
असदेव सदाभासं मन्यते चेतनाद्वपुः ॥ ३२ ॥
कर्मकोशे त्रिकोणे च शुक्रसारेऽवतिष्ठते ।
देहे जीवोऽहमित्यात्मा स्वामोदः कुसुमे यथा ॥ ३३ ॥
अहमित्येव शुक्रस्था संविदापादमस्तकम् ।
विसरत्यखिले ज्योत्स्ना यथा ब्रह्माण्डमण्डपे ॥ ३४ ॥

---

प्रासङ्गिक बातें समाप्तकर अब प्रस्तुतका अनुसन्धान कर रहे हैं—'विराट् हृदि' इत्यादिसे ।

जैसे ब्रह्माण्डके हृदयमें विराट्जीव चन्द्रमा स्थित है, वैसे ही प्रत्येक व्यष्टिदेहमें हिमकणके सदृश वीर्यरूप जीव स्थूलमें स्थूल एवं लघुमें लघु रूपसे स्थित है ॥ ३१ ॥

उस जीवके देहधारणका प्रकार बतलाते हैं—'अहमात्मा०' इत्यादिसे ।

पिताके हृदयमें वीर्यरूपसे अवस्थित अहङ्कारात्मा जीव माताकी त्रिकोणाकार योनिमें पिताके द्वारा निषिक्त होकर त्रिकोणाकार परिच्छिन्न कल्पनाको प्राप्त होता है । तदनन्तर उस योनिमें स्थित रक्तसे मिल करके कललबुद्बुद तथा पिण्ड आदि आकार-क्रमसे आविर्भूत हो असद्रूप शरीरमें सदाकार 'अहम्' इत्याकारक अभिमानको चेतन होनेके कारण मानने लग जाता है ॥ ३२ ॥

इस प्रकार त्रिकोणाकारोपलक्षित माताके गर्भमें, एकमात्र शुक्र ही, जिसमें सत् यानी अस्थि, स्नायु आदि कठिनांशरूपसे स्थित रहता है ऐसे अपने कर्मों द्वारा निर्मित शरीरमें कोशाकार कृमिकी नाईं बद्ध होकर 'मैं जीव हूँ' इत्याकारक अभिमानसे युक्त इस तरह अवस्थित रहता है, जिस तरह फूलोंमें सुगन्ध ॥३३॥

उसमें भी, चन्द्रकलाओंके चन्द्रबिम्बकी नाईं, हृदयमें स्थित वीर्यकणोंके भीतर अहंभावकी स्फुर्तियोंकी विशेषरूपसे व्याप्ति होती है और उसके द्वारा सारे शरीरमें सामान्यतः अहंभावका विस्तार होता है, यह सब अपने एकमात्र अनुभवसे ही सिद्ध है, यह कहते हैं—'अहम्' इत्यादिसे ।

वीर्यकणोंके अन्दर स्थित संवित् पैरसे लेकर मस्तकतक सारे शरीरमें

अक्षरन्ध्रप्रणालेन विसृतं वेदनोदकम् ।
व्याप्नोति त्रिजगद्धूमो वियन्मेघतया यथा ॥ ३५ ॥
देहे यद्यप्यशेषेऽस्मिन् बहिरन्तश्च वेदनम् ।
विद्यते तत्तथाऽप्यत्र शुक्रेऽस्ति घनवासना ॥ ३६ ॥
जीवः सङ्कल्पमात्रात्मा यत्सङ्कल्पोऽवतिष्ठते ।
हृदि भूत्वा स एवाऽऽशु बहिः प्रसरति स्फुटम् ॥ ३७ ॥
यथास्थितां च निश्चित्तां वर्जयित्वा स्थिरोपमाम् ।
न कयाचिदपि स्थित्या शाम्यत्यहमिति भ्रमः ॥ ३८ ॥

---

अहंभावरूपसे इस प्रकार व्याप्त हो जाती है, जिस प्रकार सारे ब्रह्माण्डमण्डपमें चन्द्रमाकी किरण ॥ ३४ ॥

उसके बाह्य पदार्थोंके अवलोकनमें द्वार बतलाते हैं—'अक्ष०' इत्यादिसे ।

इन्द्रियोंके छिद्ररूपी पनालेसे बाहर निकला हुआ आभाससहित अन्तःकरणात्मक ज्ञानरूपी जल तीनों लोकोंमें स्थित सन्निकृष्ट बाह्यपदार्थोंको ऐसे व्याप्त कर लेता है, जैसे धूम मेघरूपसे सारे आकाशको ॥ ३५ ॥

समस्त देहकी अपेक्षा वीर्यमें इसका विशेषाभिमान अनुभवसिद्ध है, यह बतलाते हैं—'देहे' इत्यादिसे ।

यद्यपि समस्त शरीरमें बाहर और भीतर सर्वत्र वह ज्ञान रहता है, तथापि इस वीर्यमें इसको सबसे अधिक अहमभिमान रहता है ॥ ३६ ॥

यही कारण है कि हार्दिक सङ्कल्पपूर्वक ही सम्पूर्ण बाह्य पदार्थोंके व्यवहार प्रवृत्त होते हैं, यह कहते हैं—'जीवः' इत्यादिसे ।

इसी हेतुसे सङ्कल्पात्मक यह जीव हृदयके अन्दर रहकर जिस किसी वस्तुका सङ्कल्प करता है, शीघ्र उसीरूपसे बाहर स्पष्ट प्रसृत होने लग जाता है ॥ ३७ ॥

और इसी कारणसे उस जीवका वह अहंभाव चित्तकी ब्रह्माकार स्थितिके बिना हजारों अन्य उपायोंसे भी शान्त नहीं होता, यह कहते हैं—'यथास्थिताम्' इत्यादिसे ।

यथास्थित यानी स्वभावसिद्ध चित्तवर्जित स्थिर ब्रह्मैकरसस्थितिरूपी ज्ञानदशाको छोड़कर और किसी भी दूसरी स्थितिसे 'अहम्' इत्याकारक भ्रम शान्त नहीं होता ॥ ३८ ॥

चिन्तानुचिन्त्यमानाऽपि भावनीयाऽम्बरोपमा ।
अहंभावोपशमने शमनेन क्रमेण ते ॥ ३९ ॥
तज्ज्ञा व्यवहरन्तीह भाव्यभावनवर्जितम् ।
अरूपालोकमननं मौनं दारुनरा इव ॥ ४० ॥
अकिञ्चिद्भावनो यः स्यात्स मुक्त इति कथ्यते ।
जीवन्नाकाशविशदो बन्धशून्य इव स्फुटम् ॥ ४१ ॥
अहमित्येव शुक्रस्था संविदापादमस्तकम् ।
विसरत्यखिले देहे ब्रह्माण्डेऽर्कप्रभा यथा ॥ ४२ ॥
दृङ्नेत्रं स्वदनं जिह्वा श्रुतिः श्रोत्रं भवत्यसौ ।
इत्याद्या वासनाः पञ्च बद्ध्वा तासु निमज्जति ॥ ४३ ॥

---

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी मनन, निदिध्यासन आदिके द्वारा निरन्तर चिन्तन की जा रही भी अपनी ब्रह्मचिन्ता—अहंभावकी आत्यन्तिक शान्तिके लिए उत्तरोत्तर भूमिकाओंमें निर्विकल्पक समाधिके परिपाक-क्रमसे चरम भूमिकातक आकाशके समान—आपको बना देनी चाहिए। अतः इतनेसे ही सन्तुष्ट होकर आप बैठ मत जाइये ॥ ३९ ॥

तो क्या आप-जैसे महानुभावोंको भी वह वैसी ही सम्पादनीय है, इसपर 'नहीं' यह कहते हैं—'तज्ज्ञाः' इत्यादिसे ।

ब्रह्मज्ञानी लोग इस संसारमें बाह्य तथा मानसिक दृश्य-दर्शनके अभिमानसे शून्य कर्मेन्द्रियोंके व्यापारोंसे रहित एवं भाव्य और भावनसे वर्जित ऐसे व्यवहार करते हैं, जैसे काष्ठके पुरुष ॥ ४० ॥

जिसके अन्दर तुच्छ प्रपञ्चकी भावना नहीं है, वह जीते-जी आकाशके समान विशाल, शृङ्खला आदिके बन्धनसे निर्मुक्त हुएकी नाईं, स्पष्ट रूपसे मुक्त कहा जाता है ॥ ४१ ॥

शुक्रांशके सम्बन्धके वशसे ही समस्त शरीरमें अहंभावका सम्बन्ध भी रहता है, यह कहते हैं—'अहम्' इत्यादिसे ।

वीर्यकणोंके अन्दर स्थित संवित् पैरसे लेकर मस्तकतक समस्त शरीरमें अहंभाव-रूपसे इस प्रकार व्याप्त हो जाती है, जिस प्रकार सारे ब्रह्माण्डमें सूर्यकी प्रभा ॥ ४२ ॥

चक्षु आदि इन्द्रियोंके रूपसे तत्-तत् स्थानोंमें सम्बन्ध भी शुक्रात्मभूत ही जीवका रहता है, यह कहते हैं—'दृग्' इत्यादिसे ।

चिद्भावोऽक्षतयोदेति मनो भूत्वैकदेशतः ।
सर्वगोऽपि रसो भूमौ यथाङ्कुरतया मधौ ॥ ४४ ॥
यो भावयति भावेषु नेह रूढेष्वभावताम् ।
तस्याऽयत्नवतो दुःखमनन्तं नोपशाम्यति ॥ ४५ ॥
येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः ।
यत्र क्वचनशायीह स सम्राडिव राजते ॥ ४६ ॥

---

चक्षु इन्द्रिय और चक्षुगोलक, स्वदनेन्द्रिय और जिह्वास्थान, श्रवणेन्द्रिय और श्रवणस्थान— इत्यादि सब वीर्यमें स्थित वह संवित् ही होती है, इसीलिए स्त्री आदिका दर्शन, स्पर्शन, श्रवण आदि होनेपर पहलेकी रूपादि पाँच वासनाएँ बांधकर समस्त इन्द्रियोंके द्वारा जनित कामोद्दीपनसे उनमें निमग्न हो जाती है ॥४३॥

अज्ञानावृत चितिकी विपरीत भावना ही सबसे पहले मन बनती है, फिर वीर्यमें अहंभावरूप एक देशके द्वारा सारे शरीरमें व्याप्त होकर तत्-तत् इन्द्रियभावसे इस तरह उदित होती है, जिस तरह पृथिवीमें सर्वगामी भी रस अङ्कुरके रूपसे वसन्त ऋतुमें उदित होता है ॥ ४४ ॥

इसीलिए उसके प्रतिकूल यथार्थभावनाके बिना उस जीवके दुःखोंका उपरम नहीं होता, यह कहते हैं—'यः' इत्यादिसे ।

जो पुरुष इस संसारमें उत्पन्न मन, अहङ्कार, देहादि जगत्-पदार्थोंमें 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्, नेह नानास्ति किञ्चन, अथात आदेशो नेति नेति' इत्यादि श्रुतियों द्वारा दिखलाई गई अभावरूपकी भावना नहीं करता, मोक्षके अनुकूल यत्नसे रहित उस पुरुषरूपी गदहेके जन्मादि अनन्त दुःखोंकी शान्ति कभी नहीं होती ॥ ४५ ॥

सारे सासांरिक पदार्थोंमें ब्रह्मरूपकी भावना कर रहे पुरुषको तो बाह्य सर्वस्वका त्याग होनेपर भी प्रारब्धके कारण आकृष्ट हुए मनुष्योंके द्वारा भोजन, वस्त्र आदिके मिल जानेसे तथा अपने भीतर स्वानन्दामृत-तृप्ति रहनेसे वैराजपदतक साम्राज्य सुख है ही, यह कहते हैं—'येन केनचित्' इत्यादिसे ।

जिस किसीके द्वारा वस्त्र आदिसे ढक दिया गया, जिस किसीके द्वारा खिला दिया गया तथा जहां कहीं सो जानेवाला तत्त्वज्ञानी पुरुष सम्राट्के समान शोभित होता है ॥ ४६ ॥

वासनाभिरुपेतोऽपि समग्राभिरवासनः ।
अन्तः शून्योऽप्यशून्यात्मा खमिव श्वसनान्वितः ॥ ४७ ॥
आसने शयने याने स्थितो यत्नैर्न बोध्यते ।
निद्रालुरिव निर्वाणमनोमनननिर्वृतः ॥ ४८ ॥
संविन्मात्रं हि पुरुषः सर्वगोऽपि स तिष्ठति ।
स्फुटसारे शरीरस्य यथा गन्धोऽब्जकेसरे ॥ ४९ ॥
संविन्मात्रं विदुर्जन्तुं तस्य प्रसरणं जगत् ।
आत्मनिष्ठत्वमजगत्परमेत्युपदेशभूः ॥ ५० ॥
नीरसो भवभावेषु सर्वेषु विभवादिषु ।
पाषाणं हृदयं कृत्वा यथा भवसि भूतये ॥ ५१ ॥

---

समग्र ब्रह्माकार वासनाओंसे अथवा जले हुए वस्त्रोंके तन्तुओंके आकारके सदृश जागतिक समस्त वासनाओंसे युक्त हुआ भी तत्त्वज्ञानी पुरुष वासनारहित ही रहता है तथा अन्तःशून्य होता हुआ भी परिपूर्णात्मा वह आकाशके सदृश प्राणवायुसे समन्वित रहता है ॥ ४७ ॥

षष्ठ आदि भूमिकाओंमें प्रविष्ट होनेके कारण आसन, शयन या यानमें स्थित, निर्वाणदशाको प्राप्त अतएव मानसिक चिन्ताओंसे सर्वथा अलग हुआ तत्त्वज्ञानी पुरुष, निद्रालुकी नाईं, अनेक तरहके यत्नोंसे जगानेपर भी नहीं जागता ॥ ४८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, सर्वत्र व्याप्त भी संविन्मात्र वह पुरुष शरीरके स्फुटसारमें ( वीर्यमें ) इस तरह अवस्थित रहता है, जिस तरह पद्मकोशमें गन्ध ॥ ४९ ॥

इस तरह व्यष्टि और समष्टि जीव-भावादिके वर्णनको परम प्रस्तुत विषयमें संयोजित करके अपने उपदेशरूप सर्वस्वको संक्षिप्त करते हुए महाराज वसिष्ठजी कहते हैं—'सविन्मात्रम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, संविन्मात्र ही जीव कहा गया है और उसीके विस्तारको तत्त्वज्ञानी लोग 'जगत्' समझते हैं यानी यह जो जगत है, वह एकमात्र संविद्रूप जीवका विस्तार ही है । जब यह जीव आत्मनिष्ठ हो जाता है तब अजगद्रूप अपने परम पदको प्राप्त हो जाता है, बस यही सर्वोत्कृष्ट उपदेशस्थिति है ॥५०॥

दृढ़ वैराग्य होना ही साधन-रहस्य है, यह कहते हैं—'नीरसः' इत्यादिसे ।

साधो हृदयसौषिर्यमसौषिर्यमिवाऽस्तु ते ।
अचित्त्ववपुषो चित्त्वादुपलस्येव राघव ॥ ५२ ॥
तज्ज्ञाज्ञयोरशेषेषु भावाभावेषु कर्मसु ।
ऋते निर्वासनत्वात्तु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ ५३ ॥
सत्त्वैवैषा विदो यत्सा भवत्युन्मिषिता जगत् ।
परं तत्त्वं निमिषिता दृगिवाऽनामकं ततम् ॥ ५४ ॥

हे श्रीरामजी, समस्त सांसारिक विभव आदि भाव पदार्थोंमें विरक्त हो जाइये तथा पाषाणके समान अपने हृदयको बना करके ऐश्वर्य-प्राप्तिके लिए आप जिसरूपसे तैयार हो रहे हैं वैसा ही सन्नद्ध रहिये ॥ ५१ ॥

'पाषाणके समान अपने हृदयको बना करके' यह जो ऊपर कहा है, उसे और साफरूपसे कह रहे हैं—'साधो' इत्यादिसे ।

हे साधो राघव, जैसे अचित्त्वशरीर पत्थरके हृदयका पोलापन अचिद्रूप होनेसे ही चितिके निवेशके लिए अवकाशाभावरूप अपोलापन प्रसिद्ध है वैसे चिन्मात्रशरीर आपका दहराकाशरूप हृदय सौषर्य ( हृदयका पोलापन ) चिद्रूप होनेसे ही अचितिके निवेशके लिए अवकाशाभावरूप चितिसे निबिड़ित अपोलापनकी नाईं हो जाय* ॥ ५२ ॥

यही कारण है कि स्फटिक पत्थरमें प्रतिबिम्बित मनुष्योंके व्यवहार कर्मोंके सदृश ज्ञानी और अज्ञानी—दोनोंमें प्रतीतिसाम्य रहनेपर भी सत्यत्ववासनाभावकृत विशेष है, यह कहते हैं—'तज्ज्ञाज्ञयो०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, तत्त्वज्ञानी और अज्ञानी—दोनोंके सम्पूर्ण भाव और अभावरूप कर्मोंमें एकमात्र वासनाभावके सिवा और कोई दूसरा विशेष नहीं रहता ॥५३॥

और इस तरह स्फटिक पत्थरमें द्रष्टापुरुषकी दृष्टिकी नाईं चैतन्यकी जो सत्ता है वही वासनाओंसे दीपित होकर जगद्रूप हो जाती है और वासनाओंके

* अथवा—हे साधो श्रीरामचन्द्रजी, आजतक चिदात्माके अभिमानसे शून्य होनेके कारण अचित्त्व शरीर हुए आपका—अचिद्रूप अज्ञानसे स्फटिक पत्थरके अन्दर कल्पित आकाशकी नाईं—करोड़ों धनादिरूप भोग सामग्रियोंके लाभसे भी परिपूर्ण नहीं हो रहा कामरूपी मन-छिद्र अब नित्य नरतिशयानन्द पूर्णात्माके लाभसे पूर्णकाम हो जानेके कारण, बाधित हुए वास्तविक स्फटिकछिद्रकी नाईं, एकमात्र आनन्दघन हो जाय, यह आशय है ।

दृश्यं विनश्यत्यखिलं विनष्टं जायते पुनः ।
यन्न नष्टं न चोत्पन्नं यत्सद्भवति तद्भवान् ॥ ५५ ॥
भावज्ञप्तिर्हि निर्मूला भाविताऽपि न विद्यते ।
सलिलं मृगतृष्णेव न ददाति भवाङ्कुरम् ॥ ५६ ॥
यथाभूतार्थसंदर्शच्छिन्नाऽहमिति भावना ।
दृष्टाऽपि न करोत्यन्तर्दग्धं बीजमिवाऽङ्कुरम् ॥ ५७ ॥
कर्म कुर्वन्न कुर्वन्वा वीतरागो निरामयः ।
निर्मना नित्यनिर्वाणः पुमानात्मनि तिष्ठति ॥ ५८ ॥
चित्तोपशान्तौ संशान्ताः शान्ता ये भोगबन्धवः ।
न स्वभावपरिक्षीणाश्चित्तमेषां किलाकरः ॥ ५९ ॥

---

अभावसे निमिषित यानी शान्त हो करके तो अपरिच्छिन्न परमतत्त्व-मोक्षरूप हो जाती है, जिसका दूसरा कोई नाम ही नहीं है ॥ ५४ ॥

इसलिए एकमात्र चितिकी सत्ता ही नित्य है, यह कहते हैं—'दृश्यम्' इत्यादिसे ।

यह सारा दृश्य प्रपञ्च पहले नष्ट होता है और नष्ट होकर फिर पुनः उत्पन्न होता है। परन्तु हे श्रीरामचन्द्रजी, जो न तो कभी नष्ट हुआ, न उत्पन्न ही हुआ और सद्रूप है वही आप हैं ॥ ५५ ॥

हे श्रीरामजी, इस तरहके बोधसे मूलाज्ञानका नाश होनेपर अन्वेषण करनेपर भी कहीं जगत्भ्रान्ति अस्तित्व नहीं रखती, और मृगतृष्णा जैसे जल प्रदान नहीं करती, वैसे ही यह संसारमें अङ्कुर नहीं प्रदान करती ॥ ५६ ॥

आत्मपदार्थके साक्षात्कारसे काटी गई अहंभावना दिखाई देनेपर भी भीतरमें संसारको इस तरह उत्पन्न नहीं कर पाती, जिस तरह दग्ध कर दिया गया बीज अङ्कुर उत्पन्न नहीं कर पाता ॥ ५७ ॥

इसीलिए विहित कर्मोंका अनुष्ठान करने या न करनेपर तत्त्वज्ञानियोंके लिए कोई विशेष बात नहीं निकलती, यह कहते हैं—'कर्म' इत्यादिसे ।

वीतराग, मानसिक विकारोंसे रहित तत्त्वज्ञानी पुरुष चाहे कर्म करे या न करे, इससे उसमें कोई नयी बात नहीं आती, वह तो सर्वदा ही सङ्कल्पशून्य एवं नित्यमुक्त होकर अपनी आत्मामें ही स्थित रहता है ॥ ५८ ॥

मनयुक्त हठयोगी लोग क्षान्ति आदि गुणोंके कारण अपनी आत्मामें क्यों

अघनः केवलालोको बुधो जीवः परायते ।
स एवाऽन्योप्यनन्योन्तरपराह्ण इवाऽऽतपः ॥ ६० ॥
एकदेशस्थितात्पुंसो दूरायातस्य चेतसः ।
यद्रूपं सकलं मध्ये तद्रूपं परमात्मनः ॥ ६१ ॥

नहीं स्थित रहते ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'चित्तो०' इत्यादिसे ।

जो हठयोगसे शान्त बने योगी लोग रहते हैं वे भी चित्तकी उपशान्ति हो जानेपर ही भलीभाँति शान्त हो पाते हैं, अन्यथा नहीं; क्योंकि उनकी भोग-वासनाएँ बिलकुल मूलसे छिन्न हुई नहीं रहतीं, इसमें कारण यह पड़ जाता है कि सम्पूर्ण वासनाओंका आधारभूत उनका चित्त तो बना ही रहता है ॥ ५९ ॥

चित्त, देह आदिरूपसे जीवकी जो एकरूपता है, वही ब्रह्मसे जीवको भिन्न बनानेवाली और उसको संताप देनेवाली है और उसके अभावमें तो यह जीव ब्रह्मसे अभिन्न एवं संतापशून्य ही बना रहता है, यह कहते हैं—'अघनः' इत्यादिसे ।

जीव ज्ञानी ( शोधित त्वंपदार्थ ), मूर्तिशून्य, ( चित्त, देह आदिस्वरूप न हुआ ) एवं शुद्ध चैतन्यप्रकाशरूप बनकर ही परमात्माके साथ एकता प्राप्त करनेके लिए योग्य हो जाता है । वही जीव अन्य होता हुआ भी उस परमात्मासे ऐसे अनन्य है, जैसे मध्याह्नकालमें सूर्यका आतप सूर्यसे अनन्य है ॥ ६० ॥

आत्माके उसी मूर्तिशून्य केवल चिदालोकस्वरूपका अनुभव कराते हैं—'एकदेश०' इत्यादिसे ।

पुरुषके शरीरसे बहुत दूरीपर स्थित सूर्य, चन्द्र आदि मण्डलतक चक्षु आदिके द्वारा गये हुए चित्तकी जो वृत्ति है, उसका मध्यमें विच्छेद न रहनेके कारण देहसे लेकर सूर्यादिमण्डल पर्यन्त अविच्छिन्नरूपसे अपरोक्ष चिति उसमें अभिव्यक्त है ही । यह वृत्ति देहप्रदेश तथा चन्द्रप्रदेशमें यद्यपि विषयसहित है, तथापि मध्यभागमें उसका निर्विषयक जो रूप प्रसिद्ध है उसी रूपको परमात्माका पूर्णरूप समझना चाहिए* ॥ ६१ ॥

* देखिये यह श्रुति—'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम्' ।

चारुचिद्व्योम कर्पूरं यच्चमत्कुरुते स्वयम् ।
अनन्तमन्तरव्यक्तं जगदित्येव वेत्ति तत् ॥ ६२ ॥
गतभवभ्रमभासुरमक्षयं
शममुपेतमुपेक्षितदीपवत् ।
स्थितमपीह जनं जगदीश्वरा-
दनुगतं ननु भाति मुदा च खे ॥ ६३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सुखयोगोपदेशो नाम द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

## त्रयोविंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

विरागवासनापास्तसमस्तभववासनः ।
उत्थाय गच्छ प्रकृतेरस्या मङ्किरिवाङ्कितः ॥ १ ॥

---

निर्विषयक चितिका ही यह जगत् एक मायिक चमत्कार है, यह कहते हैं—'चारु०' इत्यादिसे ।

असीम और अनभिव्यक्त सुन्दर चिदाकाशरूप कपूर जो अपने भीतर स्वयं चमत्कार करता है, उसीको वह जगद्रूपसे जानता है ॥ ६२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरहसे यह संसार तत्त्वज्ञानी पुरुषको सांसारिक भ्रमके दूर हो जानेसे प्रकाशमय, उपेक्षित दीपकी नाईं, निर्वाणको प्राप्त अक्षय ( परिपूर्ण ) ब्रह्मरूप ही भासता है और अज्ञानीको तो परमार्थतः आकाशके उदरमें स्थित भी यह संसार सर्वनियन्ता परमेश्वरकी समस्त नियन्त्रण व्यवस्थाओंसे तथा भोग-प्रीतियोंसे अनुगत ही भासता है । कहनेका तात्पर्य यह कि यह जगत् भिन्न-भिन्न दृष्टिरूप ही है ॥ ६३ ॥

बाईसवाँ सर्ग समाप्त

## तेईसवाँ सर्ग

[ मरुभूमिके महावनमें महाराज वसिष्ठके साथ मङ्किनामक ब्राह्मणका समागम तथा वैराग्य आ जानेसे तत्त्वजिज्ञासु हुए उसका उपदेश, यह वर्णन ]

'नीरसो भव भावेषु सर्वेषु विभवादिषु' इससे जो वैराग्यकी दृढ़ताके लिए

मङ्किर्नामाभवत्पूर्वं ब्राह्मणः संशितव्रतः ।
स कथं शृणु निर्वाणमाप्तवान्मद्विबोधितः ॥ २ ॥
अहं कदाचिदाकाशकोशादवनिमागतः ।
भवत्पितामहार्थेन केनाऽप्युपनिमन्त्रितः ॥ ३ ॥
विहरन् भूतलं गच्छंस्त्वत्पितामहपत्तनम् ।
प्राप्तोऽस्मि कामप्यादीर्घामरण्यानीं महातपाम् ॥ ४ ॥
पांसुप्रतर्दनहतां प्रकचत्तप्तसैकताम् ।
अदृष्टापारपर्यन्तां क्वचिद्ग्राम किलाङ्किताम् ॥ ५ ॥
अक्षुब्धखानिलालोकजलभूशान्तिशालिनीम् ।
ततां शून्यां महारम्भां ब्रह्मसत्तामिवाऽमलाम् ॥ ६ ॥

---

आवश्यकता बतलाई गई है उसको खूब स्थिर करनेके लिए मङ्कि ब्राह्मणका उपाख्यान आरम्भ करते हैं—'विराग०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, भलीभांति आंखोंके सामने दिखाई दे रहे इस स्वाभाविक अज्ञानादिरूप संसारसे तत्त्वबोध द्वारा निकलकर आप मङ्किके सदृश उत्तम लक्षणोंसे युक्त और वैराग्यकी वासनासे समस्त सांसारिक बासनाओंसे निर्मुक्त होकर निर्वाण पदको प्राप्त हो जाइये ॥ १ ॥

बहुत दिन पहलेकी बात है, प्राचीनकालमें एक उत्तमव्रती मङ्कि नामक ब्राह्मण हुए थे, उन्होंने हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरे उपदेश, देनेपर कैसे निर्वाण पदकी प्राप्ति की, उसे आप सुनिये ॥ २ ॥

किसी समय पहले आपके पितामह अजने किसी यज्ञादिरूप कार्यसे मुझे निमन्त्रण दिया था, इसलिए आकाशमण्डलसे इस पृथिवीपर मैं आया ॥ ३ ॥

आपके पितामहकी नगरी अयोध्यामें आ रहा मैं पृथिवीपर विचरते हुए महान् आतपोंसे युक्त किसी एक बड़े महाजंगलमें पहुँच गया ॥ ४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वह महाजंगल अविच्छिन्नरूपसे धूलि उड़नेके कारण धूसर हो रहा था, वहांपर तप्त हुई सिकताएँ खूब चमक रही थीं, उसका ओर-छोर कहीं नहीं दिखाई दे रहा था तथा वह कहीं-कहीं निकृष्ट ग्रामोंसे चिह्नित था ॥ ५ ॥

धूलि आदिके उड़नेसे अक्षुब्ध हुए आकाश, झंझावात, आतप, मृगतृष्णाके

अविद्यामिव सम्मोहमृगतृष्णां गतां भ्रमात् ।
जडतामाततां शून्यां दिङ्मोहमिहिकाकुलाम् ॥ ७ ॥

अथ तस्यामरण्यान्यां यावत्प्रविहराम्यहम् ।
तावत्पश्यामि पुरतो वदन्तं पथिकं श्रमात् ॥ ८ ॥

पान्थ उवाच

अहो नु परिखेदाय प्रौढप्रायातपो रविः ।
परितापाय पापोऽयं दुर्जनेनेव सङ्गमः ॥ ९ ॥

सुगलन्तीव मर्माणि स्फुरतीवाग्निरातपे ।
सङ्कुचत्पल्लवापीडास्ताप्यन्ते वनराजयः ॥ १० ॥

तत्तावदेवमग्रस्थं ग्रामकं प्रविशाम्यहम् ।
श्रममत्रापनीयाऽऽशु वहाम्यध्वानमाशुगः ॥ ११ ॥

---

जल और तप्त हुई पृथिवीकी शान्तिसे शोभायमान, विस्तृत, शून्य तथा दुर्गम होनेके कारण जानेवालोंके द्वारा किये गये महान् प्रयत्नोंसे युक्त निर्मल ब्रह्म-सत्ताकी नाईं वह महाजंगल था ॥ ६ ॥

मोह पैदा करनेवाली मृगतृष्णा-सी अविद्याके सदृश, भ्रमके कारण जड़ताको प्राप्त, बहुत दूरतक फैला हुआ, प्राणियोंके सञ्चारसे शून्य तथा दिग्भ्रमरूपी कुहरासे वह व्याप्त था ॥ ७ ॥

उस महाजंगलमें पहुँचनेके बाद ज्योंही मैं इधर-उधर विहार करनेमें प्रवृत्त हो रहा था, त्योंही श्रमके मारे एक पथिकको कुछ कहते देखा ॥ ८ ॥

वह पथिक कह रहा था—अहो, जैसे दुर्जनका पापी समागम एकमात्र परितापके लिए ही होता है वैसे ही प्रचण्ड आतपयुक्त यह सूर्य भी अत्यन्त खेद पहुँचानेके लिए ही उदित हुआ है ॥ ९ ॥

सभी अङ्ग एक तरहसे गलते जा रहे हैं, इस आतपमें मानो अग्नि प्रदीप्त हो रही है तथा संकुचित हो रहे पल्लवोंवाली वनराजियां सन्तप्त हो रही हैं ॥ १० ॥

इसलिए छोटे-से इस अगले गांवमें प्रविष्ट होकर कुछ देरतक रहूँ। यहींपर जल्दी थकावट मिटाकर फिर शीघ्रगामी मैं अपना रास्ता पकड़ लूँगा ॥ ११ ॥

इति सञ्चिन्त्य सोऽग्रस्थं किरातग्रामकं यदा ।
प्रवेष्टुमिच्छति तदा मया प्रोक्तमिदं वचः ॥ १२ ॥
अपरिज्ञातनीरागमार्गमित्र शुभाकृते ।
मरुमार्गमहारण्यपान्थ स्वागतमस्तु ते ॥ १३ ॥
चिरं मनुष्यदेशेऽस्मिन्निर्जनग्राममध्वनि ।
अधराध्वग विश्रान्तिं विश्रान्तोऽपि न लप्स्यसे ॥ १४ ॥
ग्रामे विश्रमणं नैव वर्तते पामरास्पदे ।
तृड्रैव लवणपानेन भूय एवाभिवर्धते ॥ १५ ॥

---

ऐसा विचारकर जब वह आगे स्थित किरातोंके एक छोटे-से गांवमें प्रवेश करनेकी इच्छा कर रहा था, तबतक मैंने उससे यह बात पूछ दी* ॥ १२ ॥

हे अकिञ्चन पुरुषोंके सञ्चारयोग्य मार्गका परिज्ञान न रखनेवाले मरुमार्गके महाजङ्गलके पथिक, हे शुभाकृते मेरे मित्र, [ यहाँ मेरे दर्शनसे सभी दुःखोंके मूलका क्षय हो जानेके कारण ] तुम्हारा स्वागत हो ॥ १३ ॥

हे निम्नमार्गके पथिक*, पूर्वके गांवोंमें अन्न-पान-आश्रय आदिके लाभ-द्वारा कुछ विश्रान्तिसुख पा जानेपर भी अतिथियोंका सत्कार करनेवाले पुरुषोंसे शून्य गांवमें रहकर इस मनुष्यदेहरूपी देशमें आगे चलकर चिरकालतक विश्रान्ति नहीं प्राप्त कर सकोगे† ॥ १४ ॥

पामरजनोंके निवासस्थान गांवमें‡ विश्रान्तिसुख नहीं मिलता, हे श्रीरामजी,

---

* अर्थात् मैंने उसका भाग्योदयकाल जानकर उसके सम्पूर्ण श्रमका मूलोच्छेद करनेके लिए आगे कही जानेवाली बातें पूछ दीं ।

* हे अधराध्वग, इस सम्बोधनसे उस समय महाराज वसिष्ठजीका आकाशमार्गसे गमन सूचित होता है ।

† यह ऊपरी अर्थ है । इसका मनोगत अर्थ यह है—हे अधरकर्मके पथिक, कर्मोपासनासे लब्ध होनेवाले इस दक्षिणायन-उत्तरायण मार्गरूपी पथमें, स्वर्ग आदि भूमियोंमें कुछ-कुछ विश्रान्तिको प्राप्त करते हुए भी जन्मसमूहरहित मोक्षकी नाईं चिरकालतक विश्रान्ति न प्राप्त कर सकोगे ।

‡ वास्तविक अर्थ यह है—कामद्वेष आदिकोंके निवासस्थान कर्तृ-करणसंघातके आलय देव-मनुष्य आदि देहमें विश्रान्तिसुख नहीं मिलता ।

एते ग्रामैकशरणाः पल्लवाः स्पन्दभीरवः ।
अयथापथसञ्चारा हरिणा इव जन्तवः ॥ १६ ॥
न स्फुरन्ति विचारेषु प्रज्वलन्त्यनुभूतिषु ।
न त्रस्यन्ति दुराचारादश्मयन्त्रमया इव ॥ १७ ॥
कामार्थरागसद्वेषपरिनिष्ठितपौरुषाः ।
कर्मण्यापातमधुरे रमन्ते दग्धबुद्धयः ॥ १८ ॥
आभिजात्याऽऽततोदारा शीतला रसशालिनी ।
नेह विश्वसिति प्रज्ञा मेघमाला मराविव ॥ १९ ॥
वरमन्धगुहाहित्वं शिलान्तःकीटता वरम् ।
वरं मरौ पङ्गुमृगो न ग्राम्यजनसङ्गमः ॥ २० ॥

यह निश्चित है कि नमकका पानी* पीनेसे तृष्णा और बढ़ती जाती है, उससे प्यास नहीं बुझती ॥ १५ ॥

ये सब पुलिन्द जातिके जन्तु लोग जङ्गली एक छोटे-से गांवमें रहते हैं, जनपदके स्पन्दसे बहुत डरते हैं तथा उटपटाङ्ग मार्गमें इधर-उधर मृगोंकी तरह घूमते-फिरते हैं* ॥ १६ ॥

पत्थरकी बनी मूर्तियोंकी नाईं वे विचारोंमें स्फुरित नहीं होते यानी मूढ़ होते हैं, अनुभूतियोंमें खूब जलते हैं तथा दुराचारसे वे कभी नहीं डरते† ॥१७॥

काम और अर्थमें ही इनका सम्पूर्ण पौरुष परिनिष्ठित रहता है तथा मुग्ध-बुद्धि वे आपात रमणीय कर्मोंमें ही रमण किया करते हैं ॥ १८ ॥

दोनों कुलकी विशुद्धतासे विस्तृत, शीतल, उदार, ब्रह्मानन्दैकरसशालिनी प्रज्ञा इन लोगोंमें ऐसे विश्वास नहीं करती, जैसे मरुस्थलमें मेघमाला ॥ १९ ॥

अन्धकारावृत गुहामें अजगर होना अच्छा है, पत्थरके भीतर कीट होना

---

* नमकीन विषयोंके सेवनसे विषयाभिलाषा और बढ़ती जाती है। सुनिये ययातिने क्या कहा है—

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥'

* वास्तविक अर्थ यह है—ये काम आदि पल्लवकी नाईं स्नेह-रागसे युक्त हैं, विवेक-स्पन्दसे सदा डरते हैं तथा अशास्त्रीय मार्गमें खूब घूमते हैं।

† विवेकज्ञान होनेपर वे काम आदि स्फुरित नहीं होते, तत्त्वज्ञानका अनुभव हो जानेपर ये जलने लगते हैं तथा दुराचारसे कभी तनिक भी भय नहीं करते।

निमेषास्वादमधुराः क्षणान्तरविरागिणः ।
मारणैकान्तनिरता ग्राम्या विषकणा इव ॥ २१ ॥
वान्ति भस्मकणाकीर्णा जीर्णसंशीर्णसद्मसु ।
तृणपर्णवनव्यग्रा ग्राम्याधार्मिकवायवः ॥ २२ ॥
एवमुक्तेन तेनाहमिदमुक्तस्ततोऽनघ ।
मद्वाक्येन समाश्वास्य स्नातेनेवामृताम्भसा ॥ २३ ॥

पान्थ उवाच

भगवन् कोऽसि पूर्णात्मा महात्मा कथमात्मवान् ।
पश्यस्यनाकुलो लोकं ग्रामयात्रामिवाऽध्वगः ॥ २४ ॥
किं त्वया पीतममृतं किं त्वं सम्राड्विराडथ ।
सर्वार्थरिक्तोऽपि चिरं सम्पूर्ण इव राजसे ॥ २५ ॥

---

अच्छा है तथा मरुस्थलमें पङ्गु मृग होना अच्छा है, परन्तु ग्रामीण जनका* साथ अच्छा नहीं है ॥ २० ॥

निमेषमात्रके लिए आस्वादमें मधुर, क्षणभरमें ही बिगाड़ कर देनेवाले तथा प्राण लेनेमें सदा तैयार रहनेवाले ये ग्रामीणजन, मधुमिश्रित विषकणके समान हैं ॥ २१ ॥

धूलिधूसर, तृण, पर्ण तथा वनमें व्यग्र गांवमें होनेवाले ये अधार्मिक जनरूपी चण्डपवन जीर्ण-शीर्ण घरोंमें सञ्चार करते हैं ॥ २२ ॥

हे अनघ श्रीरामजी, इस तरह मेरे कहनेके बाद 'मेरा आशय जानकर ये मेरा अवश्य उद्धार करेंगे' इसलिए मेरे वाक्यसे भलीभांति आश्वासन पाकर अमृतरूपी जलसे स्नान किये हुएके सदृश उस मङ्किने मुझसे यह कहा ॥ २३ ॥

उस पथिकने कहा—भगवन्, आप कौन हैं ? आप पूर्णात्मा आत्मज्ञानी कोई महात्मा प्रतीत हो रहे हैं, क्योंकि आप अनाकुल होकर इस लोकको ऐसे देख रहे हैं, जैसे कोई पथिक ग्रामयात्राको देखता हो ॥ २४ ॥

पूर्णात्माको ही हेतुओंके वितर्क द्वारा प्रकट करते हैं—'किं त्वया' इत्यादिसे ।

भगवन्, क्या आपने अमृतका पान किया है या आप सम्पूर्ण लोकोंके

---

* अज्ञानी जनका—यह तात्पर्यार्थ है ।

शून्योऽसि परिपूर्णोऽसि घूर्णोऽसीव स्थिरोऽसि च ।
न सर्वमपि सर्वं च न किञ्चित् किञ्चिदेव च ॥ २६ ॥

उपशान्तं च कान्तं च दीप्तमप्रतिघाति च ।
निवृत्तं चोर्जितं तादृग्रूपं किमिति ते मुने ॥ २७ ॥

भूसंस्थोऽपि समस्तानां लोकानामुपरीव खे ।
संस्थितोऽसि निरास्थोऽसि घनास्थोऽसीव लक्ष्यसे ॥ २८ ॥

प्रसृतं न पदार्थेषु न पदार्थात्मनाऽस्ति वै ।
तवेन्दोरिव शुद्धस्य मनोऽमृतमयं स्थितम् ॥ २९ ॥

---

ईश्वर हैं अथवा विराट् पुरुष हैं ? आप सब अर्थोंसे रिक्त होते हुए भी परिपूर्ण चन्द्रमाकी नाईं शोभते हैं ॥ २५ ॥

सांसारिक दोषदुःखोंसे शून्य हैं, निरतिशयानन्द होनेसे आप जीवन्मुक्तोंके गुणोंसे परिपूर्ण हैं, देह आदिका कुछ भी अनुसन्धान न रहनेसे आप मदघूर्णित-से—मदोन्मत्तके समान हैं, आप स्थिर-से हैं, समष्टिमें अपवाद तथा अध्यारोप दृष्टिसे आप सब कुछ होते हुए भी नहीं हैं एवं व्यष्टिमें अपवाद और अध्यारोप दृष्टिसे आप सब कुछ नहीं होते हुए भी सब कुछ हैं ही ॥ २६ ॥

इस प्रकारका मैं हूँ, यह तुमने कैसे जाना, यदि यह कहिये, तो इसका उत्तर यह है कि 'आपके रूपके अवलोकनसे ही', यह सूचित करते हुए कहते हैं—'उपशान्तम्' इत्यादि ।

हे मुने, शान्त, रमणीय, प्रदीप्त, प्रतिघातरहित, सर्वथा निवृत्त तथा समस्त सामर्थ्ययुक्त जो रूप* रहता है वैसा यह आपका रूप क्यों भासता है ? ॥२७॥

आप पृथिवीपर स्थित हुए भी समस्त लोकोंके ऊपर आकाशमें स्थित-से हैं । आस्थाशून्य रहते हुए भी आप मेरे समान लोगोंका उद्धार करनेमें सघन आस्थासे युक्त-से मुझे प्रतीत हो रहे हैं ॥ २८ ॥

चन्द्रमाकी नाईं विशुद्ध आपका अमृतमय मन चन्द्रमाकी किरणोंकी तरह पदार्थोंमें प्रसृत नहीं है और न औषधि, वनस्पति, सोम, आज्य, पय, अन्न आदि पदार्थोंके रूपसे उपभोगके योग्य है; जिससे नष्ट हो जायगा । अतः

---

* इसमें यह श्रुति प्रमाण है—'रूपमेवास्यैतन्महिमानं व्याचष्टे' ।

कलावानकलङ्कोऽन्तःशीतलो भास्वरः समः ।
रसायनभरापूर्णः पूर्णेन्दुरिव राजसे ॥ ३० ॥
त्वदिच्छायां तु सदसद्भावं पश्यामि ते चिति ।
संसारमण्डलमिदं स्थितं फलमिवाङ्कुरे ॥ ३१ ॥
अहं तावदयं विप्र शाण्डिल्यकुलसम्भवः ।
मङ्किर्नाम महाभाग तीर्थयात्राप्रसङ्गतः ॥ ३२ ॥

---

आपका मन सदा ही परिपूर्ण स्थित है। तात्पर्य यह कि चन्द्रमासे भी बढ़कर आपका मन है ॥ २९ ॥

और दूसरा भी चन्द्रमाके साथ साम्य तथा विशेष बतलाते हैं—'कलावान्' इत्यादिसे ।

मुने, आप कलावान्, कलङ्कशून्य, भीतरसे शीतल, प्रकाशमय, समरूप तथा रसायनप्रवाहपूर्ण, पूर्ण चन्द्रमाके सदृश भासते हैं* ॥ ३० ॥

इसी तरह हिरण्यगर्भके साथ आपका सादृश्य तथा उससे बढ़कर आपमें विशेष गुण है, यह कहते हैं—'त्वदिच्छायाम्' इत्यादिसे ।

अङ्कुरमें काण्ड आदि फलपर्यन्त स्थित वृक्षके रूपकी नाईं हे भगवान्, सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिता आदि गुणोंसे सम्पन्न आपकी आत्मामें ही यह संसारमण्डल सृष्टियोग्यरूपसे स्थित मैं देखता हूँ। परन्तु इस संसारमण्डलकी सृष्टिके लिए सत् और असद्भावको मैं आपकी इच्छामें ही स्थित जानता हूँ। यदि आप चाहें तो आप भी संसारकी सृष्टि अवश्य कर सकते हैं, परन्तु आप चाहते नहीं, बस यही तो आपमें हिरण्यगर्भसे बढ़कर एक विशेष गुण है ॥ ३१ ॥

इसतरह प्रशंसा द्वारा अभिमुख किये गये महाराज वसिष्ठजीको अपनी वैराग्य आदिसाधनसम्पत्तिसे उपदेशयोग्यता दर्शानेके लिए अपने गोत्र, नाम आदिका बखान करता है—'अहम्' इत्यादिसे ।

हे महाभाग, मैं शाण्डिल्यगोत्रमें उत्पन्न मङ्कि नामधारी ब्राह्मण हूँ। तीर्थयात्रा करनेकी इच्छासे बहुत दूरतक जाकर मैंने अनेक तीर्थोंके दर्शन किये । अनन्तर

---

* पूर्णचन्द्रमामें भी कलङ्क रहता है, परन्तु आप कलङ्कशून्य हैं, यह एक आपमें अधिक गुण है ।

गत्वा सुदूरमध्वानं दृष्ट्वा तीर्थानि संप्रति ।
चिरकालेन सदनमात्मीयं गन्तुमुद्यतः ॥ ३३ ॥
न च मे गन्तुमुद्योगो विरक्तमनसो गृहम् ।
दृष्ट्वा तडित्सकाशानि भूतानि भुवनोदरे ॥ ३४ ॥
भगवन्सत्यमात्मानं कथयेहानुकम्पया ।
गम्भीराणि प्रसन्नानि साधुचेतःसरांसि हि ॥ ३५ ॥
दर्शनादेव मित्रत्वं कुर्वतां महतां पुरः ।
कमलानीव भूतानि विकसन्त्याश्वसन्ति च ॥ ३६ ॥
ममेदं च मनो मोहात्संसारभ्रमसंभवम् ।
मन्ये हातुं न समर्थं स त्वं बोधानुकम्पितैः ॥ ३७ ॥

वसिष्ठ उवाच

वसिष्ठोऽस्मि महाबुद्धे मुनिरस्मि नभोगृहः ।
केनाप्यर्थेन राजर्षेरिमं मार्गमुपस्थितः ॥ ३८ ॥

अब मैं बहुत देरसे अपने घरको जानेके लिए उद्यत हूँ ॥ ३२, ३३ ॥

हे मुने, इस ब्रह्माण्डके उदरमें बिजलीकी चमकके समान क्षणभङ्गुर भूतोंको देखकर विरक्तमन मुझे घर जानेकी इच्छा नहीं होती ॥ ३४ ॥

भगवन्, इस दीनके ऊपर दया करके अपना नाम, गोत्र आदि कथनपूर्वक ठीक-ठीक इसे परिचय दीजिये, * क्योंकि महात्माओंके चित्तरूपी सरोवर गम्भीर और निर्मल रहते हैं ॥ ३५ ॥

अपने दर्शनसे ही मित्र बना लेनेवाले [ आपके सदृश ] महात्माओंके सामने सभी प्राणी, कमलोंकी नाईं, विकसित और आश्वसित हो जाते हैं ॥३६॥

कुछ विवेकसम्पन्न हुआ भी मेरा यह मन अज्ञानजनित प्रबल सन्देह बना रहनेसे बिना गुरूपदेशके सिर्फ एकमात्र अपने विचारकौशलसे संसारके भ्रमसे उत्पन्न दुःखको समूल नष्ट करनेमें समर्थ नहीं है, यह मैंने बार-बार मनन करके निश्चय कर लिया, इसलिए पूर्ववर्णित मेरा उद्धार करनेमें सामर्थ्य रखनेवाले आप रहस्यज्ञानके अनुकूल उपदेशकी अनुकम्पाओंसे मोहजनित मेरे संशयोंका उच्छेदकर दुःखनाश करनेके योग्य इस मेरे मनको बना दीजिये ॥ ३७ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे महाबुद्ध, ब्रह्मलोकवासी मैं वसिष्ठमुनि

* कृपया सत्य आत्माका मुझे उपदेश दीजिये, यह वास्तविक अर्थ है ।

मागा विषादं पन्थानमागतोऽसि मनीषिणाम् ।
प्रायः प्राप्तोऽसि संसारसागरस्य परं तटम् ॥ ३९ ॥
वैराग्यविभवोदारा मतिरुक्तिरपीदृशी ।
आकृतिः शान्तरूपा च न भवत्यमहात्मनः ॥ ४० ॥
मणिर्मधुरकाषेण यथैति विमलात्मताम् ।
तथा कषायपाकेन चित्तमेति विवेकिताम् ॥ ४१ ॥
किं ज्ञातुमिच्छसि कथं संसारं हातुमिच्छसि ।
उपदिष्टमहं मन्ये सम्पादयति कर्मभिः ॥ ४२ ॥
विमलवासन उत्तममानसः
परिविविक्तमतिर्जनतेजसा ।

---

हूँ। राजर्षि अजके याजनादिरूप किसी कामसे आ रहा मैं इस मार्गमें उपस्थित हूँ ॥ ३८ ॥

हे पथिक, विषाद मत करो, तुम मनीषियोंके रास्तेपर अब आ गये हो, लगभग तुम इस संसारसागरके दूसरे किनारे लग चुके हो ॥ ३९ ॥

मैं मनीषियोंके रास्तेपर आ गया हूँ, इसमें कौन-सा मेरा परिचायक चिह्न है ? इसपर कहते हैं—'वैराग्य' इत्यादिसे ।

ज्ञानाधिकारप्राप्तिके भाग्यसे हीन मनुष्यकी वैराग्यविभवसे उदार ऐसी मति, उक्ति तथा शान्तस्वरूप आकृति नहीं हो सकती ॥ ४० ॥

जैसे धीरे-धीरे शाणपर घिसनेसे मणि निर्मलरूपताको प्राप्त होती है वैसे ही कषायोंके परिपाकसे चित्त विवेकताको प्राप्त होते हैं ॥ ४१ ॥

हे विप्र, तुम क्या जानना चाहते हो और कैसे संसारको छोड़ना चाहते हो, क्योंकि शिष्य गुरुसे उपदिष्ट अर्थको बार-बार परिशीलन करके ज्ञातांशको फिर प्रश्नावधारण आदि कर्मोंसे चूँकि सफल बनाता है, वह मैं समझता हूँ, अतः तुम्हें जो अपना अज्ञात और जिज्ञासितांश हो, वह कहो ॥ ४२ ॥

चूँकि शिष्य रागादिमलशून्य वासनासे युक्त रहता है, इसीलिए वह उत्तम वैराग्य आदि तीन साधनोंसे सम्पन्न मानस तथा नित्यानित्य एवं सारासारके विवेकमें निपुण मतियुक्त होता है। वही गुरुजनोंके उपदेशरूपी तेजसे शोकशून्य आत्मतत्त्व पद प्राप्त करनेके योग्य है, दूसरा नहीं। इसलिए जन्मादि सम्पूर्ण

पदमशोकमलं खलु युज्यते
जनितितीर्षुमतेरिदमुच्यते ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मङ्क्युपाख्याने मङ्किनिर्वाणं नाम त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

## चतुर्विंशतिः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

ममेत्युक्तवतो मङ्किर्विनिपत्य स पादयोः ।
उवाचानन्दपूर्णाक्षमिदं मार्गे वहन्वचः ॥ १ ॥

मङ्किरुवाच

भगवन् भूरिशो भ्रान्ता दिशो दशदशो यथा ।
मया न तु पुनः साधुर्लब्धः संशयनाशकृत् ॥ २ ॥

---

दुःखोंसे तैर जानेकी इच्छायुक्त बुद्धिवाले तुमसे सम्भाषण आदि करके मैंने अच्छी तरह समझ लिया है कि तुम मेरे उपदेशके अधिकारी अवश्य हो, इसीलिए मैं तुमसे कहता हूँ। अतः तुम अपना पूर्वोत्तर वृत्तान्त मुझसे बतलाओ ॥ ४३ ॥

तेईसवाँ सर्ग समाप्त

## चौबीसवाँ सर्ग

[ देह, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि आदिके दोषोंके सहित सांसारिक अपने दुःखसमूहका मङ्कि द्वारा वर्णन ]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, यों मेरे कहनेपर उस ब्राह्मण मङ्किने मेरे चरणोंपर लोटकर आनन्दजलपरिपूर्ण आँखोंसे युक्त हो मुझे मार्गमें ले चलते हुए यह कहना आरम्भ किया ॥ १ ॥

मङ्किने कहा—हे भगवन्, संशयके उच्छेदके लिए उपदेश देनेमें कुशल साधु पुरुषके अन्वेषणमें तत्पर हो मैंने दसों दिशाओंमें, हस्तियोंकी नाईं, खूब भ्रमण किया, परन्तु संशयका विनाशक कोई सज्जन पुरुष मुझे न मिला ॥ २ ॥

समस्तदेहसाराणां सारस्याद्य फलं मया ।
खिन्नोऽस्मि भगवन् पश्यन् दशाः संसारदोषदाः ॥ ३ ॥
पुनर्जातं पुनर्नष्टमेवं दुःखभ्रमः सदा ॥ ४ ॥
अवश्यं भाविपर्यंतदुःखत्वात्सकलान्यपि ।
सुखान्येवातिदुःखानि वरं दुःखान्यतो मुने ॥ ५ ॥
दृढदुःखवदन्तत्वाद् दुःखयन्ति सुखानि माम् ।
तथा राम यथा दुःखमेव मे सुखतां गतम् ।
वयोदशनलोमान्त्रैः सह जर्जरतां गतम् ॥ ६ ॥

आज आपको पा जानेसे सुर, असुर, पशु, पक्षी आदि समस्त देहोंके सार-भूत ब्राह्मणदेहोंमें श्रेष्ठ अपने इस ब्राह्मणशरीरका फल ज्ञानाधिकारसम्पत्तिसे मैंने पा लिया । हे भगवन्, दोषप्रद सांसारिक दशाओंको देखते-देखते खिन्न हो गया हूँ ॥ ३ ॥

हेतुओंके साथ खेदका ही विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—'पुनर्जातम्' इत्यादिसे ।

बार-बार जन्म और बार-बार मरणरूप संसार सदा यों दुःखके भ्रमसे युक्त है ॥ ४ ॥

सदा दुःखभ्रमयुक्त ही यह संसार है, यह कैसे ? क्योंकि सुख भी तो संसारमें अनुभूत होते हैं, इस आशङ्कापर कहते हैं—'अवश्यम्' इत्यादिसे ।

संसारके सभी सुख भी आखिरमें अवश्य दुःखदायी होनेसे अत्यन्त दुःसह दुःखरूप ही हैं । इसलिए हे मुने, मैं सांसारिक सुखोंकी अपेक्षा दुःखोंको ही अच्छा समझता हूँ । जलचरोंसे जलकी शीतलता जैसे निरन्तर अभ्यासके कारण सह ली जाती है वैसे ही अविच्छिन्न दुःखपरम्परा भी सुखाभावके अधिक अभ्यासके कारण दुःखपूर्वक मनुष्योंसे सह ली जाती है, यह भाव है ॥ ५ ॥

अथवा अत्यन्त प्रबल दुःखका अनुबन्धी होनेके कारण कोदो खाकर जीवन धारण करनेमें मनुष्यको जो दुःख है उसकी अपेक्षा विष मिले हुए मिष्टान्न भोजनके आस्वादजनित सुखोंमें कम दुःख नहीं है । इसका विचार कर उपभोगजनित सुखोंमें बुद्धिमान्को अधिक द्वेषबुद्धि रखना ही उचित है, यह कहते हैं—'दृढदुःख०' इत्यादिसे ।

उच्चैःपदे पातपरा बुद्धिर्नाध्यवसायिनी।
सुप्रवालं कुसङ्कल्पाद्गहनं न प्रकाशते ॥ ७ ॥
मनःपिप्पलपर्ण्यूलैरिव कुग्रामकोटरम्।
वासनाङ्गवहैर्गृध्रैर्नित्यं पापीयसी स्थितिः ॥ ८ ॥
कण्टकद्रुमवल्लीव करालकुटिला मतिः।
आयुरायासशालिन्या यामिन्येव तमोन्धया ॥ ९ ॥
अक्षीवानागतालोकं क्षीणं सन्ततचिन्तया।
न किञ्चिद्रसमादत्ते नष्टैवापि न नश्यति।
न पुष्पिता न फलिता तृष्णा शुष्कलतेव नः ॥ १० ॥

हे सौम्य, आखिरमें दृढ़ दुःखदायी होनेसे ये सुख ही मुझे ऐसे दुःखदायी हो रहे हैं, जैसे कि मानो मेरे लिए दुःख ही सुख हो गया हो। दांत, केश और नाड़ियोंके साथ अब मेरी अवस्था भी जीर्ण हो गई ॥ ६ ॥

उत्तरोत्तर भोगोंके उत्कर्षस्थानमें अभिलाषाएँ बांधकर बैठी हुई मेरी बुद्धि परम पुरुषार्थके साधनमें किसी तरहका अब उद्योग नहीं कर रही है तथा मेरा मन भी उत्तरोत्तर बढ़ रहे रागरूपी पल्लवोंसे पल्लवित तथा अतीतकालके करोड़ों बीत चुके भोगोंके लिए शोक, मोह आदि कुत्सित सङ्कल्पोंके उपस्थित रहनेसे विवेकज्ञानशून्य हो गया है, यही कारण है कि वह अपने-अपने दोषादिके साक्षीके विवेक द्वारा प्रकाशित नहीं होता ॥ ७ ॥

इसमें दृष्टान्त बतलाते हैं—'मनः' इत्यादिसे।

हे मुने, मेरा यह मन पीपल आदिके उड़ रहे सूखे पत्तों आदिके सञ्चयसे गन्दे गाँवोंके मध्य भागकी नाईं हो गया है तथा मेरी जीविका भी नानाविध भोगवासनारूपी दुर्गन्धोंको अपने अङ्गमें धारण करनेवाली गृध्रतुल्य इन इन्द्रियों द्वारा निकृष्ट गन्दे गाँवकी स्थिति-सी हो गई है ॥ ८ ॥

करञ्ज आदि काँटेदार वृक्षलताके समान मेरी बुद्धि महाभयानक तथा कुटिल है। एवं आयासयुक्त अज्ञानान्धकारसे आच्छादित निरन्तर विषयोंकी चिन्तासे ब्रह्मसाक्षात्काररूपी प्रकाशके बिना ही मैंने अपनी सारी आयु व्यर्थमें ऐसे गवां दी, जैसे दीपक आदिके प्रकाशको प्राप्त किये बिना अन्धकारसे आवृत रातको आँखें व्यर्थमें गवां देतीं हैं। हे मुने, शुष्कलताके

कर्म कर्मणि निर्मग्नं वासनाख्यमकर्मणे ॥ ११ ॥
जीवितं च जने जीर्णं नैवोत्तीर्णो भवार्णवः ।
दिनानुदिनमुच्छूना भोगाशा भयदायिनी ॥ १२ ॥
पूर्णापूर्णात्मनि क्षीणाः श्वभ्रकण्टकवृक्षवत् ।
चिन्ताज्वरविकारिण्यो लक्ष्म्याः खलु महापदः ॥ १३ ॥
सम्पन्नमक्षतं सापि विप्रलम्भेन जृम्भते ।
अन्तःस्फुरितरत्नेहं भास्वरं वान्धकोटरम् ॥ १४ ॥

---

सदश यह तृष्णा न फूलती है, न फलती है, और न विवेकरूपी रसको ही कुछ ग्रहण करती है, बार-बार व्यर्थ होनेसे यह नष्ट होकर भी नष्ट नहीं होती ॥ ९, १० ॥

तुम्हारा कर्मोंसे ही उद्धार क्यों नहीं हो सकता, इस आशङ्कापर कहते हैं—'कर्म' इत्यादिसे ।

जो कुछ मैंने नित्य-नैमित्तिक कर्म किया है वह पूर्वजन्मके दुष्कर्मकी राशिमें निमग्न हो गया तथा भोगवासनारूपी बीज तो उत्तरोत्तर अनर्थके हेतुभूत काम्यनिषिद्ध कर्ममें ही मुझे प्रवृत्त करता है ॥ ११ ॥

पुत्र, कलत्र, बान्धव, भृत्य आदिमें आसक्ति रखनेसे यह जीवन भी जीर्ण हो चला, परन्तु हे भगवन्, मैं संसारसागरके पार न पहुँचा तथा भयदायिनी मेरी भोगोंकी आशा दिनों-दिन बढ़ती ही जाती है ॥ १२ ॥

गड्ढेमें उत्पन्न हुए कण्टक वृक्षकी नाईं, पुत्र, मित्र, पशु, धन आदिसे कभी पूर्ण और कभी अपूर्ण स्वरूप घरमें चिन्तारूपी ज्वरसे विकार पैदा करनेवाली लक्ष्मीसे समुत्पन्न महाविपत्तियां मैंने निःसन्देह गवाँ दीं ॥ १३ ॥

प्रचुर धन आदिसे सम्पन्न तथा शस्त्र आदिकोंके द्वारा घायल न हुए पुरुषको भी यह लक्ष्मी बार-बार लुभाकर बहुत दूरतक खींच ले जाकरके शत्रुओं तथा चोरों आदिके अधीनमें पहुँचाती हुई सारी सम्पत्तियोंके नाश एवं अस्त्र-शस्त्रोंके आघातादिके द्वारा आखिरमें दुःखप्रद बनकर धोखा देनेमें ऐसे समर्थ रहती है, जैसे सर्पके मस्तकमणिसे प्रकाशमय हो रहा अन्धकारयुक्त गड्ढा, हृदयके भीतर रत्न लेनेकी स्फुरित हुई अभिलाषावाले तथा अपने अन्दरस्थित सर्पको न देखनेवाले पुरुषको अपने भीतर घुसाकर साँपके डसने आदिरूप धोखा देनेमें समर्थ रहता है ॥ १४ ॥

कल्लोलकलिलं शून्यं चेतः शुष्काब्धिदुर्भगम् ।
मामिन्द्रियार्थैकपरं न स्पृशन्ति विवेकिनः ॥ १५ ॥
सकण्टकममेध्यस्थं श्लेष्मातकमिव द्रुमम् ।
असदेव महारम्भं चलदर्जुनवातवत् ।
मनो मरणमप्राप्तं शून्यं दुःखाय वल्गति ॥ १६ ॥
शास्त्रसज्जनसम्पर्कचन्द्रतारकधारिणी ।
अहम्भावोल्लसद्यक्षा क्षीणा नाज्ञानयामिनी ॥ १७ ॥
अज्ञानध्वान्तमत्तेभसिंहः कर्मतृणानलः ।
उदितो न विचारोऽर्को वासनारजनीक्षयः ॥ १८ ॥

---

यह मेरा चित्त हजारों आशारूपी तरङ्गोंसे अस्वच्छ, चारों ओर इधर-उधर खूब दौड़-धूप लगानेपर भी अर्थप्राप्तिसे शून्य है, इसीसे सूखे समुद्रके सदृश दुष्पूर होनेसे भाग्यहीन तथा एकमात्र इन्द्रियोंके वशीभूत हुए मुझे विवेकी लोग अपने समीप नहीं फटकने देते—मेरी उपेक्षा करते हैं ॥ १५ ॥

इसमें दृष्टान्त देते हैं—'सकण्टकम्' इत्यादिसे ।

कण्टकयुक्त, अपवित्र स्थानमें रहनेवाला भीलावाके वृक्षके समान असत् होनेपर भी बड़े-बड़े कर्मोंका आरम्भ करनेवाला, अर्जुनवातके समान सदा ही भ्रमणकारी मेरा यह मन मेरे अनेक बार मर जानेपर भी मरणको प्राप्त नहीं हुआ यानी अभिलषितार्थ शून्य हो एकमात्र दुःखके लिए ही दौड़ता-फिरता है ॥१६॥

शास्त्रों तथा सज्जनोंकी सङ्गति आदि उपायोंसे मनको रोक रखो, यदि ऐसा कहें, तो इसपर मेरा यह कहना है कि ज्ञानफल विवेकरूपी सूर्यके उदयसे अज्ञानरूपी रात जबतक बीत नहीं जाती, तबतक शास्त्र तथा सज्जनोंके सम्पर्क-रूपी चन्द्रमा एवं तारें आत्यन्तिक मनका भ्रम दूर करनेमें समर्थ नहीं हो सकते, इस आशयसे कहते हैं—'शास्त्र०' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

हे मुनिवर, शास्त्र एवं सज्जन महानुभावोंकी सङ्गतिरूप चन्द्रमा और तारोंको धारण करनेवाली, अहङ्काररूपी उल्लसित हो रहे बालकल्पित यक्षसे युक्त यह मेरी अज्ञानरूपी रात अभीतक क्षीण नहीं हुई है, क्योंकि अज्ञानान्धकाररूपी मतवाले हाथीके लिए सिंह तथा कर्मरूपी तृणके लिए अग्नि एवं वासनारूपी रातका विनाशक विवेकरूपी सूर्यका अर्थात् वासनारूपी रातके लिए सूर्यरूप विवेकका अभी उदय नहीं हो पाया है ॥ १७, १८ ॥

अवस्तु वस्तुवद्बुद्धं मत्तश्चित्तमतङ्गजः ।
इन्द्रियाणि निकृन्तन्ति न जाने किं भविष्यति ॥ १९ ॥
शास्त्रदृष्टिरपि प्राज्ञैर्नाश्रिता तरणाय या ।
साप्यदृष्टिरिवान्ध्याय वासनावेशकारिणी ॥ २० ॥
तदेवमतिसंमोहे यत्कार्यमिह दारुणे ।
उदर्कश्रेयसे तात तन्मे कथय पृच्छते ॥ २१ ॥
शाम्यन्ति मोहमिहिकाः शरदीव साधौ
प्राप्ते भवन्ति विमलाश्च तथाऽखिलाशाः ।
सत्येतिवाग्भवतु साधुजनोपगीता
मद्बोधनेन भवता भवशान्तिदेन ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मङ्क्युपाख्याने मङ्किवैराग्यं नाम चतुर्विंशतितमः सर्गः ॥२४॥

---

हे भगवन्, यही कारण है कि चित्तरूपी मतवाले हाथीने अवस्तुको ही वस्तुवत् मान लिया है । हे मुने, ये इन्द्रियां मुझे काट खा रही हैं, न जाने मेरी क्या दशा होगी ? ॥ १९ ॥

सेवादिके द्वारा वशमें लाये गये प्राज्ञों या अन्यान्य उपायोंसे मैंने भवसागर तैर जानेके लिए जिस शास्त्रदृष्टिका आश्रयण नहीं किया, वह शास्त्रदृष्टि भी वासनामें आसक्त करानेवाली होकर दृष्टिविघातकी नाईं मुझे अन्धा बनानेके लिए ही है ॥ २० ॥

इसलिए इस तरह चारों ओरसे अनर्थोंके कारण भयङ्कर भारी मोहमें फँसे मेरे लिए संसारसागरसे उद्धार पानेमें कल्याणकारक जो कर्त्तव्य हो, सो कृपाकर कहिये, मैं आपसे विनयपूर्वक पूछ रहा हूँ ॥ २१ ॥

हे भगवन्, शरत्कालके सदृश निर्मलस्वच्छज्ञानविवेकादि ज्योतिर्गणमण्डित साधु गुरुके प्राप्त होनेपर आकाशतुल्य शिष्यके मोहरूपी कुहरे शान्त हो जाते हैं तथा सारी दिशाएँ-जैसी आशाएँ ( मनोरथ ) धूलि आदि मलों-जैसे रागादि-मलोंसे रहित हो जाती हैं, यह लोकमें प्रसिद्ध साधुजनोंके द्वारा कही गई वाणी संसारके शान्तिदायक आपके उपदेशसे मेरे लिए सत्य हो ॥ २२ ॥

चौबीसवां सर्ग समाप्त

## पञ्चविंशतिः सर्गः

### वसिष्ठ उवाच

संवेदनं भावनं च वासना कलनेति च ।
अनर्थायेह शब्दार्थो विगतार्थो विजृम्भते ॥ १ ॥
वेदनं भावनं विद्धि सर्वदोषसमाश्रयम् ।
तस्मिन्नेवापदः सन्ति लता मधुरसे यथा ॥ २ ॥

---

## पचीसवाँ सर्ग

[ अविद्यासे उत्पन्न संवेदन आदि चार संसारके बीज हैं और परमात्माका तत्त्वज्ञान ही संसार और उन बीजोंका विनाशक है, यह वर्णन ]

इस तरह मङ्कि मुनिने अपने संसाररूपी अनर्थका वर्णनकर जब उसके निरासका उपाय पूछा तब 'उसके बीजोंको जाने बिना संसारनिरासके उपाय प्राप्त नहीं किये जा सकते' इस अभिप्रायसे संसारके चार बीजोंका महाराज वसिष्ठजी उपदेश देते हैं—'संवेदनम्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे मुने, संवेदन, भावन, वासना और कलना ये चार ही इस संसारमें अनर्थ पैदा करनेवाले हैं । ये जितने शब्दोंके अर्थ हैं, वे मिथ्याभूत अर्थोंका ही अवलम्बन करते हैं और स्वयं भी मिथ्या हैं, इसलिए वे सब एकमात्र अविद्यामें ही स्फुरित होते हैं । पहले पहल इन्द्रियोंसे जो विषयोंका उपभोग होता है, यह उपभोग ही संवेदन कहलाता है, विषयोंके नष्ट हो जानेपर उनका जो बार-बार चिन्तन होता है, वह चिन्तन 'भावन' कहलाता है, बार-बार चिन्तन करनेपर चित्तमें एक तरहका जो दृढ़ विषय-लाञ्छन उत्पन्न हो जाता है, वही विषयलाञ्च्छन वासना कहलाती है और उस वासनासे मरणकालमें भावी शरीरके लिए जो स्मरण होता है, उसको कलना कहते हैं ॥ १ ॥

जो ये चार संसारके बीज हैं, उनमें आदिके दो तो अत्यन्त अनर्थरूप हैं और अन्तिमके दो उनके पीछे-पीछे चलनेके कारण अनर्थरूप हैं, यह कहते हैं—'वेदनम्' इत्यादिसे ।

संसारमार्गे गहने वासनावेशवाहिनः ।
उपयाति विचित्रौघैर्वृत्तवृत्तान्तसन्ततिः ॥ ३ ॥
विवेकिनो वासनया सह संसारसम्भ्रमः ।
क्षीयते माधवस्यान्ते शनैरिव धरारसः ॥ ४ ॥
अस्याः संसारसल्लक्या वासनोत्सेधकारिणी ।
कदल्या वनजालिन्या रसलेखेव माधवी ॥ ५ ॥
संसारान्ध्यतयोदेति वासनात्मा रसश्चितौ ।
यथा वनतया तस्थौ मधुमासरसः क्षितौ ॥ ६ ॥

---

मुनिवर, वेदन और भावन—ये दो तो समस्त दोषोंके आश्रय हैं यानी अत्यन्त ही अनर्थरूप हैं, तत्रापि भावनमें तो उस प्रकार सब आपत्तियाँ विद्यमान रहती हैं, जिस प्रकार पुष्प, पल्लव आदिसे समृद्ध लताएँ मधुमासके लतारसमें विद्यमान रहती हैं ॥ २ ॥

यह अतिगहन जो संसारमार्ग है, उसपर वासनाके आवेशसे चल रहे जीवके प्रति ही चित्र-विचित्र अर्थोंके समूहसे परिपूर्ण टेढ़े-मेढ़े अनेक वृत्तान्त आते-जाते रहते हैं ॥ ३ ॥

इसीलिए विवेकी पुरुषका—विषयोंमें दोषभावना और ब्रह्मभावनासे इन बीजोंका विनाश हो जानेपर वासनाके साथ—समस्त संसार नष्ट हो जाता है, यह कहते हैं—'विवेकिनः' इत्यादिसे ।

विवेकी पुरुषका संसारसम्भ्रम तो, वसन्तके अन्तमें पृथिवीके रसके सदृश, धीरे-से वासनाके साथ नष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

वासना ही आगेका संसार भी बनाती है, यह कहते हैं—'अस्याः' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार वसन्त ऋतुकी रसलेखा वनमें फैलनेवाली कदलीका विस्तार करती है, उसी प्रकार इस संसाररूपी कण्टकपूर्ण गुल्मका वासना ही विस्तार करती है ॥ ५ ॥

जैसे पृथ्वीमें मधुमासका रस वन बनकर स्थित रहता है, वैसे ही चितिमें ( अज्ञानाश्रय जीव-चैतन्यमें ) वासनारूपी रस संसाररूप अन्धकार बनकर उदित होता है ॥ ६ ॥

चिन्मात्रादमलाच्छून्यादृते किञ्चिन्न विद्यते ।
नाऽन्यत्किञ्चिदपर्यन्ते खे शून्यत्वेतरद्यथा ॥ ७ ॥
वेदनात्मा न सोऽस्त्यन्य इति या प्रतिभा स्थिरा ।
एषाऽविद्या भ्रमस्त्वेष स च संसार आततः ॥ ८ ॥
अनालोकनसंसिद्ध आलोकेनैव नश्यति ।
असदात्मा सदाभासो बालवेतालवत् क्षणात् ॥ ९ ॥
सर्वदृश्यदृशो बाधे बोधसारतयैकताम् ।
यान्त्यशेषमहीपीठसरित्पूरा इवाऽर्णवे ॥ १० ॥

---

परमार्थ वस्तुका अपलाप करनेवाले अज्ञानको बतलानेके लिए पहले परमार्थ वस्तुका कथन करते हैं—'चिन्मात्रा०' इत्यादिसे ।

द्वैतरहित. निर्मल चैतन्यमात्र वस्तुको छोड़कर दूसरा कुछ भी पदार्थ जगत्में नहीं है, क्योंकि चैतन्यकी सत्ता और चैतन्यप्रकाश—इन दोनोंसे ही जगत्की सत्ता और जगत्का प्रकाश होता है, यह सर्वानुभवसिद्ध बात है । जैसे आकाश शून्यरूपताको छोड़कर दूसरी कोई वस्तु प्रसिद्ध नहीं है, वैसे ही असीम आत्मामें स्वतः सत्ता-स्फूर्तिको छोड़कर दूसरी कोई चीज प्रसिद्ध नहीं है ॥ ७ ॥

इस तरह चारों ओर निरन्तर प्रकाशित हो रहा 'चिन्मात्ररूप वेदनात्मा देह-इन्द्रिय आदिसे भिन्न नहीं है, इस प्रकार उसकी सत्ताका भान न करानेवाली अनादि जो प्रतिभारूप भ्रान्ति है, वह भ्रान्ति ही आवरण-शक्तिकी प्रधानतासे अविद्या, विक्षेपशक्तिकी प्रधानतासे भ्रम और फलरूपसे वस्तुतः संसाररूप हुई है ॥ ८ ॥

अविद्यासे साधित वस्तुका परिणाम दिखलाते हैं—'अनालोकन०' इत्यादिसे ।

बालकको वेतालकी तरह, सत्की नाईं भासित हो रहा असद्रूप यह संसार परमात्मतत्त्वके अज्ञानसे सिद्ध है । अतः वह परमात्मतत्त्वके ज्ञानरूप प्रकाशसे ही क्षणभरमें नष्ट हो जाता है ॥ ९ ॥

भेद पैदा करनेवाली दृश्यरूप उपाधियोंका बाध हो जानेपर सभी ज्ञानोंमें एकता आ जाती है, यह दिखलाते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

भेद पैदा करनेवाली दृश्यरूप उपाधियोंका आत्मतत्त्वके ज्ञानसे बाध हो

मृन्मयं तु यथाभाण्डं मृच्छून्यं नोपलभ्यते ।
चिन्मयादितया चेत्यं चिच्छून्यं नोपलभ्यते ॥ ११ ॥
बोधावबुद्धं यद्वस्तु बोध एव तदुच्यते ।
नाऽबोधं बुध्यते बोधो वैरूप्यात्तेन नान्यता ॥ १२ ॥
द्रष्टृदर्शनदृश्येषु प्रत्येकं बोधमात्रता ।
सारस्तेन तदन्यत्वं नाऽस्ति किञ्चित् खपुष्पवत् ॥ १३ ॥
सजातीयः सजातीयेनैकतामनुगच्छति ।
अन्योन्यानुभवस्तेन भवत्वेकत्वनिश्चयः ॥ १४ ॥

---

जानेपर सम्पूर्ण दृश्य, पदार्थोंके ज्ञान बोधरूपसे ऐसे एकताको प्राप्त हो जाते हैं, जैसे धरातलके सम्पूर्ण नदियोंके प्रवाह सागरमें जाकर समुद्ररूपसे एकताको प्राप्त हो जाते हैं ॥ १० ॥

'चिन्मात्रादमलाच्छून्याद्दते किञ्चिन्न विद्यते' यह जो कहा गया है इसका दृष्टान्तोंसे उपपादन करते हैं—'मृन्मयम्' इत्यादिसे ।

जैसे मिट्टीके बर्तन मिट्टीसे शून्य उपलब्ध नहीं हो सकते, वैसे ही सत्-चिन्मात्रमय सांसारिक विषय भी चितिसे शून्य उपलब्ध नहीं हो सकते ॥ ११ ॥

विचार करनेपर चिन्मयरूपसे स्फुरित हो रहे पदार्थोंकी चिदेकरसता ही अन्तमें चलकर प्राप्त हो जाती है, इस आशयसे कहते हैं—'बोधा०' इत्यादि।

जो वस्तु तत्त्वज्ञानसे ज्ञात होती है वह ज्ञानस्वरूप ही कही जाती है, क्योंकि विरुद्धरूप होनेसे ज्ञानाभाव ज्ञानरूपसे नहीं जाना जाता । इसलिए ज्ञेय और ज्ञान, ये दोनों एकरूप हैं ॥ १२ ॥

यदि द्रष्टा आदि त्रिपुटीके बोधसे आध्यासिक अभेद कोई कहे, तो उसके मिथ्याभूत होनेसे एकमात्र अधिष्ठान ज्ञानैकरसता ही उसमें सिद्ध हो सकती है, इस आशयसे कहते हैं—'द्रष्टृ०' इत्यादि ।

द्रष्टा, दृश्य और दर्शन—इन तीनोंमें प्रत्येकमें एकमात्र बोध ( ज्ञान ) ही सार है, इसलिए उससे अन्य, आकाशमें फूलकी नाईं, कुछ भी नहीं है ॥ १३ ॥

जो एक जातिके पदार्थ हैं, वे ही एक दूसरेमें मिल जानेपर एकरूप हो जाते हैं, यह बात जलके साथ जलके मिल जानेपर देखी गई है, इस स्थितिमें

यदि काष्ठोपलादीनां न भवेद्बोधरूपता ।
तत्सदानुपलम्भः स्यादेतेषामसतामिव ॥ १५ ॥
यदा त्वेषा नु दृश्यश्रीर्बोधमात्रैकरूपिणी ।
तदाऽन्येवाप्यनन्यैव सती बोधेन बोध्यते ॥ १६ ॥
सर्वं जगद्गतं दृश्यं बोधमात्रमिदं ततम् ।
स्पन्दमात्रं यथा वायुर्जलमात्रं यथाऽर्णवः ॥ १७ ॥
मिश्रीभूता अपि ह्येते जतुकाष्ठादयो यथा ।
मिथोऽननुभवे मिश्रा ऐक्यं ह्यनुभवे मिथः ॥ १८ ॥



---

जगत् जब जगदनुभवरूप है और सभी अनुभव जब एकरूप हैं, तब तो अन्तमें चैतन्यकी एकता ही सिद्ध हुई, यह कहते हैं—'सजातीयः' इत्यादिसे ।

जल आदि एक जातिके पदार्थ अपनी जातिके दूसरे जल आदिके साथ मिल जानेपर एकताको प्राप्त करते हैं, यह बात सिद्ध है । इसलिए अनुभव भी परस्पर मिल जानेसे एकरूप हो जा सकते हैं, अतः चिदेकत्व निश्चय सिद्ध है ॥ १४ ॥

काष्ठ आदि दृश्य पदार्थोंका स्फुरणके साथ अभेद न माननेपर खरहेके सींगके समान उनका अत्यन्त असत्त्व ही हो जायगा, यह कहते हैं—'यदि' इत्यादिसे ।

यदि लकड़ी, पत्थर आदिको बोधरूप न माना जाय, तो उनका—शशशृङ्गके सदृश, कभी ज्ञान ही नहीं हो सकेगा ॥ १५ ॥

अपने सिद्धान्तमें तो दोष नहीं है, यह कहते हैं—'यदा' इत्यादिसे ।

यद्यपि अपने सिद्धान्तसे यह दृश्यप्रपञ्च एकमात्र बोधरूप अतएव बोधसे अनन्य ही सिद्ध है, तथापि अज्ञानके कारण अन्यके सदृश होकर बोधसे प्रकाशित होता है ॥ १६ ॥

ऐसी स्थितिमें 'जगत् बोधरूप ही है, बोधानतिरिक्त ( बोधरूप ) प्रकाशवाला होनेसे; जो जिससे अनतिरिक्त ( अभिन्न ) प्रकाशवाला होता है, वह तद्रूप ही होता है, जैसे वायुका स्पन्दन वायुरूप होता है' यह अनुमान फलित हुआ, यह कहते हैं—'सर्वम्' इत्यादिसे ।

जैसे वायु स्पन्दनरूप है और समुद्र जलरूप है, वैसे ही समस्त जगत्‌में स्थित यह समस्त विस्तृत दृश्य भी बोधरूप ही है ॥ १७ ॥

यदि यह शङ्का हो कि क्रिया और क्रियावान् एवं अवयव और अवयवी—

अन्योन्यानुभवो ह्यैक्यमैक्यं त्वन्योन्यवेदनम् ।
यथाम्भसोः क्षीरयोर्वा न काष्ठजतुनोरिव ॥ १९ ॥
अहमित्येव बन्धाय नाहमित्येव मुक्तये ।
एतावन्मात्रके बन्धे स्वायत्ते किमशक्तता ॥ २० ॥
चन्द्रद्वयप्रत्ययवन्मृगतृष्णाम्बुबुद्धिवत् ।
किमनुत्थित एवाऽयमसदेवाऽहमुत्थितः ॥ २१ ॥

---

इन दोनोंका तो समवायसम्बन्धसे केवल सम्मेलन ही मात्र होता है, न कि उनकी आत्यन्तिक एकता होती है, तो इसका समाधान यह है कि लाख और लकड़ीका बाहरसे मिश्रण करनेपर भी भेदके अनुभवमें मिश्रण दिखाई नहीं देता और इस स्थलमें मिश्रण दिखाई पड़ता है इसलिए दोनोंमें विषमता है, और समवायसिद्ध भी नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'मिश्रीभूताः' इत्यादिसे ।

इन लाख, लकड़ी आदिके परस्पर मिश्रित हो जानेपर भी जैसे भेदका अनुभव होनेके कारण उनकी एकता नहीं है, वैसे यहाँपर नहीं है, क्योंकि इनमें परस्पर ऐक्यरूप मिश्रण दिखाई देनेसे इनमें ऐक्य ही मानना चाहिए ॥ १८ ॥

दूध और जलकी नाईं अन्योन्य एक रूप बन जाना ही एकता है । द्रष्टा और दृश्य पदार्थोंका भी अन्योन्य ज्ञानरूप ऐक्य विद्यमान है ही; लाख और काठकी नाईं अन्योन्य संयोगमात्र नहीं है ॥ १९ ॥

उपर्युक्त युक्तियोंसे जब यह सिद्ध हो चुका कि सब दृश्य चिन्मात्रस्वरूप हैं और तत्पदार्थ चिति अपरिच्छिन्न ( व्यापक ) होनेके कारण नित्य मुक्त है, तब त्वंपदार्थकी अहंरूपसे परिच्छिन्न बुद्धि ही संसारकी कारण और परिच्छिन्न बुद्धिका परित्याग मुक्तिका कारण फलित हो जाता है, यह कहते हैं—'अहम्' इत्यादिसे ।

भद्र, 'अहम्' बुद्धि ही बन्धरूप संसारको पैदा करती है और अहम्बुद्धिका अभाव मुक्तिको पैदा करता है । जब इतने बन्धनको अपने अधीन रख सकते हैं, तब भला अशक्ति ही किस बातकी ? ॥ २० ॥

इसी विषयका उपपादन करते हैं—'चन्द्र०' इत्यादिसे ।

एक चन्द्रमें दो चन्द्रमाकी बुद्धि या मृगतृष्णामें जलबुद्धिके समान यह असत् अहङ्कार क्या उत्पन्न हुआ है ? उत्पन्न हुआ ही नहीं है ॥ २१ ॥

ममेदमिति बन्धाय नाहमित्येव मुक्तये ।
एतावन्मात्रके वस्तुन्यात्मायत्ते किमज्ञता ॥ २२ ॥
यः कुण्डबदरन्यायो या घटाकाशयोः स्थितिः ।
स सम्बन्धोऽपि नैवाऽन्यमैक्यं ह्यन्योन्यवेदनम् ॥ २३ ॥
अन्योन्यावेदनं त्वैक्यं भागशो गतमप्यलम् ।
अजडं वा जडं वापि नैकं रूपं विमुञ्चति ॥ २४ ॥

---

अहन्ताका त्याग होनेपर ममता स्वयं ही त्यक्त हो जाती है, यह कहते हैं—'ममेद०' इत्यादिसे ।

'यह मेरा है' यह ममता ही बन्धन प्रदान करती है और 'मैं नहीं हूँ' यह ममताका अभाव मुक्ति प्रदान करता है । जब इतनी वस्तु अपने अधीन हो जाय, तब अज्ञान ही कहाँ रहा ॥ २२ ॥

असलमें असत्य अहङ्कार अन्दर बैठ कर सत्य आत्माको वैसे नहीं ढक सकता, जैसे कि ( भीतर बैठ कर बैर ) कुण्डको ढक सकता है या वैसे न परिच्छिन्न बना सकता है, जैसे कि घड़ा आकाशको परिच्छिन्न बना सकता है, इसे कहते हैं—'यः' इत्यादिसे ।

जो कुण्डबदरन्याय है यानी जैसी कुण्डेकी और बैरकी स्थिति है या जैसी घट और आकाशकी स्थिति है, तात्पर्य यह है कि जिस सम्बन्धसे बैर कुण्डके अन्दर प्रविष्ट होकर उसको दबा सकता है या घड़ा आकाशको छोटा बना सकता है वह सम्बन्ध भी आत्माके साथ, जो कि अत्यन्त भिन्न अहङ्कारकल्पनाकी सामर्थ्य रखता है, नहीं है, ऐसी स्थितिमें वास्तविक ऐक्य ही है, वह ऐक्य अन्योन्य वेदनरूप है यानी चन्द्रमें द्वैतपनकी नाईं भेदसे अविद्या द्वारा कल्पित भेदरूप आत्माका जो स्वप्रकाशके बलसे स्फुरण है, वह अन्योन्य वेदन-सा हो जाता है ॥ २३ ॥

जड़ और ज्ञानकी वास्तविक एकता है और वही आत्मरूप है, यों जो जैमिनिमतावलम्बी लोग मानते हैं, उनके मतमें भी वह ऐक्य जड़वस्तुगत जड़ और ज्ञानगत अजड़ होगा, यों किसी एक रूपको वह कभी छोड़ ही नहीं सकता, ऐसी स्थितिमें जड़ अंशमें उसका स्फुरण न होते हुए भी चिदंशमें स्फुरित हो रहा वह अन्योन्यवेदनरूप निर्विषयक ऐक्य आ ही जाता है ॥ २४ ॥

नाजडं जडतामेति स्वभावा ह्यनपायिनः ।
यच्चाजडं जडं दृष्टं द्वैति तत्रास्ति नैकता ॥ २५ ॥
वासनावेशवलिताः कुविकारशतात्मभिः ।
व्रजन्त्यधोधो धावन्तं शिलाः शैलच्युता इव ॥ २६ ॥
व्यूढानां वासनावातैर्नृतृणानामितस्ततः ।
तान्यापतन्ति दुःखानि तत्र वक्तुं न पार्यते ॥ २७ ॥
भ्रान्त्वा भृशं करतलाहतकन्दुकाभं
लोकाः पतन्ति निरयेषु रसेन रक्ताः ।

---

क्यों किसी एक रूपको नहीं छोड़ता ? इसपर कहते हैं—'नाजडम्' इत्यादिसे ।

जो अजड़ वस्तु है, वह जड़ता कभी धारण नहीं कर सकती, क्योंकि धर्म ( स्वभाव ) कभी भी छुटनेवाले होते नहीं । जो आत्मतत्त्व अजड़ है उसे आपने जड़रूप अंशान्तरसे देखा, पर वह तो कोई दूसरी ही चीज है, उसकी अजड़के साथ एकता है ही नहीं, ऐसी स्थितिमें अजड़ और बोधकी एकता कैसे हो सकती है ॥ २५ ॥

जब ऐसी ही स्थिति है, तब आत्मवादी लोग एक दूसरेके विरुद्ध तरह-तरहके आत्माके स्वरूप क्यों मानते हैं, इसपर कहते हैं—'वासना०' इत्यादिसे ।

सैकड़ों कुत्सित विकारोंसे, वासनाओंसे तथा अभिमानोंसे भरे लोग बाह्य-दृष्टियोंसे ही आत्मतत्त्वकी समीक्षा करते-करते ऐसे नीचेसे नीचेकी ओर दौड़ते हुए जाते हैं जैसे पर्वतसे च्युत हुई पाषाण शिला नीचेसे नीचेकी ओर दौड़ती हुई जाती है ॥ २६ ॥

इसीलिए स्व-स्व वासनारूपी वायुओं द्वारा इधर-उधर उड़ाये गये उपनिषद्-दृष्टिसे च्युत पुरुषरूपी तिनकोंके ऊपर वे सब दुःख, जो कि लोकमें तथा शास्त्रोंमें वर्णित हैं, गिरते हैं । कितने गिरते हैं, इस विषयमें कोई कह ही नहीं सकता ॥ २७ ॥

उसीका वर्णन करते हुए उपसंहार करते हैं—'भ्रान्त्वा०'इत्यादिसे ।

अपनी वासना और अपने-अपने अभिमानके अनुसार राग आदि रसोंसे रंगे गये लोग करतलसे ताडित गेंदके सदृश इधर-उधर खूब घूम-फिरकर

क्लेशेन तत्र परिजर्जरतां प्रयाताः
कालान्तरेण पुनरन्यनिभा भवन्ति ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मङ्क्युपाख्याने मङ्किबोधनं नाम पञ्चविंशतिः सर्गः ॥ २५ ॥

———०———

## षड्‌विंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

संसारमार्गगहने पतितस्याऽऽपतन्ति हि ।
वृत्तवृत्तान्तलक्षाणि कीटा इव घनागमे ॥ १ ॥
सर्व एव त्विमे भावाः परस्परमसङ्गिनः ।
अटव्यामुपलानीव भावनैतेषु शृङ्खला ॥ २ ॥

---

नरकोंमें गिरते हैं। वहाँपर दीर्घकाल तक तरह-तरहकी यतनाओंके क्लेशोंसे सब ओरसे जर्जर होकर कालान्तरमें स्थावर, कृमि, कीट आदि जन्म लेकर अन्य-से हो जाते हैं, फिर मनुष्यजन्म उनके लिए दुलभ ही बना रहता है ॥ २८ ॥

पचीसवाँ सर्ग समाप्त

———

## छब्बीसवाँ सर्ग

[ भावनाजनित रागादि दोषोंसे अनर्थोंका आना तथा विवेकजनित तत्त्वज्ञानसे रागादि दोषोंके विनाश द्वारा उनका निकल जाना—यह वर्णन ]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, स्थावर आदि योनिरूप संसारमार्गमें गिरे हुए जीवके ऊपर, मेघके आनेपर लाखों कीटोंके आगमनके सदृश, छेदन, भेदन दहन, क्षुधा आदिरूप लाखों बातें आती-रहती हैं ॥ १ ॥

इन सारे वृत्तान्तोंमें एकमात्र भावना ही मूल है, यह कहते हैं—'सर्व एव' इत्यादिसे।

ये जितने संसारके पदार्थ हैं, वे सब एक दूसरेसे सम्बन्ध कुछ नहीं रखते, जैसे कि जङ्गलमें बिखरे हुए पत्थरके टुकड़े। परन्तु उन सबको मिलानेवाली ( गूँथनेमें हेतु ) सिकड़के सदृश भावना ही है ॥ २ ॥

चित्तमान्ध्याय वृत्तान्तद्रुमैर्गहनवत्स्थितम् ।
रसरञ्जनया लोके वसन्त इव काननम् ॥ ३ ॥
अहो बत विचित्राणि वासनावशतोऽवशैः ।
भूतकैरनुभयन्ते सुखदुःखानि जन्मसु ॥ ४ ॥
अहो बताऽतिविषमा वासना यद्वशाज्जनैः ।
अविद्यमानैरेवाऽयं भ्रमोऽन्तरनुभूयते ॥ ५ ॥
आह्लादिनो मृतवतः शुद्धस्याऽऽलोककारिणः ।
शीतलस्याऽखिलार्थेषु ज्ञस्येन्दोश्च किमन्तरम् ॥ ६ ॥
पूर्वापरमनालोच्य यात्किञ्चिदभिवाञ्छतः ।
निर्मर्यादस्य मूढस्य बालस्य च किमन्तरम् ॥ ७ ॥

---

भावनामें मूल कारण रागादि दोषोंसे दूषित, पवकी वासनाओंसे भरा विवेक शून्य चित्त है, यह आशय लेकर कहते हैं—'चित०' इत्यादिसे ।

लोकमें यह चित्त एक तरहसे वासन्तकालका भयङ्कर अरण्य है, अनेक तरहके वृत्तान्तरूपी वृक्षोंको लेकर अन्धकार पैदा करनेके लिए गहन-सा बनकर स्थित है, राग आदि दोषरूपी जलसे सींचा भी गया है ॥ ३ ॥

अहो, महान् आश्चर्य है कि वासनाके बलसे पराधीन होकर ये अज्ञानी भूत सब चित्रविचित्र सुख-दुःखोंका जन्मोंमें अनुभव करते हैं ॥ ४ ॥

अहो, यह वासना अतिविषम है, जिसके वशसे मनुष्य मिथ्याभूत द्रष्टा आदि त्रिपुटीरूप अर्थोंसे अपने भीतर यह संसारभ्रमका अनुभव करने लग जाते हैं ॥ ५ ॥

यही कारण है कि संसार-भ्रमको तैर गये तत्त्ववित् पुरुष सुखी रहते हैं, यों उनकी प्रशंसा करते हैं—'आह्लादिनः' इत्यादिसे ।

भद्र, ज्ञानी और चन्द्र—इन दोनोंमें क्या अन्तर है ? कुछ भी नहीं, क्योंकि ज्ञानी पुरुष भी आह्लाद देनेवाला है, अमृतसे पूर्ण है, शुद्ध है, ज्ञानरूप प्रकाश करता है और सभी अर्थोंमें शान्त है ॥ ६ ॥

अविवेकीकी निन्दा करते हैं—'पूर्वापर०' इत्यादिसे ।

अज्ञानी (मूर्ख) और बालकमें क्या अन्तर है अर्थात कुछ भी नहीं, क्योंकि जो अज्ञानी है, वह पूर्वापरका ( आगे-पीछेका ) कुछ भी विचार किये बिना जिस किसीकी भी इच्छा करने लगता है, उसकी कोई मर्यादा ही नहीं है ॥ ७ ॥

लब्धमाप्राणपर्यन्तं शुभाशुभमनुज्झतोः ।
आमिषं को विशेषोऽस्ति वद माकरमूढयोः ॥ ८ ॥
सर्व एव त्विमे भावा देहदारधनादयः ।
क्षिप्रमाशुष्कसिकताशरावविशरारवः ॥ ९ ॥
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तमपि योनिशतेषु ते ।
आकल्पं भ्रमतश्चित्त शान्तिर्नास्ति शमादृते ॥ १० ॥
पर्यालोचनमात्रेण बन्धगन्धो न बाधते ।
गच्छतो मार्गवैषम्यमिवालोकनकारिणः ॥ ११ ॥
तव नाऽवहितं चित्तं कामः कवलयिष्यति ।
सावधानस्य बुद्धस्य पिशाचः किं करिष्यति ॥ १२ ॥
यथेक्षणप्रसरणं रूपालोकनमात्रकम् ।
संवित्प्रसृतिमात्रात्म तथा साहं जगत् स्थितम् ॥ १३ ॥

---

भद्र, कहो मछली और मूर्ख (अज्ञानी) में क्या अन्तर है ? ये दोनों मरण-पर्यन्त पकड़े हुए आमिषरूपी विषयोंको नहीं छोड़ते, [ मछलीके पक्षमें बंसीमें लगाया गया आमिष और मूर्खके पक्षमें रागादिविषयरूप आमिष समझना चाहिए ] चाहे वह शुभ हो या अशुभ ॥ ८ ॥

शरीर, नारी, धन, आदि जितने ये पदार्थ हैं, वे सब शुष्क बालूसे बनाये गये कसोरेके सदृश जल्दी ही नष्ट हो जानेवाले हैं ॥ ९ ॥

अब श्रोताके चित्तको लक्ष्य कर कहते हैं—'आब्रह्म०' इत्यादिसे ।

हे चित्त, ब्रह्मासे लेकर गुल्मतक सैंकड़ों योनियोंमें कल्पपर्यन्त घूम रहे तुम्हें शमको प्राप्त किये बिना शान्ति नहीं मिल सकती ॥ १० ॥

केवल विवेकमात्रसे संसारकी गन्ध ऐसे निकल नहीं सकती; जैसे केवल अपने पैर रखनेकी जगहपर दृष्टि रखनेवाला गमनकर्ता पुरुष मार्गकी विषमता नहीं निकाल सकता ॥ ११ ॥

यदि तुम्हारा चित्त विवेक और अवधानसे युक्त नहीं है, तो उसे कामरूप पिशाच अपने गालमें कर लेगा । परन्तु जो सावधान और सदा जागरूक है, उसके चित्तका वह कामरूप पिशाच क्या करेगा ? ॥ १२ ॥

अहङ्कारयुक्त जगत् केवल विवेक और अप्रमाद से शून्य ज्ञानका विस्तार-

यथाऽक्षसंवृतिः सर्वरूपालोकशमोऽरिहन् ।
संवित्संवरणं नाम सर्वदृश्यशमस्तथा ॥ १४ ॥
असदेव जगत्साहं शुद्धा संवित्तनोति खे ।
ईषत्प्रसरणेनाऽऽशु स्पन्दनं पवनो यथा ॥ १५ ॥
सदिवाऽसत्यमेवेदमकुर्वत्यन्यमेधते ।
मृदा हेम्नेव कुम्भत्वमपृथग्लभ्यमात्मगम् ॥ १६ ॥
शून्यमात्रं यथा व्योम स्पन्दमात्रं यथाऽनिलः ।
जलमात्रं यथोर्म्यादि संविन्मात्रं तथा जगत् ॥ १७ ॥

---

मात्र है, दूसरा कुछ नहीं, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे चक्षुका प्रसरणरूप व्यापार केवल रूपका अवलोकनमात्र ही है, इससे भिन्न दूसरा कुछ नहीं है, वैसे ही अहङ्कारयुक्त जगत् अविवेक और प्रमादयुक्त संवित्का प्रसरणरूप व्यापारमात्र ही है, दूसरा कुछ नहीं ॥ १३ ॥

हे कामादि शत्रुओंके नाशक, जैसे आँखका आवरण सभी रूपके प्रकाशकी शान्ति है, वैसे ही बहिर्मुख ज्ञानका आवरण यानी बाह्य ज्ञानोंको आत्माकी ओर लगाना समस्त दृश्योंकी शान्ति है ॥ १४ ॥

भद्र, जैसे पवन शीघ्र स्पन्दनका विस्तार करता है, वैसे ही विशुद्ध संवित् अविवेकजनित कुछ साधारण स्फुरणरूप व्यापारसे अज्ञातस्वस्वरूप चिदाकाशमें अहङ्कारयुक्त असद्रूप जगत्का विस्तार करती है ॥ १५ ॥

यह जगत् असलमें असत्य है, परन्तु सत्की नाईं प्रतीत होता है, वास्तवमें ब्रह्मचिति अन्यका निर्माण न करती हुई यों ही जगत्-रूपमें स्फुरित होती है। जगत् असत्य है, इसमें दृष्टान्त यही है कि जैसे मिट्टी या सोनेमें कल्पित घड़ा या कड़ा मिट्टी या सोनेसे अलग करके प्राप्त नहीं किया जा सकता, वैसे ही आत्मामें कल्पित यह जगत् आत्मासे अलग करके प्राप्त नहीं किया जा सकता। यदि जगत् सत्य होता, तो आत्मासे अलग होकर उपलब्ध होता ॥ १६ ॥

जो अलग होकर प्राप्त नहीं होता, उसकी अलग सत्ता नहीं रहती, यह सोने आदिमें नियम बतलाते हैं—'शून्यमात्रम्' इत्यादिसे ।

जैसे आकाश शून्यमात्र है, जैसे वायु स्पन्दनमात्र है, जैसे तरङ्ग आदि जलमात्र हैं, वैसे ही यह जगत् भी संविन्मात्र है ॥ १७ ॥

अव्यवच्छिन्ननिर्भागसंविन्मात्रं जगत्त्रयम् ।
विद्धि शान्तं तथा व्योम यथा वारिणि पर्वतम् ॥ १८ ॥
निर्वाणस्योपशान्तस्य ज्ञस्य सोदेति शीतता ।
अन्तर्यत्रेन्दवोऽप्येते दीप्तज्वलनबिन्दवः ॥ १९ ॥
किं केन कथमेकान्तशान्ताततशिवात्मनि ।
निरालोकेऽपरालोकः शून्ये जगति जन्यते ॥ २० ॥
या सत्ता ब्रह्मशब्दाख्या रूपं सर्वस्य तन्निजम् ।
न यत्र काचिद्बाधाऽस्ति सर्वं तन्मयमव्ययम् ॥ २१ ॥
यदिदं तु पदार्थत्वं यत्र बाधाऽनुभूयते ।
यद्यच्च बाधनं प्रेक्ष्य तन्न विद्मः खपुष्पवत् ॥ २२ ॥

जैसे जलमें प्रतिबिम्बित पर्वत या पर्वततुल्य तरङ्ग जलरूप ही है, वैसे ही आत्मामें प्रतीत ये तीनों जगत् शान्त, आकाशरूप तथा सभी तरहके भेदोंसे शून्य संवित्स्वरूप ( आत्मस्वरूप ) ही हैं ॥ १८ ॥

इस प्रकार जगत्के स्वरूपको जान रहे ज्ञानीको सांसारिक सन्तापकी प्राप्ति कभी नहीं होती, यह कहते हैं—'निर्वाणस्योप०' इत्यादिसे ।

सभी तरहके विकारोंसे निर्मुक्त अतएव परमशान्त ज्ञानी पुरुषके अन्दर ऐसी सबसे उत्तम शीतलता उत्पन्न हो जाती है, जिसकी तुलनामें ये अनेक चन्द्रमा भी प्रदीप्त अग्निके कणोंके सदृश प्रतीत होने लगते हैं ॥ १९ ॥

उसमें दूसरे किसी अन्य प्रकाशकी प्रसक्ति भी नहीं है, यह कहते हैं—'किम्' इत्यादिसे ।

जब यह जगत् अत्यन्त शान्त व्यापक प्रकाशरूप शिवस्वरूप शून्य हो गया, तब उसमें दूसरा प्रकाश ही कौन ? वह किस क्रिया या साधनसे कैसे उत्पन्न किया जा सकता है ॥ २० ॥

वही सब पदार्थोंका किसी कालमें बाधित न होनेवाला स्वरूप है, यह कहते हैं—'या' इत्यादिसे ।

ब्रह्मशब्दसे जो सत्ता कही जाती है, वह सत्ता ही सब पदार्थोंका निजी स्वरूप है, उसमें किसी तरहकी बाधा नहीं है और समस्त जगत् तन्मय है अतएव वह अव्ययरूप है ॥ २१ ॥

तब कौन स्वरूप बाधित होता है, इस शङ्कापर कहते हैं—'यदिदम्' इत्यादिसे ।

ज्ञ एवापगतस्वान्तं शान्तमास्व महाश्मवत् ।
असौ न मननं मानमनन्तमजमव्ययम् ॥ २३ ॥
आकाशकल्पे स्वे भावे तिष्ठतोऽज्ञानिवेदनम् ।
भवत्यभ्यासदार्ढ्येन विना स्वप्नविकारवत् ॥ २४ ॥
निरुपादानसम्भारमभित्तावेव चेतति ।
ब्राह्मं कर्तृ जगच्चित्रं न कश्चिद्वा न किञ्चन ॥ २५ ॥

जो ये नाम-रूपात्मक पदार्थ हैं, उनमें बाध देखा जाता है, परन्तु उनका बाध या उनकी उत्पत्ति आदि विकृतियाँ जो दिखाई देती हैं, उनके विषयमें विचार करनेपर भी आकाशपुष्पके सदृश हमें कुछ नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि वे तुच्छ हैं ॥ २२ ॥

असली बात यह है कि वह सब रूप केवल मनकी कल्पना है, अतः मनके शान्त हो जानेपर वह स्वयं अपने-आप विलीन हो जाता है, इसलिए तुम चुपचाप बैठे रहो, यह कहते हैं—'ज्ञ एवा०' इत्यादिसे ।

जैसे बड़ा पत्थर अपने स्थानमें चुपचाप शान्तिपूर्वक बैठा रहता है, वैसे ही तुम भी मनको हटाकर चुपचाप शान्तिपूर्वक अपने प्रमातारूपमें स्थित रहो। मनके चले जानेपर प्रमातारूप आत्मा नहीं चला जाता, क्योंकि उस मनके चले जानेपर नामरूपात्मक मनन ( विकल्प ) एवं चक्षु आदि प्रमाण चले जाते हैं, परन्तु प्रमातारूप आत्मा न मनन है और न चक्षु आदि प्रमाणरूप ही है, वह तो असीम, अज और अविनाशी ब्रह्मरूप है ॥ २३ ॥

भद्र, आकाशके सदृश निर्मल आत्माके अन्दर मनको विलीन कर स्थित हुए योगीको नाम और रूपकी प्रतीति ही नहीं होती, क्योंकि नामरूपकी प्रतीति तो अपने स्वरूपमें स्थितिके लिए अभ्यास जब दृढ़ नहीं रहता, तब स्वप्नके सदृश मनमें उत्पन्न होती है ॥ २४ ॥

जगत् केवल मनका ही सङ्कल्प है, यह किस तरह जाना जा सकता है ? इसपर कहते हैं—'निरुपादान०' इत्यादिसे ।

भद्र, यह जो हिरण्यगर्भका मन है, वही जगद्रूपी चित्रका निर्माण करता है, इसके पास न रङ्ग हैं, न चित्रनिर्माणकी कूची है और न तो कोई चित्रका आधार ही है। इतना होनेपर भी उस चित्रको अपने-आप देखने लग जाता है। क्या कहीं किसीने स्वप्नमें मनके सिवा किसी दूसरेको कर्ता और कार्य देखा है ? ॥ २५ ॥

तनोति यत्तदात्मैव तस्य तत्र तथा स्थितम् ।
दृश्याभावादसद् दृश्यं तेन कः क्व करोति किम् ॥ २६ ॥
अहं सुखीति सुखिता अहं दुःखीति दुःखिता ।
सर्व एव स्वरूपस्था व्योमात्मानोऽपि पार्थिवाः ॥ २७ ॥
सर्वेषामेव भावानां चिदाकाशात्मनामपि ।
मिथ्यैव स्वप्नशीलानामिव पार्थिवता स्थिता ॥ २८ ॥
अहन्त्वोल्लेखतः सत्ता भ्रमभावविकारिणी ।
तदभावात्स्वभावैकनिष्ठता शमशालिनी ॥ २९ ॥
हेम्नः कटकशब्दार्थो व्यतिरिक्तो यथास्ति ते ।
व्यतिरिक्ता तथा सत्या नाहन्ताऽस्ति शमात्मनः ॥ ३० ॥

मनोराज्यके सदृश मन जिस किसीका निर्माण करता है, वहाँ सर्वत्र उन-उन वस्तुओंकी प्रतीति बनकर स्वयं ही स्थित हो जाता है। इस प्रकार नामरूपात्मक प्रपञ्चके—मनसे भिन्न कोई अन्य चीज—न होनेसे कौन, कहाँ किस प्रकार जगत्का निर्माण कर सकता है ॥ २६ ॥

यों सुख-दुःख या उनके साधनभूत पार्थिव आदि विषय कल्पनाका विनाश हो जानेपर शून्यरूप या आत्मरूप हो जाते हैं, यह कहते हैं—'अहम्' इत्यादिसे।

'मैं सुखी हूँ' इस तरह भासमान सुख, 'मैं दुःखी हूँ' इस तरह भासमान दुःख या उनके साधनभूत पार्थिव आदि विषय सब मनकी कल्पनाके शान्त हो जानेपर आत्मरूप हो जाते हैं या शून्यरूप बन जाते हैं ॥ २७ ॥

स्वप्नपर्वतकी नाईं पार्थिव विषय भी पार्थिवरूप नहीं हैं, यानी मिथ्या हैं यों भावना करनी चाहिए, यह कहते हैं—'सर्वेषाम्' इत्यादिसे।

जितने पदार्थ हैं, वे सब यद्यपि परमार्थमें चिदाकाशरूप ही हैं, तथापि उनमें स्वप्नशैलके सदृश पार्थिवरूपता मिथ्या ही स्थित है ॥ २८ ॥

ऐसी स्थितिमें जो निष्कर्ष निकला, उसे बतलाते हैं—'अहन्त्वो०' इत्यादिसे।

अहन्ताकी लकीर जब ब्रह्मसत्तामें आ जाती है, तभी वह संसारभ्रमरूप विकार पैदा करती है और जब वह लकीर हट जाती है, तभी वह शान्ति प्रदान करती है तथा अपनी स्वरूपावस्थाको प्राप्त हो जाती है ॥ २९ ॥

जैसे सुवर्णनिर्मित कटकशब्दार्थ यानी कड़ा तुम्हें सुवर्णसे पृथक् भासता है,

निर्वाणो निर्मना मौनी कर्ताऽकर्ता च शीतलः ।
ज्ञ एव शान्त एवास्ते शून्य एवाऽभिपूरितः ॥ ३१ ॥
निर्वासनास्पन्दपरो यन्त्रपुत्रकगात्रवत् ।
स यथास्थितमेवाऽऽस्ते ज्ञः संव्यवहरन्नपि ॥ ३२ ॥
यथा मञ्चकसंस्थस्य स्पन्दन्ते नैव वा शिशोः ।
अङ्गानि स्वानुसन्धानं विनैवं विदितात्मनः ॥ ३३ ॥
निःसम्बोधैकबोधस्य निराशेहैषणाशिषः ।
शान्तानन्तात्मरूपत्वादनुसन्धानता कुतः ॥ ३४ ॥

---

पर वह सत्य नहीं है, वैसे ही आत्मासे जनित अहन्ता शान्तात्मा परमात्मासे पृथक् भले ही भासे, पर वह सत्य नहीं है ॥ ३० ॥

कर्तारूप आत्मा वास्तवमें चारों ओरसे जब परिपूर्णभावसे लक्षित हो जाता है, तब शान्त ही रहता है। उसमें किसी प्रकारका उपद्रव नहीं है वह शून्य, मोक्षरूप, मनरहित, मौनी, अकर्तारूप और शीतल है ॥ ३१ ॥

जैसे किसी यन्त्रसे बनाई गयी प्रतिमा वासनाशून्य होनेके कारण स्पन्दनशून्य है, यानी स्पन्दनके अभिमानसे रहित है, वैसे ही आत्मा भी वास्तवमें वासनाशून्य होनेके कारण स्पन्दनशून्य ही है। अतः व्यवहार कर रहा भी ज्ञानी अपने असलरूपमें ही स्थित रहता है ॥ ३२ ॥

शरीरकी चहल-पहल दशामें भी आत्मामें चहल-पहल नहीं होती, इस बातकी संभावनामें दूसरा दृष्टान्त देते हैं—'यथा' इत्यादिसे।

जैसे झूलेमें सोये हुए बालकके अङ्ग चहल-पहल करते ही नहीं, वैसे ही आत्मतत्त्वदर्शी विद्वान्‌में अपने स्वरूपानुभवके सिवा चहल-पहल कोई है ही नहीं ॥ ३३ ॥

ज्ञानीका निरन्तर चल रहा जो स्व-स्वरूप ज्ञान है, वही देह आदिका ज्ञान है, यह क्यों न माना जाय, इसपर कहते हैं—'निःसम्बोधैक०' इत्यादिसे।

भद्र, आशा, चेष्टा, स्नेह और प्रार्थना आदिसे शून्य तथा बाह्यवृत्तियोंसे रहित जो अखण्ड स्व-स्वरूप परिज्ञान है, वह शान्त अनन्त आत्मस्वरूप ही है, अतः उसे शरीर आदिका परिज्ञान कहना कैसे संभव है ॥ ३४ ॥

अद्रष्टृरपदृश्यस्याऽदृग्रूपस्याऽपरूपिणः ।
कुतः किलानुसन्धानमनपेक्षस्य पश्यतः ॥ ३५ ॥
अपेक्षैव घनो बन्ध उपेक्षैव विमुक्तता ।
सर्वशब्दान्विता तस्यां विश्रान्तेन किमीप्स्यते ॥ ३६ ॥
पार्थिवत्वे शरीरेऽस्मिन्स्वस्वप्नाङ्ग इवाऽसति ।
भ्रममात्रात्मनि कुतः क्व कस्य किमपेक्षणम् ॥ ३७ ॥
उपशान्तसमस्तेहं विगताखिलकौतुकम् ।
निरस्तवेदनं ज्ञेन विदा केवलमास्यते ॥ ३८ ॥
भङ्गिनेति श्रुतवता ततो मोहो महानपि ।
अशेषेण परित्यक्तस्तत्रैव त्वगिवाऽहिना ॥ ३९ ॥

---

अपि च, उक्त स्वस्वरूपानुसन्धानमें द्रष्टा, दृश्य आदि त्रिपुटी रहती ही नहीं, इसलिए भी उसको शरीरका परिज्ञान नहीं होता, यह कहते हैं—'अद्रष्टृ०' इत्यादिसे ।

समस्त अभिलाषाओंसे मुक्त ज्ञानी पुरुषको, जो द्रष्टा, दृश्य और ज्ञानरूप त्रिपुटीरहित निराकार वस्तुको देख रहा है, शरीरका अनुसन्धान कैसे हो सकता है ॥ ३५ ॥

सर्वान्वित अपेक्षा यानी सभी विषयोंकी अभिलाषा ही दृढ़ बन्धन है और सभी तरहकी इच्छाओंका परित्याग ही मुक्ति है । ऐसी स्थितिमें जो पूर्णकामतामें विश्रान्त हो चुका है, वह क्या चाहेगा ॥ ३६ ॥

इस शरीरकी पार्थिवरूपता होनेपर भी यह अपने स्वप्नमें शरीराङ्गोंके सदृश असत् और केवल भ्रममात्रस्वरूप ही है, अतः अपने शरीरके लिए भी किस बुद्धिमान्‌को कहाँ, किससे, किसकी इच्छा हो सकती है ? ॥ ३७ ॥

अब उपसंहार करते हैं—'उपशान्त०' इत्यादिसे ।

ज्ञानी पुरुष केवल अपने स्वरूपमें ही स्थिति रखता है, इस स्थितिमें उसकी सारी इच्छाएँ विलीन हुई रहती हैं, सारी उत्कण्ठाएँ चली गई रहती है और शरीरका भान भी नहीं रहता ॥ ३८ ॥

मुख्य अधिकारी होनेके कारण सिर्फ एक बार उपर्युक्त विषयोंके श्रवणसे ही भङ्गिकी मोहनिवृत्ति हो गई, यह कहते हैं—'भङ्गिनेति' इत्यादिसे ।

प्रवाहापतितं कार्यं कुर्वताऽपास्तवासनम् ।
तेन वर्षशतस्याऽन्ते स्थितमद्रौ समाधिना ॥ ४० ॥

तत्राऽद्ययावत्पाषाणसमधर्मा स तिष्ठति ।
स शान्तकरणो योगी बोध्यमानः प्रबुध्यते ॥ ४१ ॥

एतेन राघव विवेकपदेन शान्ति-
मासादयोदयवता मनसा विहर्तुम् ।
मा दीनतां व्रजतु रागमयी मतिस्ते
क्षीणा क्षणादसलिलेव शरद्घनाली ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मङ्क्युपाख्याने मङ्किनिर्वाणसमाप्तिर्नाम षड्विंशः सर्गः ॥२६॥

---

इस तरहके मेरे उपदेशको सुनते ही उस मङ्कि ब्राह्मणने अपने असीम महान् मोहको भी उसी समय, पूर्णरूपसे ऐसे छोड़ दिया, जैसे सर्प अपनी केंचुलको छोड़ देता है ॥ ३९ ॥

प्रारब्धवशसे जो कुछ भी समय-समयपर कर्तव्य आ जाता था, उसे वह वासना छोड़कर करता हुआ सौ वर्षोंके बाद उसी पर्वतपर समाधिमें स्थित हो गया ॥ ४० ॥

आज भी उस पर्वतपर पाषाणके सदृश निश्चल होकर वह स्थित है। उसके चक्षु आदि समस्त करण शान्त हो चुके हैं। कदाचित् दूसरों द्वारा जगाये जानेपर वह योगी समाधिसे बाहर भी हो जाता है ॥ ४१ ॥

हे श्रीरामभद्र, आप इस मङ्कि ब्राह्मण द्वारा स्वीकृत उपायका अवलम्बन कर ज्ञानमें उन्नतिशील विवेकी मनसे स्वात्मानन्दमें विहार करनेके लिए शान्ति प्राप्त कीजिए। आपकी बुद्धि रागयुक्त बनकर, जलरहित शरत्के मेघोंके सदृश, विवेक रहित हो दीन न बन जाय ॥ ४२ ॥

छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त

## सप्तविंशतिः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

निर्वाणे भव शान्तात्मा यथाप्राप्तानुवृत्तिमान् ।
सन्नेवासत्समः सौम्य स्फटिकादिव निर्मितः ॥ १ ॥
एकस्मिन्नेव सर्वस्मिन्संस्थिते विततात्मनि ।
नैकस्मिन्न च सर्वस्मिन्नानाताकलना कुतः ॥ २ ॥
आद्यन्तरहितं सर्वं व्योम चित्तत्त्वनिर्भरम् ।
शरीरोत्पत्तिनाशेषु का चित्तत्त्वस्य खण्डना ॥ ३ ॥

---

## सत्ताईसवाँ सर्ग

[ चित्तका स्पन्दन होनेपर आत्मामें स्पन्दनका भ्रम हो जाता है, इससे जगत्की सारी विभूतियाँ उत्पन्न होती है, चित्तकी शान्तिसे आत्मामें स्पन्दनभ्रमकी शान्ति होती है और इससे अपने असली स्वरूपमें अवस्थान होता है—यह वर्णन ]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, आप लौकिक पचड़ोंसे परे हो जाइए, अपनी आत्माको शान्त बनाइए और जो कुछ भी प्राप्त हो जाय उसका अनुसरण करते चलिए। हे सौम्य, जैसे स्फटिक पत्थरसे बनाया गया चाँदनीमें स्थित प्रतिमापुरुष सत् है तो भी उसमें दृष्टिका निरोध न होनेसे असत्के तुल्य ही रहता है वैसे ही आप सत् होते हुए भी आत्माकी अद्वैतदृष्टिका निरोध न करनेके कारण असत्के सदृश ही बने रहिए ॥ १ ॥

यह जो असीम आत्मा है, वह जबतक ज्ञान नहीं रहता, तबतक स्वयं एक होता हुआ भी सबके रूपमें यानी अनेक रूपोंमें स्थित है, परन्तु ज्ञान हो जानेपर न तो वह एक है और न सर्वात्मक—अनेक है यानी न वह व्यष्टिरूप है और न समष्टिरूप ही है, क्योंकि ज्ञानकालमें सभी बाधित हो जाते हैं, ऐसी स्थितिमें उसमें अनेकरूपताकी कल्पना ही कहां रही ॥ २ ॥

प्रत्येक शरीरकी उत्पत्ति और विनाश तथा सात बित्तेके नापसे आत्माका नाप अनुभवमें आता है, अतः आत्माकी नानारूपता मान ली जाय, इसमें कौन-सी आपत्ति है ? इसपर कहते हैं—'आद्यन्त०' इत्यादिसे।

जो चेतन आत्मवस्तु है, वह परिपूर्ण, आदि-अन्तसे रहित, व्यापक तथा

स्फुरन्ति हि जडक्रीडाश्चिच्चमत्कारचापलात् ।
अचापलात्प्रतीयन्ते तरङ्गा इव वारिणि ॥ ४ ॥
यथा शुभ्राम्बुदे वस्त्रशङ्का न फलभागिनी ।
देहोऽयमहमित्येषा तथा शङ्का न वास्तवी ॥ ५ ॥
मा वस्तुनि निमग्नस्त्वं भव भूरिभवप्रदे ।
वस्त्वनन्तसुखायाद्यं भव्यं भावय भूतये ॥ ६ ॥
चिद्व्योमानन्तमेवास्मिन्नेयत्ताऽस्ति समात्मनः ।
इत्येव परमं वस्तु वस्तु तत्परमस्तु ते ॥ ७ ॥
एवं निश्चयवान्नाम त्वमेवासि निरञ्जनः ।
ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं सत्यं चापि न किञ्चन ॥ ८ ॥

---

आकाशके तुल्य निर्मल है, इसलिए शरीरकी उत्पत्ति एवं नाश होनेपर उसकी उत्पत्ति या विनाश कैसे हो सकता है—उसका क्या बन-बिगड़ सकता है ? ॥३॥

भद्र, चितिके चमत्काररूप इस चञ्चल मनकी एकमात्र चपलताके कारण ही ये सब जड़ संसारके खेल स्फुरित होते हैं और उसकी चञ्चलता न रहनेसे आत्मामें ऐसे दिखाई पड़ते हैं, जैसे जलमें तरङ्ग ॥ ४ ॥

भद्र, शुभ्र मेघोंमें कल्पित वस्त्ररूपता वस्तुतः जैसे पहननेके काममें नहीं आती, वैसे ही इस देहमें कल्पित आत्मरूपता भी वस्तुतः कुछ काममें नहीं आती ॥ ५ ॥

श्रीरामजी, आप अनेक तरहके प्रपञ्चको देनेवाली अवस्तुमें यानी मिथ्या पदार्थोंमें डूबिये मत। मुख्य भव्य अनन्त वस्तुकी मुक्तिरूप अनन्तसुखके लिए उपासना कीजिए ॥ ६ ॥

वह कौन वस्तु है, जिसकी भावना करनी चाहिए, इसपर कहते हैं—'चिद्व्योमा०' इत्यादिसे ।

चित्-रूपी अनन्त आकाश ही असली वस्तु है, उसका किसी तरह नाप नहीं हो सकता। जिनका आत्मा एकरूप बन गया है, उनके लिए यही सबसे बढ़-चढ़कर उत्तम वस्तु है। श्रीरामजी, इसी एक वस्तुमें आपका चित्त सदा रमण करे ॥ ७ ॥

उसका क्या फल है, इसपर कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

इस प्रकारके निश्चयसे युक्त हुए आप ही अज्ञानरूप बन्धनसे निर्मुक्त निरञ्जन

द्रष्टा दृश्यं दर्शनं च चित्त एव विभूतयः ।
अतत्तत्संविदो नान्यद्ध्यानं ध्येयमस्ति च ॥ ९ ॥
उद्यति प्रतिपच्चन्द्रे वहति प्रलयानिले ।
आत्मतत्त्वं समं सौम्यं न क्षुभ्यति न शाम्यति ॥ १० ॥
यथा नौयायिनः स्थाणुतरुशैलादिवेपनम् ।
यथा शुक्तौ रजतधीस्तथा देहादि चेतसः ॥ ११ ॥

---

हैं । उक्तनिश्चय ध्याता, ध्यान और ध्येयसे शून्य ( त्रिपुटीशून्य ) है, त्रिकालमें बाधित होनेवाला नहीं है । ध्याता, ध्यान और ध्येय—इनमें कोई भी सत्य नहीं है यानी त्रिकालाबाधित नहीं है ॥ ८ ॥

दर्शनादि त्रिपुटी उसकी बाधक कैसे ? क्योंकि वह त्रिपुटी भी ध्यान-त्रिपुटीके ही समान है, इस शङ्कापर कुछ विशेष कहते हैं—'द्रष्टा' इत्यादिसे ।

द्रष्टा, दृश्य और दर्शन चित्‌की ही विभूतियाँ हैं, तात्पर्य यह कि दर्शन प्रमाणसे उत्पन्न तथा वस्तुके अधीन है, पुरुषके अधीन नहीं, इसलिए वृत्तिसे अभिव्यक्त परमार्थ चितिकी उसमें प्रधानता तथा अज्ञानकी बाधकता ( निवर्तकता ) ही विद्यमान है, इस परिस्थितिमें द्रष्टा आदि परमार्थ चैतन्यकी ही विभूति ठहरी । ध्यान न तो प्रमाणजन्य है और न वस्तुके ही अधीन है, किन्तु पुरुषकी इच्छाका अनुसरण करनेवाला है । इस स्थितिमें ध्यान आदि क्रियाविशेषरूप होनेके कारण अविद्याकी विभूतिरूप ही हैं, अतः ध्याता आदि बाधित हो जाते हैं । दूसरी बात यह है कि जो जो जड़ वस्तु है, वह सब ज्ञानसे भिन्न (पृथक्) दिखाई नहीं देती, अतः जितने दृश्य हैं, वे सब दर्शनका ही अनुसरण करनेवाले हैं। ध्येय तो ध्यानके बिना भी अलग रहता है, अतः वह ध्यानानुसारी नहीं होता, यह विशेष है ॥९॥

सबसे विशेष तो यह है कि ज्ञान निर्विकारी है, यह कहते हैं—'उद्यति' इत्यादिसे ।

जैसे प्रतिपदाके चन्द्रमाके उदित होनेपर समुद्र क्षुब्ध होता है और जैसे प्रलयकालकी वायु बहनेपर समुद्र सूख जाता है, वैसे आत्मतत्व न क्षुब्ध होता है और न सूख जाता है, वह सदा एकरूप और सौम्य रहता है ॥ १० ॥

तब चितिकी विभूति द्रष्टा आदि त्रिपुटी कैसे ? इस प्रश्नपर 'एकमात्र विवर्त-भावसे' यह उत्तर देते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

यथा देहादि चित्तस्य तथा देहस्य चित्तकम् ।
तथैव जीवः परमे पदे द्वैतमतः कुतः ॥ १२ ॥
सर्वमेकमिदं शान्तं ब्रह्म बृंहितवेदनात् ।
न किञ्चिज्जगदाद्यस्ति भ्रान्तिरन्या न विद्यते ॥ १३ ॥
न विद्यते यथा व्योम्नि वनं स्नेहश्च सैकते ।
विद्युच्छशाङ्कबिम्बे च तथा देहादि चेतसि ॥ १४ ॥
अविद्यमान एवाऽस्मिन्मा बिभीहि जगद्भ्रमे ।
एतदेव परं सत्यं विद्धि सत्यविदांवर ॥ १५ ॥
जगदस्ति न सत्तेति याऽऽसीद्भ्रान्तिस्तवाद्य सा ।
शान्ता मदुपदेशेन किमन्यद्बन्धकारणम् ॥ १६ ॥

---

जैसे नावपर यात्रा कर रहे पुरुषको तीरस्थ स्थिर वृक्ष, पर्वत आदि कम्पित हो रहे-से प्रतीत होते हैं अथवा जैसे शुक्तिमें रजत-बुद्धि होती है, वैसे ही चितिमें यह देह आदि अन्तःकरणको प्रतीत होते हैं ॥ ११ ॥

इस रीतिसे देहदृष्टि चित्तकी कल्पना करती है, देह और चित्तकी दृष्टि जीवकी कल्पना करती है और जीवदृष्टि देह-चित्तकी कल्पना करती है, यों सभी शुद्ध चैतन्यमें ही विवर्त हैं, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे देह आदि चित्तके हैं वैसे ही चित्त भी देहादिका है, इसी तरह जीव भी है, इस परिस्थितिमें परम ब्रह्मपदमें द्वैत ही कहाँ रहा ॥ १२ ॥

ब्रह्मदृष्टिसे तो सब एक ही हैं, यह कहते हैं—'सर्वमेक०' इत्यादिसे ।

आत्मतत्त्वके ज्ञानसे तो यह सब केवल शान्त ब्रह्मस्वरूप ही है, दूसरा जगत् आदि पदार्थ कुछ भी नहीं है, और न कोई दूसरी भ्रान्ति ही है ॥ १३ ॥

हे श्रीरामजी, जैसे आकाशमें अरण्य नहीं रहता अथवा जैसे बालूमें तेल नहीं रहता या जैसे चन्द्रबिम्बमें बिजली नहीं रहती, वैसे ही चित्तमें देह आदि कुछ नहीं रहते ॥ १४ ॥

हे सत्यज्ञानियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामजी, यह जगतकी भ्रान्ति अविद्यमान ही है, अतः इससे आप भय मत कीजिये । यही बात परम सत्य है, यह आप जानिये ॥ १५ ॥

भद्र, अभीतक जो आपको भ्रम रहा कि जगत्-वस्तुकी ही सत्ता है और

स्थाल्युदञ्चनकुम्भादि यथा मृन्मात्रकं तथा ।
चित्तमात्रं जगदिदं क्षीणं तच्च विचारणात् ॥ १७ ॥

आपत्सु सम्पत्सु भवाभवेषु
शान्तैषणाहर्षविषादसंवित् ।
सौम्यादहम्भावविदा विमुक्तो
यथास्थितं तिष्ठ विलीयमास्स्व ॥ १८ ॥

यथास्थितं वस्त्वधिगम्य राम
स्थितोऽसि चेद्वा स्वकुलाम्बरेन्दो ।
तद्धर्षशोकैषणदूषणादि
विमुच्य वा तिष्ठ यथेच्छमास्स्व ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मुख्ययोगोपदेशो नाम सप्तविंशतिः सर्गः ॥ २७ ॥

---

ब्रह्मकी सत्ता है ही नहीं, वह आज ही मेरे उपदेशसे शान्त हो गया। अब दूसरा बन्धन देनेवाला क्या रहा अर्थात् कुछ नहीं ॥ १६ ॥

थाली, पुरवा, घड़ा आदि जैसे केवल मिट्टी ही है, वैसे ही यह जगत् केवल चित्त ही है। यह विचारसे तो क्षीण हो चुका है ॥ १७ ॥

हे श्रीरामजी, अब आप मेरे सौम्य उपदेशसे अहङ्कारसे पहले अलग हो जाइए, फिर सम्पत्तियोंमें इच्छा, हर्ष और आपत्तियोंमें विषादसे रहित हो जाइए, वैभवोंके उत्कर्ष और अपकर्षमें (बढ़ने-घटनेपर) भी एक-से रहिए। कभी भी मेरे उपदेशका विस्मरण कर यानी अपने स्वरूपस्थितिकी दृढ़ताका परित्याग कर स्थिर मत बैठिये ॥ १८ ॥

तत्त्वज्ञानके बाद यदि प्रमाद हो जाय या प्रबल प्रारब्ध रह जाय, तो उससे हर्ष-शोक भी होते रहेंगे और उनके कारण फिर संसार भी होगा ही! इसपर नहीं, यह उत्तर देते हैं—'यथास्थितम्' इत्यादिसे।

हे अपने कुलरूप आकाशके चन्द्रमा श्रीरामजी, यदि आप ब्रह्मात्माकी एकतारूप वस्तुको भलीभाँति जानकर अवस्थित हैं, तो चित्तमें सन्ताप पहुँचानेवाले

## अष्टाविंशतिः सर्गः

श्रीराम उवाच

बीजाङ्कुराणां पुरुषकर्मणां जन्मकारिणाम् ।
दैवशब्दार्थयुक्तानां तत्त्वं वद विभो पुनः ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

दैवकर्मादिपर्यायं घटादि घटतावधि ।
संवित्स्पन्दनमेवेदं लोके पुरुषतां गतम् ॥ २ ॥

---

हर्ष शोक, इच्छा आदि दोषोंको छोड़कर रहिये या उनका अनुसरण करते रहिये, आपको फिर संसार आ ही नहीं सकता ॥ १९ ॥

सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त

---

## अट्ठाईसवाँ सर्ग

[ बीजरूप और कार्यरूप तथा जन्मके हेतुभूत पुरुषकर्मोंके, जो अदृष्टरूप निमित्तसे सम्बद्ध हैं, स्वरूपका पुनः वर्णन ]

श्रीरामभद्रने कहा—हे विभो, बीजरूप तथा कार्यरूप पुरुषके कर्मोंका—जो जन्मरूप संसारानर्थके उत्पादक तथा दैवसे ( अदृष्टसे ) सम्बद्ध है—स्वरूप मुझसे फिर कहिए यानी यद्यपि आपने इन कर्मोंका तत्त्व पहले यत्रतत्र कहा है, परन्तु फिर भी एक साथ मिलाकर कहिए ॥ १ ॥

सबसे पहले दैवका तत्त्व कर्म है, कर्मका तत्त्व पुरुष है, पुरुषका तत्त्व मनोरूप चितिस्पन्दन है और चितिस्पन्दनका तत्त्व चिदात्मा है । यही चिदात्मा प्राथमिक सङ्कल्परूप चितिस्पन्दनसे समष्टि-व्यष्टि मनरूप बन जाता है, जिसका कि 'बहु स्यां प्रजायेय' इस श्रुतिमें उल्लेख है । इसके बाद लोकमें देहाकारके अध्याससे (भ्रमसे) पुरुष हो जाता है । फिर कर्म करते-करते पुण्य-पापरूप अदृष्टात्मक दैवरूपता प्राप्तकर पुण्य-पापका भोग करनेके लिए घट आदिरूप एवं घटादिगत गुण-क्रियारूपसे घटत्वादिसामान्यरूप बन जाता है, इसीसे जगत्-रूप विवर्तमें आ जाता है, इन सब बातोंसे सार यह निकला कि दैव, कर्म आदि कारणशब्दरूप और घटसे लेकर घटत्वधर्मपर्यन्त कार्यरूप जो कुछ है, वह सब तत्त्वदृष्टिसे चितिस्पन्दके ही

संवित्स्पन्दादृते पुंस्त्वं कर्म वा कीदृशं भवेत् ।
घटावटपटाद्यात्मा ह्येतेनैव जगत्कृतम् ॥ ३ ॥
प्रवर्तते जगल्लक्ष्मीः संवित्स्पन्दात्सवासनात् ।
निवर्तते हि संसारः संवित्स्पन्दादवासनात् ॥ ४ ॥
अवासनं हि संविचेः स्पन्दमस्पन्दनं विदुः ।
सस्पन्दोऽप्यस्फुरत्स्पन्दो येनाऽऽवर्त्तादिनोह्यते ॥ ५ ॥

---

अलग-अलग नाम हैं, इस अभिप्रायको लेकर भगवान् वसिष्ठजी कहते हैं—'दैव०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, घटसे लेकर घटत्वतक कार्यरूप और दैव, कर्म आदि कारणरूप जो कुछ भी है वह सब चितिका स्पन्दन ही है, और यही लोकमें पुरुषरूप बन गया है ॥ २ ॥

भद्र, संवितके ( चितिके ) स्पन्दनके बिना पुरुषका रूप और कर्म कैसे हो सकता है । संवित्का स्पन्दन ही घट, पट, वट आदिका स्वरूप है । इसीने समस्त जगत्को उत्पन्न किया है । यही कारण है कि पुरुषके कर्म आदि और घट-पटादिके अस्तित्व या परिज्ञान आदि चितिके अस्तित्व और प्रकाशके ही बदौलत होते हैं, यह सभीको विदित है । यदि इन सबको संवित्का यानी चितिका विवर्त न माना जाय, तो न उनका अस्तित्व मालूम पड़ सकता है और न उनका प्रकाश ही हो सकता है, ऐसी स्थितिमें उनका स्वरूप कैसा होगा ? अर्थात् असत् ही होगा, यह भाव है ॥ ३ ॥

यद्यपि सभी पदार्थ चितिके स्पन्दनरूप ही हैं तथापि उनके वैचित्र्यमें और विनाशमें कारण कहते हैं—'प्रवर्तते' इत्यादिसे ।

सारे जगत्की यह विचित्र शोभा वासनायुक्त संवित्के स्पन्दनसे उत्पन्न होती है और वासनासे निर्मुक्त हुए संवितके स्पन्दनसे निवृत्त होती है ॥ ४ ॥

महात्माओंका यह निश्चय है कि संवित्तिका ( चितिका ) स्पन्दन यदि वासनारहित है, तो वह अस्पन्दन ही है । लोकमें स्पन्दनशील भी तरङ्ग आदि जब भँवर आदिके द्वारा अपने अन्दर समाविष्ट कर लिये जाते हैं, तब उनमें स्पन्दनका परिज्ञान नहीं होता, फलतः उनकी अस्पन्दनशीलता ही तर्कित होती है ॥ ५ ॥

मनागपि न भेदोऽस्ति संवित्स्पन्दमयात्मनोः ।
कल्पनांशादृते राम सृष्टौ पुरुषकर्मणोः ॥ ६ ॥
जलवीच्योर्यथा द्वित्वं सङ्कल्पोत्थं न वास्तवम् ।
तथेह चित्परिस्पन्दरूपयोर्जन्तुकर्मणोः ॥ ७ ॥
कर्मैव पुरुषो राम पुरुषस्यैव कर्मता ।
एते ह्यभिन्ने विद्धि त्वं यथा तुहिनशीतते ॥ ८ ॥
हिमं यत्तद्यथा शैत्यं यच्छैत्यं तद्यथा हिमम् ।
यत्कर्मासौ तथा जन्तुर्यो जन्तुः कर्म तत्तथा ॥ ९ ॥
संवित्स्पन्दरसस्यैव दैवकर्मनरादयः ।
पर्यायशब्दा न पुनः पृथक्कर्मादयः स्थिताः ॥ १० ॥

---

अतएव चितिका स्पन्दन ही पुरुष आदि आकाररूप है और चितिके स्पन्दनकी निवृत्ति ही निराकारता है, ऐसी स्थितिमें विमर्श करनेपर स्पन्द और पुरुषमें कोई भेद नहीं है, यह कहते हैं—'मनागपि' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, इस सृष्टिमें संवित् और संवित्-स्पन्दमय पुरुष एवं कर्म ( स्पन्द ) दोनोंमें कल्पनांशको छोड़कर तनिक भी भेद नहीं है ॥ ६ ॥

भद्र, जैसे सङ्कल्पसे जनित जल और तरङ्गका भेद वास्तविक नहीं है, वैसे ही सङ्कल्पजनित पुरुष और कर्मका ( संवित्स्पन्दनका ) भेद नहीं है ॥ ७ ॥

हे श्रीरामजी, कर्म ही पुरुष है और पुरुषमें ही कर्मरूपता है, आप इन दोनोंकी हिम और शीतताकी नाईं अभिन्नरूपता ही जानिए ॥ ८ ॥

भद्र, जो हिम है वही जैसे शीतता है और जो शीतता है, वही जैसे हिम है, वैसे ही जो कर्म है वही पुरुष है और जो पुरुष है वही कर्म है, इसलिए किये जानेवाले पुण्य-पाप भाविदेह और उस देहसे जो भोग्य होनेवाला है इन दोनोंकी पूर्वावस्था है ॥ ९ ॥

एवञ्च, यह जो कहा गया था कि दैव, कर्म आदि एक ही वस्तुके भिन्न नाम हैं, यह सिद्ध हो गया, यह कहते हैं—'संवित्' इत्यादिसे ।

दैव, कर्म, पुरुष आदि संवित्के स्पन्दनरूप रसके ही पर्यायवाची शब्द हैं, इसलिए संवित्स्पन्दनसे पृथक् कर्म आदि तनिक भी अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रखते ॥ १० ॥

स्पन्दात्संविज्जगद्बीजमस्पन्दाद्यात्यबीजताम् ।
अङ्कुरश्च तदेवाऽन्तःस्थितत्वादङ्कुरश्रियः ॥ ११ ॥
चित्त्वं च क्वचिदस्पन्दं क्वचित्स्पन्दं स्वभावतः ।
अनन्तमेकार्णववद्दिक्कालक्रमसंस्थितम् ॥ १२ ॥
संवित्स्पन्दो वासनावानिह बीजमकारणम् ।
भूत्वा कारणतामेति देहादेरङ्कुरावलेः ॥ १३ ॥
तृणवल्लीलतागुल्मबीजान्तरगतेरपि ।
बीजं संवित्स्पन्द एव तस्य बीजं न विद्यते ॥ १४ ॥
न बीजाङ्कुरयोर्भेदो विद्यतेऽग्न्यौष्ण्ययोरिव ।
बीजमेवाऽङ्कुरं विद्धि विद्धि कर्मैव मानवम् ॥ १५ ॥

---

'बीजाङ्कुराणाम्' इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'स्पन्दात्' इत्यादिसे ।

स्पन्दनके कारण ही संवित् जगतकी बीज हो जाती है और स्पन्दनके अभावसे अबीजरूप हो जाती है। उसीके अन्दर सूक्ष्मरूपसे अङ्कुर श्री भी स्थित है, अतः वही बाहर निकलकर स्थूल अङ्कुररूप हो जाती है ॥ ११ ॥

असीम चित्स्वभाव ही ऐसा है कि कहींपर अपने स्वभाववश देश-काल क्रममें स्थित स्पन्दनसे शून्य हो जाता है और कहींपर स्पन्दनरूप बन जाता है ॥ १२ ॥

यद्यपि संवित्का स्पन्दन वास्तवमें अकारण है, तथापि यहां वासनासे युक्त होकर देह आदि अङ्कुरोंका वह कारणरूप बीज बन जाता है ॥ १३ ॥

अवान्तर बीजोंके रूपमें स्थित वही संवित्-स्पन्दन सर्वत्र कारण है, उसी स्पन्दनकी विशेष-विशेष कार्योंकी व्यवस्थाके लिए अवान्तर बीजोंके रूपोंमें स्थिति है, इस आशयसे कहते हैं—'तृण०' इत्यादिसे ।

अन्यान्य अवान्तर तृण, वल्ली, लता, गुल्म आदिके बीजोंकी जो व्यवस्थित अङ्कुर आदि कार्य करनेकी प्रवृत्ति है, उसमें भी वही संवित्स्पन्द कारण है, उसका अन्य कोई बीज नहीं है ॥ १४ ॥

यदि बीजके अन्दर रहनेवाली शक्ति ही अङ्कुर है, यों मानें, तो भी शक्ति और शक्तिमान्‌में कोई भेद नहीं है, यह कहते हैं—'न' इत्यादिसे ।

बीज और अङ्कुरमें, अग्नि और उष्णताके सदृश, कोई भेद नहीं है। हे श्रीरामजी, आप बीजको ही अङ्कुर जानिये और कर्म हीको मानव जानिये ॥ १५ ॥

चित्स्फुरन्ती भूमिकोशे करोति स्थावराङ्कुरम् ।
स्थूलान् सूक्ष्मान् मृदून्क्रूरान् पयोबुद्बुदकानिव ॥ १६ ॥
चिता विना धराकोशादत्यन्तपरिपेलवात् ।
अङ्कुराद् वज्रसारांश्च क उल्लासयितुं क्षमः ॥ १७ ॥
प्राणिवीर्यरसान्तःस्था संविज्जङ्गममाततम् ।
तनोति लतिकान्तःस्थो रसः पुष्पफलं यथा ॥ १८ ॥
यदि सर्वगता संविद्भवेन्नातिबलीयसी ।
तत्क उल्लासने शक्तः स्याद्देवासुरभूभृताम् ॥ १९ ॥
जङ्गमानां स्थावराणामेतदाद्यं च बीजकम् ।
संविद्विस्फुरणमात्रमस्य बीजं न विद्यते ॥ २० ॥
बीजाङ्कुरविकल्पानां क्रियापुरुषकर्मणाम् ।
ऊर्मिवीचितरङ्गाणां नास्ति भेदो न वस्तुनि ॥ २१ ॥

---

स्पन्दनशील हो रही चिति ही भूमिमें वट आदि वृक्षोंके अङ्कुरको स्थूल पदार्थ, सूक्ष्म पदार्थ, कठिन पदार्थ एवं मृदु पदार्थ—जलमें बुल्लोंकी नाईं—बनाती है ॥ १६ ॥

चितिके बिना ऐसा कौन शक्तिमान् है, जो इस पृथ्वीतलसे, अत्यन्त मृदु अङ्कुरसे वज्रके सदृश दृढ़ प्रवाल आदिको निकाल सके ॥ १७ ॥

यही न्याय रजवीर्यसे शरीरसम्पादनमें भी लगाना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'प्राणि०' इत्यादि ।

जैसे लतिकामें स्थित रस पुष्प और फलका विस्तार करता है, वैसे ही यह चिति प्राणियोंके वीर्यरसमें स्थित होकर इन असीम जङ्गम वस्तुओंका विस्तार करती है ॥ १८ ॥

श्रीरामजी, भला, बतलाइये तो सही कि यदि सर्वत्रस्थित यह संवित अत्यन्त बलवती न होती तो, इन देव, असुर एवं राजाओंके निर्माणमें कौन शक्तिशाली होता ॥ १९ ॥

भद्र, स्थावर तथा जङ्गम पदार्थोंका यही एक आदिम संवित्स्फुरण कारण है। और इसका कोई कारण नहीं है ॥ २० ॥

बीज, अङ्कुर आदि विकल्पोंका परस्पर; क्रिया, पुरुष एवं दैवका परस्पर

द्वित्वं नृकर्मणोर्यस्य बीजाङ्कुरतया तयोः ।
विपश्चित्पशवे तस्मै महतेऽस्तु सदा नमः ॥ २२ ॥
संवित्तेर्जन्मबीजस्य योऽन्तःस्थो वासनारसः ।
स करोत्यङ्कुरोल्लासं तमसङ्गाग्निना दह ॥ २३ ॥
कुर्वतोऽकुर्वतश्चैव मनसा यदमज्जनम् ।
शुभाशुभेषु कार्येषु तदसङ्गं विदुर्बुधाः ॥ २४ ॥
अथवा वासनोत्साद एवाऽसङ्ग इति स्मृतः ।
यया कयाचिद्युक्त्याऽन्तः सम्पादय तमेव हि ॥ २५ ॥

---

तथा ऊर्मि, वीचि और तरङ्गोंका परस्पर तनिक भी भेद नहीं है एवं अधिष्ठानमें भी कुछ भेद नहीं है ॥ २१ ॥

इस तरहके वेदसंमत अभेदको जो पुरुष नहीं देखता, उसकी निन्दा करते हैं—'द्वित्वम्' इत्यादिसे ।

भद्र, ऐसा होनेपर भी पुरुष और कर्ममें तथा बीज और अङ्कुरमें जिस पुरुषको भेद वास्तविक भासता हो, उस महान् पण्डितपशुको निरन्तर नमस्कार ही करना चाहिए ॥ २२ ॥

वासनाके सम्बन्धसे जनित संसारबीजता वासनाके विनाशसे नष्ट हो जाती है, यह कहते हैं—'संवित्ते०' इत्यादिसे ।

जन्मके कारण संवित्स्पन्दनमें जो भीतरका वासनारस है, वही बाहर अङ्कुर फेंकता है, इसलिए उस वासनारसको असङ्गरूप अग्निसे आप जला दीजिये ॥२३॥

पण्डित लोग कहते हैं कि पुरुष कुछ करे चाहे कुछ भी न करे, परन्तु उसका शुभ-अशुभ कार्योंमें मनसे जो आसक्त न होना है, वही असङ्ग है ॥२४॥

यदि वासना ही सङ्ग है और वासनाका उच्छेद ही असङ्ग है, यह मानें, तो तत्त्वज्ञानके अभ्याससे ही वासनाको जला दीजिए, यह कहते हैं—'अथवा' इत्यादिसे ।

भद्र, अथवा वासनाका उच्छेद ही असङ्ग है, यह भी पण्डितोंका मत है, इसलिए आप उसीका ( वासनोच्छेदरूप असङ्गका ही ) जिस किसी युक्तिसे भीतर सम्पादन कीजिए ॥ २५ ॥

यथैव वेत्सि ततया युक्त्या पुरुषयत्नतः ।
वासनाङ्कुरनिर्मूलमेतदेव परं शिवम् ॥ २६ ॥
पौरुषेण प्रयत्नेन यथा जानासि वा तथा ।
निवारयाहंभावांशमेषोऽसौ वासनाक्षयः ॥ २७ ॥
नास्त्येव पौरुषादन्या संसारोत्तरणे गतिः ।
निरहंभावरूपेऽस्मिन्वासनाक्षयनामनि ॥ २८ ॥
आद्यैव संविदस्तीह सोऽङ्कुरो बीजमस्ति तत् ।
तत्कर्म तच्च पुरुषस्तद्दैवं तच्छुभाशुभम् ॥ २९ ॥
न बीजमादावस्त्यन्यन्नाङ्कुरो न च वा नरः ।
न कर्म न च दैवादि केवलं चिदुदेति हि ॥ ३० ॥

---

वह युक्ति चाहे पहले कही गई राज-योगरूपा हो या हठयोगरूपा हो, परन्तु पुरुषप्रयत्नसे दीर्घकालतक वह अभ्यस्त होनी चाहिए। आप अपनी वासनाका उच्छेद जिस युक्तिसे सुकर समझते हों, उसीसे उसका उच्छेद कर डालिए; क्योंकि यह वासनाङ्कुरका उच्छेद ही परम कल्याण है ॥ २६ ॥

समस्त वासनाओंका चिद्ग्रन्थिरूप अहङ्कार ही मूल है, अतः उसीका आप विनाश कीजिए, यह कहते हैं—'पौरुषेण' इत्यादिसे ।

श्रीरामभद्र, पुरुषप्रयत्नसे आप जिस तरहकी युक्ति जानते हों, उस तरहकी दृढ़ अभ्रान्त युक्तिसे अहङ्काररूपी अंशका त्याग कर दीजिए, क्योंकि यह अहङ्कारांशका त्याग ही वासनाका क्षय है ॥ २७ ॥

वासनाक्षयनामक इस निरहङ्काररूप संसारतरणमें अपने पुरुषार्थके सिवा दूसरी कोई गति है ही नहीं ॥ २८ ॥

अनादि अनन्त प्रत्यगात्मरूप चैतन्यकी सत्तासे ही बीज, अङ्कुर आदिकी सत्ता है, स्वतः नहीं, यह कहते हैं—'आद्यैव' इत्यादिसे ।

असलमें यहां सबसे मुख्य तो संवित्की ही एकमात्र सत्ता है, वही अङ्कुर है, वही बीज है, वही कर्म है, वही पुरुष है और वही पुण्यपापरूप दैव है ॥२९॥

सबसे प्रथम न तो कोई चितिके सिवा दूसरा बीज है, न अङ्कुर है, न पुरुष है, न कर्म है और न दैव आदि ही कुछ है, केवल चितिका ही यह सब कुछ विलास है ॥ ३० ॥

नो बीजमस्ति न किलाङ्कुरकोऽपि वाऽस्ति
नाप्यस्ति कर्म पुरुषश्च न वास्ति साधो ।
एकं तु चित्त्वमुदितं ह्यनयाऽभिधान-
लक्ष्म्या नटः सुरनरासुरशोभयेव ॥ ३१ ॥

इत्येव निश्चयमनामय भावयित्वा
त्यक्त्वा भृशं पुरुषकर्म विचारशङ्काम् ।
निर्वासनः सकलसङ्कलनाविमुक्तः
संविद्वपुर्भव नु यथाभिमतेच्छमास्स्व ॥ ३२ ॥

प्रशान्तसर्वेच्छमशङ्कमच्छ-
चिन्मात्रसंस्थोऽखिलकार्यकारी ।
आत्मैकरामः परिपूर्णकामो
भवाभयो राम शमाभिरामः ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे शङ्कातत्त्वसिद्धान्तप्रतिपादनं नामाऽष्टाविंशतिः सर्गः ॥ २८ ॥

---

जब बीज आदिकी स्वतः सत्ता स्थिर नहीं होती, तब यही निष्कर्ष निकलता है कि एकमात्र चिदात्मा ही असत्यभूत बीजादिके आकारोंमें जगद्रूप बनकर विलास करता है, यह कहते हैं—'नो' इत्यादिसे ।

हे साधो, न तो कोई बीज है और न कोई अङ्कुर ही है। इसी तरह न तो कोई कर्म है और न कोई पुरुष ही है । जैसे नाटकका पात्र समय-समय पर देव, नर, दानव आदि नामोंकी शोभा धारण कर नृत्य करता है, वैसे ही एकमात्र चित्स्वभाव ही इन बीज, अङ्कुर आदि नामोंकी शोभा धारण कर विलास करता है ॥३१॥

हे अविकार श्रीरामचन्द्रजी, उक्त प्रकारके निश्चयको अपने मनमें स्थिर कर पुरुष, कर्म आदि मिथ्या विचार-जनित शङ्काका बिलकुल परित्याग कर वासनाशून्य, समस्त विकल्पोंसे रहित एवं चैतन्यमय बन जाइए । फिर आप अपनी अभिमत इच्छाके अनुसार समाधिस्थ होकर या व्यवहाररत होकर स्थित रहिए । इससे आपका कुछ भी बिगड़ेगा नहीं, यह सार है ॥ ३२ ॥

इसीका स्पष्टीकरण करते हुए उपसंहार करते हैं—'प्रकाशान्त०' इत्यादिसे ।

## एकोनत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

नित्यमन्तर्मुखस्तिष्ठ वीतरागो विवासनः ।
चिन्मात्रममलं शान्तं कर्म सर्वत्र भावयन् ॥ १ ॥
आकाशविशदः प्राज्ञश्चिन्मात्रैकघनस्थितिः ।
समः सौम्यः समानन्दः सब्रह्माबृंहिताशयः ॥ २ ॥
शोकेष्वापत्सु घोरेषु सङ्कटेष्ववटेषु च ।
यथाप्राप्तेषु सर्वेषु खर्वेषून्नतिमत्सु च ॥ ३ ॥

हे रामभद्र, सब इच्छाओंसे निर्मुक्त एवं अशेष शङ्कासे रहित होकर सब कर्म करते हुए भी आप चैतन्यमात्रमें स्थित रहिए। एकमात्र अपनी आत्मामें ही रमण कीजिए। समस्त कामनाओंसे परिपूर्ण होकर आप निर्भय हो जाइए और परम शान्तिका अवलम्बन कर सब ओर चमकने लग जाइये ॥ ३३ ॥

अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त

## उन्तीसवाँ सर्ग

[ व्यवहारकालमें जो भी कुछ कर्तव्य आ जाय उसे निभाते हुए अपने स्वरूपमें सदा स्थिर रहना चाहिए, यों रामजीके प्रति महाराज वसिष्ठजीका उपदेश । ]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामभद्र, शत्रु, मित्र आदि सबके लिए प्रारब्धसे जो कुछ कार्य आ जाय, उसे यथायोग्य करते हुए भी आप निरन्तर अन्तर्मुख ही रहिए। राग छोड़ दीजिए। वासनाओंसे परे हो जाइए और सर्वत्र निर्मल, शान्त चैतन्यमात्रकी भावना कीजिए ॥ १ ॥

भद्र, आकाशके सदृश विशद हो जाइए। प्राज्ञ बनिए। एक चिन्मात्रमें अपनी दृढ़ स्थिति ( निष्ठा ) बनाइए। सम, सौम्य एवं पूर्णानन्दसे युक्त हो जाइए तथा अपने अन्तःकरणको ब्रह्मसदृश आनन्दरसमें सराबोर कीजिए ॥ २ ॥

रामजी, प्रारब्धवश प्राप्त हुए छोटे-बड़े शोक, आपत्ति, घोर सङ्कट, अवट ( गर्त ) आदि सभी प्रसङ्गोंमें भीतर दुःखी न होकर देशधर्मोंके अनुसार एवं

यथाक्रमं यथादेशं कुरु दुःखमदुःखितः ।
बाष्पक्रन्दादिपर्यन्तं द्वन्द्वयुक्तसुखानि च ॥ ४ ॥
समागमेषु कान्तानामुत्सवेषूदयेषु च ।
आनन्दं भज सौम्यात्मा वासनाक्रान्तमूढवत् ॥ ५ ॥
भूतानि मृत्युकार्येषु सङ्ग्रामादिषु निर्दह ।
दावानलस्तृणानीव वासनाक्रान्तमूढवत् ॥ ६ ॥
क्रमागतेष्वखिन्नोऽर्थं बकवच्चिन्तयार्जय ।
अर्थोपार्जनकार्येषु वासनाक्रान्तमूढवत् ॥ ७ ॥
बलाद्विदलयाशेषानरीनरिनिषूदन ।
वातो रिक्तानिवाम्भोदान्वासनाक्रान्तमूढवत् ॥ ८ ॥
जनेषु करुणार्हेषु धैर्यं कुरु महात्मसु ।
आत्मारामममना मौनी वासनाक्रान्तमूढवत् ॥ ९ ॥

---

क्रमानुसार रुदन-अश्रुपात आदि पर्यन्त दुःखोंका और शीतोष्ण आदिसे युक्त वस्त्रादिभोगरूप सुखोंका अनुभव करते चलिए ॥ ३, ४ ॥

संक्षेपसे जिस अर्थको कहा, उसीको विस्तारपूर्वक कहते हैं—'**समागमेषु**' इत्यादिसे ।

कमनीय ( रमणीय ) विषयोंकी प्राप्तिके अवसरोंमें, उत्सवोंमें एवं उदयकालमें आप सौम्य ( शान्त ) मूर्ति होकर ऐसे आनन्द मनाइए, जैसे कि भोगवासनाओंसे आक्रान्त कर्मठ मूढ पुरुष ॥ ५ ॥

वासनाओंसे आक्रान्त मूढ़ पुरुषोंके सदृश अधार्मिक प्राणियोंको मृत्युके हेतु संग्राम आदिमें डालकर—जैसे तृणको अग्नि जला डालती है वैसे—जला दीजिए ॥ ६ ॥

प्रारब्ध कर्मोंके अनुसार प्राप्त हुए धर्माविरोधी धन आदिके उपार्जन आदि कार्योंका बगुलेके सदृश ऐसे अखिन्न होकर चिन्तन और अर्जन कीजिए, जैसे वासनायुक्त कर्मठ पुरुष ॥ ७ ॥

हे शत्रुनाशक श्रीरामजी, वासनायुक्त मूढ जनके सदृश आप बलपूर्वक समस्त शत्रुओंका ऐसे विनाश कर दीजिए, जैसे वायु जलशून्य बादलोंका विनाश कर देती है ॥ ८ ॥

वासनासे आक्रान्त कर्मकुशल मनुष्योंके सदृश करुणापात्र जनोंमें उदारताका

मुदितो भव हर्षेषु दुःखेषु भव दुःखितः ।
करुणां कुरु दीनेषु भव वीरेषु वीर्यवान् ॥ १० ॥
अन्तर्मुखः सदानन्दः स्वात्मारामतयाऽन्वितः ।
यः करोति शमोदारस्तत्र कर्तासि नाऽनघ ॥ ११ ॥
आत्मभावनया साधो नित्यमन्तर्मुखस्थितेः ।
वज्रधाराऽपि ते राम पतिता याति कुण्ठताम् ॥ १२ ॥
सङ्कल्पकलनोन्मुक्ते स्वसंविन्मात्रकोटरे ।
यस्तिष्ठत्यात्मनि स्वैरमात्मारामो महेश्वरः ॥ १३ ॥
न तं भिन्दन्ति शस्त्राणि न दहन्ति हुताशनाः ।
न क्लेदयन्ति वारीणि शोषयन्ति न मारुताः ॥ १४ ॥

---

और महात्माओंके विषयमें निन्दा न करनेका अवलम्बन कीजिए तथा अपनी आत्मामें मनको रमने दीजिए ॥ ९ ॥

हर्ष करनेयोग्य स्थानोंमें हर्षित होइए, दुःख करने योग्य स्थानोंमें दुःखी बनिये, दीनोंपर दया कीजिए और वीरोंमें वीर बनकर रहिए ॥ १० ॥

कुछ करनेपर मूढजनोंको तो दोष लगता है, परन्तु ज्ञानी पुरुषको कुछ करने-पर दोष नहीं लगता, यह कहते हैं—'अन्तर्मुखः' इत्यादिसे ।

हे अनघ, जो पुरुष अपनी वृत्तियोंको आत्माके अन्दर लगाकर स्थित रहता है, सदा आनन्दमें मग्न रहता है, अपनी आत्मामें ही आराम करता है, तथा जो शान्ति और औदार्यसे युक्त है, वह कर्ता नहीं होता, इसलिए पूर्वोक्त विषयोंमें आप कभी कर्ता नहीं होंगे और न उनसे आपको दोष ही लगेगा ॥ ११ ॥

हे साधो श्रीरामजी, आत्माकी भावनासे निरन्तर अन्तर्मुख वृत्ति बना कर स्थित हुए आपके ऊपर यदि इन्द्रकी भी वज्रधारा गिर जाय, तो भी वह व्यर्थ हो जायगी ॥ १२ ॥

समस्त सङ्कल्प-विकल्पोंसे निर्मुक्त अपनी संविन्मात्ररूप अन्तरात्मामें, स्वेच्छासे जो स्थित रहता है, वह आत्मारामी महान् ईश्वर ही है ॥ १३ ॥

ऐसे पुरुषको शस्त्र छेदते नहीं, अग्नि जलाती नहीं, जल भीगाते नहीं और पवन सुखाते नहीं ॥ १४ ॥

सुस्तम्भमजमालिङ्ग्य स्वात्मानमजरामरम् ।
तिष्ठाऽवष्टभ्य धीरात्मा सुस्तम्भमिव मन्दिरम् ॥ १५ ॥
जगद्वृक्षपदार्थौघपुष्पामोदश्रियं पराम् ।
संविदं संविदः स्वस्थामास्स्वान्तर्मुखमच्युतम् ॥ १६ ॥
अन्तर्मुखतया नित्यं कार्यमाहरतां बहिः ।
जीवतामपि नोदेति वासना दृषदामिव ॥ १७ ॥
पुनःप्रसरणोन्मुक्तमन्तःसुप्तं मनः कुरु ।
कुर्वन्सर्वाणि कर्माणि कूर्माङ्गवदवृत्तिमान् ॥ १८ ॥
अन्तर्वृत्तिविहीनेन बहिर्वृत्तिमतेव च ।
सुप्तप्रबुद्धप्रायेण कार्यमाचर चेतसा ॥ १९ ॥
बालमूकादिविज्ञानवदन्तस्त्यक्तवासनम् ।
भवतः कुर्वतः कार्यं खवच्चितं न लिप्यते ॥ २० ॥

---

जिसमें चित्त भलीभाँति प्रकाशित होता है, ऐसे नित्यनिरतिशयानन्दरूप, जन्मशून्य, जरा-मरणरहित, स्वात्माका—दृढ़ खम्भोंवाले मन्दिरकी नाईं—अवलम्बन कर निश्चल होकर स्थित रहिए ॥ १५ ॥

हे रामभद्र, जगद्रूपी वृक्षके पदार्थरूपी पुष्पोंकी सुगन्धशोभाके सदृश सारभूत स्वस्थ ब्रह्मसंवित्तिका ( आत्मज्ञानका ) अवलम्बन कर समस्त बाह्यवृत्तियोंको सदा अन्तर्मुख बनाकर स्थित रहिए ॥ १६ ॥

अन्तर्मुखतासे निरन्तर बाहरके कार्योंका सम्पादन कर रहे भी प्राणियोंमें वासना ऐसे उत्पन्न नहीं होती, जैसे कि पत्थरोंमें नहीं होती ॥ १७ ॥

भद्र, कछुएके अङ्गोंके सदृश भीतर और बाहरके सब वृत्तियोंसे विरत होकर सारे कर्म करते हुए भी आप अपने मनको भीतर लीनकर दीजिए, ताकि फिर वह बाहर न निकलने पावे ॥ १८ ॥

अन्दरकी सुख-दुःखादिवृत्तिसे शून्य, बाहरकी घटादिवृत्तिसे युक्त-से तथा प्रायः आधे जगे हुए चित्तसे आप कार्य करते चलिए ॥ १९ ॥

जैसे बालक एवं मूक आदिका विज्ञान अन्दरकी वासनासे रहित होता है, वैसे ही अन्दरकी वासनासे शून्य अतएव आकाशके सदृश निर्मल हुआ चित्त कार्य कर रहे आपको बन्धनकारक नहीं होगा ॥ २० ॥

वृत्तित्यागविलीनेन किञ्चित्प्रसरता बहिः ।
अन्तरत्यन्तसुप्तेन चेतसा तिष्ठ विज्वरः ॥ २१ ॥
असङ्कल्पकलङ्कायां ज्ञानाच्चित्तक्षयोदये ।
शुद्धायां संविदि स्थित्वा कुरु मा कुरु वाऽनघ ॥ २२ ॥
सुषुप्तसमया वृत्त्या जाग्रद्व्यवहरन् व्रजन् ।
गृहाण मा किञ्चिदपि मा वा किञ्चित्परित्यज ॥ २३ ॥
जाग्रत्यपि सुषुप्तश्चेज्जागर्षि च सुषुप्तके ।
जाग्रत्सुषुप्तयोरैक्यात्तदस्त्यसि निरामयः ॥ २४ ॥
एवमाद्यन्तरहितमभ्यासेन शनैः शनैः ।
पदमासादयाद्वन्द्वमतीतं सर्ववस्तुतः ॥ २५ ॥

---

भद्र, आप समस्त चिन्ताओंको तिलाञ्जलि देकर ऐसे चित्तसे युक्त रहिए, जो कि निर्विकल्पक समाधिके अभ्याससे बाधित हो चुका हो, कुछ कुछ बाहरकी ओर प्रतिभासरूपसे निकल सकता हो तथा भीतरसे मर गया हो ॥ २१ ॥

हे निष्पाप रामजी, ज्ञानसे चित्तका विनाश हो जानेपर बची हुई सङ्कल्परूपी कलङ्कसे निर्मुक्त विशुद्ध ब्रह्मचितिमें बैठकर आप कुछ कीजिये या न कीजिये— दोनों एक-से हैं ॥ २२ ॥

जागते हुए, व्यवहार करते हुए या जाते हुए भी आप सोये हुए पुरुषके सदृश वृत्तिके कारण न तो अभीष्टका ग्रहण करें या न अनिष्टका परिहार ही करें ॥ २३ ॥

जागरणकी अवस्थामें भी यदि आप सब प्रकारकी उपाधियोंका विलयकर सुषुप्ति अवस्थावाले हो जाते हैं; तो सुषुप्ति अवस्थामें भी आप जागरण अवस्थावाले ही हैं; क्योंकि अज्ञान आवरण उस समय रहेगा ही नहीं। जागरण और सुषुप्तिको अलग करनेवाले अज्ञान और अज्ञानकार्यका बाध हो जानेपर ये दोनों अवस्थाएँ एक हो जाती हैं और एकता हो जानेपर जो सन्मात्ररूप बच जायगा, वही निर्विकार सन्मात्र-स्वरूप आप हैं ॥ २४ ॥

इस तरह धीरे-धीरे अभ्यासके द्वारा आप आदि-अन्तसे रहित ऐसा पद प्राप्त कीजिए, जो समस्त शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंसे रहित तथा सब वस्तुओंसे परे है ॥ २५ ॥

न च द्वैतं न चैवैक्यं जगदित्येव निश्चयी ।
परमामेहि विश्रान्तिमाकाशविशदाशयः ॥ २६ ॥

श्रीराम उवाच

यद्येवं मुनिशार्दूल तदहंप्रत्ययात्मकः ।
भवानेवेह किं तावद्वसिष्ठाख्यः स्थितो वद ॥ २७ ॥

वाल्मीकिरुवाच

राघवे गदति त्वेवं वसिष्ठो वदतां वरः ।
तूष्णीमेव मुहूर्तार्द्धमतिष्ठत्स्पष्टचेष्टितः ॥ २८ ॥
तस्मिन्तूष्णीं स्थिते किं स्यादिति सभ्ये महाजने ।
पतिते संशयाम्भोधौ रामः पुनरुवाच ह ॥ २९ ॥

---

न तो द्वैतात्मक जगत् है और न एकात्मक ही जगत् है, इस तरहके निश्चयसे युक्त होकर आप आकाशके सदृश विशद आशय ( मन ) वाले होकर परम विश्रान्ति प्राप्त कीजिए ॥ २६ ॥

समस्त द्वैतका अपलाप हो जानेपर तो आपका भी अहङ्कार ( वसिष्ठजीका अहम्भाव ) रहेगा नहीं, इस स्थितिमें आपके वक्तापन आदि व्यवहार कैसे, इस आशयसे श्रीरामभद्र पूछते हैं—'यद्येवम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिशार्दूल गुरुवर, यदि ऐसी बात है, तो अहम्भावरूप वसिष्ठनामके आप ही यहां स्थित हैं क्या ? यानी आपके व्यवहार कैसे, यह कहिये, क्योंकि द्वैतके अपलापसे आपमें भी अहम्भाव तो रहा नहीं ॥ २७ ॥

वसिष्ठजीको तो अहम्भाव आदि हैं ही नहीं, परन्तु हमारी और श्रोताओंकी अज्ञान-दृष्टिके ही कारण उन्होंने उसका अवलम्बन किया था, जब सबको तत्त्वज्ञान हो चुका तब तो मेरे प्रश्नका मौन ही उत्तर है, इस आशयसे वसिष्ठजीकी चुपचाप स्थिति कहते हैं—'राघवे' इत्यादिसे ।

वाल्मीकि मुनिने कहा—जब श्रीरामजीने ऐसा प्रश्न किया, तब वक्ताओंमें अग्रणी महाराज वसिष्ठजी आधे मुहूर्ततक चुपचाप स्थित रहे । उनकी ऐसी चेष्टा स्पष्ट विदित हो रही थी ॥ २८ ॥

महाराज वसिष्ठजी तो मौन धारणकर स्थित रहे और इधर सभ्य महाजन अब क्या होगा, इस संशय-सागरमें पड़ गये, यह देखकर श्रीरामभद्र फिर कहने लगे ॥ २९ ॥

किमर्थं भगवन्स्तूर्णीं भवानहमिव स्थितः ।
न सोऽस्ति जगतां न्यायः सतां यो नोत्तरक्षमः ॥ ३० ॥

वसिष्ठ उवाच

न मे वक्तुमशक्तत्वाद्युक्तिक्षय उपस्थितः ।
किन्तु प्रश्नस्य कोट्यास्य तूष्णीमेवाऽनघोत्तरम् ॥ ३१ ॥
द्विविधो भवति प्रष्टा तत्त्वज्ञोऽज्ञोऽथवापि च ।
अज्ञस्याऽज्ञतया देयो ज्ञस्य तु ज्ञतयोत्तरः ॥ ३२ ॥
एतावन्तमभूत्कालं भवानज्ञाततत्पदः ।
भाजनं सविकल्पानामुत्तराणां महामते ॥ ३३ ॥
तत्त्वज्ञस्त्वधुना जातो विश्रान्तः परमे पदे ।
योग्यो न सविकल्पानामुत्तराणामसि स्फुटम् ॥ ३४ ॥
यावान्कश्चित्किलोल्लेखो वाङ्मयो वदतां वर ।
सूक्ष्मार्थः परमार्थो वा बहुरल्पतरोऽपि वा ॥ ३५ ॥

---

अब गुरुजीके पास उत्तर देनेकी युक्ति रही ही नहीं, यों मान रहे श्रीरामभद्र कहते हैं—'किमर्थम्' इत्यादिसे ।

भगवन्, मेरे-जैसे आप चुपचाप क्यों स्थित हैं ? जगत्में शिष्योंका ऐसा कोई तर्क ही नहीं है, जो विद्वान् गुरुओंके लिए उत्तरयोग्य न हो ॥ ३० ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे अनघ, मुझमें कहनेकी शक्ति नहीं है, इसलिए उत्तर-युक्ति न रही, यह बात नहीं है, किन्तु यह प्रश्न चरम सीमाका होनेके कारण चुपचाप स्थित रहना ही इसका उत्तर है ॥ ३१ ॥

प्रश्नकी चरम सीमा बतलानेके लिए भूमिका बाँधते हैं—'द्विविधो' इत्यादिसे ।

भद्र, प्रश्नकर्ता दो तरहके होते हैं—एक तो तत्त्वज्ञ और दूसरे अज्ञानी । इनमें अज्ञानी प्रश्नकर्ताको अज्ञ बनकर उत्तर देना पड़ता है और ज्ञानीको ज्ञानी बनकर ॥ ३२ ॥

हे महामते, इतने समयतक तो आप तत्पदको ( ब्रह्मात्माको ) जानते ही नहीं थे, इसलिए आप सविकल्पक उत्तरोंके ही पात्र रहे ॥ ३३ ॥

अब तो आप तत्त्वज्ञ बन गये और परम पदमें स्थिति भी आपने प्राप्त कर ली, इसलिए स्पष्ट है कि विकल्पवाले उत्तरोंके योग्य नहीं रहे ॥ ३४ ॥

हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, यह जितना वाणीरूप भाषण है, वह चाहे

प्रतियोगिव्यवच्छेदसंख्यातीतादिभिर्भ्रमैः ।
स च सर्वोऽन्वितः साधो भा इव त्रसरेणुभिः ॥ ३६ ॥
उत्तरं सकलङ्कं च तज्ज्ञो नार्हति सुन्दर ।
नाकलङ्का च वागस्ति त्वं च तज्ज्ञतरः स्थितः ॥ ३७ ॥
यथाभूतं च वक्तव्यं ज्ञस्याऽन्तेवासिनो मया ।
यथाभूतं विदुः काष्ठमौनमन्तविवर्जितम् ॥ ३८ ॥
अविचारात्ससङ्कल्पं मौनमाहुः परं पदम् ।
तदेव तव तज्ज्ञस्य दत्तः सुन्दर उत्तरः ॥ ३९ ॥
यन्मयो हि भवत्यङ्ग पुरुषो वक्ति तादृशम् ।
ज्ञेयमात्रमयश्चाहं वागतीते पदे स्थितः ॥ ४० ॥

---

सूक्ष्म अर्थवाला हो, चाहे परम अर्थवाला हो, चाहे थोड़ा हो अथवा अधिक हो, परन्तु हे साधो, वह सब प्रतियोगी, भेद, संख्या, मुख्यभूत अर्थ, साधन, बाधन, बोध, प्रमाण आदिकी कल्पनाओंसे ऐसे मिला-जुला रहता है, जैसे जालोंके अन्दर सूर्य किरणें त्रसरेणुओंसे ( सूक्ष्म रजकणोंसे ) मिली-जुली रहती है ॥ ३५,३६ ॥

हे मनोरम, जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है, उसके लिए कलङ्कपूर्ण उत्तर होता नहीं, क्योंकि जितनी वाणियां हैं, वे सब कलङ्कपूर्ण ही हैं, आप तो तत्त्वज्ञ बनकर स्थित हैं ॥ ३७ ॥

हे भद्र, ज्ञानी शिष्यके सम्मुख मुझे जो यथावत् सत्य है, उसे ही कहना चाहिए, परन्तु समस्त कलङ्कोंसे निर्मुक्त यथावत् सत्य तो काठकी तरह मौन ही है ॥ ३८ ॥

भद्र, जो परमपद है, वह तत्त्वज्ञानके पूर्व अज्ञानसे उपदेशवाणीके योग्य है, वह कल्पनाकर ससङ्कल्प बनता है यानी वाणीके व्यवहाररूप सङ्कल्पका विषय हो जाता है और विचारसे ज्ञात हो जानेपर मौन यानी वाणीका अविषय हो जाता है, यों विद्वानोंका निश्चय है, इसलिए तत्त्वज्ञानी हुए आपको अब यह मौन ही मैंने सुन्दर उत्तर दिया ॥ ३९ ॥

हे प्रिय, वक्ता पुरुष जिस रूपका होता है, उसी रूपका कथन करता है, मैं तो तत्त्वसाक्षात्कारसे बोधित होनेवाली जो वस्तु ( ब्रह्मरूप ) है, तन्मय बनकर वाणीसे परे परमपदमें स्थित हूँ ॥ ४० ॥

वागतीतपदस्थोऽहि कथं गृह्णाति वाङ्मलम् ।
अवाच्यं वच्मि नो तेन वाग्घि सङ्कल्पनाङ्किता ॥ ४१ ॥

श्रीराम उवाच

वाचि ये ये प्रवर्तन्तेताननादृत्य दोषकान् ।
प्रतियोगिव्यवच्छेदिपूर्वकान् वद को भवान् ॥ ४२ ॥

वसिष्ठ उवाच

एवं स्थिते राघव हे यथाभूतमिदं शृणु ।
कस्त्वं कोऽहं जगद्वा किमिति तत्त्वविदां वर ॥ ४३ ॥
अहं तावदयं तात चिदाकाशो निरामयः ।
चेत्यसंवेद्यरहितः सर्वसङ्कल्पनातिगः ॥ ४४ ॥
स्वच्छं चिदाकाशमहं भवानाकाशमेव च ।
जगच्चाकाशमखिलं सर्वमाकाशमात्रकम् ॥ ४५ ॥
शुद्धज्ञानैकरूपात्मा शुद्धज्ञानमयात्मनि ।
अन्यसंविद्दृशोन्मुक्तः स्वान्यद्वक्तुं न वेद्म्यहम् ॥ ४६ ॥

---

जो वाणीसे अतीत पदमें बैठा है, वह वाणीरूप मलको कैसे ग्रहण करेगा ? इसलिए मैं अवाच्य (कहनेके अयोग्य) वस्तु नहीं कहता, क्योंकि वाणी सङ्कल्परूप कलङ्कसे युक्त ही रहती है ॥ ४१ ॥

श्रीरामजीने कहा—भगवन्, वाणीमें जो-जो भिन्नता, विरोधिता आदिसे होनेवाले दोष प्रवृत्त होते हैं, उनका अनादरकर यानी उनमें तात्पर्य न रखकर भागत्यागलक्षणा द्वारा मुझसे कहिए कि आप कौन हैं ॥ ४२ ॥

हे राघव, हे तत्त्वज्ञोंमें श्रेष्ठ, जब आप भागत्यागलक्षणासे कुछ कहलानेके लिए उद्यत हैं, तब आप यथार्थरूपसे स्थित इस विषयको सुनिये कि आप कौन हैं ? मैं कौन हूँ और यह जगत् क्या है ॥ ४३ ॥

हे तात, जो 'अहम्' वस्तु है, वह यह निरामय ( विकारशून्य ) चैतन्याकाश ही है। वह बाह्य एवं आभ्यन्तर विषयोंसे रहित है और समस्त कल्पनाओंसे परे है ॥ ४४ ॥

मैं स्वच्छ चिदाकाशरूप हूँ, आप चिदाकाशरूप हैं और सम्पूर्ण यह जगत् भी आकाशरूप ही है, अधिक क्या कहें, समस्त केवल आकाश ही है ॥ ४५ ॥

विशुद्ध ज्ञानमय आत्मामें मैं विशुद्ध साक्षीरूप आत्मा ही हूँ, मुझमें

स्वपक्षोद्भावनपरा अहन्तात्मैकवर्द्धनम् ।
मोक्षार्थमप्युद्यमिनो नयन्ति शतशाखताम् ॥ ४७ ॥
जीवतोऽप्युपशान्तस्य व्यवहारवतोऽपि च ।
शववद्यदवस्थानं तदाहुः परमं पदम् ॥ ४८ ॥
अबहिःसाधनं शान्तमनन्तं साधनं समम् ।
न सुखं नासुखं नाहं नान्यदित्यादि तं शिवम् ॥ ४९ ॥
मुक्तताया अहन्तेयमभावो भावनं क्व च ।
तयैवाऽन्विष्यते सेति जात्यन्धश्चित्रमीक्षते ॥ ५० ॥

---

भेदज्ञानकी दृष्टि ही नहीं है और न प्रत्यगात्मासे भिन्न कुछ अणुमात्र भी कहनेकी इच्छा रखता हूँ ॥ ४६ ॥

तब अज्ञानियोंको बोध देनेके लिए तथा प्रतिवादियोंपर विजय पानेके लिए निरहङ्कारी विद्वानोंकी प्रवृत्ति कैसे होगी, इसपर कहते हैं—'स्वपक्षो०' इत्यादिसे ।

शिष्योंका सन्देह दूर करनेके लिए या प्रतिवादियोंपर बिजय पानेके लिए उद्यमशील विद्वान् श्रुति, युक्ति आदि प्रमाणोंके द्वारा अपने पक्षके समर्थनमें तत्पर होकर बाधितका भी आहार्यारोप कर अहन्तारूप एक ही आत्माको बढ़ाते हैं और उसका अनेक शाखाओंमें विस्तार करते हैं, परन्तु अज्ञानीके सदृश मोहित नहीं होते ॥ ४७ ॥

इतनी बातसे विद्वानोंका पाण्डित्य बतलाना ही परमपद है, यह नहीं जानना चाहिए, किन्तु कोई दूसरा ही है, यह कहते हैं—'जीवतः' इत्यादिसे ।

यद्यपि जी रहा है और यद्यपि व्यवहार भी कर रहा है, तथापि परम शान्तिरूप पदमें विश्रान्त पुरुषकी मुर्देके सदृश जो स्थिति है, वही परमपद कहलाती है ॥ ४८ ॥

परमपदका ही विशेषरूपसे वर्णन करते हैं—'अबहिः' इत्यादिसे ।

भद्र, जो बाहरके साधनोंसे निर्मुक्त है, जो अन्दरके साधनोंसे शून्य है, जो कर्तापन एवं भोक्तापनसे रहित है, जो सुखरूप नहीं है, जो दुःखरूप नहीं है, जो अन्यरूप नहीं है, जो शान्त और सम है तथा जो सबका आदि है, वही स्वप्रकाश-निरतिशय आनन्दरूप शिवपद है ॥ ४९ ॥

परमपदको स्वप्रकाशस्वरूप क्यों मानना चाहिए, उसे विषयसुखके सदृश

स्पन्दनेऽस्पन्दने चैव यत्पाषाणवदासितम् ।
अजडस्यैव तद्विद्धि निर्वाणमजरं पदम् ॥ ५१ ॥
तच्च नान्यो विजानाति स्वयमेवानुभूयते ।
लोकैषणाविरक्तेन ज्ञेन ज्ञत्वमिवात्मनि ॥ ५२ ॥
तत्राऽहन्ता न च त्वत्ता नानहन्ता न चाऽन्यता ।
केवलं केवलीभावो निर्वाणममलं शिवम् ॥ ५३ ॥

---

भोग्य ही क्यों न माना जाय, इसपर कहते हैं—'मुक्ततायाः' इत्यादिसे ।

यह जो अहम्भाव है, वह मुक्तिका अभाव है अर्थात् मुक्तिका पूर्वकालिक अभाव है । इसलिए अहम्भावसे मुक्तिकी भावना कहाँ होगी ? अभावसे किसी प्रतियोगीका अनुभव तो हो नहीं सकता । मुक्तरूपता द्वारा भी मुक्तिकी भावना नहीं हो सकती, क्योंकि मुक्तरूपता और मुक्ति तो एक ही है, इसलिए दोनों पक्षोंमें जन्मान्ध पुरुष चित्र देखता है, यही न्याय आ जाता है ॥ ५० ॥

वृक्ष, मृग आदिमें चहल-पहल हो या न हो, पर पर्वतकी शिला निश्चल स्थित होनेसे जैसे जड़ है, वैसे ही अहङ्कार प्राण आदिमें चहल-पहल हो या न हो, पर परमपद निश्चल स्थित है, अतः उसे जड़ क्यों न माना जाय, इसपर कहते हैं—'स्पन्दने' इत्यादिसे ।

अहङ्कारादिका स्पन्दन ( चहल-पहल ) या अस्पन्दन होनेपर भी जो पाषाण-के सदृश जिसका निश्चल अवस्थान है, वह अजड़का ही है, जड़का नहीं है, यह आप जानिए । वही परमपद, अजर ( क्षीणता आदि दोषोंसे रहित ) मोक्ष है ॥ ५१ ॥

अतः अन्तिम स्थितिमें वह स्वप्रकाशरूप ही फलित होता है, यह कहते हैं—'तच्च' इत्यादिसे ।

जैसे लौकिक आत्मामें प्रसिद्ध ज्ञातापन लोकैषणावर्जित ज्ञातापुरुषके द्वारा स्वयं ही अनुभूत होता है, वैसे ही परमप्रकाशरूप निर्वाणपद स्वतः ही अनुभूत होता है, दूसरे द्वारा नहीं ॥ ५२ ॥

वहाँपर ( परमपदमें ) न अहन्ता है, न त्वत्ता है, न अहन्ताका अभाव है, न अन्यरूपता है । वह निर्वाणपद केवल विशुद्ध शिवरूप कैवल्य ही है ॥ ५३ ॥

चेत्योन्मुखत्वमेवाऽऽहुश्चेतनस्याऽस्य चेतनम् ।
एष एव च संसारो बन्धः क्लेशाय भूयसे ॥ ५४ ॥
चेतनस्याऽचेतनत्वमचेत्योन्मुखतात्मकम् ।
मोक्षं विद्धि परं शान्तं पदमव्ययमेव च ॥ ५५ ॥
दिक्कालाद्यनवच्छिन्ने शान्ते शान्तात्मनि स्थिते ।
चेत्यं न सम्भवत्येव कः किं चेतयते कथम् ॥ ५६ ॥
सङ्कल्पः स्वप्नदृश्येऽन्तः संविन्मात्रात्मतां विना ।
यथाऽन्यवज्जडवद्रूपास्तथैवाऽस्मिन् बहिर्गते ॥ ५७ ॥

---

उसका दूसरेसे प्रकाश होना ही संसार है, यह कहते हैं—'चेत्योन्मुख०' इत्यादिसे ।

इस चेतनका यानी निर्वाणरूप स्वप्रकाशपदका विषयोंकी ओर झुक जाना ही परप्रकाश ( विषयसम्बन्धरूप क्रिया ) कहा गया है और यही संसार है, यह भयानक महान् कष्टको देनेवाला बन्धन है ॥ ५४ ॥

विषयसम्बन्धके अभावसे प्राप्त अचेतनता तो मोक्षमें इष्ट ही है, यह कहते हैं—'चेतनस्या०' इत्यादिसे ।

चेतनकी विषयोंकी ओर प्रवृत्ति न होना ही अचेतनता है, इसीको आप मोक्ष जानिए । मोक्ष ही अविनाशी शान्त परमपद है ॥ ५५ ॥

मोक्षमें विषयोंकी स्थितिका निवारण करते हैं—'दिक्काला०' इत्यादिसे ।

भद्र, देश, काल आदिसे अपरिच्छिन्न, शान्तस्वरूप ही जब मोक्ष स्थित है, तब उस शान्तरूपमें चेत्यकी सम्भावना ही नहीं हो सकती, ऐसी स्थितिमें कौन किसका, किस तरह प्रकाश करेगा ॥ ५६ ॥

इस तरह केवल अन्तर्मुखतामात्रसे स्वतःसिद्ध मुक्तिका उपपादन कर अब बहिर्मुखतामात्रसे ही जगत्का विस्तार होता है, इसका उपपादन करते हैं—'सङ्कल्पः' इत्यादिसे ।

हे श्रोतृगण भूपसमूह, जैसे स्वप्नके संसारमें चेतनगत तत्-तत् वासनानुसारी सङ्कल्प चेतनरूप होता हुआ भी चेतनरूपताका परित्याग कर चेतनभिन्न प्रतीत होता है, वैसे ही यह आत्मा जब बहिर्मुख होता है, तब वही प्रपञ्चरूप होकर अन्य जड़के सदृश भासने लग जाता है ॥ ५७ ॥

मनोबुद्ध्यादयश्चैते संविन्मात्रानुरूपिणः ।
मनोबुद्ध्यादिशब्दार्थभावितास्तु जडात्मकाः ॥ ५८ ॥
संविन्मात्रे समे स्वच्छे सबाह्याभ्यन्तरे तते ।
अभिन्ने भेदबुद्धिर्वा किमनर्थाय जृम्भते ॥ ५९ ॥
संविन्मात्रस्य शुद्धस्य शून्यस्य च किमन्तरम् ।
यच्चान्तरं तद्विबुधा विदन्त्येति न वाग्गतिम् ॥ ६० ॥
सदसद्रूप आभासो यथा किमपि लक्ष्यते ।
तमसीक्षितयत्नेन ब्रह्मणीदं तथा जगत् ॥ ६१ ॥

इसी तरह ये जो मन, बुद्धि, अहंकार आदि हैं, वे सब अन्तर्मुखदशामें चेतनरूप हैं और मन, बुद्धि आदि शब्दार्थोंमें भावना करनेपर यानी बहिर्मुख-दशामें चेतनभिन्न जड़रूप हैं ॥ ५८ ॥

इसी रीतिसे आन्तर और बाह्य जितना जगत् है, वह सब चैतन्यैकरस ही सिद्ध हो जाता है, ऐसी स्थितिमें चितिकी बहिर्मुखतारूप जो भेदबुद्धि है, वही केवल व्यर्थ और अनर्थकी हेतु है, इसे कहते हैं—'संविन्मात्रे' इत्यादिसे ।

यह विस्तृत जितना बाह्य-आभ्यन्तर जगत् है, वह सब सम, स्वच्छ एवं अभिन्न संविद्रूप ही है, इसमें जो भेदबुद्धि की जाती है, वह अनर्थके लिए ही विकसित होती है ॥ ५८ ॥

समस्त दृश्योंका विनाश हो जानेपर अन्तमें बच जानेवाला संविन्मात्रस्वरूप जो आत्मा है, वह शून्यरूप नहीं है, किन्तु निरतिशयानन्दरूप ही है, यह विद्वानोंका अनुभव है, यह कहते हैं—'संविन्मात्रस्य' इत्यादिसे ।

अन्तमें अवशिष्ट विशुद्ध संविन्मात्रस्वरूप आत्मामें और शून्यमें क्या अन्तर है, यह हम लोग नहीं जान सकते । जो अन्तर है, उसे तो विद्वान् कहते हैं कि वह वाणीका विषय नहीं है, स्वानुभववेद्य है अर्थात् निरतिशया-नन्दरूप है, उसका वर्णन कैसे कर सकते हैं ॥ ६० ॥

तब विवेकियोंकी यौक्तिक दृष्टिसे जगत् कैसा है ? इसे कहते हैं—'सदसद्रूपः' इत्यादिसे ।

जैसे आँखके प्रणिधानरूप ( एकाग्रता ) प्रयत्नसे अन्धकारमें कुछ सद्-असद्रूप आभास दिखाई देता है, वैसे ही ब्रह्ममें जो आभास दिखाई देता है, वह आभास ही यह जगत है ॥ ६१ ॥

अयमाकाशमेवाऽहं यदि शाम्याम्यवासनम् ।
वासनां तु न बध्नासि स्थित एवाऽसि चिन्नभः ॥ ६२ ॥
इति निश्चयवानन्यस्तज्ज्ञोऽज्ञ इव संज्ञया ।
चिद्रूपुर्विद्यमानोऽपि शाम्यत्यसदिव स्वयम् ॥ ६३ ॥
जीवानां ज्ञप्तिगुप्तेन ज्वलन्नज्ञानवायुना ।
अविद्याग्निः प्रबुद्धानां पुनस्तेनैव शाम्यति ॥ ६४ ॥
अजडानां यदज्ञानं स्थाणूनामिव शाम्यताम् ।
तमाहुंमोक्षमक्षुब्धमासितं पदमक्षयम् ॥ ६५ ॥

---

यह मैं चिदाकाशस्वरूप ही हूँ, इस प्रकार निश्चयकर वासनानिर्मुक्त हो उत्तमशान्तिसे सम्पन्न हो गया हूँ। आप भी यदि वासनाको कहीं न बाँध लें, तो चिदाकाशरूप ही होकर स्थित हैं ॥ ६२ ॥

यह चिदाकाशरूप ही मैं हूँ, इस प्रकारके निश्चयसे युक्त जो भी दूसरा पुरुष है वह तत्त्वज्ञ ही है। वह व्यवहारसे अज्ञानीके सदृश विद्यमान होता हुआ भी चैतन्यस्वरूप ही है और देहादिकी स्थिति होनेपर भी उन्हें असत्-सा मानकर स्वयं शान्त ही रहता है ॥ ६३ ॥

क्या जीवोंकी अविद्याको चिदात्मा नष्ट कर देता है या जड़? प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि चिदात्मा तो अविद्याका साधक है, इसलिए उससे विरोध ही नहीं। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि सारा जड़ अविद्याका कार्य है, इसलिए अविद्याका जड़ भी विरोधी नहीं है, इस आशङ्कापर कहते हैं—'जीवानाम्' इत्यादिसे।

मैं अज्ञानी हूँ, इस प्रकारका साक्षी ज्ञान ही अज्ञानकी सिद्धि करता है। यद्यपि जीवोंकी संसाररूप अविद्यात्मक अग्नि 'मैं संसारी हूँ' इस तरहके साक्षि-ज्ञानसे रक्षित अज्ञानरूप वायुसे जलती रहती है तथापि 'मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ' इस तरहके प्रबुद्ध जीवोंकी अन्तिम साक्षात्कार वृत्तिरूपमें परिणत साक्षि-रक्षित अज्ञान-वायुसे मानो नष्ट हो जाती है, तीसरे किसीकी अपेक्षा नहीं करती ॥ ६४ ॥

क्या मुक्त पुरुष जगत्को जानते हैं या नहीं? यदि जानते हैं, तो संसारी और मुक्त दोनोंमें कोई विशेष नहीं रहा। दूसरे पक्षमें यानी नहीं जानते हैं, इस पक्षमें तो एक आत्माके अज्ञानका परिहार करते हुए आपने जगत्के अनन्त

ज्ञत्वेन ज्ञत्वमासाद्य मुनिर्भवति मानवः ।
अज्ञत्वादज्ञतामेत्य प्रयाति पशुवृक्षताम् ॥ ६६ ॥
अहं ब्रह्म जगच्चेदमित्यविद्यामयो भ्रमः ।
असत्यः प्रेक्षया ध्वान्तं दीपेनेव न लभ्यते ॥ ६७ ॥
समग्रकरणग्रामोऽप्यसङ्कल्पो विवेदनः ।
न किञ्चिदप्यनुभवत्यन्तर्बाह्ये च शान्तधीः ॥ ६८ ॥

---

अज्ञान स्वीकृत कर लिये । सूखे काठके-जैसे स्थित उन पुरुषोंमें मुक्तत्व ही कैसा? इसपर कहते हैं—'अजडानाम्' इत्यादिसे ।

अनावृत स्वप्रकाश निरतिशयानन्द आत्माके स्वरूपभूत हुए उन मुक्त पुरुषोंकी सांसारिक ज्ञानोंसे रहित दुःखरूप क्षोभसे शून्य जो स्थिति है वही मोक्ष है और वही अविनाशी पद है। इनमें अनन्त अज्ञानोंकी आपत्ति भी नहीं है, क्योंकि एक हीके विज्ञानसे सभीका ज्ञान हो जानेके कारण उनमें किसी तरहके अज्ञानकी प्राप्ति ही नहीं है। अपि च, भ्रमात्मक ज्ञानका अभाव भी आत्मरूप ही है, इसलिए उसमें तत्त्वज्ञानसे कोई विलक्षणता ही नहीं रही ॥ ६५ ॥

किञ्च, जब मूलाज्ञान रहता है तभी उसके बलसे बाह्य अर्थोंके अज्ञान मूर्खताके सम्पादक होते हैं। मूलाज्ञानका नाश हो जानेपर तो बाह्य अर्थोंके अज्ञान मुनित्वके सम्पादक हो जाते हैं, इस आशयसे कहते हैं—'ज्ञत्वेन' इत्यादि ।

आत्मज्ञानके द्वारा सांसारिक पदार्थोंका अज्ञान प्राप्तकर पुरुष मुनि बन जाता है, परन्तु आत्माके अज्ञान द्वारा सांसारिक पदार्थोंका अज्ञान प्राप्तकर पुरुष पशु तथा वृक्ष बन जाता है ॥ ६६ ॥

किञ्च, ब्रह्मज्ञान और जगद्भ्रम सभी अज्ञानरूप ही हैं, परन्तु अज्ञाननिवृत्ति तो अज्ञान नहीं है, जिससे मुक्ति न हो, इस आशयसे कहते हैं—'अहम्' इत्यादि ।

'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकारका ब्रह्मज्ञान तथा यह जगत् सब अविद्यामय असत्य भ्रम है। यह ब्रह्माकार अखण्डवृत्तिसे, दीपकसे अन्धकारकी नाईं, निकल जाता है ॥ ६७ ॥

तब जीवन्मुक्तोंकी मुक्तता ही न रही, क्योंकि उन्हें चक्षु आदि इन्द्रियोंसे

सुषुप्तत्व इव स्वप्नः समाधौ प्रविलीयते ।
दृश्यं सर्वं ज्ञबोधेऽन्तः पुनः स्वात्मैव लक्ष्यते ॥ ६९ ॥
नीलत्वं च यथा व्योम्नि तथा पृथ्व्यादिता शिवे ।
भ्रान्तिमात्रादृते नान्यद्यथा व्योम तथा शिवः ॥ ७० ॥
वासनाभिरुपेतोऽपि समस्ताभिरवासनः ।
भवत्यसावसत्सर्वमिदमित्येव यस्य धीः ॥ ७१ ॥
सङ्कल्पेष्वद्भुतं भव्य स्वप्नमायेन्द्रजालकम् ।
यद्वत्संसृतयस्तद्वद् दृष्टेऽप्यास्था किमत्र वै ॥ ७२ ॥

---

बाह्य पदार्थोंका विज्ञान होता है, यही दृष्ट है, इसपर कहते हैं—'समग्र०' इत्यादिसे ।

जो तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त पुरुष है उसकी समस्त इन्द्रियाँ हैं पर वे सङ्कल्प-शून्य हैं और सविकल्पक ज्ञानसे रहित हैं । इसलिए शान्तबुद्धि यह महात्मा बाह्य और आन्तर किसीका अनुभव नहीं करता । जिस तरह सुषुप्ति अवस्थामें स्वप्नका विलय हो जाता है उसी तरह तत्त्वज्ञान होनेपर समाधिमें समस्त दृश्य विलीन हो जाता है और भीतर केवल आत्मा ही लक्षित होता है ॥ ६९ ॥

समस्त दृश्य क्यों विलीन हो जाता है, इस प्रश्नपर वे भ्रान्तिरूप हैं, यह उत्तर देते हैं—'नीलत्वम्' इत्यादिसे ।

जैसे आकाशमें नीलरूप विलीन हो जाता है वैसे ही पृथिवी आदिरूप समस्त दृश्य आत्मामें विलीन हो जाता है । जैसे आकाशमें नीलरूप केवल भ्रान्ति छोड़कर दूसरा कुछ नहीं है उसी तरह आत्मामें पृथिवी आदिरूप भ्रान्ति छोड़कर और कुछ नहीं है, इसलिए नीलरूप जैसे आकाश है वैसे ही पृथिवी आदिरूपके प्रति आत्मा है ॥ ७० ॥

अतएव बाधित अर्थकी वासना वासना ही नहीं है, ऐसी स्थितिमें ज्ञानी वासनारहित ही है, यह कहते हैं—'वासनाभिः' इत्यादिसे ।

जिस पुरुषको यह बुद्धि रहती है कि यह सब असत् ही है वह वासनासे युक्त होता हुआ भी समस्त वासनाओंसे रहित ही है ॥ ७१ ॥

चित्र-विचित्र भुवन, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी ; विहित निषिद्ध अनेक कर्म ; एवं विहित निषिद्ध कर्मफलोंकी भोगस्थिति तथा ईश्वर—इन सबका जहाँपर

न दुःखमस्ति न सुखं न पुण्यं न च पातकम् ।
न किञ्चित्कस्यचिन्नष्टं कर्तुर्भोक्तुरसम्भवात् ॥ ७३ ॥
सर्वं शून्यं निरालम्बं ममताप्रत्ययोऽप्ययम् ।
द्विचन्द्रस्वप्नपुरवद्यस्यासौ सोऽपि नास्ति नः ॥ ७४ ॥
केवलो व्यवहारस्थः काष्ठमौनगतोऽथवा ।
काष्ठपाषाणवत्तिष्ठन् ब्रह्मतामधिगच्छति ॥ ७५ ॥
शान्तत्वे चित्तत्वे नानानानात्मनीह शिवे ।
अवयविनोऽवयवित्वे त्विह युक्तिर्विद्यते नान्या ॥ ७६ ॥

---

अस्तित्व है ऐसे इस अद्भुत जगतको आप कैसे असत्, अनृत और सङ्कल्पस्वरूप पूर्वोक्त युक्तियोंसे मानकर खण्डित करते हैं ? सङ्कल्प, मनोरथ आदि स्थलोंमें तो उस तरहके पदार्थ हैं नहीं, ऐसी आशङ्काकर वहाँपर भी ( सङ्कल्प आदि स्थलोंमें भी ) अद्भुत अर्थसत्ताका दिग्दर्शन कराते हैं—'सङ्कल्पेष्व०' इत्यादिसे ।

हे भव्य श्रीरामजी, सङ्कल्पजनित पदार्थोंमें स्वप्न, माया, इन्द्रजाल जैसे चित्रविचित्र अद्भुत अर्थ विद्यमान हैं, वैसे ही ये सब संसार अद्भुत ही हैं। प्रत्यक्षतः दिखाई देनेवाले स्वप्न आदि अर्थोंमें क्या आस्था बाँधकर बैठे रहना अच्छा है ? एवं संसारमें भी आस्था बाँधकर बैठे रहना क्या अच्छा है ? ॥७२॥

जब आत्मामें कर्तृत्व-भोक्तृत्वकी सत्ता हो, तब तो समस्त सुख-दुःखके भोगके लिए पुण्य-पापकी व्यवस्था हो सकती है । आत्मामें जब कर्तृत्व-भोक्तृत्वका संभव ही नहीं, तब पुण्य-पापकी व्यवस्था ही क्या ? इसपर कहते हैं—'न' इत्यादिसे ।

कर्तृत्व और भोक्तृत्वका ही जब आत्मामें असम्भव है तब न दुःख है, न सुख है, न पुण्य है, न पाप है और न किसीका कुछ बिगड़ा ही है ॥ ७३ ॥

जिस अहङ्कारमें हम लोगोंको यह ममताबुद्धि होती है उसका भी कहीं अस्तित्व नहीं है । इसलिए समस्त शून्यरूप अवलम्बनरहित एवं दो चन्द्रमा या स्वप्ननगरके सदृश मिथ्या है ॥ ७४ ॥

भद्र, समस्त द्वैतसे शून्य तत्त्ववित् पुरुष चाहे व्यवहारमें रहे या काष्ठ-पाषाणके सदृश निश्चल होकर समाधिमें स्थित रहते हुए चाहे लकड़ीके सदृश मौन धारण करे । सभी स्थितिमें वह ब्रह्मरूपता प्राप्त करता ही है ॥ ७५ ॥

इस तरह मायिक विवर्तवादके सिद्धान्तको लेकर आरोपित जगत्के

अर्थागतस्वभावस्य च नैव च सम्भवादमले ।
एतस्मिन्सर्वगते ब्रह्मणि नास्ति स्वभावोक्तिः ॥ ७७ ॥

अपवादसे तत्त्ववित् पुरुषकी परम पुरुषार्थमें निष्ठा बतलाई, परन्तु दूसरे तार्किक जो जुदे-जुदे सिद्धान्तकी कल्पना करते हैं उनके पास जगत्के उत्पत्ति आदि व्यवहारमें एवं परम पुरुषार्थरूप परमार्थमें कोई युक्ति नहीं है, यह कहते हैं— 'शान्तत्वे' इत्यादिसे ।

भद्र, यह शिवस्वरूप जो अन्तरात्मा है वह प्राण, बुद्धि, मन, देह आदिके साथ एकरूप बनकर अनेकरूप भिन्नस्वभाव तथा संसारके अनेक अर्थोंसे आक्रान्त प्रत्यक्षतः दिखाई देता है, इस आत्मामें दिखाई दे रही अनेकरूपता, भिन्न-स्वभावता आदिका निराकरणकर दुःखरहित निरतिशय अद्वितीय आत्मामें आनन्दरूपता बचानी है । इसमें अध्यारोपापवादप्रणालीको छोड़कर दूसरी कोई युक्ति है नहीं । अपि च, कल्याणरूप अन्तरात्माको सदा शान्तस्वरूप माना जाय, तो भी निर्विकार अन्तरात्माका— संचलन एवं परिच्छिन्न स्वभावयुक्त चित्त-स्वरूपता धारणकर देह, इन्द्रिय आदि अनेक-अनेक तरहके भावों द्वारा—जो संसारमें आना है, इसमें अध्यारोपापवादप्रणालीको छोड़कर किसीके पास और कोई युक्ति नहीं है । अपि च, इन सब बातोंको सिद्ध करनेके लिए आत्माको परिच्छिन्न, परिणामी एवं सावयव मान लिया जाय, तो भी इस आत्माको जिन अवयवोंको लेकर सावयव स्वीकार करेंगे, इसमें कोई युक्ति नहीं मिलेगी, क्योंकि यदि अवयवोंको चेतनरूप मानेंगे, तो कभी उनका एकमत न होगा, ऐसी स्थितिमें अवयवोंका विच्छेद हो जानेके कारण अवयवीका विनाश ही प्राप्त है । यदि अवयवोंको जड़ मानेंगे, तो अवयवी भी जड़ हो जायगा । ऐसी स्थितिमें अनित्य आत्मा पूर्वके पुण्य-पापोंका भोग कैसे करेगा ? इसी तरह आत्माको जगत्का कारण मानकर शान्त एवं निर्विकार कोई मान ले, तो भी इसकी जगत् बनानेमें अनुकूल संकल्पात्मक चित्तरूपता आदिमें अध्यारोपापवादको छोड़कर और कौन-सी युक्ति हो सकती है ? इसलिए विवर्तदृष्टि ही एकमात्र सब वादियोंके लिए शरण है ॥ ७६ ॥

यद्यपि स्वभावतः आत्मा शान्त ही है तथापि प्रलयके बाद चित्तत्व, एकत्व, अनेकत्व, सावयवत्व आदि विलक्षण-विलक्षण धर्मोंसे युक्त पदार्थोंका आविर्भाव

न च नास्तिकोपलम्भात्संवित्तेरस्तिता च नैवाजे ।
ग्राह्यग्राहकदृष्टेरसम्भवादस्ति किञ्चिदपि ॥ ७८ ॥

होगा ही, क्योंकि प्रलयके समय ब्रह्ममें सारे पदार्थ लीन होकर बैठे हैं ; इसलिए उन पदार्थोंका अपना-अपना जो विचित्र स्वभाव है वह तो ब्रह्ममेंसे कहीं गया नहीं, इसपर कहते हैं—'अर्थागत०' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, अर्थोंकी विचित्रताका कारणभूत जो स्वभाव है वह परमात्मामें अर्थोंके कारण आया है या स्वतःसिद्ध है ? अर्थोंके कारण आया है, यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि दूसरे स्थानसे आनेवाले अन्याधीन धर्मको दूसरेका स्वभाव माना नहीं जा सकता । दूसरी बात यह है कि जो स्वभावतः असङ्ग और अद्वय है, ऐसे निर्मल परमात्मामें दूसरेका विचित्र स्वभावरूप मल किसी तरह सम्बद्ध हो ही नहीं सकता । अपि च, जितने ये पदार्थ हैं वे प्रलयकालमें स्वतन्त्ररूपसे अपना अस्तित्व नहीं रखते, जिससे कि प्रलयके बाद अपने-अपने स्वभावके बलसे ही चित्र-विचित्ररूपमें आविर्भूत हो सकें, इसलिए इस स्वभावको अनागन्तुक ही कहना चाहिए । परन्तु यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि इस पक्षमें ब्रह्मके सर्वगत होनेके कारण सब पदार्थ सभी तरहकी विचित्रताओंसे परिपूर्ण होने लगेंगे । ब्रह्मके सर्वगत होनेपर 'इस वस्तुका यही स्वभाव है' इसकी व्यवस्था करनेवाला कौन रहेगा ? प्रत्येक वस्तुमें सभी तरहकी विचित्रताओंको मान लेंगे, तो इस संसारसे विचित्रताका नाम ही उठ जायगा । सर्वसाधारण धर्ममें न तो विचित्रता रहती है और न वह किसीका पार्थक्यकारक ही होता है । ऐसी स्थितिमें सम्पूर्ण जगतकी एकरूपता हो जायगी ॥ ७७ ॥

सबके अनुभवपर चढ़ी हुई जगत्-विचित्रताका यदि युक्तिके अभावमें आप खण्डन करते हैं, तो ज्ञानका भी आप खण्डन क्यों नहीं करते, क्योंकि ज्ञेयके बिना ज्ञान तो कहीं होता नहीं । ऐसी स्थितिमें शून्यवाद ही आ गया, इसपर कहते हैं—'न च' इत्यादिसे ।

विषयोंके खण्डनके प्रसङ्गमें जो पुरुष यह कहता है कि ज्ञानका भी अस्तित्व नहीं है, वह अत्यन्त तुच्छ है, क्योंकि ज्ञानके अस्तित्वका खण्डन करनेवाला जो पुरुष है, वह अपने आपका ज्ञान रखता है, इसलिये ज्ञानकी सत्ता नहीं है, यह कैसे कह सकते हैं । अपि च, खण्डन करनेवाला पुरुष अपनेसे भिन्न ज्ञान

शममलमहार्यमार्यजुष्टं
शिवमजमक्षयमासितं समं यत् ।
तदवितथपदं तदास्व शान्तं
पिब लल भुङ्क्ष्व भवानयं हि नास्ति ॥ ७९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे भावनाप्रतिपादनं नामैकोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥

---

और विषयका खण्डन करेगा, अपना तो करेगा नहीं, जब सभी ज्ञान उसीकी आत्मा है, तब स्वभिन्न विषयका खण्डन करते हुये वह ज्ञानको आखिर बचा ही लेता है। किञ्च, जो निषेध किया जाता है वह किसी आधारपर ही किया जाता है, निराधार निषेध नहीं किया जाता। इससे ज्ञान करनेवाला एवं जानने योग्य विषय दोनोंका स्वयंप्रकाश, ज्ञाता और ज्ञेयसे शून्य आधारभूत आत्मामें ही निषेध करना चाहिए, यही उसकी आत्मा है। ऐसी स्थितिमें अविनाशी स्वात्मामें ही ग्राह्य-ग्राहकदृष्टिके असम्भवप्रतिपादनमें पर्यवसानसे खण्डनकर्ताके मतमें समस्त प्रतिषेधोंके आधारभूत कोई अज वस्तु सिद्ध हो गई और यही वस्तु परब्रह्म है ॥ ७८ ॥

हे श्रीरामजी, आप ब्रह्मज्ञानियों द्वारा प्रेमपूर्वक सेवित तथा छोड़ने लायक नहीं जो अज, अविनाशी, कल्याणरूप, परमार्थसत्यभूत, नित्यसिद्ध, निर्मल, शान्त, सम शिव पद है, तद्रूप ही बनकर स्थित हो जाइये। व्यवहारमें साधारण जनोंके सदृश यद्यपि आप खाइये, पीजिये, खेलिये, तो भी आप मुक्त ही हैं, क्योंकि आपको दृश्य प्रपञ्चरूप बन्धन है ही नहीं ॥ ७९ ॥

उन्तीसवाँ सर्ग समाप्त

## त्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अहन्तैव पराऽविद्या निर्वाणपदरोधिनी ।
तयैवान्विष्यते मूढैस्तदित्युन्मत्तचेष्टितम् ॥ १ ॥
अहन्तैवाऽलमज्ञानादज्ञत्वस्य निदर्शनम् ।
न हि तज्ज्ञस्य शान्तस्य ममाऽहमिति विद्यते ॥ २ ॥
अहन्तामलमुत्सृज्य निर्वाणः खमिवाऽमलः ।
सदेहमपदेहं वा ज्ञस्तिष्ठति गतज्वरः ॥ ३ ॥
न तथा शरदाकाशं न तथा स्तिमितोर्णवः ।
पूर्णेन्दुमध्यं न तथा यथा ज्ञः परिराजते ॥ ४ ॥

---

## तीसवाँ सर्ग

[ जिस दृष्टिसे अविद्याजनित नानात्वभ्रान्तिकी शान्ति द्वारा धीर पुरुष परमब्रह्ममें स्थिर हो जाता है, उस दृष्टिका वर्णन ]

जबतक अहम्भाव परित्यक्त नहीं होता, तबतक ब्रह्मविचार भी नहीं हो सकता, फिर ब्रह्मलाभ तो दूर ही है, इस आशयसे कहते हैं—'अहन्तैव' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, अहम्भाव ही सब अविद्याओंकी मूलभूत अविद्या है, यही मोक्षस्थानको आवृत करनेवाली है। जो मूढ पुरुष हैं, वे उसी अविद्यासे परमपदकी अन्वेषणा करते हैं, यही उनकी उन्मत्तोंकी-सी चेष्टा है ॥१॥

भद्र, जैसे धूमज्ञान अग्निज्ञानका हेतु पर्याप्त है, वैसे ही अज्ञानसे उत्पन्न अहन्ता ही अज्ञानकी सत्तामें हेतु पर्याप्त है, जो तत्त्वज्ञानी शान्तपुरुष है, उसे ममता या अहन्ता नहीं रहती ॥ २ ॥

हे श्रीरामजी, इस अहन्तारूपी मलका सर्वथा त्यागकर निर्मल हो चिदाकाशकी नाईं मोक्षस्वरूप ज्ञानी पुरुष सांसारिक सर्वविध सन्तापोंसे शून्य स्थित रहता है। चाहे वह सदेह रहे या बिना देहका ॥ ३ ॥

अहन्ताके दूर चले जानेसे ज्ञानी पुरुष निर्मल और विक्षेपशून्य परिपूर्ण हो जाता है, यह वर्णन करते हैं—'न तथा' इत्यादिसे।

जैसा अहन्तासे रहित ज्ञानीपुरुष सुशोभित होता है वैसा न तो शरत्कालका

चित्रसङ्गरयुद्धस्य सैन्यस्याऽक्षुब्धता यथा ।
तथैव समता ज्ञस्य व्यवहारवतोऽपि च ॥ ५ ॥
निर्वाणैकतया ज्ञस्य वासनैव न वासना ।
लेखादामोपमा त्वब्धेरूर्म्यादि न जलेतरत् ॥ ६ ॥
तरत्तरङ्गो जलधिर्जलमेव यथाऽखिलम् ।
दृश्योच्छूनमपि ब्रह्म तथा ब्रह्मैव नेतरत् ॥ ७ ॥
अन्तस्तरङ्गतोऽक्षुब्धो बहिरस्तङ्गतः शमी ।
विद्यते चोदितो यस्य स मुक्त इति कथ्यते ॥ ८ ॥
अहन्त्वसर्गरूपेण संवित्संविन्मये परे ।
स्फुरत्यम्भोम्भसीवातो नानातेयं किमात्मिका ॥ ९ ॥

आकाश, न प्रशान्त सागर और न परिपूर्ण चन्द्रमाका मध्यभाग ही शोभित होता है ॥ ४ ॥

जैसे चित्रलिखित युद्धमें परस्पर प्रहार कर रही भी सेनाएँ क्षुब्ध-सी प्रतीत होनेपर भी अक्षुब्ध ही रहती है, वैसे ही व्यवहारमें निरत भी ज्ञानी पुरुषमें समता ( अक्षुब्धता ) ही रहती है ॥ ५ ॥

जो ज्ञानी पुरुष है उसकी वासना वासना ही नहीं है, क्योंकि वह निर्वाण-स्वरूप बन गया है । जैसे जले हुए वस्त्रमें तन्तुओंकी रेखाएँ प्रतीत होती हैं, परन्तु असलमें तन्तुओंकी रेखाएँ हैं ही नहीं, वैसे ही व्यवहारसे ज्ञानीमें अनुमित-वासना बाधित होनेके कारण वासनारूप नहीं है । जैसे समुद्रके तरङ्ग जलसे अन्य कुछ नहीं हैं वैसे ही परमात्मासे इतर कुछ भी नहीं है ॥ ६ ॥

जैसे तैर रहे तरङ्गोंसे युक्त समुद्र पूर्णरूपसे जल ही है, वैसे ही दृश्यसे वर्द्धित ब्रह्माण्ड भी ब्रह्म ही है, दूसरा कुछ नहीं ॥ ७ ॥

ज्ञानी पुरुषमें भीतर-बाहर सबकी वासनाएँ बाधित हो चुकी हैं, इसमें क्या प्रमाण ? इस शङ्कापर अक्षोभ, शम आदि ही प्रमाण हैं, इस आशयसे कहते हैं—'तरत्तरङ्गो' इत्यादि ।

जो पुरुष भीतरके मानसिक तरङ्गोंसे क्षुब्ध नहीं होता और बाहरके तरङ्गोंसे भी क्षुब्ध नहीं होता, जो शान्तिसे शोभित है और जो सदा प्रसन्न रहता है, वह मुक्त कहा जाता है ॥ ८ ॥

ज्ञानस्वरूप अज्ञात आत्मामें महन्ताकी सृष्टिके रूपसे ज्ञानरूप आत्मा ही

धूमस्य स्फुरतो व्योम्नि यथा गजरथादयः ।
व्यूहा धूमान्न ते भिन्नास्तथा सर्गाः परे पदे ॥ १० ॥
संविद्भ्रान्तिविचारेण भ्रान्त्यलाभविलासिनः ।
विजयध्वं विषादमागता ज्ञास्तज्ज्ञता हि वः ॥ ११ ॥
अङ्कुरोऽनुभवत्यन्तर्वृक्षपत्रफलं यथा ।
तथा जगदहन्त्वे ज्ञः स्वात्मखमप्यलम् ॥ १२ ॥
रूपालोकमनःसत्ताज्वालार्चिष्विव दण्डता ।
सत्योऽपि च न सन्त्येता भ्रान्तेश्चित्ताबला इव ॥ १३ ॥

---

ऐसे भासित होता है जैसे जलमें जल तरङ्गरूपसे भासित होता है, इसलिए इस अनेकताका रूप ही क्या ॥ ९ ॥

जैसे आकाशमें स्फुरित हो रहे नीहारधूम्रके हाथी, रथ आदि आकार दिखाई देते हैं, परन्तु वे आकार नीहारधूमसे पृथक् नहीं हैं, वैसे ही परमपदमें ये सर्ग भी हैं अर्थात् परमपदसे भिन्न यह सृष्टि नहीं है ॥ १० ॥

अब महाराज वसिष्ठजी सभी श्रोताओंको सम्बोधित कर कहते हैं—'संवित्' इत्यादिसे ।

हे उपस्थित विद्वानो, आप लोग किसी तरहका विषाद न करें, किन्तु मेरे कथनके अनुसार विषादके हेतु सम्पूर्ण प्रपञ्च संवितकी एकमात्र भ्रान्ति ( विवर्त ) है, यों विचारकर—भ्रान्ति और उसके विषयकी तत्त्वतः परीक्षा करनेपर निःस्वरूप सिद्ध होनेके कारण उनकी किसी तरह प्राप्ति न हो सकनेसे—विलसनशील होते हुए आप लोग सबके ऊपर अपना स्थान जमाइये । क्योंकि मेरे उपदेशसे सचमुच आप लोग वस्तुतत्त्वको जान गये हैं । तात्पर्य यह है कि आप लोगोंमें अब अज्ञता नहीं रही ॥ ११ ॥

किस तरहकी वह संविद्-भ्रान्ति अज्ञानियों द्वारा अनुभूत होती है, यह कहते हैं—'अङ्कुरो०' इत्यादिसे ।

जैसे अङ्कुर अपनी आत्मामें ही वासनात्मक वृक्ष, पत्र, फल आदिका अनुभव करता है, वैसे ही अज्ञानी पुरुष वस्तुतः आत्मस्वरूप होता हुआ भी आकाशके सदृश स्वच्छ और विशाल अपनी आत्माका जगत और अहङ्काररूपसे भलीभांति अनुभव करता है ॥ १२ ॥

उसमें किस तरहका विचार होता है, यह कहते हैं—'रूपालोक०' इत्यादिसे ।

यथासुखं यथारम्भं यथानाशं यथोदयम् ।
यथादेशं यथाकालमजराः शान्तमास्यताम् ॥ १४ ॥
इष्टानिष्टोपलम्भेषु शान्तो व्यवहरन्नपि ।
शववन्नान्यतामन्तर्निर्वाणोऽनुभवत्यलम् ॥ १५ ॥
अमनोवासनाहन्ता धत्ते यच्च जगच्चिरम् ।
जीवतो जीवतश्चैव चिज्जीवः स परं पदम् ॥ १६ ॥
सत्तैव जडवाहेन दुःखभाराय केवलम् ।
नृणां पाशावबद्धानां पोतकानामिवार्णवे ॥ १७ ॥

बाह्य रूपालोककी सत्ता तथा आन्तरिक मनकी सत्ता ये सब अधिष्ठानरूपसे सत्य होती हुई भी अपने स्वरूपसे ऐसे सत्य नहीं हैं, जैसे भ्रमणशील हो रहे आलातकी ज्वालार्चिमें दण्डचक्रादिरूपता या विधुर पुरुषोंके चित्तमें कल्पित कामिनी महिलाएँ अपने स्वरूपसे सत्य नहीं हैं ॥ १३ ॥

इसलिए हे श्रोताओ, यह सारा संसार जैसे उत्पन्न होता है, जैसे स्थित है, जैसे अपने कार्योंका आरम्भ करता है, जैसे सुख-दुःखका अनुभव करता है, जैसे नष्ट होता है और जिस तरहके इसके देश-काल हैं—इन सब बातोंका उत्पत्ति-स्थिति आदि प्रकरणोंमें कही गई युक्तियोंसे निश्चय कर यानी ये सब मिथ्या हैं, यह निश्चय कर अजर होते हुए शान्तरूपसे आप लोग स्थित रहिये ॥ १४ ॥

इष्ट और अनिष्ट वस्तुओंकी प्राप्तिके लिए व्यवहार कर रहा भी मुक्त पुरुष मुर्देके सदृश अन्यताका अनुभव नहीं करता, किन्तु अपनी आत्मामें चित्तका समर्पण कर स्वस्वरूपका ही अनुभव करता है ॥ १५ ॥

जो जीवन्मुक्त पुरुष हैं उनकी अहन्ता मनोजनित वासनासे रहित ही है। वह अहन्ता देहनाश-पर्यन्त जो जगत् धारण करती है और उसका भोक्ता जबतक जीवन धारण करता है, वह सब चिद्रूप जीव ही है उसमें तनिक भी जड़ता नहीं है, यही परमपद है ॥ १६ ॥

इन सब बातोंसे निष्कर्ष यही निकला कि जीव जगत्की जड़रूपसे सत्ता मान लेना ही अनर्थ है, इस आशयसे कहते हैं—'सत्तैव' इत्यादि ।

जैसे समुद्रमें जहाजोंके भार-वहनके लिए आधारभूत जलसत्ता ही केवल कारण है वैसे ही संसाररूपी फन्देसे बँधे गये मनुष्योंको दुःखरूपी भार ढोनेके लिए जीव-जगत्की जड़रूपसत्ता ही कारण है ॥ १७ ॥

मोक्षसत्ताऽऽश्रयति तं नाज्ञानानुभवादिव ।
मृतेन यत्किल प्राप्यं जीवन्प्राप्नोति तत्कथम् ॥ १८ ॥
यद्यत्सङ्कल्प्यते तत्तत्सङ्कल्पादेव नाशभाक् ।
न सम्भवति यत्रैतत्तत्सत्यं पदमक्षयम् ॥ १९ ॥
नान्यो न चाहमस्मीति भावनान्निर्भयो भव ।
सत्यं युक्तं भवत्येतद्विषमप्यमृतं यथा ॥ २० ॥
जडं देहादि चितान्तं विचार्य सकलं वपुः ।
लभ्यते नाहमस्मीति तस्मान्नास्मीति सत्यता ॥ २१ ॥
शान्ताशेषविशेषाणामहन्तान्ताविचारणात् ।
केवलं मुक्ततोदेति न तु किञ्चिद्विनश्यति ॥ २२ ॥

---

जो मृत पुरुषके द्वारा प्राप्त किया जानेवाला स्वर्ग है, वह क्या जीवित पुरुष द्वारा किसी तरह प्राप्त किया जा सकता है ? अर्थात् मृतपुरुष लभ्य स्वर्ग जैसे जीवित पुरुषका जीवनापराधसे मानो आश्रयण नहीं करता, वैसे ही मोक्ष-सत्ता अज्ञानी पुरुषका अज्ञानगत जड़तानुभवके अपराधसे मानो आश्रयण नहीं करती ॥ १८ ॥

मोक्षरूप परमपुरुषार्थ माननेकी आवश्यकता क्या है ? साङ्कल्पिक स्वर्ग आदि फलोंमें से किसी एकको नित्य पुरुषार्थरूप मान लीजिये, इसपर कहते हैं—'यद्यपि' इत्यादिसे ।

जो-जो पदार्थ सङ्कल्पसे सिद्ध होता है, वह सब सङ्कल्पसे ही नष्ट भी होता है । इसलिए जहाँ इस सङ्कल्पका सम्भव नहीं है, वही अक्षय पद मोक्ष सत्य है ॥१९॥

न तो अन्य कोई है और न मैं ही हूँ, इस तरहकी अनहंभावनासे आप निर्भय हो जाइये । अज्ञदृष्टि यद्यपि इस अनहंभावनाको भयावह समझकर ग्रहण नहीं कर सकती, तथापि परमार्थ दृष्टि उसे सत्य अमृतरूप समझकर ग्रहण ऐसे कर सकती है, जैसे अज्ञदृष्टिसे भयङ्कर विष समझकर छोड़े गये अमृतको परमार्थ दृष्टि ग्रहण करती है ॥२०॥

इसमें सत्यताका उपपादन करते हैं—'जडम्' इत्यादिसे ।

जड-देहादिसे लेकर चित्तपर्यन्त सम्पूर्ण शरीर विचारकर देखनेसे अहंरूप उपलब्ध नहीं होता । अतः जड देहादिरूप 'मैं नहीं हूँ' एकमात्र यही सत्यता है ॥ २१ ॥

यही कारण है कि सम्पूर्ण शान्तिकी सीमारूपी मोक्षता अहङ्कारकी शान्ति

भोगत्यागविचारात्मपौरुषान्नान्यदत्र हि ।
उपयुज्यत इत्यज्ञाः स्वात्मैवाशु प्रणम्यताम् ॥ २३ ॥
निर्वासनं मननमेवमुदाहरन्ति
मोक्षं विना भवति तन्न च जातु बोधात् ।
सन्नो जगद्भ्रम इतीह परः प्रबोधो
न प्रत्ययोऽत्र यदतः सुचिराय बन्धः ॥ २४ ॥
जगदहमसदित्यवेत्य सम्यग्-
जनधनदारशरीरनिर्व्यपेक्षः ।

---

ही है। जैसे जमे हुए घीके पिघल जानेपर घीका कुछ नाश नहीं होता, वैसे ही अहन्ताका नाश होनेपर आत्माका अणुमात्र भी कुछ नाश नहीं होता। अहन्ताके नाशसे सर्वनाश हो जायगा, यों विचारकर भय नहीं करना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'शान्ता०' इत्यादिसे।

विचार करनेसे जिन पुरुषोंके सम्पूर्ण विशेष शान्त हो चुके हैं उनके लिए अहन्ताका नाश करनेवाली केवल मुक्तता उदित होती है। उनका वस्तुतः कुछ भी नष्ट नहीं होता ॥ २२ ॥

इस मुक्तिमें, भोगोंका त्याग, विचार इन्द्रिय, तथा मनका निग्रहरूप पौरुष—इन तीनोंके सिवा और कोई दूसरा उपयोगी नहीं है, यह निश्चय करके हे अज्ञ, मुमुक्षुओ, आत्मभिन्न सबका त्यागकर शीघ्र अपनी आत्माकी ही शरणमें जाओ ॥ २३ ॥

इस प्रकार अहन्ताके नाशक सम्पूर्ण द्वैतनाशपूर्वक जो ब्रह्मभावसे मनकी स्थिति है, उसीको श्रुतियाँ और विद्वान् लोग मोक्ष कहते हैं। और वह मोक्ष बिना तत्त्वज्ञानके कभी भी नहीं होता। सर्वोत्तम ज्ञान भी यही है कि यह जगद्भ्रम परमार्थ कभी नहीं हो सकता, यह मोक्षशास्त्रमें प्रसिद्ध है। तात्पर्य यह कि यह जगत् तो एकमात्र भ्रम है, सद्रूप आत्मा ही परमार्थ है। चूँकि इस ज्ञानमें 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि श्रुतिसे कराया जा रहा भी विश्वास पुरुषके प्रबल रागादि दोषके कारण तथा जगत्में दृढ़ सत्यत्वभ्रम हो जानेके कारण जम नहीं पाता, इसीलिए चिरकालतक जीवको संसारबन्धन बार-बार हुआ करता है ॥ २४ ॥

इसलिए शास्त्रोंमें दृढ़ विश्वास करके 'जगत् और अहन्ता—ये दोनों असत्

भवति हि स च चेतनस्वरूपः
परिमितखं खलु नान्यथास्ति मुक्तिः ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थोपन्यासयोगो नाम त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

---

## एकत्रिंशः सर्गः

### वसिष्ठ उवाच

सर्वात्मनि चिदाभासे तदेवाश्वनुभूयते ।
संवेद्यते यदेवान्तरसत्यं वस्त्ववस्तु वा ॥ १ ॥

---

हैं, इसको' श्रवण, मनन आदिके अभ्यास द्वारा भलीभाँति जानकर अपने धन, जन, स्त्री तथा शरीर आदिमें आसक्तिशून्य हो परमार्थ तत्त्वको जानकर उपाधिसे परिच्छिन्न चिदाकाश जीव और जगत् चिन्मात्रस्वरूप हो जाता है । वही इस जीवकी मुक्ति है, यही इसका उपाय है । इस ज्ञानसे भिन्न किसी दूसरे ज्ञानसे इसकी मुक्ति कभी नहीं हो सकती ॥ २५ ॥

तीसवां सर्ग समाप्त

---

## इकतीसवां सर्ग

[ अचिद्रूप वस्तु असत् हो या सत् , सभी चितिसे ग्रस्त है, इसलिए कुछ भी नष्ट नहीं होता, इस विषयमें निर्वाणकी स्थितिका वर्णन ]

नित्य निरतिशयानन्दसे पूर्ण अद्वय चिदाकाशरूप निर्वाणस्थितिका अनुभव करानेके लिए दृश्यानुभव दृश्यभावनाके अभ्यासके अधीन है, इस पूर्वोक्तका स्मरण कराते हैं—'सर्वात्मनि' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, अपने भीतर जिस किसी असद्रूप वस्तु या अवस्तुकी भावना की जाती है, तत्काल उसीका सर्वात्मक चिदाभासमें अनुभव होने लग जाता है ॥ १ ॥

तदेवाभ्यासतः पूर्वं बाह्यार्थानुभवात्मना ।
स्फुरतीव बहिष्ट्वेन स्वस्वप्नोऽत्र निदर्शनम् ॥ २ ॥
चिद्रूपं सर्वमेतच्च चिदच्छा गगनादपि ।
चिच्चिनोति चिदेवाऽतो नैतत्किञ्चन कुत्रचित् ॥ ३ ॥
न नाशो नास्ति नानर्थो न जन्ममरणे न खम् ।
न शून्यता न नानास्ति सर्वं ब्रह्मैव नैव च ॥ ४ ॥
नाशे जगदहन्त्वादेर्न किञ्चिदपि नश्यति ।
असतः किल नाशोऽपि स्वप्नादेः किं नु नश्यति ॥ ५ ॥

---

वही बाह्य पदार्थोंके अनुभवरूपसे दृढ़ अभ्यास होनेके पहले बाहरमें जगत्के रूपसे मानो स्फुरित होता है, इस विषयमें अपना स्वप्न ही दृष्टान्त है ॥ २ ॥

ठीक है, ऐसा ही रहे, किन्तु इससे प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं—'चिद्रूपम्' इत्यादिसे ।

यह सारा संसार चितिका ही रूप ( कल्पित आकार ) है । वह चिति आकाशसे भी स्वच्छ है । चूँकि घृत जैसे अपनी आत्मामें ही काठिन्यको धारण करता है वैसे ही चिति जगत्-रूप आकारको धारण करती है, इसलिए यह सब चिद्रूप ही है । चितिसे भिन्न और कुछ भी कहीं नहीं है ॥ ३ ॥

ऐसा ही सही, इससे भी प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं—'न' इत्यादिसे ।

न तो नाश है, न अस्तिता है, न अनर्थ है, न जन्म है, न मरण है, न आकाश है, न शून्यता है और न अनेकता ही है, किन्तु अधिष्ठानरूपसे सब कुछ एकमात्र ब्रह्म ही है, उससे भिन्न और कुछ भी नहीं है ॥ ४ ॥

जगत् तथा अहङ्कार आदिके जड़ांशका तत्त्वज्ञान द्वारा हुआ नाश तो सभीको इष्ट है ही, फिर उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है ? इसपर कहते हैं—'नाशे' इत्यादिसे ।

इस जगत् और अहन्ता आदिका नाश इष्ट होनेपर भी वस्तुतः कुछ भी नहीं बिगड़ता, क्योंकि असद्रूप स्वप्नादिका भी तो नाश इष्ट है, उससे क्या बिगड़ सकता है ? क्योंकि नाशका स्वरूप ही क्या रहा ॥ ५ ॥

मिथ्यावभासे सङ्कल्पनगरे कैव नष्टता ।
तथा जगदहन्त्वादौ नाशो नाऽसति विद्यते ॥ ६ ॥
कुतो जगदुपालम्भ इति चेत्तदवस्तुनि ।
न निर्णयः सम्भवति खपुष्पाणां किमुच्यते ॥ ७ ॥
निर्णय एष एवात्र यदशेषमभावयन् ।
यथास्थितं यदाचारं पाषाण इव तिष्ठसि ॥ ८ ॥
जगत्सङ्कल्पमात्रात्म तत्र तेऽर्थयुतं क्षणात् ।
शाम्यत्यशेषेणेत्येव निर्णयः सर्गविभ्रमे ॥ ९ ॥

मिथ्या अवभासित हो रहे असत् सङ्कल्पनगरका नाश ही क्या ( मिथ्या ) है, ठीक, इसी तरह असद्रूप जगत् और अहङ्कार आदिका नाश ही क्या? असत्का वस्तुतः नाश ही नहीं है ॥ ६ ॥

यदि यह जगत् असद्रूप है, तो फिर अनर्थरूपसे इसका वर्णन करके इसकी निन्दा तथा हेयरूपसे इसका निर्णय शास्त्रोंमें क्यों किया जाता है? यदि यह आप आशङ्का करें, तो यह आपकी आशङ्का एक तरहसे ठीक ही है, क्योंकि अवस्तुभूत पदार्थोंके विषयमें न तो किसी प्रकारकी निन्दाकी और न उनके फल, विचार या किसी तरहके निर्णयकी ही सम्भावना है। कहिये, आकाशके फलोंकी कोई कभी निन्दा या उसके विषयमें किसी तरहका निर्णय करता है? बस, ठीक इसी तरह इसे भी जान लीजिये ॥ ७ ॥

तब क्या वे शास्त्र सब व्यर्थ है? इसपर 'नहीं' यह कहते हैं—'निर्णयः' इत्यादिसे।

स्वाभाविक स्वरूपस्थितिकी सिद्धिके लिए असद्रूप होते हुए भी सत्की नाईं कल्पना करके निन्दा आदिके द्वारा शास्त्रोंमें वैराग्य एवं विवेकसे लेकर तत्त्व-साक्षात्कार पर्यन्त उपायोंकी कल्पना की गई है—यही सब शास्त्रोंमें निर्णय है, इसलिए हे श्रीरामजी, जो ये सब वस्तुएँ सत्-सी प्रतीत हो रही हैं, इन्हें सद्रूपसे भावना न करते हुए यानी इन्हें आप मिथ्या समझते हुए शास्त्र और सम्प्रदायके अनुसार भूमिकाओंके क्रमका अभ्यास करके पाषाणके समान स्थित रहिये ॥ ८ ॥

ठीक है, आत्मतत्त्वके विषयमें यह निर्णय ऐसा ही रहे, किन्तु स्वर्गादि जगत्के स्वरूपके विषयमें कौन-सा सफल निर्णय हुआ है? उसे कहते हैं—'जगत्' इत्यादिसे।

सर्गोऽनर्गल एवाऽयं ब्रह्मात्मकतया क्षयः ।
अन्यथा तु न सर्गोऽयमस्ति नास्ति च सन्ति वा ॥ १० ॥
येषां च विद्यते सर्गः स्वप्नपुंसामिवाऽऽसताम् ।
स सर्गः पुरुषास्ते च मृगतृष्णाम्बुवीचिवत् ॥ ११ ॥
असतामेव सद्भावमिव येषामुपेयुषाम् ।
न वयं निर्णयं विद्मो वन्ध्यापुत्रगिरामिव ॥ १२ ॥
परिपूर्णार्णवप्रख्या काप्यपूर्वैव पूर्णता ।
तज्ज्ञानां द्रष्टृदृश्यांशदृष्टौ न हि पतन्ति ते ॥ १३ ॥

हे श्रीरामजी, पूर्वोक्त स्थितिमें सांसारिक पुरुषार्थाभासयुक्त आपका एकमात्र सङ्कल्पस्वरूप यह जगत् एक क्षणमें ही पूर्णतः नष्ट हो जाय, बस, इतना ही इस सृष्टिके विलासमें सफल निर्णय हुआ है ॥ ९ ॥

सुषुप्ति और प्रलयमें सर्ग तो अपने आप ही नष्ट हो जाता है, अतः उसमें ब्रह्म-रूपताके परिज्ञानसे कौन-सा लाभ हुआ ? इस शङ्कापर कहते हैं—'सर्ग' इत्यादिसे ।

जगत्‌में ब्रह्मात्मैक्यज्ञानसे उसका मूलोच्छेदपूर्वक अर्थात् पुनः उत्पन्न न होना, क्षय है। इसके विपरीत कोई दूसरे मार्गसे वैसा क्षय नहीं होता, क्योंकि प्रलय और सुषुप्ति आदिमें जो क्षय होता है उसमें यह सृष्टि बीजरूपसे रहती है, कार्यरूपसे नहीं रहती अथवा ऐन्दव आख्यानकी रीतिसे प्रलयमें भी कार्य बने ही रहते हैं ॥१०॥

तब सृष्टिके रहते भला प्रलयव्यवहार कैसे ? इसपर कहते हैं—'येषाम्' इत्यादिसे ।

स्वप्नपुरुषके तुल्य जिन असत् पुरुषोंकी दृष्टिमें यह सृष्टि है, वह सृष्टि तथा वे पुरुष मृगतृष्णाजलके तरङ्गके समान हैं । तात्पर्य यह है कि प्रलयका सङ्कल्प करनेवालेकी दृष्टिसे उन सबकी सत्ता न होनेके कारण अपने सङ्कल्पित सम्पूर्ण जगत्‌के नाशसे ही उसका प्रलय व्यवहार होता है ॥ ११ ॥

यही कारण है कि जीव और जगद्रूपोंके विषयमें कोई निर्णय न हो सकनेसे अनिर्वचनीयता कही गई है, यह कहते हैं—'असतामेव' इत्यादिसे ।

जो लोग असत्पदार्थोंका ही सद्भाव-सा मानते हैं, वन्ध्या-पुत्रकी वाणीकी तरह हम लोग उनका कोई निर्णय नहीं जानते । कहनेका तात्पर्य यह है कि जीव और जगद्रूप अनिर्वचनीय ही है ॥ १२ ॥

इसीलिए तो तत्त्वज्ञानी पुरुष सदा ही अद्वितीय चिदानन्दसे परिपूर्ण रहते हैं, यह कहते हैं—'परिपूर्णा०' इत्यादिसे ।

अचला इव निर्वाता दीपा इव समत्विषः ।
साचारा वा निराचारास्तिष्ठन्ति स्वस्थमेव ते ॥ १४ ॥
आपूर्णैकार्णवप्रख्या काप्यन्तः पूर्णतोदिता ।
अन्तः शीतलता ज्ञप्तिर्ज्ञस्याऽपूर्वैव लक्ष्यते ॥ १५ ॥
वासनैवेह पुरुषः प्रेक्षिता सा न विद्यते ।
तां च न प्रेक्षते कश्चित्ततः संसार आगतः ॥ १६ ॥
अनालोकनसिद्धं यत्तदालोकान्न विद्यते ।
कृष्णाद्यनुपलम्भोऽत्र दृष्टान्तः स्पष्टचेष्टितः ॥ १७ ॥
भूतानि देहमांसादि तच्चाऽसद्विभ्रमो जडः ।
बुद्ध्यहङ्कारचेतांसि तन्मयान्येव नेतरत् ॥ १८ ॥

---

परिपूर्ण समुद्रके समान तत्त्वज्ञानियोंमें कोई अपूर्व ही अद्वितीय चिदानन्दकी परिपूर्णता रहती है, क्योंकि वे द्रष्टा और दृश्यांशकी दृष्टिमें गिरते नहीं ॥ १३ ॥

वे ज्ञानी लोग पर्वतके समान अकम्पनीय, वातरहित स्थानमें स्थापित दीपककी नाईं सदा समप्रकाशयुक्त तथा आचारशून्य होते हुए भी आचारयुक्त स्वस्थ ही बने रहते हैं ॥ १४ ॥

तत्त्वज्ञानी पुरुषके हृदयके भीतर उदित हुई परिपूर्ण समुद्रके समान कोई अनिर्वचनीय ही पूर्णता रहती है तथा ज्ञानरूपा भीतरी शीतलता भी कोई अपूर्व ही लक्षित होती है ॥ १५ ॥

तब अज्ञपुरुषका स्वरूप क्या है, इसपर कहते हैं—'वासनैव' इत्यादिसे ।

इस संसारमें अज्ञानी पुरुष तो वासनारूप ही है। तत्त्वदृष्टिसे विचार कर देखनेपर तो वह वासना कुछ है ही नहीं। कोई भी विचार कर उसे देखता नहीं है और इसीसे यह संसार उपस्थित हुआ है ॥ १६ ॥

जिस पदार्थकी प्रतीति प्रकाशास्फूर्तिसे सिद्ध है यानी प्रकाशके बिना जिस पदार्थकी प्रतीति होती है वह पदार्थ प्रकाशसे विद्यमान नहीं रहता। इस विषयमें बिलकुल स्पष्ट दृष्टान्त तो प्रकाशकी उपस्थितिमें अन्धकार और उसमें अपना काम करनेवाले चोर आदिकी उपलब्धिका अभाव ही है ॥ १७ ॥

प्रकाशके बिना प्रतीत हो रहे पदार्थोंकी स्थिति किस तरहके प्रकाशसे विद्यमान नहीं रहती ? इसपर वह कहते हैं—'भूतानि' इत्यादिसे ।

भूतादिमयतां त्यक्त्वा बुद्ध्यहङ्कारचेतसाम् ।
अत्यन्तस्थितिरभ्येति यदि तन्मुक्ततोदिता ॥ १९ ॥
चिद्श्लिष्टा चेत्यनिष्ठत्वात्तादृश्येवाऽत्र काऽस्तिता ।
तस्मात्केव कुतः कुत्र वासना किंस्वरूपिणी ॥ २० ॥
यस्य चैष भ्रमः सोऽसन्प्रेक्षयासन्न लक्ष्यते ।
मृगतृष्णाम्बुवत्तेन संसारः कस्य कः कुतः ॥ २१ ॥

देह, मांस आदि स्थूल शरीर पञ्चीकृत भूतमय, असद्विभ्रमसे युक्त एवं जड़रूप हैं तथा मन, बुद्धि आदि सूक्ष्म शरीर भी अपञ्चीकृत भूतोंके विकारभूत ही हैं, अन्य नहीं ॥ १८ ॥

ठीक है, ऐसा ही सही, परन्तु इससे प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं—'भूतादिमयताम्' इत्यादिसे ।

उस बुद्ध्यादिघटित सूक्ष्म शरीरमें अहंभावसे प्रविष्ट हुआ चिदात्मा तद्द्वारा स्थूलदेहको भी अविद्याके कारण 'यह मैं ही हूँ' ऐसा मानता है । विवेक द्वारा बुद्धि, अहङ्कार और चित्तकी भूतादिरूपताको 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इस श्रुतिमें दिखलाये गये उपायसे छोड़कर यदि उसकी स्वप्रकाश चिन्मात्रस्वभावसे स्थिति हो जाय, तो फिर मुक्तता भी आविर्भूत हो ही गई, यह समझ लेना चाहिए । उसीको मैंने आलोक कहा है, यह तात्पर्य है ॥ १९ ॥

इस प्रकार आत्मप्रकाशके प्रसृत होनेपर वासना भी बाधित ही हो जाती है, इसलिए उस वासनासे भी संसारबन्धकी प्रसक्ति नहीं हो सकती, यह कहते हैं—'चित्' इत्यादिसे ।

विषयोंकी ओर उन्मुख होनेके कारण चिति लिङ्ग शरीररूपी उपाधिमें यदि मिलित है, तो उसकी वासना भी उस लिङ्ग शरीरके सदृश ही मिथ्या है, अतः मुक्तता-अवस्थामें उसका बाध होनेसे वह वासना कैसी, कहांसे, कहांपर और किस स्वरूपकी हो सकती है ? ॥ २० ॥

किञ्च, तत्त्वज्ञान होनेपर बद्ध जीवकी ही जब उपलब्धि नहीं होती, तब भला किसके द्वारा किसको बन्धनकी प्रसक्ति ? यह कहते हैं—'यस्य' इत्यादिसे ।

जिस जीवको इस संसारका भ्रम है, वह असत् ही है जो असत् होता है, वह तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर मृगतृष्णा जलकी नाईं लक्षित ही नहीं होता, इससे किसको कहांसे कौन-सा संसार ? ॥ २१ ॥

तदेवं तर्हि तस्य स्यादिति चित्तोदयो हि यः ।
पुनः स एव संसारविभ्रमः सम्प्रवर्तते ॥ २२ ॥
तस्मात्सर्वमनाश्रित्य व्योमवत्समुपास्यताम् ।
अपुनःस्मरणं श्रेय इह विस्मरणं परम् ॥ २३ ॥
नेह द्रष्टा न भोक्ताऽस्ति नास्तिता न च नास्तिता ।
यथास्थितमिदं शान्तमेकं स्पन्दि सदाब्धिवत् ॥ २४ ॥
सर्वं दृश्यं जगद्ब्रह्म सदित्यवगते स्फुटम् ।
जलशोषादिवोदेति बिम्बबिम्बिक्षये शिवम् ॥ २५ ॥

---

आत्मप्रकाशके मन्द पड़ जानेपर तो फिर चित्तका उदय हो जानेसे संसार हो ही सकता है, इसलिए आत्मप्रकाशको तबतक दृढ़ बनाये रखना चाहिए, जबतक कि संसारकी बिलकुल विस्मृति न हो जाय यानी उसकी पुनःस्मृतिका अवसर न आने पावे, यह कहते हैं—'तदेवम्' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

इससे इस तरह आत्मतत्त्वज्ञानके लिए प्रवृत्त हुए पुरुषके विषयोंका स्मरण करनेसे जो पुनः चित्तका उदय होगा, वही फिर संसाररूपसे प्रवृत्त हो जायगा ॥ २२ ॥

इसलिए हे श्रीरामजी, सबको छोड़-छाड़कर आकाशके समान निर्मल आत्माकी ही एकमात्र आप उपासना कीजिये । विषयोंका पुनःस्मरण न होना ही श्रेय है, अतः भूमिकाओंके अभ्यास द्वारा एकमात्र सांसारिक विषयोंकी विस्मृतिको ही इस व्यावहारिक जगतमें सिद्ध करना मुमुक्षु पुरुषोंका परम कर्तव्य है ॥ २३ ॥

भूमिकाओंके अभ्यासमें तत्पर मुमुक्षु किस तरह देखे, यह बतलाते हैं—'नेह' इत्यादिसे ।

न द्रष्टा है, न भोक्ता है, न अस्तिता है और न नास्तिता है, किन्तु सदा समुद्रके समान परिपूर्ण, प्रारब्ध प्राप्त बाधित व्यवहारके निमित्तभूत, एक, शान्तस्वरूप यथास्थित यह सब ब्रह्म ही है ॥ २४ ॥

यह सारा दृश्य जगत् सद्रूप ब्रह्म ही है, ऐसा स्पष्ट ज्ञान हो जानेपर बिम्ब और बिम्बी यानी चिदाभास और उसकी उपाधि दोनोंके नाशसे, जल सूखनेसे बिम्बरूपताकी नाईं, एकमात्र शिवस्वरूपता ही उदित होती है ॥ २५ ॥

शान्तता व्यवहारो वा रागद्वेषविवर्जितः ।
विश्रान्तस्य परे तत्त्वे दृश्यते समदर्शिनः ॥ २६ ॥

अथवा शान्ततैवाऽस्य निर्वाणस्याऽवशिष्यते ।
निर्वासनः किल मुनिः कथं व्यवहरत्यसौ ॥ २७ ॥

यावत्स्वस्य न निर्वाणं परिपोषमुपागतम् ।
तावद्व्यवहरत्यस्तरागद्वेषभयोदयः ॥ २८ ॥

वीतरागभयक्रोधो निर्वाणः शान्तमानसः ।
शिलेवाप्यशिलीभूतो मुनिस्तिष्ठति नित्यशः ॥ २९ ॥

कोशेऽस्ति पद्मबीजस्य यथा सर्वाब्जिनी तथा ।
अनन्या स्वप्नविभ्रान्तिरात्मन्यस्ति न बाह्यता ॥ ३० ॥

---

परम पदमें विश्रान्त समदर्शी तत्त्वज्ञानीकी समाधि या राग-द्वेषसे शून्य व्यवहार दोनों ही प्रतीत होते हैं ॥ २६ ॥

अथवा निर्वाणरूप सप्तम भूमिकामें प्राप्त इस ज्ञानीकी शान्तरूपता ही अवशिष्ट रहती है, क्योंकि वासनारहित मुनि कैसे व्यवहार कर सकता है ॥२७॥

जबतक उस ज्ञानीकी सप्तम भूमिकामें विश्रान्ति परिपोषताको यानी दृढ़ताको प्राप्त नहीं हो जाती, तबतक राग-द्वेष और भयके उदयसे रहित हो वह व्यवहार करता है ॥ २८ ॥

सप्तम भूमिकामें प्राप्त ज्ञानी राग-द्वेष भय और क्रोधसे शून्य, निर्वाणरूप, शान्तमन पर पत्थररूप न बना हुआ भी पत्थरकी नाईं नित्य निश्चल स्थित रहता है ॥ २९ ॥

इस तरह ब्रह्ममें स्वाभाविक भावनाके अनुसार जगद्रूप है तथा शास्त्रीय तत्त्व-भावनाके अनुसार तात्त्विकरूप भी है, इसलिए अपनी इच्छाके अनुसार मनुष्य अनर्थ या पुरुषार्थ दोनों प्राप्त कर सकता है, उसके लिए दोनों ही सुलभ हैं, इस आशयसे कहते हैं—'कोशे' इत्यादिसे ।

जैसे कमलके बीजकोशके अन्दर ही अभिन्नरूपसे सम्पूर्ण कमलिनियाँ स्थित हैं, वैसे आत्मामें ही स्वप्नभ्रान्तिरूप यह जगत् अनन्य होकर स्थित है, आत्माको छोड़कर अन्यत्र नहीं ॥ ३० ॥

बाह्यताभावनाद्बाह्यमात्मैवाऽऽत्मत्वभावनात् ।
भवतीदं परे तत्त्वे भावनं तत्तदेव हि ॥ ३१ ॥
याऽन्तः स्वप्नादिविश्रान्तिः सैवेयं बाह्यतोदिता ।
मनागप्यन्यता नात्र द्विभाण्डपयसोरिव ॥ ३२ ॥
स्थैर्यास्थैर्ये तथैवात्र भ्रान्तिमात्रमये तते ।
आधाराधेयते ते द्वे यथाजलतरङ्गते ॥ ३३ ॥
स्वप्नादावात्मनोऽन्यत्वज्ञानादन्यत्ववेदनम् ।
अनन्यतावबोधे तु तदनन्यन्न चोदयि ॥ ३४ ॥

'बाहर है' यह प्रतीति आत्मामें बाह्यरूपताकी भावनासे ही है, न कि इसका दूसरा कोई आधार होनेसे, यह कहते हैं—'बाह्यता०' इत्यादिसे ।

आत्मा ही बाह्यरूपताकी भावनासे बाह्यरूप हो जाता है तथा आत्मत्वकी भावना करते रहनेसे आत्मरूप ही रहता है, इसलिए परब्रह्मतत्त्वमें तत्-तत् भावना ही बाह्यत्व और आभ्यन्तरत्व है ॥ ३१ ॥

यही कारण है कि स्वप्न और जाग्रदवस्थामें प्रतीतिसे कोई भेद नहीं है, यह कहते हैं—'यान्तः' इत्यादिसे ।

जो अन्तःकरणमें भीतर स्वप्नकी विश्रान्ति है वही यह बाह्य-जगद्रूपसे उदित हुई है । दो पात्रोंमें स्थित दूधके समान स्वप्न तथा जाग्रदवस्थामें तनिक भी भेद नहीं है ॥ ३२ ॥

जाग्रत् और स्वप्नावस्थाके पदार्थोंमें स्थिरता और चञ्चलतारूप भेद तो प्रत्यक्ष ही उपलब्ध होता है, उसकी क्या दशा होगी, यदि यह आशङ्का करें, तो उसपर कहते हैं—'स्थैर्यास्थैर्ये' इत्यादिसे ।

एवं जाग्रदवस्थाके पदार्थोंमें स्थिरता तथा स्वाप्निक पदार्थोंमें जो अस्थिरता प्रतीत होती है वह भी एकमात्र विस्तृत भ्रान्ति ही है तथा जाग्रत्कालीन शरीरमें आधारता और स्वप्नमें आधेयताकी जो प्रतीति होती है वह भी जल और तरङ्गके तुल्य ही है ॥ ३३ ॥

जैसे स्वप्नकालके पदार्थोंमें जबतक एकमात्र आत्मरूपताका अनुसन्धान नहीं होता, तभीतक उनका भान होता है । आत्ममात्रस्वरूपताका अनुसन्धान होनेपर तो जागरणरूप बाधसे आत्मैक्यता ही सिद्ध होती है, वैसे ही जाग्रदवस्थाके पदार्थोंमें भी समझना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'स्वप्नादा०' इत्यादिसे ।

कलनारहितं शान्तं यद्रूपं परमात्मनः ।
भवत्यसौ तत्तन्त्वयवादतद्भावान्न तद्भवेत् ॥ ३५ ॥

स्वप्नादिज्ञानसंशान्तौ यद्रूपं शुद्धमैश्वरम् ।
न तदस्ति न तन्नास्ति न वाग्गोचरमेव तत् ॥ ३६ ॥

आत्यन्तिकभ्रान्तिलये युक्त एवाऽवगच्छति ।
स्वरूपं नोपदेशस्य विषयो विदुषो हि तत् ॥ ३७ ॥

---

जैसे स्वप्नकालके पदार्थोंमें आत्माके अन्यत्वज्ञानसे अन्यरूपताका भान होता है । आत्मैक्यताका अवबोध होनेपर तो उससे अन्य कुछ भी नहीं भासित होता, वैसे ही जाग्रदवस्थाके पदार्थोंमें भी जबतक शुद्ध आत्मतत्त्वका ज्ञान नहीं होता तभीतक पदार्थोंमें अन्यत्व भासता है । शुद्ध आत्माका ज्ञान हो जानेपर तो वे सबके सब पृथक् आविर्भाववाले ही नहीं होते—एकरूप ही अवभासित होते हैं ॥ ३४ ॥

इसीलिए वास्तविक भी ब्रह्मभाव अपनी भावनाके अधीन ही है, यह जो कहा गया है वह सिद्ध हो गया, यह कहते हैं—'कलना०' इत्यादिसे ।

कल्पनाओंसे रहित, शान्त जो परमात्माका रूप है वह तत्-तत् पदार्थोंकी भावना करनेसे तत्-तत् रूपोंमें परिणत हो जाता है तथा भावना न करनेसे तत्-तत् रूपोंमें परिणत नहीं होता ॥ ३५ ॥

स्वप्नादि ज्ञानके शान्त होनेपर जो विशुद्ध ईश्वरका रूप अवशिष्ट रहता है वह 'अस्तिता'के निरूपक काल और देश आदिके आधारका अभाव रहनेसे 'वह है' यह नहीं कहा जा सकता तथा स्वरूपका बाध न रहनेसे 'वह नहीं है' यह भी नहीं कहा जा सकता । इसलिए वह वाणीका विषय कदापि नहीं है ॥ ३६ ॥

तब वाणीके द्वारा गुरु लोग उसका उपदेश कैसे देते हैं, इस आशङ्कापर कहते हैं—'आत्यन्तिक०' इत्यादिसे ।

भ्रमका आत्यन्तिक लय हो जानेपर समाधिमें स्थित योगी लोग ही अपने एकमात्र अनुभवसे उसका स्वरूप जान पाते हैं । कान्तासम्भोगसुखकी नाईं, दूसरेके प्रति वह उपदेशका विषय नहीं है । वह विद्वानोंके अनुभवका ही विषय है । उसमें श्रोताकी बुद्धिको प्रवृत्त करना ही उपदेशका फल है ॥ ३७ ॥

शान्तं निरस्तभयमानविषादलोभ-
मोहात्मदेहमननेन्द्रियचित्तजाड्यम् ।
त्यक्त्वाऽहमक्षयमपास्तसमस्तभेदं
निर्वाणमेकमजमासितुमेव युक्तम् ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणयुक्त्युपदेशवर्णनं नाम एकत्रिंशत्तमः सर्गः ॥ ३१ ॥

## द्वात्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

यदा चितिः प्रसरति तदाऽहन्ता जगद्भ्रमः ।
असदेवाभ्युदेतीव स्पन्दादपि च वायुता ॥ १ ॥

---

इसलिए हे श्रीरामजी, अहङ्कार छोड़कर भय, मान, विषाद, लोभ, मोह, आत्मा, देह, मन, इन्द्रिय, चित्त, जड़तासे शून्य, शान्त, समस्त भेदोंसे रहित, अविनाशी, निर्वाणस्वरूप एकमात्र ब्रह्म होकर सर्वदा ही समाधिमें स्थित रहना ही युक्त है, व्यवहारविषयोंमें पड़ना उचित नहीं है ॥ ३८ ॥

इकतीसवाँ सर्ग समाप्त

## बत्तीसवाँ सर्ग

[ साधुओंके समागम और सत् शास्त्रोंका विचार करनेवाले पुरुषको मोक्ष अवश्य ही होता है, इसलिए मोक्ष स्वाधीन है, इसका युक्तिपूर्वक कथन ]

यदि मनुष्यके पास विद्या या अविद्या है, तो उसके लिए मोक्ष या संसार स्वाधीन है, यह वर्णन करनेकी इच्छा रखनेवाले महाराज वसिष्ठजी पहले अविद्यासे चित्तका विस्तार और फिर उससे स्वाधीन संसारको दिखलाते हैं— 'यदा' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, जब यह चितिशक्ति स्पन्दित होती है, यानी अविद्यासे विषयोंकी ओर झुकनेके लिए उसमें हलचल पैदा होती है, तब

उदितोऽपि न खेदाय ब्रह्मरूपत्ववेदनात् ।
परमाय त्वनर्थाय जगच्छब्दार्थभावनात् ॥ २ ॥
रूपानुभवमादत्ते चक्षुःप्रसरणाद्यथा ।
चितिःप्रसरणात्तद्वज्जगद्विभ्रममास्थिता ॥ ३ ॥
याऽसौ प्रसरति व्यर्थं चेत्याभावान्न सा सती ।
असत्कथं प्रसरति वन्ध्यापुत्रः क्व नृत्यति ॥ ४ ॥
अयं त्वनुभवादेव मुधैवानुभवन् स्थितः ।
असदेवानुभवन्स्वयमर्भकयक्षवत् ॥ ५ ॥

---

अहम्भावरूप जगत्का भ्रम उत्पन्न-सा हो जाता है, जो कि असद्रूप ही है। स्पन्दनसे भी तो वायुरूपता उत्पन्न-सी हो जाती है, यद्यपि वह कुछ भिन्न नहीं है ॥ १ ॥

श्रीरामजी, भले ही वह जगद्भ्रम उत्पन्न-सा हो जाय, परन्तु उसमें ब्रह्म-रूपताका ज्ञान यदि कर लिया जाय, तो किसी तरहसे भी वह खेदका कारण नहीं होगा। यदि उसमें जगद्रूपताका ही ज्ञान कर लिया जाय, तो अवश्य ही वह महान् खेदका कारण होगा ॥ २ ॥

जैसे चक्षु अपनी चहल-पहलसे रूपका अनुभव प्राप्त करती है, वैसे ही चिति चहल-पहलसे ही जगत्का भ्रम प्राप्त करती है ॥ ३ ॥

उत्पन्न होते हुए भी संसारभ्रम खेदका कारण नहीं है, यह जो कहा गया है, उसका उपपादन करते हैं—'याऽसौ' इत्यादिसे।

भद्र, जो यह चितिशक्ति है, वह तो स्वभावतः ही सत्यरूप है, अतः वह विषयोंकी ओर जो झुकती है, वह व्यर्थ ही है, क्योंकि विषयोंकी सत्यरूपता तो है ही नहीं। ऐसी स्थितिमें असत् विषयोंकी ओर वह झुकती है, यह कैसे हो सकता है, क्या कहीं वन्ध्याका पुत्र नृत्य करता है ! निष्कर्ष यह निकला कि विषयोंकी तीनों कालमें सत्ता न होनेके कारण अज्ञानसे ही चितिकी विषयोंकी ओर प्रवृत्ति है, वह जब ज्ञानसे बाधित हो जाती है, तब विषय खेदके कारण हो ही नहीं सकते ॥ ४ ॥

यह जो चितिका बाह्य पदार्थोंकी ओर प्रसरण है, वह तो अनुभवसे ही सिद्ध है, विद्यासे जब उसका बाध हो जाता है, तब असत्य अर्थका पुरुषको

अहम्भावोऽपि दुःखार्थमहमित्येव वेदनात् ।
अवेदनान्नाहमतः स्वायत्ते बन्धमुक्तते ॥ ६ ॥

तद्ध्यानं समाधिर्वा यदवेदनमासितम् ।
अजडानां जडमिव समं शान्तमनामयम् ॥ ७ ॥

द्वैताद्वैतसमुद्भेदैर्वाक्यसन्दर्भविभ्रमैः ।
मा विषीदत दुःखाय विबुधा अबुधा इव ॥ ८ ॥

---

अनुभव नहीं होता, उस समय यह अनुभव करता है कि इतने कालतक मैं व्यर्थ ही, बालक जैसे असत्य यक्षका अनुभव कर स्थित रहता है वैसे ही, असत् अर्थका अनुभव कर स्थित रहा ॥ ५ ॥

कथित न्याय भीतरके अहम्भावमें भी समान ही है, यह दिखलाते हुए बन्ध और मोक्षमें स्वाधीनता सिद्ध हो गई, यह कहते हैं—'अहम्भावोऽपि' इत्यादिसे ।

भद्र, जब भीतर अहम्भावका ज्ञान होने लग जाता है, तब उससे अहंभाव भी दुःखका ही कारण होता है और जब अहम्भावका परिज्ञान नहीं होता तब वह दुःखका कारण नहीं होता, अतः बन्धन और मुक्ति अपने ही अधीन है ॥६॥

अब मोक्षमें स्वाधीनताका उपपादन करते हैं—'तद्ध्यानम्' इत्यादिसे ।

वही ध्यान और समाधि है, जो कि विद्यासे मूलभूत जड़ताके हट जानेके बाद चिदात्माके साथ एकरस हो जानेके कारण अजड़ मन, बुद्धि आदि पदार्थोंकी पत्थरके सदृश निश्चल वेद्यवेदननिर्मुक्त स्थिति है । सम, शान्त और निर्विकार यही स्थिति मुक्ति है ॥ ७ ॥

यही सिद्धान्त एकमात्र शान्तिका कारण है, दूसरी-दूसरी कल्पनाओंमें तो केवल वादियोंका कलहमात्र होनेके कारण मिथ्या कण्ठशोषण ही है, इस आशयसे उन वादियोंको लक्ष्य कर कहते हैं—'द्वैता०' इत्यादि ।

हे पण्डितमानी वादिगण, आप मूर्खोंके सदृश द्वैत, अद्वैत आदि अनेक तरहके सङ्कल्पोंसे तरह-तरहके कलहरूप वचनोंका विचार कर दुःखके लिए व्यर्थके कण्ठशोषणरूप विषादको मत प्राप्त कीजिये । परम पुरुषार्थके हेतुभूत इसी सिद्धान्तका आप अवलम्बन कीजिए ॥ ८ ॥

असदाश्रयते दुःखं स्वप्नवद्घनवासनः ।
रूपालोकमनस्कारान् सङ्कल्परचितानिव ॥ ९ ॥
दुःखं सदेव नाश्नाति सुप्तवत्तनुवासनः ।
रूपालोकमनस्कारान् सङ्कल्परहितानिव ॥ १० ॥
अत्यन्ततनुतामेत्य वासनैवैति मुक्तताम् ।
देशकालक्रियायोगात्पदार्थे भावनामिव ॥ ११ ॥
अत्यन्ततनुतां याता वासनैवेति मुक्तताम् ।
पराणुपरिणामेन खतां खेऽभ्रादिका यथा ॥ १२ ॥

---

जिस पुरुषकी वृत्ति बहिर्मुख है, वह पुरुष उस तरह असत् भी दुःखका निवारण नहीं कर सकता, जिस तरह असत् रूपादिके अनुभवका निवारण नहीं कर सकता अर्थात् उस पुरुषके लिए दुःख दुर्निवार ही है, परन्तु जिस पुरुषकी अन्तर्मुख वृत्ति है, वह पुरुष तो प्रारब्धप्राप्त दुःखका अनुभव करते हुए भी अपने आत्मानन्दमें ही मस्त रहता है, अतः आत्मानन्दके अनुभवसे आच्छादित हुआ दुःख भोगा जा रहा भी उसके लिए अभुक्त-सा ही रहता है, यह कहते हैं—'असदाश्रयते' इत्यादिसे ।

भद्र, दृढ़ वासनासे युक्त पुरुष स्वप्नके सदृश असत् दुःखका उस तरह अनुभव करता है, जिस तरह सङ्कल्पसे रचित असत् रूपालोक तथा मानसिक दुःख आदिका यानी बाह्य एवं आभ्यन्तरिक पदार्थोंका अनुभव करता है ॥ ९ ॥

जिस पुरुषकी वासना हट गई है, वह पुरुष तो नींद ले रहे पुरुषके सदृश प्रारब्धप्राप्त दुःखका भी अनुभव उस तरह नहीं करता, जिस तरह सङ्कल्पशून्य रूपालोक तथा मानसिक दुःख आदिका अनुभव नहीं करता ॥ १० ॥

उपर्युक्त सिद्धान्तसे यही झलका कि वासनाओंकी वृद्धिसे जैसे संसारका अनुभव होता है, वैसे ही वासनाओंका ह्रास ही देशकालके क्रमसे मुक्तिका अनुभव सिद्ध होता है, यह कहते हैं—'अत्यन्त०' इत्यादिसे ।

अत्यन्त ह्रासको प्राप्त हुई वासना ही देश, काल और क्रियाके सम्बन्धसे मुक्तिको ऐसे प्राप्त होती है, जैसे पदार्थमें भावना पदार्थरूपताको प्राप्त होती है ॥ ११ ॥

अत्यन्त तनुताको ( क्षीणताको ) प्राप्त वासना ही ऐसे मुक्तिरूप बन जाती है, जैसे आकाशमें मेघ, कुहरा आदि अत्यन्त सूक्ष्म बनकर आकाशरूप बन जाते हैं ॥ १२ ॥

अहंभावनया बोधे वासना घनतानवा ।
विपश्चित्सङ्गमाभ्यासात्पाण्डित्यमिव मूढता ॥ १३ ॥
नाहमस्तीह मद्युक्त्या निश्चयोऽन्तः शमात्मकः ।
जीवतोऽजीवतश्चास्ति रूढबोध इति स्मृतः ॥ १४ ॥
वायौ द्रव्यमिवात्रेदं जगदादि च भासते ।
कोऽहं कथमिदं चेति विचारेणैव शाम्यति ॥ १५ ॥
नाहमित्येव निर्वाणं किमेतावति मूढता ।
सत्सङ्गमविचाराभ्यामेतदाश्ववगम्यते ॥ १६ ॥
क्षीयते तत्त्ववित्सङ्गादहमित्येव बन्धनम् ।
आलोकेनेव तिमिरं दिवसेनेव यामिनी ॥ १७ ॥

---

वासनाके उच्छेदमें कौन उपाय है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'अहम्भावनया' इत्यादिसे ।

जैसे पण्डितोंके संसर्गसे बढ़े हुए अभ्याससे मूढ़ता क्षीण होकर विद्वत्ताके रूपमें परिणत हो जाती है, वैसे ही 'अहं ब्रह्मास्मि' की भावनासे दिनपर-दिन अत्यन्त क्षीणताको प्राप्त हुई वासना ही मुक्तिके रूपमें परिणत हो जाती है ॥१३॥

कहाँतक आत्माके ज्ञानको बढ़ाना चाहिए ? इस प्रश्नका उत्तर यही है कि जबतक आत्माका ज्ञान दृढ़ न बन जाय, तबतक, इस अभिप्रायको लेकर दृढ़ बोधका (दृढ़ आत्मज्ञानका) लक्षण कहते हैं—'नाहमस्तीह' इत्यादिसे ।

भद्र, मेरी युक्तिका अवलम्बनकर यानी 'मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ' इस प्रकारकी दृढ़ अभ्यस्त ब्रह्मभावनाका अवलम्बनकर इस संसारमें जीवित या परलोकगत योगीके अन्दर 'अहंशब्दार्थ जीव नहीं है' यह जो शमात्मक निश्चय उत्पन्न होता है, वही रूढ़ बोध कहा गया है ॥ १४ ॥

वायुमें कल्पित द्रव्य और क्रियाकी नाईं इस आत्मामें यह सब जगत् जीव आदि कल्पित ही है । वह सब 'मैं कौन हूँ' 'यह कैसे उत्पन्न हुआ' इस विचारसे नष्ट हो जाता है ॥ १५ ॥

अहंकार आदिकी सत्ताका त्रैकालिक अभाव ही मोक्ष है, अतः इतनेको लेकर मूढ़ताका अवलम्बन क्यों किया जाय ? इसका परिज्ञान सत्संग और अभ्याससे तत्काल ही किया जा सकता है ॥ १६ ॥

जैसे प्रकाशसे अन्धकार नष्ट हो जाता है, जैसे दिवससे रात्रि नष्ट हो

कोऽहं कथमिदं दृश्यं को जीवः किं च जीवनम् ।
इति तत्त्वज्ञसंयोगाद्यावज्जीवं विचारयेत् ॥ १८ ॥
जीवितं भुवनं भाति ततोऽहमिति नश्यति ।
तत्त्वमेकेन तज्ज्ञार्कसेवनात्स निषेव्यताम् ॥ १९ ॥
यो यो बोधातिशयवांस्तं तं पृथगुपास्व भो ।
सङ्गमे कथयोदेति तेषां वादपिशाचिका ॥ २० ॥
वादयक्षेऽप्यभ्युदिते बालस्येव विपश्चितः ।
युक्तियुक्तमलं मुख्यमुदेत्यहमिति भ्रमः ॥ २१ ॥

---

जाती है, वैसे ही तत्त्वज्ञानीके सत्सङ्गसे अहम्भावरूपी बन्धन तत्काल ही नष्ट हो जाता है ॥ १७ ॥

भद्र, मैं कौन हूँ, यह प्रपञ्च किस तरह आया, जीव कौन है, प्राणधारणरूप जीवनका क्या स्वरूप है—इन सबका तत्त्वज्ञके सङ्गसे जीवनपर्यन्त विचार करना चाहिए ॥ १८ ॥

वह विचार गुरुजीकी सेवा करनेसे सफल हो जाता है, यह कहते हैं—'जीवितम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, जो तत्त्वज्ञरूपी सूर्य है उसका सेवन ( सङ्ग ) करनेसे यह सारा ही जगत् ज्ञानसे प्रकाशमान हो जाता है, सब पदार्थोंका स्वरूप ढँक देनेवाला अहम्भावरूप अन्धकार नष्ट हो जाता है, वस्तुका असली स्वरूप एक ही क्षणमें भासने लग जाता है, अतः तत्त्वज्ञरूपी सूर्यकी आप सेवा (सङ्गति) करें ॥१९॥

जब अनेक विद्वान् और अनेक तार्किक पुरुषोंकी मण्डली जुट जाय, तब मैं यह कैसे जान सकता हूँ कि यह विद्वान् है और यह तार्किक है ? इसपर कहते हैं—'यो यो' इत्यादिसे ।

हे भद्र, जो-जो अपनेसे अधिक ज्ञानवान् हों उन-सबकी अलग-अलग सङ्गति कीजिये । उनका सङ्गम होनेपर परस्पर विरुद्ध युक्तिका जब कथन होगा, तब उससे वादरूपी पिशाचिनी उत्पन्न होगी ॥ २० ॥

भले ही वादरूप पिशाचिका उत्पन्न हो, इसमें क्या दोष है ? इसपर कहते हैं—'वाद०' इत्यादिसे ।

जब वादरूपी यक्ष उत्पन्न होगा, तब बालकके सदृश ज्ञानी श्रोताको भी

अतः प्रत्येकमेकान्ते प्राज्ञः सेवेत पण्डितम् ।
एकीकृत्य तदुक्तांस्तानर्थान् बुद्ध्या विचारयेत् ॥ २२ ॥

विचारयेत्तदुक्त्यर्थं बुद्ध्या बुद्धिविवृद्धये ।
सर्वसङ्कल्पमुक्तं यत्तत्सत्तन्मयतां व्रजेत् ॥ २३ ॥

विपश्चित्सङ्गमैर्बुद्धिं नीत्वा परमतीक्ष्णताम् ।
अज्ञानलतिका सैका कणशः क्रियतामलम् ॥ २४ ॥

एषोऽर्थः सम्भवत्येव तेनेदं कथयाम्यहम् ।
स्वानुभूतं वयं बाला नासमञ्जसवादिनः ॥ २५ ॥

---

तर्कयुक्त यानी तार्किकोंके द्वारा प्रतिपादित हो रहा आत्माका स्वरूप ही मुख्य है और वही मुख्य मेरे लिए पर्याप्त है, ऐसा भ्रम हो जाता है, अन्धगोलाङ्गूल न्यायसे उसका अवलम्बन करना अनर्थका ही कारण होगा ॥ २१ ॥

इसलिए प्रत्येक पण्डितके पास जाकर एकान्तमें बुद्धिमान् पुरुषको उसकी सेवा करनी चाहिए, प्रश्न करना चाहिए और फिर उनके द्वारा कथित अर्थोंको मिलाकर अपनी बुद्धिसे विचार करना चाहिए ॥ २२ ॥

उन पण्डितोंकी उक्तियोंके ( वचनोंके ) अर्थोंकी अपनी बुद्धि द्वारा श्रुति, युक्ति, स्वानुभव एवं अन्य विद्वानोंके अनुभवोंको मिलाकर बुद्धिकी शुद्धिके लिए खूब बार-बार परीक्षा करनी चाहिए । अनन्तर समस्त सङ्कल्पोंसे निर्मुक्त जो वस्तु प्राप्त हो जाय, उसीका अवलम्बनकर तन्मय बन जाना चाहिए ॥ २३ ॥

इसीसे तत्त्वज्ञानका उदय और उससे अज्ञानका उच्छेद हो जाता है, यह कहते हैं—'विपश्चित्' इत्यादिसे ।

पण्डितोंके सम्बन्धसे बुद्धिको अत्यन्त तीक्ष्ण बनाकर केवल उस अज्ञानरूपी लताको खूब छोटे-छोटे कणोंमें बना दीजिए ॥ २४ ॥

मेरे कहे गये वचनोंमें आप कभी असम्भवकी शङ्का न करें, यह कहते हैं—'एषोऽर्थः' इत्यादिसे ।

हे रामभद्र, मैंने जो कुछ अर्थ कहा है, वह सब सम्भव ही है, असम्भव नहीं, इसीलिए मैंने इस अपने अनुभूत अर्थका आपसे वर्णन किया है । यह आप ध्यान रखिए कि हम लोग असम्बद्ध कहनेवाले बालक नहीं हैं ॥ २५ ॥

व्योम्नोऽम्बुवाहादिविजृम्भयेव
तरङ्गभङ्ग्येव महाजलस्य ।
न युज्यते नापि च नश्यतीह
नाशोदयौ निर्मननस्य किञ्चित् ॥ २६ ॥

इदं हि सर्वं मृगतृष्णिकाम्बुवन्
निरामये ब्रह्मणि शान्त आतते ।
विचारिते नाहमितीह विद्यते
कुतः क्व कस्मान्मननादिविभ्रमः ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सत्यावबोधनोपदेशो नाम द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

---

जो समस्त कल्पनाओंसे परे है, वही असली तत्त्व है, असली वस्तुकी तन्मयता बन जानेपर सारे जगत्का व्यवहार करें, तो भी उससे ज्ञानीके लिए किसी इष्ट वस्तुकी क्षति या अनिष्टवस्तुकी प्राप्ति नहीं होती, यह कहते हैं—'व्योम्नः' इत्यादिसे ।

हे राघव, जैसे आकाशमें मेघ या कुहरे आदिका ढेर हो जाय अथवा जलमें अनेक तरहके तरङ्गोंका आविर्भाव हो जाय, तो भी उनसे आकाश या जलमें किसी इष्टकी क्षति या अनिष्टकी प्राप्ति नहीं होती, ठीक इसी तरह सम्पूर्ण सङ्कल्पोंसे निर्मुक्त हुए ज्ञानी पुरुषको, सभी तरहके व्यवहारोंसे, न तो किसी इष्टकी क्षति होती है और न किसी अनिष्टकी प्राप्ति ही होती है ॥ २६ ॥

आकाश एवं समुद्र स्थलमें द्वैतपन रहता है, इसलिए उनमें इष्टक्षति एवं अनिष्टप्राप्तिकी किसी तरह शङ्का हो भी सकती है, परन्तु विद्वान् पुरुष तो कूटस्थ अद्वय परमात्मरूप हो गया है, अतः उसमें इन भ्रमात्मक पदार्थोंसे इष्टक्षति एवं अनिष्टप्राप्तिकी शङ्का ही नहीं हो सकती, इस आशयसे कहते हैं—'इदम्' इत्यादि ।

समस्त विकारोंसे शून्य एवं परिपूर्णस्वरूप आत्माका जब विचार कर लिया यानी तत्त्वज्ञान हो गया, तब यह सारा जगत् और अहम्भाव मृगतृष्णाजलके

## त्रयस्त्रिंशः सर्गः

**वसिष्ठ उवाच**

स्वपौरुषेण स्वधिया सत्सङ्गमविकासया ।
यदि ना नीयते ज्ञत्वं तदुपायोऽस्ति नेतरः ॥ १ ॥
स्वं कल्पितं कल्पितं च प्रतिकल्पनया स्वया ।
तदेवान्यत्वमादत्ते विषत्वममृतं यथा ॥ २ ॥
कल्पना चाकल्पनान्ता मुक्तता यदकल्पनम् ।
एतच्च भोगसन्त्यागपूर्वं सिध्यति नान्यथा ॥ ३ ॥

---

सदृश पृथक् अस्तित्व रख ही नहीं सकता, ऐसी स्थितिमें इस तत्त्वज्ञ पुरुषमें मनन आदि भ्रान्ति कहाँसे आ सकती है या कहींपर क्यों रह सकती है ॥ २७ ॥

बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

———०———

## तैंतीसवाँ सर्ग

[ संवित्‌की बाह्यमुखताके कारणसे भ्रान्तिरूप कल्पनाकी प्रतिकल्पना ( भ्रान्तिकल्पनाके निवर्तक शास्त्रीय उपाय ) और परलोककी चिकित्साका वर्णन ]

सबसे पहले प्रतिकल्पनाको बतलानेके लिए उपक्रम करते हैं—'स्वपौरुषेण' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, सत्समागमसे विकासको प्राप्त स्वबुद्धिरूप अपना ही पुरुषार्थ यदि पुरुषको तत्त्वज्ञान प्राप्त करा दे, तो फिर भिन्नतारूप कोई संसारका कारण रहता ही नहीं ॥ १ ॥

ये जितने कल्पनासे बने हुए तथा कल्पनाके कारण अविद्या, वासना आदि अशास्त्रीय पदार्थ हैं, वे सब अपनी शास्त्रीय प्रतिकल्पनासे बन्धनहेतुता छोड़कर मोक्षोपयोगी ऐसे बन जाते हैं; जैसे कि स्वभावतः मरणहेतु विष रसायनशास्त्रोंमें दर्शित उपायरूप प्रतिकल्पनासे विषपनेको छोड़कर अमृतरूप बन जाता है ॥ २ ॥

कबतक प्रतिकल्पना करनी चाहिए, इसपर 'समस्त कल्पनाओंकी निवृत्ति जबतक न हो, तबतक' यह कहते हैं—'कल्पना' इत्यादिसे ।

यतः आत्माकी मुक्तता कल्पनासे शून्य है, अतः सब कल्पनाओंकी निवृत्ति जबतक न हो जाय, तबतक प्रतिकल्पना करनी चाहिए । यह कल्पनाशून्य मुक्तता

वचसा मनसा चान्तः शब्दार्थावविभावयन् ।
य आस्ते वर्द्धते तस्य कल्पनोपशमः शनैः ॥ ४ ॥
वर्जयित्वाऽहमित्येव नाविद्यास्तीतरात्मिका ।
शान्ते त्वभावनादस्मिन्नान्यो मोक्षोऽस्ति कश्चन ॥ ५ ॥
अहंभावमथादेहं किञ्चिच्छ्रयसि नश्यसि ।
जगदादिरुचिस्तस्मिंस्त्यक्ते शाम्यसि सिध्यसि ॥ ६ ॥
अचेतनादिदं सर्वं सदेवासदिव स्थितम् ।
शान्तं यस्योपलस्येव नमस्तस्मै महात्मने ॥ ७ ॥

---

पहले तो भोगत्यागसे यानी वैराग्य और संन्याससे ही सिद्ध होती है, दूसरे किसी अन्य उपायसे नहीं । इससे वैराग्यरूप और संन्यासरूप प्राथमिक प्रतिकल्पना अत्यन्त आवश्यक है ॥ ३ ॥

अनन्तर श्रवण, मननसे आत्मतत्त्वका निश्चयकर वाणी और मनका निरोध-रूप प्रतिकल्पना करनी चाहिए, यह कहते हैं—'वचसा' इत्यादिसे ।

अनन्तर वाणी और मनसे शब्द और शब्दार्थोंकी भीतर भावना न करते हुए जो स्थित रहता है, उसकी धीरे-धीरे कल्पनाशान्ति बढ़ती जाती है ॥ ४ ॥

अनन्तर अनहम्भावरूप प्रतिकल्पना करनी चाहिए, यह कहते हैं—'वर्जयित्वा' इत्यादिसे ।

एकमात्र अहम्भावको छोड़कर दूसरी कोई अविद्या है ही नहीं, इसलिए समस्त भावनाओंको दूर कर देनेवाले तत्त्वसाक्षात्कारसे इस अहम्भावके बाधित हो जानेपर दूसरा कोई मोक्षनामक पदार्थ प्राप्त करने लायक रहता ही नहीं यानी अहम्भावका नाश ही मोक्ष है ॥ ५ ॥

भद्र, तत्त्वसाक्षात्कार हो जानेके बाद भी यदि आप पहलेके जगत्-जीवरूप संसारमें रुचि रखकर स्थूलदेहके विनाशकालतक कुछ थोड़े-से अहम्भावका आश्रयण करेंगे, तो अपरिच्छिन्न आत्माके विस्मरणसे संसारतापसे अवश्य तपेंगे और यदि अहम्भावका त्याग कर देंगे, तो समस्त दुःखोंसे छुटकारा पा जायँगे तथा नित्यनिरतिशयानन्द स्वभावसे सिद्ध हो जायँगे ॥ ६ ॥

पत्थरके सदृश अचल जिसको बहिर्मुखवृत्तिके अज्ञानसे यह सब जगत् असद्रूप होता हुआ भी शान्त सत्‌की नाईं स्थित है, उस महात्माको प्रणाम है ॥७॥

अचेतनादिदं सर्वमुपलस्येव शाम्यति ।
शून्याख्यातः परालीनचित्तस्य चित्त्वभावनात् ॥ ८ ॥

इदमस्त्वथवा मास्तु चेतितं दुःखवृद्धये ।
अचेतितं सुखायान्तरचेतनमचेतनात् ॥ ९ ॥

द्वौ व्याधी देहिनो घोरावयं लोकस्तथा परः ।
याभ्यां घोराणि दुःखानि भुङ्क्ते सर्वैर्हि पीडितः ॥ १० ॥

इह लोके यतन्तेऽज्ञा व्याधौ भोगैर्दुरौषधैः ।
आजीवितं यथाशक्ति चिकित्सा नापरामये ॥ ११ ॥

---

परब्रह्ममें अशेषरूपसे विलीनचित्तका—पत्थरके सदृश बाहरका परिज्ञान न होनेसे और भीतर चितिरूपताकी भावना होनेसे शून्यरूप संज्ञाको प्राप्तकर—यह सब दृश्य प्रपञ्च शान्त हो जाता है ॥ ८ ॥

सुख और दुःखके लिए विषयोंकी सत्ता या असत्ता उपयोगी नहीं है, किन्तु विषयोंका दर्शन या अदर्शन उपयोगी है, इसलिए विषयप्रकाशके लिए प्रवृत्ति करनेवाले चित्तका ही प्रथम निरोध करना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'इदम०' इत्यादि ।

यह दृश्य रहे चाहे न रहे, परन्तु प्रकाशित दृश्य यानी दृश्यदर्शन ही दुःखकी वृद्धिका कारण है । अचेतित दृश्य यानी विषयका अदर्शन तो सुखका कारण है । पर विषयोंका अदर्शन चित्तक्रियाके निरोधसे जबतक ब्रह्माकारताकी सिद्धि न हो जाय, तबतककी प्रतिकल्पनासे होता है ॥ ९ ॥

परलोककी चिकित्साका वर्णन करनेके लिए उपक्रम करते हैं—'द्वौ' इत्यादिसे ।

शरीरधारियोंके लिए महाभयङ्कर दो व्याधियाँ हैं—'एक तो यह लोक और दूसरा परलोक । क्योंकि इन्हीं दोनोंके कारण पीड़ित होकर मनुष्य आध्यात्मिक आदि भावोंसे अनेक दुःख भोगता है ॥ १० ॥

इस लोकमें अज्ञानी पुरुष क्षुधा, तृषा आदि व्याधियोंके लिए अन्न, पान आदि भोगरूप निकृष्ट औषधियोंका अवलम्बनकर जीवनपर्यन्त यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं, परन्तु परलोकमें नरक आदि व्याधियोंके लिए भोगोंसे कुछ भी चिकित्सा नहीं होती ॥ ११ ॥

परलोकमहाव्याधौ प्रयतन्ते चिकित्सनम् ।
शमसत्सङ्गबोधाख्यैरमृतैः पुरुषोत्तमाः ॥ १२ ॥
परलोकचिकित्सायां सावधाना भवन्ति ये ।
मोक्षमार्गमहेच्छायां शमशक्त्या जयन्ति ते ॥ १३ ॥
इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः ।
गत्वा निरौषधं स्थानं सरुजः किं करिष्यति ॥ १४ ॥
इहलोकचिकित्साभिर्जीवितं यातु मा क्षयम् ।
आत्मज्ञानौषधैरज्ञाः परलोकश्चिकित्स्यताम् ॥ १५ ॥
आयुर्वायुचलत्पत्रलवाम्बुकणभङ्गुरम् ।
परलोकमहाव्याधिर्यत्नेनाऽऽशु चिकित्स्यताम् ॥ १६ ॥
परलोकमहाव्याधौ यत्नेनाऽऽशु चिकित्सिते ।
इहलोकमयो व्याधिः स्वयमाशूपशाम्यति ॥ १७ ॥

जो उत्तमपुरुष हैं, वे परलोककी महाव्याधिमें चिकित्साके लिए शान्ति, सत्सङ्गति तथा आत्मविचाररूप अमृततुल्य उपायोंसे प्रयत्न करते हैं ॥ १२ ॥

जो पुरुष परलोककी चिकित्साके लिए सावधान यानी अपथ्य भोगोंके त्याग और सत्समागम आदि औषधके सेवनमें सावधान रहते हैं, वे मोक्षमार्गकी महती इच्छामें अपने शमगुणकी बड़ी शक्तिके कारण सर्वदा विजयी होते हैं ॥१३॥

परलोककी चिकित्सा परलोकमें जाकर ही करेंगे, यहाँपर उसकी चिन्ता करनेसे क्या फल ? इसपर कहते हैं—'इहैव' इत्यादिसे ।

जो पुरुष यहींपर नरकरूप व्याधिकी चिकित्सा नहीं करता, वह व्याधिग्रस्त पुरुष औषधरहित नरक आदि प्रदेशमें जाकर क्या चिकित्सा करेगा ॥ १४ ॥

हे अज्ञानीजनो, तुम लोग इस लोककी चिकित्सामें निरत होकर अपना जीवन क्षीण मत करो, परन्तु आत्मज्ञानके औषधोंसे परलोककी चिकित्सा करो ॥ १५ ॥

आयु तो ऐसी क्षणभङ्गुर ( एक क्षणमें नष्ट हो जानेवाली ) है जैसा कि वायुसे कम्पित हो रहा पत्तेका छोटा टुकड़ा और जलकण । इसलिए बड़े यत्नसे परलोकरूप महाव्याधिकी शीघ्रातिशीघ्र चिकित्सा करनेमें तत्पर हो जाओ ॥ १६ ॥

इस लोककी व्याधिकी चिकित्साके लिए दूसरे यत्नकी आवश्यकता नहीं है, यह कहते हैं—'परलोक०' इत्यादिसे ।

संविन्मात्रं विदुर्जन्तुं तस्य प्रसरणं जगत् ।
परमाणूदरेऽप्यस्ति तच्छैलशतविस्तरम् ॥ १८ ॥
यत्संविदः प्रसरणं रूपालोकमनांसि तत् ।
व्योमन्येवानुभूयन्ते नातः सत्यो जगद्भ्रमः ॥ १९ ॥
प्रलयेष्वपि दृष्टेषु जगद्दृश्याख्यविभ्रमः ।
न नश्यति न जायेत भ्रान्तिमात्रैकरूपिणः ॥ २० ॥
भोगपङ्कार्णवे मग्न आत्मा नोत्तार्यते यदि ।
स्वपौरुषचमत्कृत्या तदुपायोऽस्ति नेतरः ॥ २१ ॥

---

परलोकरूप व्याधिकी यत्नपूर्वक तत्काल ही चिकित्सा करनेपर इस लोककी व्याधि स्वयं अपने-आप ही शान्त होने लग जाती है ॥ १७ ॥

परलोककी व्याधिके लिए यद्यपि तपश्चर्या, तीर्थाटन, यज्ञ आदि चिकित्साएँ बतलाई गई हैं, तथापि उनसे उक्त व्याधि निर्मूल नष्ट नहीं होती, किन्तु आत्मज्ञानसे ही निर्मूल नष्ट होती है । आत्मज्ञान तो श्रवणादिपूर्वक समाधिके अभ्याससे यानी चितिकी बहिर्मुखताके निरोधसे ही होता है, इस आशयसे आत्मज्ञानका उपाय बतलानेके लिए भूमिका बाँधते हैं—'संविन्मात्रम्' इत्यादिसे ।

जितने जन्तु हैं, वे सब संविन्मात्ररूप (आत्माके ही स्वरूप) हैं, इस संवित्की बहिर्मुखता ही जगत् है । यह सारा जगत् एक छोटेसे परमाणुके उदरमें भी सैकड़ों पर्वतोंके विस्तारमें विद्यमान है, क्योंकि वहाँपर भी संवित् बैठी ही है ॥ १८ ॥

जो आत्मचितिका बहिर्मुखतासे विस्तार है, वही बाह्यविषय और भीतरी विषय ( काम, सङ्कल्प आदि ) हैं । ये चिदाकाशमें ही अनुभूत होते हैं, इसलिए जगत्का भ्रम कभी सत्य नहीं हो सकता ॥ १९ ॥

जगत्का रूप मिथ्या ही है, इसलिए हजारों प्रलयोंसे भी वह नष्ट नहीं होता या हजारों सृष्टियोंसे अपना अस्तित्व भी नहीं रखता । यदि नष्ट होता है, तो आत्माके ज्ञानसे ही, इस आशयसे कहते हैं—'प्रलयेष्वपि' इत्यादि ।

देखे गये प्रलयोंमें भी जगत्-भ्रमका न विनाश ही होता है या न देखी गई सृष्टियोंमें उसकी उत्पत्ति ही होती है, क्योंकि उसका असली रूप एकमात्र भ्रान्ति ही है ॥ २० ॥

आत्मज्ञान सम्पादनमें कौन-कौन उपाय है ? इस प्रश्नपर वैराग्य ही पहला उपाय है, यह कहते हैं—'भोग०' इत्यादिसे ।

अजितात्मा जनो मूढो रूढो भोगैककर्दमे ।
आपदां पात्रतामेति पयसामिव सागरः ॥ २२ ॥
जीवितस्य यथा बाल्यं दृष्टं प्राथमकल्पिकम् ।
निर्वाणस्य तथा भोगसन्त्यागो रागशान्तिदः ॥ २३ ॥
तज्ज्ञस्य जीवितनदी सकल्लोलाप्यसम्भ्रमा ।
समं वहति सौम्येव चित्रसंस्थेव नीरसा ॥ २४ ॥
अज्ञजीवितनद्यास्तु रसनात्यन्तभीषणाः ।
आवर्त्तावृत्तिविक्षोभकल्लोलाः सहवाहिनः ॥ २५ ॥
सर्गवर्गाः प्रवल्गन्ति संवित्प्रसरलेशकाः ।
द्विचन्द्रबालवेतालमृगाम्बुस्वप्नमोहवत् ॥ २६ ॥

यदि पुरुष अपने पौरुषरूप चमत्कारसे भोगरूप कीचड़में फँसी हुई अपनी आत्माका उद्धार नहीं करता, तो फिर दूसरा कोई भी उपाय उसके उद्धारका रहता ही नहीं ॥ २१ ॥

जिसने अपने मनके ऊपर विजय पाई नहीं है, भोगरूपी कीचड़में फँसा हुआ वह मूढ़ पुरुष आपत्तियोंका ऐसे पात्र बन जाता है, जैसे जलोंका समुद्र ॥ २२ ॥

जैसे आयुकी सबसे पहली सीढ़ी बाल्यावस्था दिखाई पड़ती है, वैसे ही मोक्षकी पहली सीढ़ी रागोंसे शान्ति देनेवाला भोगत्याग ही है ॥ २३ ॥

'रागसे शान्ति देनेवाला' यह जो विशेषण कहा गया है, उसका तात्पर्य—ज्ञानी और अज्ञानीकी आयुरूप नदीका वैलक्षण्य वर्णनसे—दिखलाते हैं—'तज्ज्ञस्य' इत्यादि ।

जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है, उसकी आयुरूप नदी कल-कल ध्वनि करती हुई ( प्रारब्धप्राप्त अनेक प्रवृत्तिरूप तरङ्गोंसे युक्त होती हुई ) भी जगत्भ्रमोंसे शून्य है । अतएव चित्रमें चित्रित जलशून्य नदीके सदृश एकरूप एवं सौम्य ( उपद्रव-रहित ) होकर बहती-रहती है ॥ २४ ॥

और जो अज्ञानी हैं, उनकी आयुरूप नदियां तो अनेक तरहकी दुःख-क्रन्दनोंकी ध्वनियोंसे अत्यन्त भयङ्कर रहती हैं । बाह्यवृत्तियोंसे उत्पन्न अनेक विक्षोभरूप कल्लोल ही उनके साथ-साथ बहनेवाले आवर्त रहते हैं ॥ २५ ॥

अज्ञानियोंको अविचारसे ही सृष्टिके प्रतिभासरूप विक्षेप उत्पन्न होते हैं, यही संवित्तिकी एक बहिर्मुखता है, यह कहते हैं—'सर्ग०' इत्यादिसे ।

संविद्वारितरङ्गौघा भान्ति सर्गाः सहस्रशः ।
विचारितास्त्वसत्यास्ते सत्यास्त्वनुभवभ्रमात् ॥ २७ ॥

जगन्त्याकाशकोशेऽपि संवित्प्रसरणभ्रमात् ।
सन्तीवाऽप्यनुभूयन्ते न तु सत्यानि तानि तु ॥ २८ ॥

संविद्विकासपयसो बुद्बुदः सर्गविभ्रमः ।
अहमित्यादिसद्भावविकाराकाररूपवान् ॥ २९ ॥

संविन्निर्वाणमजगत्संविदुन्मीलनं जगत् ।
नान्तर्न बाह्यं नासत्यं न सत्यं सर्वमेव तत् ॥ ३० ॥

चिद्रूपमजमव्यक्तमेकमव्ययमीश्वरः ।
स्वत्वभावत्वरहितं ब्रह्म शान्तात्म खादपि ॥ ३१ ॥

---

अज्ञानियोंके लिए चितिकी बहिर्मुखताके एकलेशमात्ररूप अनेक तरहके सर्ग ऐसे निकलते-रहते हैं, जैसे दो चन्द्रमा, बालवेताल, मृगतृष्णाके जल तथा स्वप्नमोह—ये अज्ञानसे निकलते-रहते हैं ॥ २६ ॥

भद्र, संवित-रूपी जलके तरङ्ग ही हजारों सृष्टियोंके रूपोंमें भासते हैं । जब उनके विषयमें विचार किया जाता है, तब वे असत्य बन जाते हैं, और जब विचारित नहीं होते तब अज्ञानियोंके अनुभवसे सत्य भासने लग जाते हैं ॥२७॥

आत्माकी बहिर्मुखताके भ्रमसे ही आकाशमें भी अनेक तरहके गन्धर्वनगर आदि जगत् सत्य-से भासने लगते हैं, परन्तु विचार करनेपर वे सत्य नहीं ठहरते ॥ २८ ॥

आत्माकी बहिर्मुखतारूप जो जल है, उसीका यह जगद्भ्रम एक तरहसे बुद्बुद् है और उसमें जो रूप है, वह अहङ्कार आदि सद्रूप भावविकारोंके आधारोंसे ही आया है ॥ २९ ॥

आत्माकी बहिर्मुखताका न होना ही समस्त जगत्की निवृत्ति है और आत्माकी बहिर्मुखता ही सम्पूर्ण जगत् है । वास्तवमें न कुछ भीतर है, न बाहर है, न असत्य है, न सत्य है । जो कुछ है, वह सर्वात्मक ब्रह्म ही है ॥ ३० ॥

चिद्रूप, अज, अव्यक्त, एक, अविकार, ईश्वर, स्वत्व और भावत्वसे रहित ब्रह्म ही सर्वत्र है, वह आकाशसे भी अत्यन्त शान्त है ॥ ३१ ॥

ब्रह्मणो निःस्वभावस्य सर्गसंवेदने स्वतः ।
स्पन्दने पवनस्येव कारणं नोपयुज्यते ॥ ३२ ॥

स्वप्नानुभववद्भ्रान्तिर्ब्रह्माब्धौ ब्रह्मवीचयः ।
सर्गता वस्तुतस्त्वत्र न स्वप्नो न च सर्गता ॥ ३३ ॥

एकमेव निराभासमचित्त्वमजडं समम् ।
न सन्नासन्न सदसदिदमव्ययमद्वयम् ॥ ३४ ॥

यथास्थितस्यैव सतो यस्याऽसंवेदनात्मकम् ।
संवित्प्रशमनं जातं तमाहुर्मुनिसत्तमम् ॥ ३५ ॥

---

आत्माकी जो बहिर्मुखता है, वह मिथ्याभूत अविद्याका ही विलास है, न कि सत्यरूप ब्रह्मके स्वभावसे उत्पन्न है, यह कहते हैं—'ब्रह्मणः' इत्यादिसे ।

हे भद्र, जिसमें किसी तरहका कोई स्वभाव ही नहीं है, उस ब्रह्ममें अपनेको सृष्टिका जो ज्ञान होता है, उसमें पवनके स्पन्दनकी नाईं, कोई कारण ही नहीं है, केवल अज्ञान ही है ॥ ३२ ॥

जैसे आत्मामें स्वप्नका अनुभव भ्रान्ति है, वैसे ही ब्रह्मरूपी समुद्रमें अविद्या-जनित सर्गरूपता ब्रह्मकी तरङ्गें भी भ्रान्तिरूप ही हैं, और कुछ नहीं । वस्तुतस्तु आत्मामें न स्वप्न है एवं न सर्गरूपता ही है ॥ ३३ ॥

परमार्थदशामें ब्रह्मका स्वरूप क्या है ? इसे कहते हैं—'एकमेव' इत्यादिसे ।

ब्रह्म एक ही है, उसमें न कोई आभास है, न कोई चित्स्वरूप दूसरा धर्म है, न जडता है, किन्तु समता है । वह न सत् है, न असत् है, न सद्-असत् उभयरूप है । केवल इतना ही कह सकते हैं कि वह अविकार है और दूसरेसे रहित है ॥ ३४ ॥

इस प्रकारके ब्रह्मरूपकी प्राप्तिकर स्थित रहना ही योगियोंके लिए बहिर्मुखताका अभाव और मौन ( मुनित्व ) है, यह कहते हैं—'यथास्थित०' इत्यादिसे ।

भद्र, जिस तरहकी मैंने स्थिति बतलाई, उस तरहकी स्थितिसे ही स्थित रहे जिस महामतिको बाह्यविषयोंका अज्ञानरूप आत्मशमन उत्पन्न हो गया है, उसीको सब मनुष्योंमें उत्तम मुनि कहते हैं ॥ ३५ ॥

सतोऽपि मृन्मयस्येव यस्याऽसंवेदनात्मकम् ।
साहं जगद्विगलितं तमाहुर्मुनिसत्तमम् ॥ ३६ ॥
यथा शाम्यत्यसङ्कल्पा सङ्कल्पनगरं तथा ।
वेदनोत्थं जगदहं चिति शाम्यत्यवेदनात् ॥ ३७ ॥
स्वभाववर्जं शब्दार्थाः सर्व एव सहेतुकाः ।
स्वभावस्य तु यो हेतुर्मुक्तिस्तदनुभावनम् ॥ ३८ ॥
न कस्यचित्पदार्थस्य स्वभावोऽस्तीह कश्चन ।
महाचिदम्बुद्रवताः सर्वा एवाऽनुभूतयः ॥ ३९ ॥
महाचिदनिलस्पन्दा एता एवाऽनुभूतयः ।
एतास्ता ब्रह्मगगनशून्यता इति बुध्यताम् ॥ ४० ॥
वातस्पन्दाविवाऽभिन्नौ ब्रह्मसर्गौ विभिन्नता ।
तयोस्त्वसत्या स्वभ्रान्तौ स्वप्ने स्वमरणोपमा ॥ ४१ ॥

---

उसी महात्माको उत्तम मुनि कहते हैं, मिट्टीके मूर्तिके सदृश जिसका शरीर रहते भी विषयवेदनाशून्यरूप जीवभावके साथ जगत् नष्ट हो गया है ॥ ३६ ॥

असङ्कल्प ही जैसे सङ्कल्परूप सृष्टिका निवारण है, वैसे ही अदृष्टि ही दृष्ट सृष्टिका निवारण है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे सङ्कल्पजनित नगरसृष्टि असङ्कल्पसे लीन हो जाती है, वैसे ही विषयवेदनसे जनित अहङ्काररूप समस्त जगत्-सृष्टि अवेदनसे चितिमें लीन हो जाती है ॥ ३७ ॥

स्वभावको छोड़कर यानी सब जड़ वस्तुओंमें अनुगत जड़तारूप मूल अविद्याको छोड़कर जितने नाम-रूपात्मक पदार्थ हैं, उन सभीके प्रति वह मूल अविद्या ही कारण है, परन्तु मूल अविद्याका जो साक्षीरूपसे कारण है, उसका अनुभव करना यानी अपनेमें तद्रूपताका अनुसन्धान करना ही मुक्ति है ॥ ३८ ॥

परमार्थमें तो किसी पदार्थका यहाँ कोई स्वभाव ही नहीं है, जितने ये अनुभव हैं, वे सब महाचितिरूप जलके द्रवस्वरूप हैं ॥ ३९ ॥

ये सभी अनुभव महाचितिरूपी वायुके स्पन्दन ही हैं, इसलिए वे सब अनुभव ब्रह्मरूप गगनकी शून्यरूपताका ही सेवन करते हैं, यह आप जानिये ॥ ४० ॥

भद्र, जैसे वायु और वायुके स्पन्दनमें कोई भिन्नता विद्यमान नहीं है, वैसे ही

भ्रान्तिस्तु तावत्तत्त्वार्थविचारो यावदस्फुटः ।
विचारे तु स्फुटे भ्रान्तिर्ब्रह्मतामेव गच्छति ॥ ४२ ॥
भ्रान्तिस्त्वसत्या वस्त्वेव प्रेक्षयाऽतो न लभ्यते ।
शशशृङ्गवदत्यच्छमतो ब्रह्मैव शिष्यते ॥ ४३ ॥
अनादिमध्यान्तमनन्तमच्छं
समं शिवं शाश्वतमेकमेव ।
सर्वां जरामोहविकारभार-
भ्रान्तिं विमुच्याम्बरभावमेहि ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सत्यार्थोपन्यासयोगो नाम त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

---

ब्रह्म और ब्रह्मकी सृष्टिमें भी कोई भिन्नता नहीं है। अपने स्वरूपकी भ्रान्ति हो जानेपर ही उनमें विभिन्नता भासती है, पर वह स्वप्नमें स्वमरणके सदृश असत्यरूप है ॥ ४१ ॥

कबतक वह भ्रान्ति रहती है, इसपर कहते हैं—'भ्रान्तिस्तु' इत्यादिसे ।

जबतक तत्त्वार्थका विचार विस्पष्ट नहीं हो जाता, तबतक ही यह भ्रान्ति रहती है और जब विचार स्पष्ट हो जाता है, तब तो यह सारी भ्रान्ति ब्रह्मरूपताको ही प्राप्त कर लेती है ॥ ४२ ॥

भ्रान्ति कैसे ब्रह्मरूपताको प्राप्त कर लेती है, इसपर कहते हैं—'भ्रान्ति०' इत्यादिसे ।

भ्रान्ति तो असत्य और अवस्तुरूप ही है, अतः विचार करनेपर भी शशशृङ्गकी नाईं वह प्राप्त नहीं की जा सकती। ऐसी स्थितिमें अतिनिर्मल ब्रह्म ही बच जाता है। तात्पर्य यह निकला कि भ्रान्तिमें जो सत्तास्फूर्तिरूप अंश है, वही ब्रह्मरूपताको प्राप्त करता है, दूसरी चीज तो कोई है नहीं, अतः दूसरे अंशके अभिप्रायसे भ्रान्ति ब्रह्मरूपताको प्राप्त करती है, यह नहीं कहा जा सकता है ॥४३॥

समस्त भ्रमोंका जब बाध हो चुका, तब आखिरमें बचे हुए ब्रह्मरूपको बतला रहे श्रीवसिष्ठजी श्रीरामजीको ब्रह्मरूपताकी स्थितिमें स्थापित करते हैं—'अनादि०' इत्यादिसे ।

## चतुस्त्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

प्राप्तेषु सुखदुःखेषु यो नश्यति स नश्यति।
यो न नश्यत्यनाशोऽसावलं शास्त्रोपदेशनैः॥ १॥
यस्य चेच्छोदयस्तस्य सन्त्यवश्यं सुखादयः।
ते चेत्सम्यक् चिकित्स्यन्ते पूर्वमिच्छेव मुच्यताम्॥ २॥

---

हे श्रीरामजी, देहके सम्बन्धसे प्राप्त हुई सभी जरा, मोह, विकार आदि भार-स्वरूप भ्रान्तियोंको छोड़कर आप अब उस ब्रह्माकाशरूपताको प्राप्त कर लीजिए, जो आदि, मध्य और अन्तसे शून्य है, अनन्त, स्वच्छ, सम, शिव, नित्य एवं अद्वितीय ही है॥ ४४॥

तेंतीसवाँ सर्ग समाप्त

---

## चौंतीसवाँ सर्ग

[ दृष्ट पदार्थोंकी सृष्टि ही जगत् है, यह जगत् अदर्शनसे ही नष्ट हो जाता है, इस प्रस्तुत विषयमें युक्तियोंका वर्णन ]

'यह अहङ्कारात्मक जगत् दृष्टिरूप वेदनसे उत्पन्न हुआ है, अतः अदृष्टिरूप अवेदनसे ब्रह्मचितिमें लीन हो जाता है, यों जो पहले कहा गया था, उसमें युक्तियोंको दिखलानेकी इच्छासे महाराज वसिष्ठजी सबसे पहले विनाशशील दुःखादि त्रिपुटियोंसे अलगकर अविनाशशील आत्माको दिखलाते हुए 'सम्पूर्ण शास्त्रोंकी सफलता आत्माके दर्शनसे ही है' यह कहते हैं—'प्राप्तेषु' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामचन्द्रजी, सुख-दुःखोंके आनेपर जो नष्ट हो जाता है वही नष्ट होता है और जो नष्ट नहीं होता, वही यह अविनाशी आत्मा है, बस, इससे और अधिक शास्त्रोंका उपदेश करना व्यर्थ ही है॥ १॥

जो इच्छावाला है, वह नित्य दुःखी है और न वह आत्मा ही है, किन्तु इच्छात्याग आदि उपायोंका अवलम्बनकर प्रतिकार करने योग्य संसाररूपी रोगकी कोटिमें प्रविष्ट कोई दूसरा ही है, इस आशयसे कहते हैं—'यस्य' इत्यादि।

अहं जगदिदं भ्रान्तिर्नास्त्येव परमे पदे ।
इदं शान्तमनालम्बं सर्वं निर्वाणमव्ययम् ॥ ३ ॥
अहं ब्रह्म जगच्चेति शब्दसंभ्रमविभ्रमः ।
सर्वस्मिञ्छान्त आकाशे केन नामोपकल्पितः ॥ ४ ॥
नेहास्त्यहं न च जगन्न च ब्रह्मादिशब्दकाः ।
शान्तस्यैकस्य सर्वत्वात्कर्ता भोक्तेह कः कुतः ॥ ५ ॥
उपदेश्याऽतिशायित्वात्सर्वापह्नव एव च ।
कुतोऽयं स च सत्यात्मा त एवाऽहं विशिष्यते ॥ ६ ॥

---

जिस प्राणीको इच्छा आदि विद्यमान हैं, उसीको सुख आदि अवश्य होते-रहते हैं। यदि सुख आदि रोगोंकी भलीभाँति चिकित्सा करना अभीष्ट है, तो सबसे पहले इच्छाका ही परित्याग कर देना चाहिए ॥ २ ॥

जो अविनाशी आत्मा है, उसमें इच्छा आदिका अभिमानी और अभिमानका विषय जगत् दोनोंकी सम्भावना नहीं करनी चाहिए, यह कहते हैं—'अहम्' इत्यादिसे ।

अहङ्कार और यह जगत् दोनों तरहकी भ्रान्ति परमपद परमात्मामें है ही नहीं, यह तो शान्त, निरालम्बन ( आश्रयरहित ), सर्वात्मक विनाशशून्य मोक्षरूप ही है ॥ ३ ॥

ऐसी स्थितिमें वह 'अहम्' आदि शब्दोंका विषय ही नहीं है, यह कहते हैं—'अहम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, 'अहम् , ब्रह्म और जगत्' यह जो शब्दजालरूप भ्रम है, इसकी सर्वात्मक, शान्त चिदाकाशमें किसने कल्पना की ? यह बड़ा भारी आश्चर्य है ॥४॥

जब शब्दकी गति ही नहीं है, तब कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिकी तो कथा ही क्या ? यह कहते हैं—'नेहा०' इत्यादिसे ।

परमार्थमें तो, न अहम् है, न जगत् है और न ब्रह्म आदि शब्द ही हैं, क्योंकि जो शान्त अद्वितीय वस्तु है, वह तो सर्वात्मकरूप है। ऐसी स्थितिमें उसमें कर्तृता और भोक्तृता कैसी और कहांसे रह सकती है ॥ ५ ॥

सब कुछका बाध करनेपर उपदेश आदिका भी बाध हो ही जायगा, इस परिस्थितिमें आपत्ति यह आ जायगी कि आत्मज्ञानका कोई उपाय ही न बच

अग्रस्थसिद्धसञ्चारो ज्ञायते नापि दारुणः ।
यथैकपार्श्वसंसुप्तनरः स्वप्नाभ्रगर्जितम् ॥ ७ ॥
ज्ञप्तौ नास्ति यतस्तेन सिद्धाचारो न लक्ष्यते ।
स्वभाव इति सर्वेण ज्ञप्तिस्थो ह्यनभूयते ॥ ८ ॥
ज्ञप्तिरप्यात्मभूतैव सर्वं भाति हि तन्मयम् ।
तस्मात्साहं जगत्सर्वमभिन्नं परमात्मनः ॥ ९ ॥

पायगा, यह शङ्का यदि हो, तो भले ही हो, इससे कुछ बिगड़ेगा नहीं, क्योंकि एक तो जिसका हमें उपदेश करना है, उस ब्रह्मका तो बाध होता ही नहीं, दूसरी बात यह है कि ब्रह्ममें बाधित होनेवाले समस्त अनर्थोंकी अपेक्षा त्रिकाला-बाधित सत्य प्रत्यगात्मरूप अतिशय है और तीसरी बात यह है कि बाधोपायसे आत्मज्ञान हो जानेके बाद उपदेश आदिकी आवश्यकता ही नहीं रहती, इस आशयसे कहते हैं—'उपदेश्या०' इत्यादि ।

उपदेश्य ब्रह्ममें दूसरे अर्थोंकी अपेक्षा त्रिकालाबाधितत्वरूप अतिशय है, इससे सबका बाध होनेपर यह आत्मा सत्यस्वरूप ही किया जाता है, ऐसी स्थितिमें बाधसे वही तुम्हारा यह अहंरूप आत्मा विशिष्टरूप ( परिशिष्टरूप ) एवं सर्वातिशायी ही सिद्ध किया जाता है ॥ ६ ॥

यह ठीक है, परन्तु अदर्शनमात्रसे दृश्यकी शान्ति कैसे हो सकती है, इसपर कहते हैं—'अग्रस्थ०' इत्यादिसे ।

जैसे सामने ही रहनेवाले, परन्तु अन्तर्धानशक्तिसे अदृष्ट बड़े-बड़े सिद्ध पुरुषोंका एवं पिशाचोंका व्यवहार अतिभयङ्कर होता हुआ भी दिखाई नहीं पड़ता अथवा जैसे एक ही शयनपर सोये हुए दो पुरुषोंमें एकको स्वप्नमें जोरसे हुए मेघगर्जनको दूसरा पुरुष नहीं जान पाता यानी वह हम लोगोंकी दृष्टिसे है ही नहीं, वैसे ही यहांपर भी जान लीजिये । अर्थात् चूँकि अपनी दृष्टिमें नहीं आता, इसलिए पुरुष सामने स्थित सिद्धव्यवहारको नहीं देख पाता, क्योंकि सभीका यह स्वभाव है कि अपनी ही दृष्टिमें आनेवाले पदार्थका सब अनुभव करते हैं ॥ ७, ८ ॥

इससे अपनी इन बातोंमें क्या आया, इस प्रश्नपर कहते हैं—'ज्ञप्ति०' इत्यादिसे ।

ज्ञप्तिर्जगत्तया भाति सङ्कल्पस्वप्नयोरिव ।
अनानावयवोदेति जलमूर्मितया यथा ॥ १० ॥
एकात्मैवोदयो ज्ञप्तेर्नानातामिव चाऽऽगतः ।
अज्ञानात्स त्ववस्तुत्वात्प्रेक्षितो नोपलभ्यते ॥ ११ ॥
यथा स्वावयवानेव सर्वानवयवी भवेत् ।
नित्यानवयवं शान्तं ब्रह्मैवेदं तथा जगत् ॥ १२ ॥
भाण्डलक्षाणि धत्तेऽन्तश्चिद्रूपकनकेष्टिका ।
यदेव सा चेतयते जगदादीव वेत्ति तत् ॥ १३ ॥
ब्रह्मैव कचतीवेदं सत्तयाऽच्छजगत्तया ।
चिद्रूपत्वाद्द्रवात्मत्वात्तरङ्गादितयाऽब्धिवत् ॥ १४ ॥

---

ज्ञप्तिपदार्थ भी आत्मरूप ही है, अतः जो कुछ दीखता है, वह तद्रूप ही दीखता है। इससे अहङ्कारके सहित सम्पूर्ण जगत् परमात्मासे अभिन्न है ॥ ९ ॥

सङ्कल्प और स्वप्नके सदृश ही ज्ञप्ति जगत्के रूपसे भासती है। और वह यद्यपि अनेक अवयवोंवाली नहीं है, परन्तु जल ऊर्मियोंके रूपसे जैसे अनेक अवयववाला भासता है, वैसे ही अनेक अवयवोंवाली भासती है ॥ १० ॥

अनेकरूप-सा होकर आया हुआ एक आत्मा ही दृष्टिके अज्ञानसे विवर्तरूप उदय है यानी संसार है। यह संसार स्वयं अवस्तुरूप होनेके कारण तत्त्वदृष्टिसे भलीभाँति देखा गया भी प्राप्त नहीं किया जा सकता ॥ ११ ॥

जैसे यह जीव अवयवरहित होता हुआ भी हाथ, पैर आदि अपने अवयवोंकी कल्पना कर स्वप्नमनोरथ आदिमें अवयववाला हो जाता है, वैसे ही सदासे अवयवशून्य, स्वभावतः शान्त यह ब्रह्म ही जगद्रूप अवयवसे अवयववाला बन जाता है ॥ १२ ॥

यह चितिरूपी कुलाली जब स्मरण करती है, तभी जगत्को देखने लगती है और अपने भीतर लाखोंकी संख्यामें बड़े-बड़े बर्तन धारण करने लग जाती है ॥ १३ ॥

भद्र, चितिरूप होनेके कारण यह ब्रह्म ही अपनी सत्तासे सुन्दर जगत्के रूपमें ऐसे भासता है, जैसे द्रवरूप होनेके कारण सागर तरङ्गोंके रूपमें भासता है ॥ १४ ॥

यद्यच्चेतयतेऽन्तस्तु जगदादीव पश्यति ।
अरूपमपि रूपं स्वं यन्न चेतयते न तत् ॥ १५ ॥
चेतनाचेतनत्वोक्ती तस्येशत्वात्स्वदेहगे ।
उपदेशार्थमेवोक्ते न सद्विषयमर्थतः ॥ १६ ॥
न जगत्सन्न चैवाऽसद्भासते चेतनाच्चिति ।
अचेतनान्न कचति क इवाऽर्थग्रहोऽत्र नः ॥ १७ ॥
अचेतनं चेतनं च स्पन्दास्पन्दवदात्मनः ।
स्वायत्ते न कदर्थस्थे स्वस्थपाषाणवत्स्थिते ॥ १८ ॥
यस्येक्षितस्य नो सत्ता नाऽऽधारो न च कारणम् ।
सोऽहमित्येव यो यक्षो न जाने कुत उत्थितः ॥ १९ ॥

---

जिस-जिसका अपने अन्दर अध्याससे प्रकाश करता है, उस उसको ब्रह्म मानो देखता है । यद्यपि ब्रह्म अरूप है, तथापि उसे अपना रूप मान बैठता है और अपने अन्दर जिसका अध्यास नहीं करता उसे नहीं देखता ॥ १५ ॥

ब्रह्ममें चेतनता और अचेनताको लेकर जो कुछ वचन प्रयोग किया जाता है, वह तो मायाशबल होनेसे सर्वशक्ति सम्पन्न होनेके कारण ब्रह्मके विषयमें नहीं है, किन्तु स्वदेहभूत मायाके ही विषयमें है यानी चेतनत्व अचेनत्व मायागत ही है । वह वचन केवल उपदेश देनेके लिए ही कहा जाता है, वह वस्तुतः परमार्थ विषयक नहीं है—ब्रह्मका कुछ भी स्पर्श नहीं करता ॥ १६ ॥

भद्र, जगत् न सत् है और न असत् है, केवल चितिशक्तिमें बहिर्मुखवृत्तिके कारण भासता है । यदि बहिर्मुखवृत्तिका त्याग हो जाय, तो वह भासता ही नहीं, इसलिए हम लोगोंको इन विषयोंके लिए आग्रह ही क्या ॥ १७ ॥

ऐसा भले ही हो, इससे हुआ क्या, इसपर कहते हैं—'अचेतनम्' इत्यादिसे।

आत्माका चेतनत्व और अचेतनत्व स्वाधीन है, इसमें किसी यत्नकी आवश्यकता नहीं है, जैसे अपने स्वरूपमें स्थित स्फटिक पत्थरके सैकड़ों बिम्ब प्रतिबिम्बरूप स्पन्दन और अस्पन्दन स्वाधीन हैं, इनमें किसी दूसरे प्रयत्न या श्रमकी आवश्यकता नहीं रहती, वैसे ही आत्माके चेतनाचेतनके विषयमें भी जानना चाहिए ॥ १८ ॥

समस्त कल्पनाओंके मूलभूत एक अहङ्कारकी ही परीक्षा कर लेनेसे

यस्याऽहमिति यक्षस्य सत्तैवाऽस्ति न सत्यतः ।
अहो नु चित्रं तेनेमे भवन्तो विवशीकृताः ॥ २० ॥
काकतालीयवद्भ्रान्तमहं ब्रह्मणि भासते ।
स्वमेव रूपं दृग्भ्रान्तौ केशोण्ड्रकमिवाम्बरे ॥ २१ ॥
ब्रह्मैवाऽहं जगच्चात्र कुतो नाशसमुद्भवौ ।
अतो हर्षविषादानां किन्त्वेव कथमास्पदम् ॥ २२ ॥
सर्वेश्वरत्वादीशस्य विभातीदं प्रचेतितम् ।
अचेतितं च नो भाति तेनाचेतितमस्तु ते ॥ २३ ॥

---

मिथ्यात्वका निश्चय हो जानेपर समस्त जगत्का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है, इस आशयसे कहते हैं—'यस्ये०' इत्यादि ।

ठीक-ठीक देखनेपर जिसकी सत्ता नहीं मिलती, जिसका आधारभूत कोई नहीं है और जिसका कोई कारण नहीं है, वह 'अहम्' रूप यक्ष कहाँसे उत्पन्न हुआ, यह जाना नहीं जा सकता ॥ १९ ॥

जिस अहङ्काररूप यक्षको वस्तुतः सत्ता ही नहीं है, उसीने इन आप सब लोगोंको पराधीन बना डाला है, यह बड़ा भारी आश्चर्य है ॥ २० ॥

ब्रह्ममें काकतालीय न्यायसे अकस्मात् ही भ्रान्त यह अहङ्कार ऐसे भासता है, जैसे कि दृष्टिकी भ्रान्ति होनेपर आकाशमें अपना ही रूप केशोण्ड्रकके रूपमें भासता है ॥ २१ ॥

पूर्वोक्त वचनोंसे जो निष्कर्ष निकला, उसे बतलाते हैं—'ब्रह्मैव' इत्यादिसे ।

मैं और यह जगत् दोनों ब्रह्मरूप ही हैं, अतः इस दशामें जगत्की उत्पत्ति एवं नाश दोनों कहाँसे । इससे हर्ष और विषादका स्थान ही क्या और किस तरहसे ॥ २२ ॥

वर्णित दृष्टिसृष्टि कल्पनाओंका अनुवादकर फलित कहते हैं—'सर्वेश्वर०' इत्यादिसे ।

सर्वेश्वर होनेके कारण यानी मायाशबल होनेके कारण ही ईशमें प्रचेतित ( दृष्ट ) हुआ यह संसार भासता है और अचेतित ( दृष्ट न हुआ ) नहीं भासता है । इसलिए आपको यह जगत् सदा अचेतित ही रहे ॥ २३ ॥

काकतालीयवच्चित्त्वाज्जगतो भाति ब्रह्म खम् ।
स्वप्नसङ्कल्पपुरवत्तत्स्माद्भिद्यते कथम् ॥ २४ ॥

यथोर्म्यादि जले वृक्षे यथा वा शालभञ्जिका ।
यथा घटादयो भूमौ तथा ब्रह्मणि सर्गता ॥ २५ ॥

अनाकृतावसंस्थाने स्वच्छे यदनुभूयते ।
तत्तदेवात उदितं किंनामाहं जगन्ति किम् ॥ २६ ॥

मरुतः स्पन्दवैचित्र्यं सत्तयैव यथा तथा ।
ब्रह्मणो निःस्वभावस्य जगदाद्यहमादि च ॥ २७ ॥

यथऽाभ्रे लक्ष्यते वृक्षगजवाजिमृगादिता ।
असन्निवेशाकृतिनि सर्गाहन्ते तथा परे ॥ २८ ॥

---

बतलाई गई रीतिसे यह जगत् भी चिद्रूप है, अतः ब्रह्माकाश ही उस रूपसे स्वप्ननगर या सङ्कल्पनगरके सदृश अकस्मात् काकतालीयकी नाईं भासता है। वस्तुतस्तु वह जगत् ब्रह्मसे किस तरह अलग हो सकता है ? यदि ब्रह्मसे अलग मान लिया जाय, तो सत्ताका लाभ न होनेसे अलीक ( अत्यन्त असत् ) ही हो जायगा ॥ २४ ॥

जैसे शान्त जलमें अप्रकाश्य तरङ्ग आदि हैं, या न खोदे गये काठमें अदृश्य कठपुतलियाँ हैं अथवा भूमिमें अदृश्य घट आदि हैं, वैसे ही ब्रह्ममें यह सृष्टिका रूप है ॥ २५ ॥

जिसका कोई आकार नहीं है, जो अवयवोंसे रहित है और स्वच्छ है, उसमें जो कुछ दिखाई देता है, वह तद्रूप ही होता है, इसलिए यह उत्पन्न हुआ अहङ्कार क्या है और ये जगत ही क्या हैं ॥ २६ ॥

अलग सत्ता न होनेसे भी वह वही है, यह कहते हैं—'मरुतः' इत्यादिसे। जैसे पवनका स्पन्दवैचित्र्य पवनसत्ताके ही अधीन है, वैसे ही अविद्यारहित ब्रह्मके अहम् आदि और जगत् आदि उसकी सत्ताके अधीन हैं ॥ २७ ॥

जैसे आकाशमें वृक्ष, हाथी, घोड़े आदिका रूप दिखाई पड़ता है, वैसे ही अवयव एवं आकाररहित ब्रह्ममें सृष्टि एवं अहङ्कारका रूप दिखाई पड़ता है ॥ २८ ॥

सर्गोऽवयववद्भाति सर्व एव परे शिवे ।
एवं तदुपमां विद्धि कार्यकारणवद्यथा ॥ २९ ॥
अन्तःशान्तमनायासमनुपाधि गतभ्रमम् ।
जगत्यसम्भवादेव व्योमवत्सममास्यताम् ॥ ३० ॥
न भवन्तो न च वयं न जगन्ति न खादयः ।
सन्ति शान्तमशेषेण ब्रह्मेदं निर्भरं स्थितम् ॥ ३१ ॥
अशेषेष्वविशेषेषु शान्ताशेषविशेषता ।
सत्या सैवाहमित्याशु त्यक्त्वा मोक्षाय भाव्यताम् ॥ ३२ ॥
वेदनं बन्धनं विद्धि विद्धि मोक्षमवेदनम् ।
यथास्थितं यथाचारं भव शान्तमवेदनम् ॥ ३३ ॥
द्रष्टा न दृश्यतां याति चितिर्नायाति चेत्यताम् ।
चेत्याभावादजगति कः किं चेतयते कथम् ॥ ३४ ॥

---

हे श्रीरामभद्र, परब्रह्ममें यह सारा जगत् वृक्षशाखाके सदृश भासता है। वट आदि वृक्षरूप कार्य एवं उसके बीज आदि कारणके सदृश जैसे लोकमें सूक्ष्म अर्थोंके लिए सादृश्य प्रसिद्ध हैं वैसे ही संसार और ब्रह्मका सादृश्य जानिये ॥२९॥

हे श्रीरामजी, आप भीतरसे शान्त, प्रयत्नोंसे निर्मुक्त, उपाधिसे रहित भ्रमसे शून्य होकर आकाशके समान निर्विक्षेप हो स्थित रहिये, क्योंकि वर्णित रीतिसे आपसे भिन्न कोई दूसरा जगत् है ही नहीं ॥ ३० ॥

न आप हैं, न हम हैं, न जगत् हैं, न आकाश आदि हैं, किन्तु अशेष-रूपसे परिपूर्ण सर्वोपद्रववर्जित अपरोक्ष ब्रह्म ही स्थित है ॥ ३१ ॥

हे भद्र, चैतन्यसे अतिरिक्त किसी भी अन्य स्वरूपका निरूपण न हो सकनेसे सभी पदार्थ जब एकरूप ही सिद्ध हुए, तब विशेष विभ्रमको छोड़कर उक्त परमार्थसत्यस्वरूप चितिशक्ति ही मैं हूँ, ऐसी मोक्षके लिए तत्काल ही भावना करनी चाहिए ॥ ३२ ॥

भद्र, बाह्य पदार्थोंके ज्ञानको बन्धन और बाह्य पदार्थोंके अज्ञानको मोक्ष जानिये। इसलिए आप भूमिकाभ्यासरूप विद्वानोंके आचरणका उल्लंघन न कर यथास्थित शान्त अवेदनरूप हो जाइये ॥ ३३ ॥

तत्त्वज्ञानकी दृढ़ता होनेपर जड़ अर्थ चेतनरूप ही नहीं होते, यह कहते हैं—'द्रष्टा' इत्यादिसे ।

द्रष्टृदृश्यदशाभावाज्जाग्रत्येव सुषुप्तिवत् ।
शरदाकाशकोशाभमसत्तोपममास्यताम् ॥ ३५ ॥
तथैकब्रह्मचिद्रूपे पवनस्पन्दने यथा ।
अत्राचिद्बोधता सर्गो मोक्षो ब्रह्मैकबोधता ॥ ३६ ॥
चित्स्पन्दो ब्रह्ममरुतो यत्र सर्ग इति स्मृतः ।
नात्र चित्स्पन्दनं यत्स्यान्निर्वाणं तदुदाहृतम् ॥ ३७ ॥
बीजमन्तर्यथा वेत्ति स्वरूपं पल्लवादिकम् ।
तथा महाचिदन्तस्थं स्वरूपं वेत्ति सर्गताम् ॥ ३८ ॥
पत्रादिवेदनाद्बीजं यथा पत्रादि तिष्ठति ।
परा चित्सर्गसंवित्तिस्तथा भवति सर्गता ॥ ३९ ॥

---

द्रष्टा कभी दृश्यरूप नहीं होता और चितिशक्ति चेत्यरूप नहीं होती। चेत्यके अभावसे जगत्-शून्य ब्रह्ममें कौन, क्या और किस प्रकार चेतित ( प्रकाशित ) होगा ॥ ३४ ॥

हे भद्र, द्रष्टा, दृश्यकी दशा न रहनेसे जाग्रदवस्थामें ही सुषुप्तिके सदृश तथा शरदाकाशके सदृश शून्यकी तरह आप स्थित रहिये ॥ ३५ ॥

जैसे अज्ञानसे पवन और स्पन्दनमें भेदप्रतीति होती है वैसे ही अद्वितीय ब्रह्मचैतन्यमें अज्ञानसे भेद प्रतीत होता है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि चिति और अचितिका भेददर्शन ही सृष्टि है तथा ब्रह्मैक्यदर्शन मोक्ष है ॥ ३६ ॥

जहाँ ब्रह्मरूप वायुसे चितिका स्पन्दन है होता वहींपर सर्गनाम पड़ जाता है, अतः यहाँ जब चितिका स्पन्दन नहीं होगा, तभी वह निर्वाण कहा जायगा ॥ ३७ ॥

द्वैतदर्शन ही सृष्टिरूप है, यह दृष्टान्तोंसे प्रतिपादन करते हैं—'बीज०' इत्यादिसे।

जैसे बीज अपने भीतर पल्लव आदि स्वरूपका परिज्ञान करता है, वैसे ही महाचैतन्यरूप ब्रह्म अपने भीतर सृष्टिरूप स्वरूपका अनुभव करता है ॥ ३८ ॥

ज्ञानकालमें ही ब्रह्मभावनिष्ठा हो जाती है, इसमें भी ये ही दृष्टान्त हैं, यह कहते हैं—'पत्रादि०' इत्यादिसे।

जैसे पत्र आदिके ज्ञानसे बीज पत्र आदिरूपसे स्थित हो जाता है, वैसे ही परमचैतन्यरूप ब्रह्म सृष्टिज्ञानसे सृष्टिरूप हो जाता है ॥ ३९ ॥

यथा भावविकाराभाश्रितपराः सर्गतास्तथा ।
सर्वे बीजानि दृष्टान्ताः तद्रूपा एव तन्मयाः ॥ ४० ॥
निर्विकारपरब्रह्ममयं सर्वमिदं जगत् ।
निर्विकारमनाद्यन्तमेवं विद्धि निरामयम् ॥ ४१ ॥
निजसङ्कल्पमात्रात्मा निजसङ्कल्पनात्क्षयी ।
द्वैताद्वैतविकारोऽयं सङ्कल्पनगरं यथा ॥ ४२ ॥
शून्यत्वाकाशयोर्भेदो यादृशोऽवगतस्त्वया ।
भेदं निरात्मकं विद्धि तादृशं ब्रह्मसर्गयोः ॥ ४३ ॥
महाचिद्रूपिणी शान्ता या सत्ता ब्रह्मणः पुरा ।
स्वतः सेयमहं त्वं च मानवोऽस्मीत्यबोधतः ॥ ४४ ॥
ब्रह्मण्यस्मिन् जगद्रूपे न किञ्चिदपि जायते ।
जातमप्यथ नष्टं च न नश्यत्यम्बुवीचिवत् ॥ ४५ ॥

---

वृक्षके छः भावविकार भी यहां दृष्टान्त हैं, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे चैतन्यके आश्रित भावविकारोंके क्रमिक प्रतिभास ही सृष्टिरूप हैं, वैसे ही सभी बीज दृष्टान्त हैं, अतः बीज आदिरूपसे स्थित चैतन्यके ही विकाररूप होनेके कारण सृष्टियां तन्मय हैं ॥ ४० ॥

हे श्रीरामजी, निर्विकार परब्रह्ममय ही यह सब जगत् है, अतः विकाररहित, आदि-अन्तशून्य निरामय चिति ही सब कुछ है, यह आप जानिये ॥ ४१ ॥

सङ्कल्पनगरके सदृश यह द्वैताद्वैतात्मक जगत केवल अपना सङ्कल्परूप ही है, अतः अपना सङ्कल्प जब नष्ट हो जाता है, तब यह भी नष्ट हो जाता है ॥ ४२ ॥

भद्र, शून्यता और आकाशका भेद जैसा आपने तुच्छ जाना, ब्रह्म और जगत्का भी भेद वैसा ही तुच्छरूप जानिये ॥ ४३ ॥

पूर्वसिद्ध महाचैतन्यरूप जो ब्रह्मकी सत्ता है, वही अज्ञानसे 'मैं मनुष्य हूँ' इस आकारको धारण कर अहङ्कारके रूपसे एवं जगतके रूपसे विवर्तित हो जाती है ॥ ४४ ॥

इस जगत्-रूप ब्रह्ममें कुछ भी उत्पन्न नहीं होता । जलतरङ्गके सदृश उत्पन्न हुआ भी वास्तवमें उत्पन्न नहीं होता है और नष्ट हुआ भी वास्तवमें वह नष्ट नहीं होता है ॥ ४५ ॥

पदार्थब्रह्मरूपेण ब्रह्मैवात्मनि तिष्ठति ।
अवयवीवावयवे खे खं वारीव वारिणि ॥ ४६ ॥

निमेषादर्धभागेन देशाद्देशान्तरस्थितौ ।
यद्रूपं संविदो मध्ये स स्वभाव उपास्यताम् ॥ ४७ ॥

संक्षुब्धमक्षुब्धमिति द्विरूपं
संवित्स्वरूपं प्रवदन्ति सन्तः ।
श्रेयः परं येन समीहसे त्वं
तदेकनिष्ठो भव माऽमतिर्भूः ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थयोगोपदेशो नाम चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

---

पदार्थोंके रूपसे या ब्रह्मरूपसे अपने स्वरूपमें ब्रह्म ही स्थित है। जैसे कि अपने अवयवोंमें अवयवी ( वृक्ष आदि ), आकाशमें आकाश और जलमें जल स्थित रहता है ॥ ४६ ॥

चितिकी वास्तविक स्थिति तो निर्विषयक ही है, यह कहते हैं— 'निमेषा०' इत्यादिसे ।

एक निमेषके अर्धभागसे एकदेशसे देशान्तरकी स्थितिमें जो मध्यमें ज्ञानकी स्थिति है, उस स्वभावकी ही आप उपासना कीजिए ॥ ४७ ॥

हे श्रीरामजी, शास्त्रज्ञ विद्वान् संवित्का एकरूप तो संक्षुब्ध यानी अज्ञानियोंके अनुभवसे सिद्ध विवर्तवाला है, यह कहते हैं और दूसरा अक्षुब्ध यानी विवर्त-रहित कूटस्थ पूर्णानन्दैकरस है, यों कहते हैं। इन दोनों रूपोंमें आप अपना कल्याण जिससे चाहते हों, उसमें एकनिष्ठ हो जाइए। बिना परीक्षा किये किसीका ग्रहण कर अविवेकी मत बन जाइए ॥ ४८ ॥

चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त

—०—

## पञ्चत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

देशाद्देशान्तरं दूरं प्राप्तायाः संविदः क्षणात् ।
यद्रूपममलं मध्ये परं तद्रूपमात्मनः ॥ १ ॥
गच्छञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नुन्मिषन्निमिषन्हसन् ।
नूनं निरामयत्वाय नित्यमेतन्मयो भव ॥ २ ॥
तत एव निराभासात्सत्यान्निर्वासनैषणात् ।
यथास्थितं यथाचारमचलामरशैलवत् ॥ ३ ॥
एतद्रूपमविद्यायाः प्रेक्षिता यन्न लभ्यते ।
प्रेक्षिता लभ्यते चेत्सा तद्विद्यैव पराऽभवत् ॥ ४ ॥

## पैंतीसवाँ सर्ग

[ प्रपञ्चसहित तथा प्रपञ्चरहित ब्रह्मतत्त्वकी अखण्ड एक दृष्टिके लिए सत्य और असत्य दोनों तरहसे भासमान ब्रह्मके स्वरूपका विस्तारपूर्वक वर्णन ]

विरोधाभासोक्तियोंसे संक्षुब्ध और अक्षुब्ध दो रूपोंसे युक्त ब्रह्मका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेकी इच्छा रखनेवाले महाराज वसिष्ठजी पूर्वोक्त उपायसे परिचित अक्षुब्धरूपका उसमें अपनी दृढ़ स्थिति बनानेके लिए पहले स्मरण कराते हैं—'देशाद्देशान्तरम्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, क्षणभरमें ही क्रमशः एक देशसे दूसरे अत्यन्त दूर देशतक प्राप्त संवित्का ( ज्ञानका ) दोनों देशोंके बीचमें जो निर्मल निर्विषयकरूप है वही परब्रह्म परमात्माका सर्वोत्कृष्ट अक्षुब्धरूप है ॥ १ ॥

हे श्रीरामजी, निरामय होनेके लिए यानी निर्वाणपदकी प्राप्तिके लिए चलते, सुनते, स्पर्श करते, सूँघते, जागते, तथा हँसते हुए आप इसी निर्विषय नित्य चिद्रूपमें अवश्य तन्मय हो जाइये ॥ २ ॥

जीवन्मुक्तोंकी स्थिति तथा अपने कुलके आचारके अनुसार सब व्यवहार करते हुए उसी निराभास, सत्य तथा वासना और इच्छादिसे शून्य चितिस्वरूपसे, सुमेरु पर्वतके समान, कदापि चलायमान न होना ही अर्थात् उसमें दृढ़ स्थित रहना ही विद्या है ॥ ३ ॥

आगे कही जानेवाली बातोंमें उपयोगी होनेके कारण उस विद्याके विरुद्ध अविद्याका निरूपण करते हैं—'एतद्रूपम०' इत्यादिसे ।

अविद्यासम्भवाच्चेत्यचित्त्वे सम्भवतः क्व किम् ।
चेत्यते कथमेवान्तः शान्तिरेव बलोदिता ॥ ५ ॥
सत्यं ब्रह्म जगच्चैकं स्थितमेकमनेकवत् ।
सर्वं वा सर्ववद्भाति शुद्धं चाऽशुद्धवत्ततम् ॥ ६ ॥
अशून्यं शून्यमिव च शून्यं वा शून्यवत्स्फुटम् ।
स्फारमस्फारमिव तदस्फारं स्फारसन्निभम् ॥ ७ ॥
अविकारं विकारीव समं शान्तमशान्तवत् ।
सदेवाऽसदिवादृश्यं तदेवाऽतदिवोदितम् ॥ ८ ॥

---

हे श्रीरामजी, अविद्याका एकमात्र यही स्वरूप है कि प्रमाणों द्वारा भली-भांति विचारपूर्वक देखनेसे वह कहीं उपलब्ध न हो और विचारपूर्वक देखनेसे यदि उपलब्ध हो, तो फिर वह परा विद्या ही है ॥ ४ ॥

अविद्याके न रहनेसे चिति और चेत्य ( विषय ) के भेदका संभव कहां ! और भेद न रहनेसे वह चिति अपने भीतर किसको कैसे प्रकाशित करे ! इसलिए विचारकर देखनेसे यही प्रतीत होता है कि शान्त, विषयशून्य चिन्मात्रस्थिति ही बलात् उदित है ॥ ५ ॥

विद्या और अविद्या दोनोंसे मिले-जुले रहनेके कारण मध्यकी भूमिकामें आरूढ विवेकी पुरुषकी दृष्टिसे नियत एक रूपवाला होते हुए भी वह ब्रह्म अनियत-विरुद्ध नाना स्वभावसे युक्त-सा स्थित रहता है, इस तरहके अनेक विरोधाभासों तथा प्रमाण, युक्ति और अनुभव आदिसे सर्गसमाप्तिपर्यन्त उसका विस्तृत वर्णन करते हैं—'सत्यम्' इत्यादिसे ।

ब्रह्म और जगत् परमार्थतः एक ही है, परन्तु अज्ञानके कारण अनेक-सा यानी विरुद्धरूपसे स्थित भासता है । एवं सर्वत्रव्याप्त, परिपूर्ण और शुद्ध होनेपर भी ब्रह्म अपूर्ण और अशुद्ध-सा अज्ञानके कारण ही भासता है ॥ ६ ॥

अशून्य होनेपर भी प्रलयमें शून्यके समान तथा शून्य होनेपर भी सृष्टिकालमें अशून्यके समान वह स्पष्ट भासता है । देश और कालसे अपरिच्छिन्न होनेपर भी वह परिच्छिन्नके सदृश तथा अस्फार ( विशाल देश, काल आदिसे शून्य ) होनेपर भी वह स्फार ( विशाल देशकालादि ) के समान सद्रूप स्थित है ॥ ७ ॥

विकारशून्य होनेपर भी वह विकारीके समान, शान्त और समरूप होनेपर भी

अविभागं विभागीव निर्जाड्यं जडवद्गतम् ।
अचेत्यं चेत्यभावीव निरंशं सांशशोभनम् ॥ ९ ॥
अनहं सोऽहमिव तदनाशमिव नाशवत् ।
अकलङ्कं कलङ्कीव निर्वेद्यं वेद्यवाहिवत् ॥ १० ॥
आलोकि ध्वान्तघनवन्नववच्च पुरातनम् ।
परमाणोरपि तनु गर्भीकृतजगद्गणम् ॥ ११ ॥
सर्वात्मकमपि त्यक्तदृष्टं कष्टेन भूयसा ।
अजालमपि जालाढ्यं चाशेषवदनेकधा ॥ १२ ॥
निर्मायमपि मायांशुमण्डलामलभास्करम् ।
ब्रह्म विद्धि विदांनाथमपामिव महोदधिम् ॥ १३ ॥

वह अज्ञानके कारण अशान्त तथा असमके समान, सत् होनेपर भी वह चक्षु आदिसे देखनेके अयोग्य होनेके कारण असत्‌के सदृश एवं तद्रूप होनेपर भी वही ब्रह्म अतद्-रूप-सा उदित जान पड़ता है ॥ ८ ॥

विभागशून्य होनेपर भी वह भागसहितके तुल्य, जाड्यरूपताको न प्राप्त होनेपर भी वह जड़के समान, विषयोंसे शून्य होनेपर भी वह विषयभावको प्राप्त हुएके समान, अंशशून्य होनेपर भी वह अंशयुक्तके समान सुशोभित दीखता है ॥ ९ ॥

अहङ्काररहित होनेपर भी अहङ्कारसहितके समान, अविनाशी होनेपर भी नाशवान्‌के सदृश, कलङ्कशून्य होनेपर भी कलङ्कयुक्तके समान, विषयरहित होनेपर भी विषयसहितके तुल्य वह ब्रह्म भासता है ॥ १० ॥

स्वप्रकाश होनेपर भी सघन अन्धकारयुक्तके समान, पुरातन होनेपर भी नवीनके समान, परमाणुसे भी सूक्ष्म तथा अनेक जगत्‌को अपने उदरके भीतर धारण किये हुए वह ब्रह्म स्थित है ॥ ११ ॥

सर्वात्मक होनेपर भी जिसने यज्ञ, दान, तप, चित्तशुद्धि, वैराग्य, श्रवण, मनन आदि महान् कष्टस्वरूप अपने पुरुषप्रयत्नसे सम्पूर्ण दृश्यसमूहका त्याग कर दिया है तथा सांसारिक प्रपञ्चजालसे शून्य होनेपर भी जो सांसारिक प्रपञ्चजालसे बँधे हुएके समान है एवं अनेक तरहसे स्थित होनेपर भी जो द्वितीय परिशेषशून्य है ॥ १२ ॥

मायारहित होनेपर भी जो मायारूपी किरणसमूहका निर्मल सूर्य है । जलोंके

जगद्रत्नमहाकोशं तुलायां तूलकाल्लघु ।
मायामरीचिशशिनमपि नेक्षणगोचरम् ॥ १४ ॥
अनन्तमपि निष्पारं न च क्वचिदपि स्थितम् ।
आकाशे वनविन्यासनगनिर्माणतत्परम् ॥ १५ ॥
अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् ।
गरीयसां गरिष्ठं च श्रेष्ठं च श्रेयसामपि ॥ १६ ॥
अकर्तृकर्मकरणमकारणमकारकम् ।
अन्तःशून्यतयैवैतच्चिराय परिपूरितम् ॥ १७ ॥
जगत्समुद्गकमपि नित्यं शून्यमरण्यवत् ।
अनन्तशैलकठिनमप्याकाशलवान्मृदु ॥ १८ ॥
प्रत्येकं प्रत्यहं प्रायः पुराणं पेलवं नवम् ।
आलोकमन्धकाराभं तमस्त्वालोकमाततम् ॥ १९ ॥

---

स्वामी सागरकी नाईं, वेदनमात्रस्वरूप होनेपर भी जो सम्पूर्ण वेदनोंका मानो स्वामी है—सर्वज्ञ है। हे श्रीरामजी, उसीको आप ब्रह्म जानिये ॥ १३ ॥

ब्रह्माण्डात्मना जगद्रूप रत्नोंका महाकोश अर्थात् अत्यन्त वजनदार होनेपर भी विवेककी तराजूपर तौलनेसे रूईसे भी अत्यन्त लघु ( हलका ) तथा मायारूपी किरणजालका चन्द्रमा होनेपर भी वह ब्रह्म ईक्षणगोचर (दृष्टिका विषय) नहीं है ॥ १४ ॥

काल और देशसे अनन्त तथा अपार होनेपर भी कहीं एक नियत स्थानपर न स्थित न रहनेवाला एवं शून्यस्थानमें भी वनविन्यास तथा पर्वत आदिकी रचनामें तत्पर वह ब्रह्म है ॥ १५ ॥

अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थोंमें वह अत्यन्तसूक्ष्म है, स्थूल पदार्थोंमें वह सबसे अत्यन्तस्थूल है, वजनदार पदार्थोंमें वह सबसे बढ़कर वजनदार है तथा श्रेष्ठ जितने पदार्थ हैं उन सबमें भी वह सबसे बढ़कर श्रेष्ठ है ॥ १६ ॥

कर्ता, कर्म और करणसे रहित, कारणशून्य, अकारक तथा अन्तःशून्य होनेके कारण ही यह ब्रह्म चिरकालसे कर्ता आदिसे परिपूर्ण स्थित है ॥ १७ ॥

जगद्रूपी रत्नोंकी पेटारी होनेपर भी नित्य जंगलके समान शून्य तथा अनन्त पर्वतोंके तुल्य कठिन होनेपर भी आकाशके लेशसे भी बढ़कर कोमल वह ब्रह्म स्थित है ॥ १८ ॥

प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येककालस्वरूप होनेपर भी प्रायः सबसे रहित, पुराण

प्रत्यक्षमपि दुर्लक्ष्यं परोक्षमपि चाग्रगम् ।
चिद्रूपमेव च जडं जडमेव चिदात्मकम् ॥ २० ॥
अहमेवाऽनहंभावमनहं वाऽहमेव च ।
अन्यदेव तदेवाऽहमहमेवान्यदेव तत् ॥ २१ ॥
अस्य पूर्णार्णवस्यान्तरिमे त्रिभुवनोर्मयः ।
स्फुरन्त इव तिष्ठन्ति स्वभावद्रवतात्मकाः ॥ २२ ॥
बिभर्ति सर्वमङ्गस्थं तुषारमिव शुक्लताम् ।
भाति सर्गस्त्वनेनैव तुषारेणेव शुक्लता ॥ २३ ॥
अदेशकालावयवोऽप्येष देवो दिवानिशम् ।
असज्जगत्तनोतीव यथा वारि तरङ्गकम् ॥ २४ ॥

होनेपर भी कोमल और नूतन, स्वयंप्रकाशस्वरूप होनेपर भी अन्धकारके सदृश तथा जगत्का तिरोभाव करनेवाला होनेके कारण अन्धकारस्वरूप होनेपर भी स्वयंप्रकाश सर्वत्र व्याप्त वह ब्रह्म स्थित है ॥ १९ ॥

प्रत्यक्ष होनेपर भी वह इन आंखोंसे दुर्लक्ष्य तथा परोक्ष होनेपर भी वह साक्षीरूपसे सामने स्थित है । चिद्रूप भी जड़ यानी जगद्-रूपसे विवर्तित तथा जड़ जगत् आदिके रूपसे भासित हो रहा भी वह ब्रह्म वस्तुतः शुद्ध चिन्मात्रस्वरूप ही स्थित है ॥ २० ॥

अनहंभाव ( युष्मदर्थका विषय ) होनेपर भी अहंभावरूप, तथा अहंभाव-रूपसे भासित होनेपर भी वह अनहंभावरूप एवं इदमर्थका विषय अन्यरूप होनेपर भी वह आत्मरूप ही है तथा अहंरूप ( आत्मरूप ) होनेपर भी वह ब्रह्म अन्यके समान स्थित है ॥ २१ ॥

इस परिपूर्ण चिद्-रूप सागरके भीतर ये त्रिभुवनरूपी तरङ्गें द्रवतारूप स्वभावसे स्फुरित हो रहीं-सी अवस्थित हैं ॥ २२ ॥

जैसे तुषार अपने अङ्गमें शुक्लता धारण करता है, वैसे ही यह चेतन स्थावर-जङ्गमात्मक सारी सृष्टिको अपने भीतर धारण करता है । जैसे तुषारसे शुक्लता सुशोभित होती है, वैसे ही इस चेतनसे ही यह सारी सृष्टि शोभित हो रही है ॥ २३ ॥

देश-कालादिके अवयवोंसे रहित भी यह चिद्रूप देव रात-दिन असद्रूप जगत्का ऐसे विस्तर करता-रहता है, जैसे कि जल तरङ्गोंका ॥ २४ ॥

एतस्मिन्विकसन्तीमा विपुलाकाशकानने ।
जगज्जरठमञ्जर्यः प्रसरत्पत्रपञ्चकाः ॥ २५ ॥

एष स्वप्रतिबिम्बस्य स्वयमालोकनेच्छया ।
अत्यन्तनिर्मलाकारः स्वयं मुकुरतां गतः ॥ २६ ॥

व्योमवृक्षफलस्याऽस्य स्वेच्छावयव उज्ज्वलाः ।
सर्गोपलम्भ उद्यच्च चमत्कुर्वन्ति संविदि ॥ २७ ॥

अन्तस्थेन बहिष्ठेन नानानानातयाऽऽत्मनि ।
एष सोऽन्तर्बहिर्भाति भावाभावविभावया ॥ २८ ॥

एतद्रूपा पदार्थश्रीरेतस्मिन्नेतदिच्छया ।
चमत्करोत्येतदर्थं जिह्वेव स्वास्यकोटरे ॥ २९ ॥

---

इस विस्तृत आकाशरूपी जंगलमें प्रसारको प्राप्त हो रहे पञ्चभूतरूप पत्तोंके सहित ये जगद्रूपी पुरानी मञ्जरियां विकसित हो रही हैं ॥ २५ ॥

अत्यन्त निर्मल आकारवाला चिद्रूप यह परमात्मा स्वयं अपना प्रतिबिम्ब ( वर्णित जीवजगत्स्वरूप दूसरा आकार ) देखनेकी इच्छासे दर्पणरूपताको प्राप्त हो गया है ॥ २६ ॥

अपरिच्छिन्न ब्रह्मसंवित्में आकाशरूपी गूलरके वृक्षके फलके सदृश इस ब्रह्माण्डके—अपनी इच्छासे कल्पित तीनों लोकके अवयवमें देदीप्यमान—सूर्य-चन्द्र आदि अपनेसे उदित हो रहे चक्षु आदि इन्द्रिय तथा किरणजालको जीवभूत आत्माके रूपादिदर्शनमें उपकरण बनकर चमत्कृत करते हैं ॥ २७ ॥

वह परमात्मा ही भीतर स्थित वासनामय प्रपञ्चसे, बाहर स्थित जगत्स्वरूपसे, जाग्रत्-स्वप्नमें नानारूपसे और सुषुप्तिमें एकरूपसे भाव और अभावकी यानी आविर्भाव और तिरोभावकी भावना करके स्वयं अपनी आत्मामें ही बाहर और भीतर भासता है, इससे भिन्न अणुमात्र भी दूसरा कुछ नहीं भासता ॥ २८ ॥

अब इसीका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—'एतद्रूपा' इत्यादिसे ।

इस चितिरूप आत्मामें इस चितिकी ही इच्छासे चितिरूप पदार्थोंकी शोभा अपने ही लिए ऐसे चमत्कार कर रही है, जैसे जीभ अपने मुखरूप कोटरमें ॥ २९ ॥

अस्याम्भसो द्रवत्वं यत्तदिदं जगदुच्यते ।
संवित्स्वादूपलम्भाङ्गं भुवनावर्तवृत्तिमत् ॥ ३० ॥
शाम्यत्यत्र पदार्थश्रीः सर्वासामेव भास्वति ।
एतस्मादेव चोदेति स्वालोक इव तेजसः ॥ ३१ ॥
इदमेव जगत्सर्वं शुक्लत्वं तुहिने यथा ।
अत एताः प्रवर्तन्ते विद इन्दोरिवांशवः ॥ ३२ ॥
एतस्मादङ्गतोऽनङ्गाज्जगच्चित्रमिदं स्थितम् ।
विद्धि भावविकारादि शान्तमेतन्मयं ततम् ॥ ३३ ॥
अस्माद्वनतरोरेताः स्वरूढा गगनाङ्गणे ।
दृश्यशाखाः प्रवर्तन्ते जगज्जालगुलुच्छकाः ॥ ३४ ॥
व्ययोदयवती नूनमत्र दृश्यतरङ्गिणी ।
नानातानन्तकुसुमा वहत्यविचलाचले ॥ ३५ ॥

---

इस चितिरूपी जलका जो द्रवत्व है वही यह जगत् है, जिस जगतके—संवित्से ही स्वादपूर्वक उपलब्ध हो रहे रूप, रस आदि—एक अङ्ग हैं तथा भुवनरूप आवर्तकी जिसमें अनेक वृत्तियाँ हैं ॥ ३० ॥

सूर्य, चन्द्र, अग्निकण आदि सभी प्रकाशोंकी रूपादिपदार्थशोभा इसी चितिरूपी सूर्यमें सुषुप्ति और प्रलयमें शान्त हो जाती है तथा जाग्रत् और स्वप्नमें, सूर्य आदिके तेजसे अपने प्रभामण्डलकी नाईं, इसीसे उदित होती है ॥ ३१ ॥

तुषारमें शुक्लताकी नाईं यह ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत् है। अतः इसी चितिरूपी ब्रह्मसे ये समस्त पदार्थोंकी शोभाएँ, चन्द्रमासे किरणोंकी नाईं, प्रवृत्त होती हैं—विस्तारको प्राप्त होती हैं ॥ ३२ ॥

इसी निरवयव चितिरूप रञ्जकद्रव्यसे चित्रित यह सम्पूर्ण जगत्स्वरूप चित्र स्थित है। इसलिए हे श्रीरामजी, इस जगतको आप जन्मादि भावविकारों तथा स्वगत विचित्रताओंसे शून्य एवं शान्त चिन्मय ही जानिये ॥ ३३ ॥

इसी चितिरूप जङ्गलीवृक्षसे आकाशरूप आँगनमें उत्पन्न तथा अनेक जगज्जालरूपी गुच्छोंसे सुशोभित ये सब दृश्यप्रपञ्चरूपी शाखाएँ प्रसृत हो रही हैं ॥ ३४ ॥

इसी चितिरूपी अचल पर्वतके ऊपर वृद्धि तथा ह्राससे युक्त एवं नाना-

अस्मिन्व्योमात्मके रङ्गे भुवनाभिनयभ्रमैः ।
नृत्यत्यविरतारम्भं वारैर्नियतिनर्तकी ॥ ३६ ॥
जगत्कोटिमहाकल्पकल्पोन्मेषनिमेषणः ।
विताने नाश्यते भूयो जन्यते कालबालकः ॥ ३७ ॥
उद्यत्स्वपि जगत्स्वेष शान्तमेवाऽवतिष्ठते ।
अनिच्छ एव मुकुरः प्रतिबिम्बशतेष्विव ॥ ३८ ॥
भूतानां वर्तमानानां सर्गाणां सम्भविष्यताम् ।
एषोऽकारणकं बीजं सर्गाणामिव कारणम् ॥ ३९ ॥
अस्योन्मेषो जगल्लक्ष्मीर्निमेषः प्रलयागमः ।
अनुन्मेषनिमेषोऽसावात्मन्येवाऽवतिष्ठते ॥ ४० ॥

---

प्रकारके भिन्नतारूपी अनन्त फूलोंसे सुशोभित दृश्यरूपी नदी बह रही है। हे श्रीरामजी, आप इसमें तनिक भी सन्देह न कीजिये ॥ ३५ ॥

इसी चिदाकाशरूपी रङ्गभूमिमें भुवनकी रचनारूप अभिनयके भ्रमोंसे युक्त निरन्तर कार्यारम्भ कर रही नियतिरूपी नर्तकी कल्पभेदरूप वासरों तथा नित्य महोत्सवके दिनोंसे नृत्य कर रही है ॥ ३६ ॥

जिसके नेत्रोंके उन्मेष और निमेषमें अनेक ब्रह्माण्डोंके महाप्रलय और अवान्तर प्रलय हुआ करते हैं ऐसे कालरूपी अपने बालकको ब्रह्मरूपी रङ्गभूमिके मायामण्डपके भीतर यही नियतिरूपी नर्तकी बार-बार उपसंहृत तथा पुनः-पुनः उत्पन्न कर नाच रही है ॥ ३७ ॥

उत्पन्न हो रहे अनेक ब्रह्माण्डोंके रहते हुए भी यह चिद्-रूपी परमात्मा इच्छादि विकारोंसे शून्य शान्त ही ऐसे स्थित रहता है, जैसे सैकड़ों प्रतिबिम्बोंके उदित होते हुए भी दर्पण ॥ ३८ ॥

जैसे भौतिक सृष्टियोंके कारण पञ्चभूत हैं, वैसे ही स्वयंकारणशून्य यह चिद्-रूप परमात्मा भूत, भविष्य एवं वर्तमान सृष्टियोंका कारण है ॥ ३९ ॥

इस परब्रह्म परमात्माका उन्मेष ही जगत्‌का सौन्दर्य है तथा निमेष ही प्रलयका आगम है। हे श्रीरामजी, सच पूछिये तो, जिसके उन्मेष और निमेष वस्तुतः एक-से हैं वह परब्रह्म परमात्मा अपने स्वरूपमें ही अवस्थित रहता है ॥ ४० ॥

उद्यन्त्यमूनि सुबहूनि महामहान्ति
सर्गागमप्रलयजन्मदशा जगन्ति ।
सर्वाणि तान्ययमपारस्वरूप एव
प्रस्पन्दनानि मरुदेव यथाऽऽस्स्व शान्तम् ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परब्रह्मस्वरूपवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

## षट्त्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

चमत्कुर्वन्त्यथानर्था आवर्ता इव वारिणि ।
एकस्वभावाः सकला यथा वारितरङ्गकाः ॥ १ ॥

---

परिणामतः महान् होते हुए भी जो काल, देश और वैभव आदिसे भी महान् हैं उन अनेक महामहाब्रह्माण्डोंके तथा उनके भीतर अनेक तरहके पदार्थोंकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय एवं उनके भीतर प्राणियोंके जन्म बाल्य, यौवन आदि अवस्थाएँ, जाग्रदादि दशाएँ तथा उत्कर्ष और अपकर्षकी दशाएँ—ये सबके सब इस चिदाकाशमें उदित होते-रहते हैं। वे सभी अपरिच्छिन्नस्वरूप इस चिदाकाशके ही रूप हैं, जैसे कि वायुके सभी स्पन्दन वायुरूप ही हैं, वायुसे भिन्न किसी दूसरी वस्तुके स्वरूप नहीं हैं। हे श्रीरामजी, ऐसा समझकर आप शान्त स्थित रहिये ॥ ४१ ॥

पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

## छत्तीसवाँ सर्ग

[ इच्छारहित तुच्छ पुरुषका भोग बन्धनके लिए नहीं होता, एकमात्र इच्छा ही बन्धन है तथा इसका त्याग मुक्ति है, इन सबका वर्णन ]

इस संसारमें जितने पदार्थ हैं वे सभी एक दूसरेसे विरुद्ध और अनेक रूपवाले हैं, परन्तु अविरुद्ध और एकरूपसे भासित होते हैं। इनमें इनका प्रथम

सर्वस्यैवाऽस्य विश्वस्य निर्ज्ञेयज्ञेयरूपिणी ।
परमाकाशतारूपं परोपशमसंश्रया ॥ २ ॥
बालचिन्ता पुरो व्योम्नि न किञ्चिदपि मे यथा ।
तथेदं तत्त्वतो विश्वं सत्यं तु शिशुचेतसि ॥ ३ ॥

---

रूप तो राग-द्वेष आदिके उदयसे दुःखका हेतु होनेके कारण अनर्थरूप है। परन्तु द्वितीय रूप राग-द्वेष आदिके उपशम द्वारा मोक्षमें अत्यन्त उपयोगी है, यह दिखलाते हैं—'चमत्कुर्वन्त्य०' इत्यादिसे ।

सांसारिक जितने पदार्थ हैं, वे सबके सब, जलमें आवर्तकी नाईं, भिन्न-भिन्न स्वरूपके होकर पहले चमत्कार पैदा करते हैं यानी इच्छाओंके उत्पादन द्वारा चित्तको भ्रममें डाल देते हैं। उसके बाद वे राग-द्वेष आदिकी उत्पत्ति होनेसे नरक आदिके रूपमें पर्यवसित हो जाते हैं। जैसे सभी तरङ्ग एकमात्र जलस्वरूप हैं, वैसे ही सम्पूर्ण पदार्थ वस्तुतः एक स्वभावके हैं। और एकरूपके होते हुए ये न तो किसी तरहका भ्रम पैदा करते हैं और न किसी तरहका अनर्थ ही पैदा करते हैं ॥ १ ॥

उनका वह अविरुद्ध रूप क्या है, जिस रूपसे वे एकस्वभावके होते हैं, यह दिखलाते हैं—'सर्वस्यैव' इत्यादिसे ।

इस सम्पूर्ण विश्वकी सत्तामात्ररूप परमाकाशता ही उनका रूप है। और वह सम्पूर्ण विषयरूप ज्ञेय पदार्थोंसे निचोड़कर जो सन्मात्र ज्ञेय वस्तु रहती है उसी रूपकी है। यही कराण है कि वह परम समाधिरूपी उपशमसे ही लक्षित होती है ॥ २ ॥

प्रसिद्ध आकाशमें बालबुद्धिवेद्य यक्ष, पिशाच आदिका भीषणरूप तथा बुद्धिमान् पुरुषोंकी बुद्धिसे वेद्य शुद्धरूप दृष्टान्तरूपसे प्रसिद्ध ही है, यह कहते हैं—'बाल०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, बालककी चिन्तासे कल्पित यक्ष, पिशाच आदिका रूप जैसे सामने आकाशमें प्रौढ़ विद्वान्‌की दृष्टिमें कुछ भी नहीं है वैसे ही मुझ विद्वान्‌की दृष्टिमें तत्त्वतः यह सारा विश्व कुछ भी नहीं है। परन्तु यही संसार अज्ञानियोंकी दृष्टिमें सत्य प्रतीत होता है ॥ ३ ॥

अरूपालोकमननं शिलापुत्रकसैन्यवत् ।
रूपालोकमनस्कारा भान्ति केवाऽत्र विश्वता ॥ ४ ॥
रूपालोकमनस्कारसारश्चिन्मात्रतां विना ।
न लभ्यतेऽसावपरं व्योमेवाऽत्र क्व विश्वता ॥ ५ ॥
विदो विच्त्वं जगद्भ्रान्तिरविच्त्वं तु न विभ्रमः ।
विच्त्वाविच्त्वे त्वदायत्तो चित्ताचित्ते यथा तव ॥ ६ ॥
परमाकाशरूपत्वाच्चिद्व्योम्नो विततात्कृतेः ।
न स्वभावविपर्यासः कश्चित्सम्भवति क्वचित् ॥ ७ ॥

---

पत्थरमें खुदी गई चित्रगत सेनाकी नाईं यह सारा विश्व बाह्य आन्तर विषयसे रहित है। अतः विद्वानोंकी दृष्टिसे यहां विश्वता कैसी ? परन्तु अज्ञानियोंकी दृष्टिसे तो यहां रूपालोक, मनन आदि सब कुछ भासते ही हैं ॥४॥

रूपालोक और मनन आदिका यानी बाह्य और आभ्यन्तर सबका तत्त्वतः विचार करनेपर जब चिन्मात्रसे अतिरिक्त रूप ही दुर्लभ है तब इनसे विश्वताकी सिद्धि तो बहुत दूर ही है, यह कहते हैं—'रूपालोक०' इत्यादिसे ।

विचार कर देखनेसे रूपालोक और मनस्कार अर्थात् बाह्य एवं आभ्यन्तर सब पदार्थोंका सार चिन्मात्र ही है। क्योंकि चिन्मात्रसे अतिरिक्त, द्वितीय आकाशकी नाईं, वह उपलब्ध नहीं होता। इसलिए यहां विश्वता ( संसारता ) रही कहां ॥ ५ ॥

इसलिए ज्ञाता पुरुषका जगत्को जगद्रूपसे जानना ही जगत्की भ्रान्ति है तथा जगत्को जगद्रूपसे न जानना ही सारे भ्रमोंकी शान्ति है। अतः हे श्रीरामजी, स्मृति और विस्मृति जैसे आपके अधीन हैं, वैसे ही इस संसारको जानना और न जानना भी आपके अधीन है ॥ ६ ॥

'अपरं व्योमेवा०' यह जो ऊपर कहा गया है, इसको विशदरूपसे कहते हैं—'परमाकाश०' इत्यादिसे ।

विस्तृत आकारवाले चिदाकाशके परमाकाशरूप होनेसे उसके स्वभावमें किसी तरहका कोई परिवर्तन कहींपर भी संभव नहीं है। इसमें कारण यह है कि चिति कदापि जड़ नहीं हो सकती और न आकाश ही मूर्तिमान् हो सकता है ॥ ७ ॥

तन्मयस्याऽस्य विश्वस्य न स्वभावविकारिता ।
विद्यते प्रेक्ष्यमाणाऽपि किमु साऽस्य भविष्यति ॥ ८ ॥
सर्वं चिद्व्योम चैवेदं न सत्त्वमहमित्यपि ।
विकाराद्यस्ति न ज्ञप्ताज्ज्ञप्तिं न लभेत् क्वचित् ॥ ९ ॥
सर्वं शान्तं शिवं शुद्धं त्वमहन्तादिविभ्रमम् ।
न किञ्चिदपि पश्यामि व्योमजं काननं यथा ॥ १० ॥
संविदाकाशशून्यत्वं यत्तद्विद्धि वचो मम ।
इदं त्वत्संविदाकाशे स्वयमात्मनि तिष्ठति ॥ ११ ॥
पदमाहुः परं सद्यदनिच्छोदयमासितम् ।
पाषाणपुरुषस्येव चित्रस्थस्येव चाऽऽसनम् ॥ १२ ॥

---

चूँकि यह जगत् ब्रह्मसाक्षात्कारसे बाध्य है, इसलिए भी यह ब्रह्मका विकार नहीं हो सकता, यह कहते हैं—'तन्मयस्या०' इत्यादिसे ।

चिन्मय इस विश्वकी स्वभावविकारिता कुछ भी नहीं है, क्योंकि जो विकारिता विचारदृष्टिसे देखनेपर भी दिखाई नहीं पड़ती, वह इसकी क्या हो सकती है ॥ ८ ॥

जिस न्यायसे अभिमन्तव्यके विकारका निरास किया गया है, उसी न्यायसे अभिमन्ताके विकारका भी निरास करना चाहिए, यह कहते हैं—'सर्वम्' इत्यादिसे ।

जो कुछ 'तुम, मैं' इत्यादिरूप यह संसार दिखाई दे रहा है, वह सब सद्रूप चिदाकाश ही है । इस चिदात्मामें अहङ्कार आदि विकार और बाध कुछ भी नहीं है, इसलिए चितिसे व्यतिरिक्त कोई पदार्थ कहीं उपलब्ध नहीं हो सकता ॥ ९ ॥

त्वचा और अहन्तादि सब विभ्रम शान्त, शिव तथा शुद्ध ब्रह्मरूप ही हैं । अतः आकाशमें उत्पन्न जंगलकी तरह उन्हें मैं कुछ भी नहीं देखता ॥ १० ॥

हे श्रीरामजी, इस तरह जो मेरा उपदेशवचन है उसे भी आप संविदाकाशरूप शून्य ही समझिये, क्योंकि यह मेरा वचन आपकी संविदाकाशरूप आत्मामें ही स्वयं स्थित रहता है, जड़स्वरूपमें नहीं ॥ ११ ॥

इस तरह प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता—इन तीनोंके चिन्मात्ररूप सिद्ध

स विश्रान्तमना मौनी यस्य प्रकृतकर्मसु ।
स्पन्दो दारुनरस्येव विगतेच्छमनाकुलम् ॥ १३ ॥
अन्तःशून्यं बहिःशून्यं विरसं गतवासनम् ।
जगद्वेणोरिव ज्ञस्य जीवतो भाति जीवनम् ॥ १४ ॥
यस्य न स्वदते दृश्यमदृश्यं स्वदते हृदि ।
स बाह्याभ्यन्तरं शान्तः स वितीर्णो भवार्णवात् ॥ १५ ॥
उच्यन्तां शब्दजालानि वंशवद्गतवासनम् ।
रसेनाऽनङ्गलग्नेन प्रकृतानन्यचोदनैः ॥ १६ ॥
स्पृश्यतां स्पर्शनीयानि यथाप्राप्तान्यवासनम् ।
कूटागारवदक्षुब्धमनिच्छममनोदयम् ॥ १७ ॥

होनेपर, चित्रमें स्थित पुरुषके तथा पाषाणके भीतर खुदे गये पुरुषके आसनकी तरह, इच्छा और विषय आदिके अभावसे इच्छाके उदयके बिना जो अवस्थान है उसीको ब्रह्मरूप परमपद कहते हैं ॥ १२ ॥

इच्छाके अभावमें भी जीवनके हेतुभूत व्यवहारकी सिद्धि बतलाते हैं—'स' इत्यादिसे ।

वही विश्रान्तचित्त जीवन्मुक्त मुनि है, जिसकी चेष्टा प्रारब्धप्राप्त कर्मोंमें इच्छाशून्य तथा बिना व्याकुलताके, कठपुतलीके समान, होती रहती है ॥१३॥

इस तरहके व्यवहारसे जीवन-धारण कर रहे ज्ञानी पुरुषको जगत्‌की प्रतीति कैसे होती है, यह कहते हैं—'अन्तःशून्यम्' इत्यादिसे ।

जीवन्मुक्त ज्ञानीको बाहर और भीतरसे शून्य, रसहीन, वासनारहित; बाँसकी नलीके सदृश, इस जगत्‌का जीवन भासता है ॥ १४ ॥

जिसे यह दृश्यप्रपञ्च नहीं रुचता और चिन्मात्र अदृश्य ब्रह्म ही अपने हृदयके भीतर रुचता है वह बाह्य और आभ्यन्तरसे शान्तमुनि संसारसागरसे मानो पार हो गया ॥ १५ ॥

प्रस्तुत प्रारब्धशेषक्षयके अनुपयोगी शब्दोंके उच्चारणसे रहित, व्यवहारोंमें तथा उन व्यवहारोंके अङ्गभूत देहादिमें अहन्ता, ममताके सम्बन्धसे रहित, माधुर्यरससे परिपूर्ण, बाँसुरीकी ध्वनिके समान, वासनात्यागपूर्वक आप लोग वाणीसे शब्दोंका उच्चारण करते रहें ॥ १६ ॥

नट, भट, वेश्या आदिकोंके निवासगृहके समान इच्छारहित, मनके उदयसे

स्वाद्यन्तां रसजालानि विगतेच्छाभयैषणम् ।
अपरागाभिलषणं यथाप्राप्तानि दर्विवत् ॥ १८ ॥
दृश्यन्तां रूपजालानि पुनः प्राप्तान्यवासनम् ।
अरसं निर्मनो मानमगर्वं चित्रनेत्रवत् ॥ १९ ॥
जिघ्रयन्तां गन्धपुष्पाणि विगतेच्छमवासनम् ।
स्पन्दबन्धोपलग्नानि त्यागाय वनवातवत् ॥ २० ॥
इति चेद्विरसत्वेन बोधयित्वा चिकित्सिताः ।
न भोगरोगास्तद्वच्च शान्त्यै नास्ति कथैव च ॥ २१ ॥
यः स्वादयन् भोगविषं रतिमेति दिनेदिने ।
सोऽग्नौ स्वमूर्तिं ज्वलिते कक्षमक्षयमुज्झति ॥ २२ ॥

---

शून्य, वासनारहित तथा अक्षुब्ध हो आप लोग प्रारब्धप्राप्त स्रक्, चन्दन, वनिता आदि स्पर्शनीय विषयोंका स्पर्श करते चलें ॥ १७ ॥

इच्छा, भय और एषणाओंसे शून्य तथा राग और अभिलाषाओंसे रहित हो आप लोग दर्वीके ( करछी ) के तुल्य अनेक तरहके प्रारब्धप्राप्त रसोंका आस्वाद लेते रहें ॥ १८

पुनः हे श्रोताओं, आप लोग इच्छारहित, वासनाओंसे शून्य तथा अभिमानसे रहित हो, वासनाशून्य चित्रगत नेत्रके सदृश, प्राप्त रूपसमूहोंका अवलोकन करते रहें ॥ १९ ॥

इच्छा और वासनाओंसे रहित होकर घ्राणेन्द्रियके नजदीक ले जाकर गन्धप्रचुर पुष्पोंको, वनवायुके सदृश, त्यागके लिए सूँघते रहें ॥ २० ॥

इस रीतिसे न कहे गये भी कर्मेन्द्रियोंसे प्राप्त विषयोंमें पहलेकी नाईं निःसाररूपसे मनको बोधित करके भोगरूपी रोगोंकी यदि चिकित्सा न की गई, तो फिर दुःख-निवृत्तिकी कथा ही क्या है ? बल्कि अनर्थपरम्पराकी उत्पत्ति होती ही रहेगी ॥ २१ ॥

किञ्च, जो मनुष्य भोगरूपी विषका आस्वाद लेते हुए प्रसन्नताको प्रतिदिन प्राप्त होता है वह प्रज्वलित हो रही अग्निमें अपनी मूर्तिरूपी तृणपुञ्जको निरन्तर फेंकते रहता है ॥ २२ ॥

निरिच्छत्वं समाधानमाहुरागमभूषणाः ।
यथा शाम्येन्मनोऽनिच्छं नोपदेशशतैस्तथा ॥ २३ ॥
इच्छोदयो यथा दुःखमिच्छाशान्तिर्यथा सुखम् ।
तथा न नरके नाऽपि ब्रह्मलोकेऽनुभूयते ॥ २४ ॥
इच्छामात्रं विदुश्चित्तं तच्छान्तिर्मोक्ष उच्यते ।
एतावन्त्येव शास्त्राणि तपांसि नियमा यमाः ॥ २५ ॥
यावती यावती जन्तोरिच्छोदेति यथायथा ।
तावती तावती दुःखबीजमुष्टिः प्ररोहति ॥ २६ ॥
यथायथेच्छा तनुतां याति जन्तोर्विवेकतः ।
तथातथोपशाम्यन्ति दुःखचिन्ताविषूचिकाः ॥ २७ ॥

---

अतः भोगेच्छाका त्याग ही मनकी शान्तिमें मुख्य हेतु है, यह कहते हैं—'निरिच्छत्वम्' इत्यादिसे।

भोगोंकी इच्छाके त्यागको ही आगमालङ्कारोंने ( वेदान्तवेत्ताओंने ) समाधि कही है। इच्छाके त्यागसे जैसा मन शान्त होता है वैसा सैकड़ों उपदेशोंसे भी शान्त नहीं होता ॥ २३ ॥

इच्छाके उदयसे जैसा दुःख होता है वैसा दुःख नरकमें भी प्राणीको नहीं होता और इच्छाकी शान्तिसे जैसा सुख मिलता है वैसा ब्रह्मलोकमें भी अनुभूत नहीं होता * ॥ २४ ॥

इच्छामात्रको दुःखदायक चित्त कहते हैं और इच्छाकी शान्ति ही मोक्ष कहलाता है। एकमात्र इसीमें सकल शास्त्र, तप, नियम और यम पर्यवसित हैं ॥ २५ ॥

जितनी-जितनी और जैसे-जैसे जन्तुको इच्छा उदित होती है, उतनी ही उतनी दुःखोंकी बीजमुष्टि बढ़ती जाती है ॥ २६ ॥

जैसे-जैसे विवेकज्ञान द्वारा जन्तुकी इच्छा सूक्ष्म होती-जाती है, वैसे-वैसे दुःखोंकी चिन्तारूप विषूचिका ( हैजा ) भी शान्त होती-जाती है ॥ २७ ॥

---

* सुनिये, इस विषयमें ययातिने क्या कहा है—

"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥"

यथायथेच्छा घनतां याति लोकस्य रागतः ।
तथातथा विवर्धन्ते दुःखचिन्ताविषोर्मयः ॥ २८ ॥
इच्छा चिकित्स्यते व्याधिर्न स्वयत्नौषधेन चेत् ।
तदत्र बलवन्मन्ये विद्यते नौषधान्तरम् ॥ २९ ॥
इच्छोपशमनं कर्तुं यदि कृत्स्नं न शक्यते ।
स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं मार्गस्थो नावसीदति ॥ ३० ॥
यस्त्विच्छातानवे यत्नं न करोति नराधमः ।
सोऽन्धकूपे स्वमात्मानं दिनानुदिनमुज्झति ॥ ३१ ॥
दुःखप्रसवशालिन्या बीजमिच्छैव संसृतेः ।
सम्यग्ज्ञानाग्निदग्धा सा न भूयः परिरोहति ॥ ३२ ॥

---

और जैसे-जैसे मनुष्यकी भोगोंमें इच्छा रागतः सघन बनती-जाती है, वैसे-वैसे दुःखोंकी चिन्तारूपी विषैली तरंगें बढ़ती ही जाती हैं ॥ २८ ॥

उसकी चिकित्साके लिए धैर्यरूपी पुरुषप्रयत्न ही एकमात्र औषध है, और दूसरा कुछ नहीं, यह कहते हैं—'इच्छा' इत्यादिसे ।

यदि अपने पौरुषप्रयत्नरूपी औषधसे धैर्यपूर्वक इच्छारूपी व्याधिकी चिकित्सा न की जा सकी, तो यह मैं अच्छी तरह समझता हूँ कि व्याधिसे छुटकारा पानेके लिए दूसरा कोई भी उत्तम औषध इस संसारमें विद्यमान नहीं है ॥ २९ ॥

यदि एक ही कालमें सभी इच्छाओंका पूर्णरूपसे त्याग न किया जा सके, तो फिर थोड़ा-थोड़ा करके उसका धीरे-धीरे त्याग करना चाहिए, क्योंकि सन्मार्गका पथिक कभी दुःख नहीं पाता ॥ ३० ॥

जो नराधम, अपनी भोगोंकी इच्छाको सूक्ष्म बनानेमें यत्न नहीं करता, वह प्रतिदिन मानो अपनी आत्माको अन्धकूपमें फेंकता है ॥ ३१ ॥

भोगोंकी इच्छाका आत्यन्तिक नाश तो ज्ञानद्वारा उसके मूलका नाश होनेसे ही हो सकता है, यह कहते हैं—'दुःख०' इत्यादिसे ।

दुःखरूपी पुष्प और फूल आदिसे सुशोभित संसाररूपी लताका बीज इच्छा ही है । वह आत्मज्ञानरूपी अग्निसे भलीभाँति दग्ध हो जानेपर फिर नहीं अङ्कुरित होती ॥ ३२ ॥

इच्छामात्रं हि संसारो निर्वाणं तदवेदनम् ।
इच्छानुत्पादने यत्नः क्रियतां किं वृथा भ्रमैः ॥ ३३ ॥
शास्त्रोपदेशगुरवः प्रेक्ष्यन्ते किमनर्थकम् ।
किमिच्छाननुसन्धानसमाधिर्नाधिगम्यते ॥ ३४ ॥
यस्येच्छाननुसन्धानमात्रे दुःसाध्यता मतेः ।
गुरूपदेशशास्त्रादि तस्य नूनं निरर्थकम् ॥ ३५ ॥
इच्छाविषविकारिण्यामन्त एव नृणामलम् ।
दुःखप्रसरकारिण्यां हरिण्या जन्मजङ्गले ॥ ३६ ॥
न बालीक्रियते त्वीषदात्मज्ञानाय चेदसौ ।
इच्छोपशान्तिः क्रियतां तयाऽलं तदवाप्यते ॥ ३७ ॥

---

इच्छामात्र ही यह संसार है और इच्छाका अवेदन—असत्त्वापादन यानी अभाव ही निर्वाण है । इसलिए भोगोंकी इच्छा उत्पन्न न हो, इसमें आप लोग यत्न करें, और दूसरे नानाविध यत्नोंसे क्या मतलब—इधर-उधर भटकते-फिरना बेकार है ॥ ३३ ॥

इच्छाकी शान्तिमें यत्न न होनेपर शास्त्रादिके उपदेश भी सब व्यर्थ ही हैं, यह कहते हैं—'शास्त्रोपदेश०' इत्यादिसे ।

यदि आपकी इच्छाकी शान्ति नहीं हुई है, तो फिर शास्त्रोंके उपदेश और गुरुओंकी प्रतीक्षा निरर्थक क्यों कर रहे हैं ! इच्छाके अभावरूप चित्तको शान्त करनेके उपायका आश्रयण आप लोग क्यों नहीं कर रहे हैं ॥ ३४ ॥

जिसको अपने विवेकसे सिर्फ इच्छाका अनुसन्धान न करना दुःसाध्य हो रहा है, उसके लिए गुरुओंके उपदेश तथा शास्त्र आदि सब निरर्थक हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ३५ ॥

जैसे व्याघ्र आदिसे भरे जंगलमें हरिणीकी मृत्यु निश्चित है वैसे ही नानाविध दुःखोंका विस्तार करनेवाली इच्छारूपी विषके विकारसे युक्त इस संसारमें मनुष्योंकी मृत्यु बिलकुल निश्चित है ॥ ३६ ॥

यदि इच्छासे यह मनुष्य लड़कों-जैसा चञ्चल न बना दिया जाय, तो उसे आत्मज्ञानके लिए बहुत थोड़ा ही प्रयत्न करना पड़ता है । इसलिए आप लोग भलीभांति इच्छाकी उपशान्ति ही कर डालें, उसीसे वह परमपद ज्ञान प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

निरिच्छतैव निर्वाणं सेच्छतैव हि बन्धनम् ।
यथाशक्ति जयेदिच्छां किमेतावति दुष्करम् ॥ ३८ ॥

जरामरणजन्मादि करञ्जखदिरावलेः ।
बीजमिच्छासदैवान्तर्दह्यतां शमवह्निना ॥ ३९ ॥

यतो यतो निरिच्छत्वं मुक्ततैव ततस्ततः ।
यावद्गति यथाप्राणं हन्यादिच्छां समुत्थिताम् ॥ ४० ॥

यतो यतश्च सेच्छत्वं बन्धपाशास्ततस्ततः ।
पुण्यपापमया दुःखराशयो विततार्तयः ॥ ४१ ॥

इच्छानिरासरहिते गते साधोः क्षणेऽपि च ।
दस्युभिर्मुषितस्येव युक्तमाक्रन्दितुं चिरम् ॥ ४२ ॥

यथायथाऽस्य पुंसोऽन्तरिच्छा समुपशाम्यति ।
तथातथाऽस्य कल्याणं मोक्षाय परिवर्धते ॥ ४३ ॥

---

इच्छाका न होना ही निर्वाण है और इच्छासहित रहना ही मनुष्यके लिए बन्धन है, इसलिए यथाशक्ति इच्छाके ऊपर आप लोग विजय प्राप्त करें। सिर्फ इतना करनेमें कौन-सी कठिनाई है ? ॥ ३८ ॥

जरा, मरण, जन्मादिरूप करञ्ज और खैरकी पङ्क्तियोंका बीज इच्छा ही है। उसको अपने भीतर अभ्यस्त शमरूपी अग्निसे आप लोग जला डालें ॥ ३९ ॥

जहां-जहां इच्छाका अभाव है वहां-वहां मुक्ति है ही। जबतक विवेक-वैराग्य आदि उपायोंकी प्राप्ति नहीं हो जाती, तबतक अपनेमें जितना धैर्य और बल हो, उसके अनुसार उठी हुई इच्छाका नाश करते चलें ॥ ४० ॥

जहां-जहां इच्छा है वहां-वहां पुण्य-पापमय दुःखोंकी राशि तथा निरन्तर फैल रहे करुण क्रन्दनसे युक्त बन्धनके पाश हैं ही ॥ ४१ ॥

यदि साधु पुरुषका एक क्षण भी भोगोंकी इच्छाके अभावके बिना बीत गया, तो चोरोंसे जिसका सर्वस्व अपहृत हो गया है ऐसे मनुष्यके समान, उसे चिरकालतक रोते रहना ठीक ही है ॥ ४२ ॥

जैसे-जैसे इस पुरुषकी वाञ्छा शान्त होती-जाती है, वैसे-वैसे मोक्षके लिए कल्याणदायक साधनचतुष्टय उसका बढ़ता ही जाता है ॥ ४३ ॥

आत्मनो निर्विवेकस्य यदिच्छापरिपूरणम् ।
संसारविषवृक्षस्य तदेव परिषेचनम् ॥ ४४ ॥

हृद्वृक्षजाः स्वसुखदुःखकुबीजकोशौ
वैरादिवाश्रयकृतादशुभाच्छुभाच्च ।
आसाद्य दुष्कृतकृशानुशिखाः शितान्ता
इच्छाच्छमच्छमिति पुंस्पशुमादहन्ति ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे संसारबीजकथनं नाम षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

## सप्तत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इच्छाविषविकारस्य वियोगं योगनामकम् ।
शान्तये शृणु भूयोऽपि पूर्वमुक्तमपि स्फुटम् ॥ १ ॥

---

विवेकशून्य आत्माकी इच्छाको भलीभांति भोगोंके द्वारा जो पूरण करना है, वही संसाररूपी विषैले वृक्षको सींचना है ॥ ४४ ॥

हृदयरूपी वृक्षसे यानी आश्रयभूत लकड़ीसे उत्पन्न तीक्ष्ण अग्रभागवाली इच्छारूप दुष्कृत अग्निकी शिखाएँ हृदयके अन्दर स्थित चिदाभासस्वरूप जीवरूप पशुको, उनके आश्रयभूत हृदयमें किये गये पुण्य-पापसे अर्थात् उनके आश्रयमें किये गये दोषापराधसे ही उत्पन्न हुए मानो वैरके कारण, मोहरूपी धूमसे अन्धा बनाकर तथा स्नेहपाशोंसे खूब बांधकर नीचे पटक करके उसके सुख-दुःखोंके कुत्सित बीजोंके पात्रभूत अण्डकोशोंको—चारो ओरसे बैंगनकी तरह खूब पकाती हैं । पकाते समय उससे छांय-छांय शब्द निकलता है ॥ ४५ ॥

छत्तीसवां सर्ग समाप्त

## सैंतीसवां सर्ग

[ भोगोंकी इच्छा जिससे उत्पन्न ही न हो या उत्पन्न होनेपर भी वह केवल ब्रह्मरूप ही समझी जाय, उस ज्ञानयोगका युक्तियोंसे वर्णन ]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, इच्छारूपी विषका विकार दूर

आत्मनो व्यतिरिक्तं चेद्विद्यते तदिहेच्छया ।
इष्यतामसति त्वेतत्स्वात्मान्यत्वं किमिष्यते ॥ २ ॥
निर्भागावयवा सूक्ष्मा व्योम्नः शून्यतरैव चित् ।
सैवाहं जगदाकारा सती किं तत्तयेष्यते ॥ ३ ॥
सा व्योमरूपा व्योमैव व्योमात्मवेद्यवेदिका ।
व्योमात्मजगदाभासमत्रेच्छाविषयोऽस्ति कः ॥ ४ ॥
ग्राह्यग्राहकसम्बन्धः कुतश्चिदिति तन्न नः ।
विद्यतेऽसौ प्रशान्तानां येषामस्ति न वेद्मि तान् ॥ ५ ॥

---

करनेवाले स्पष्टरूपसे पहले वर्णित हुए भी योगनामक उपायको इच्छामूलक सम्पूर्ण अनर्थोंकी शान्तिके लिए आप फिर सुनिये ॥ १ ॥

हे श्रीरामजी, यदि आत्मासे भिन्न कोई पदार्थ यहां हो, तो आप उसकी बे रोक-टोक इच्छा कीजिये, [ उसके लिए हम आपको कुछ नहीं कहते ] परन्तु आत्मासे भिन्न जब किसी दूसरे पदार्थकी सत्ता ही नहीं है, तो भला बतलाइये तो सही ] आप अपनी इस आत्मासे भिन्न किसकी इच्छा कर रहे हैं ? कहनेका तात्पर्य यह कि जबतक आत्मतत्त्वका भलीभांति ज्ञान नहीं हो जाता, तभीतक द्वितीय वस्तुमें सत्यताकी भ्रान्तिसे इच्छाका उदय होता है, इसलिए हे श्रीरामजी, आत्मज्ञानयोग ही उसकी निवृत्तिमें एकमात्र उपाय है ॥ २ ॥

यह जगत् सत्य ब्रह्मरूप ही है, मिथ्या नहीं है, यदि ज्ञानसे आप ऐसा मानते हों, तो भी ब्रह्म और जगत्—इन दोनोंमें अत्यन्त अभेद होनेसे त्रिपुटीघटित इच्छाकी कभी सिद्धि नहीं हो सकती, यह कहते हैं—'निर्भागावयवा' इत्यादिसे ।

त्रिपुटीके विभाजक उपाधियोंके भेद तथा विभक्त होनेवाले अवयवोंके भेदसे रहित, सूक्ष्म और आकाशसे भी अत्यन्त शून्यरूप जो चिति है, सत्यस्वरूप वही अहमाकार तथा जगदाकारसे स्थित है । तो फिर आप उससे भिन्न किसकी इच्छा कर रहे हैं ॥ ३ ॥

वह चिति आकाशरूप है । आकाश ही आकाशरूप विषय और उसका ज्ञाता है । यह जगत्का आभास भी आकाशरूप ही है, तब भला इसमें इच्छाका विषय ही कौन है ॥ ४ ॥

ज्ञानसे विषयोंके गृहीत न होनेपर इच्छाका उदय न होनेके कारण,

ग्राह्यग्राहकसम्बन्धः स्वनिष्ठोऽपि न लभ्यते ।
असतस्तु कथं लाभः केन लब्धोऽसितः शशी ॥ ६ ॥
एषैव ग्राहकादीनां सत्ता यन्नात्मनिष्ठता ।
स्वभावावेक्षया सत्या न जाने क्व प्रयान्ति ते ॥ ७ ॥
एष एव स्वभावो यद्द्रष्टृदृश्यक्षयोऽखिलः ।
ज्ञात्वाऽसत्या विनिर्वाणमहन्ताऽऽत्मनि गच्छति ॥ ८ ॥
निर्वाणे नास्ति दृश्यादि दृश्यादौ नास्ति निर्वृतिः ।
मिथोऽनयोरनुभवो न च्छायातपयोरिव ॥ ९ ॥

---

ग्राह्य और ग्राहकके सम्बन्धाभावमें ग्रहणकी भी सिद्धि न हो सकनेसे ज्ञानियोंको इच्छा होती ही नहीं, यह कहते हैं—'ग्राह्यग्राहक०' इत्यादिसे ।

अज्ञानियोंकी दृष्टिमें प्रसिद्ध ग्राह्य और ग्राहकका सम्बन्ध प्रशान्तचित्त हम लोगोंकी दृष्टिमें किसी भी निमित्त या प्रमाणसे विद्यमान नहीं है । इसलिए भी हे श्रीरामजी, बतलाइये आप किसकी इच्छा कर रहे हैं ? जिन अज्ञानियोंकी दृष्टिमें वह है, उन्हें भी मैं आत्मासे अलग नहीं जानता, तात्पर्य यह कि सत्त्वदृष्टिसे वे भी अत्यन्त अप्रसिद्ध हैं ॥ ५ ॥

यदि किसी तरह ग्राह्य-ग्राहकसम्बन्धको स्वनिष्ठ ( आत्मनिष्ठ ) भी मान लिया जाय, तो भी वह उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि असत्का लाभ कैसे हो ? आजतक किसने चन्द्रमाको काले वर्णका देखा है ॥ ६ ॥

तात्त्विक आत्मामें जो अविश्रान्ति है यानी आत्मामें परायण न होना है, बस यही एकमात्र ग्राह्य-ग्राहक आदि त्रिपुटियोंकी सत्ता है । अशास्त्रीय दृष्टिकी अपेक्षासे वे ग्राह्य-ग्राहक आदि सत्य होते हुए भी शास्त्रीयतत्त्वदृष्टिका उदय होनेपर न जाने कहाँ चले जाते हैं ॥ ७ ॥

और तत्त्वज्ञानका भी यही स्वभाव है कि असत्यरूप अहन्ता आदि अपना तत्त्व जानकर उस आत्मामें ही चले जाते हैं—लीन हो जाते है । द्रष्टा और दृश्यका वह सम्पूर्ण नाश ही विशिष्ट निर्वाण है ॥ ८ ॥

दृश्यादि और निर्वाण—इन दोनोंका परस्पर असहभाव भी स्वभावतः ही है, यह कहते हैं—'निर्वाणे' इत्यादिसे ।

उभे एते मिथोऽसत्ये असत्ये च न निर्वृतिः ।
यतो निर्वाणमजरमदुःखमनुभूयते ॥ १० ॥
भ्रमभूतं च दृश्यादि नित्यं नात्र सुखप्रदम् ।
असच्च तद्भाव्यतां मा निर्वाणे स्थीयतामजे ॥ ११ ॥
शुक्तिकारूप्यसदृशं प्रेक्षितं यन्न लभ्यते ।
अर्थकार्यपि तन्नास्ति किमत्रापह्नवेन च ॥ १२ ॥
तत्सद्भावान्महद् दुःखमसद्भावान्महत्सुखम् ।
अभावः सोपपत्तिस्तु दृढतां याति भावनात् ॥ १३ ॥
तत्किमात्मनि बन्धाय विदग्धं न मुधाधमाः ।
स्पष्ट एवोपचयादेर्वस्तुन्यस्तमिताऽपदे ॥ १४ ॥

---

निर्वाणमें दृश्य आदि नहीं हैं और दृश्य आदिमें निर्वाण नहीं है । छाया और आतपकी नाईं इन दोनोंका परस्पर अनुभव यानी सहानुभव नहीं है ॥ ९ ॥

क्यों सहानुभव भी नहीं है ? इसपर कहते हैं—'उभे' इत्यादिसे ।

यदि ये दोनों साथ होते, तो परस्पर द्वारा बाधित हो जानेसे दोनों असत्य हो जाते । असत्यमें निर्वृति नहीं है, क्योंकि विद्वानोंको निर्वाण अजर, अमर तथा दुःखशून्य अनुभूत होता है ॥ १० ॥

तब तो सर्वजनप्रसिद्ध दृश्यादि महाकौतुक निर्वाणमें दुर्लभ ही होगा, इसका परिहार करते हुए कहते हैं—'भ्रमभूतम्' इत्यादिसे ।

दृश्य आदि भ्रमभूत है एवं यहां वह कभी सुखप्रद नहीं है । इसलिए हे श्रीरामजी, असत् और अनर्थरूप दृश्यादिकी आप भावना न कीजिये, अज निर्वाणमें स्थित रहिये ॥ ११ ॥

शुक्तिकामें चांदीके समान, विचारकर देखनेसे जो कुछ उपलब्ध नहीं होता, वह पुरुषार्थका सम्पादक कभी नहीं है । इस तरहके दृश्यमें अपह्नवसे क्या हुआ ॥ १२ ॥

दृश्यके सद्भावमें महादुःख है और असद्भावमें महान् सुख है । निदिध्यासनसे मननसहित अभाव—शाब्दज्ञानकृत बाध दृढताको प्राप्त हो जाता है ॥१३॥

अब परम कारुणिक भगवान् वसिष्ठजी दृश्यकौतुकमें आसक्त अधम अधिकारियोंकी, जो श्रोता हैं, बलात् निर्भत्सना कर उनकी दृश्यासक्तिका त्याग करानेकी इच्छासे कहते हैं—'तत्किमा०' इत्यादिसे ।

कार्यकारणभावादि ब्रह्मैव सकलं यदा ।
तदा तु ब्रह्मता ह्यस्मिन्संविन्मात्रात्मके तते ॥ १५ ॥
मार्गयन्ति प्रबोधाय तैर्मृगैरलमस्तु नः ।
व्योमरूपे किलैकस्मिन् सर्वात्मनि तते सति ॥ १६ ॥
कार्यकारणताढ्यानामुक्तीनामेव कः क्रमः ।
यो हेतुः स्पन्दने वायोर्द्रवत्वे सलिलस्य च ।
शून्यत्वे नभसः सौम्य सर्गादित्वे चिदात्मनः ॥ १७ ॥
कार्यकारणभावादि ब्रह्मैव सकलं यदा ।
तदा ब्रह्मणि सर्गाणां कारणार्था विलज्जता ॥१८॥

---

हे अधम प्राणियो, सम्पूर्ण विकारोंकी अनाश्रयरूप परमार्थ वस्तुके—स्वप्रकाश-स्वरूप होनेके कारण शास्त्रों एवं आचार्योंके उपदेशसे करतलमें स्थित आमलकके समान स्पष्ट स्फुरित रहते—उसका अदर्शन क्यों पाते हो—दर्शन क्यों नहीं करते ? क्या अपनी आत्माको बन्धनमें डालनेके लिए ही उस दृश्यसमूहको भस्मीभूत नहीं करते ॥ १४ ॥

जब कार्यकारणभावादि सब ब्रह्म ही है, तभी तो देहादिपरिच्छिन्न पदार्थोंके बाधसे विस्तारको प्राप्त चिन्मात्रात्मक प्रत्यगात्मामें ब्रह्मता सिद्ध होती है ॥ १५ ॥

अतएव आकाशस्वरूप सर्वात्मक परिपूर्ण ब्रह्ममें कार्य-कारण आदि दृश्य-सत्ताको स्वीकार कर जो लोग ब्रह्मज्ञानके लिए अनेक साधन ढूँढ़ते-फिरते हैं उन तार्किक मृगों या शिष्यमृगोंसे हमें कोई प्रयोजन नहीं है ॥ १६ ॥

तथा कार्यकारणसे परिपूर्ण उक्तियोंमें ही सर्वस्वभावस्वरूप अविद्याके सिवा और दूसरा क्या हेतु है ? जो वायुके स्पन्दनमें हेतु है तथा जो हेतु जलके स्पन्दनमें तथा आकाशकी शून्यतामें है वही हेतु, हे सौम्य, चिदात्माके सृष्टि आदिरूप होनेमें है ॥ १७ ॥

यही कारण है कि विद्वान् महानुभावोंको, आगे चलकर उसका बाध हो जानेसे, सृष्टि आदिके हेतुके निरूपणमें निर्लज्ज बनना पड़ता है, यह कहते हैं—'कार्यकारणभावादि' इत्यादिसे ।

जब कार्यकारणभावादिरूप सब ब्रह्म ही है, तो फिर ब्रह्ममें सृष्टियोंकी कारणताका प्रतिपादन करना निर्लज्जता है ॥ १८ ॥

न दुःखमस्ति न सुखं शान्तं शिवमयं जगत् ।
नास्ति चिन्मात्रतान्यत्वमत इच्छोदयः कुतः ॥ १९ ॥
मृद्देहयोधसेनायां न मृन्मात्रेतरद्यथा ।
न सज्जगदहन्तादौ दृश्ये ब्रह्मेतरत्तथा ॥ २० ॥

श्रीराम उवाच

एवं चेत्तदुदेत्विच्छा मा वोदेतु मुनीश्वर ।
सा तु ब्रह्मैव कोऽर्थः स्यादस्या विधिनिषेधने ॥ २१ ॥

वसिष्ठ उवाच

ज्ञातायां सम्प्रबुद्धायामिच्छा ब्रह्मैव नेतरत् ।
यथा सम्बुद्धवान् राम तत्सत्यं किन्त्विदं शृणु ॥२२॥

---

न तो दुःख है और न सुख है, किन्तु शान्त शिवमय यह जगत् है । जब चिन्मात्रतासे भिन्न कुछ है ही नहीं, तब भला इच्छाका उदय कहाँसे ॥ १९ ॥

जैसे मिट्टीकी देहवाली योधाओंकी सेनामें एकमात्र मिट्टीसे अन्य कुछ नहीं है वैसे ही सदात्मक जगत् और अहन्तादिरूप दृश्यमें सत् ब्रह्मसे इतर और कुछ नहीं है ॥ २० ॥

यदि सब कुछ ब्रह्म ही है, तो फिर उसकी इच्छा भी तो ब्रह्म ही ठहरी, उसकी उत्पत्ति माननेमें क्षति क्या है, यों विद्वानोंकी दृष्टिसे श्रीरामचन्द्रजी आशङ्का करते हैं—'एवं चेत्त०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनीश्वर, यदि बात ऐसी है, तो फिर इच्छाका उदय हो या न हो, [ कोई हानि नहीं है, ] क्योंकि वह भी तो ब्रह्म ही ठहरी। इसकी विधि और निषेधमें कौन-सा मतलब सिद्ध होगा, [ यह कहिये ] ॥ २१ ॥

'इच्छानुत्पादने यत्नः क्रियताम् किं वृथा भ्रमैः' ( इच्छा उत्पन्न न हो, इसीमें यत्न कीजिये, व्यर्थके भ्रमोंसे कौन-सा मतलब है, इस पूर्वोक्त यत्नमें विधि और निषेधका निवारण रहते हुए भी सचमुच विद्वानोंकी इच्छाका उदय होनेपर भी कोई हानि नहीं है । परन्तु विद्यासे बाधित उस इच्छाका उदय होना ही दुर्लभ है, यह कहते हैं—'ज्ञातायाम्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, आत्मतत्त्वके ज्ञात हो जानेपर—

यदा यदा ज्ञतोदेति शाम्यतीच्छा तदा तदा ॥ २३ ॥

वस्तुस्वभावादुदयत्यादित्ये यामिनी यथा ।
शाम्यत्येव न तूदेति ज्ञप्ताविच्छादि तत्तथा ॥ २४ ॥

यथायथोदयो ज्ञप्तेर्द्वैतशान्तिस्तथातथा ।
वासनाविलयश्चैव कथमिच्छोदयो भवेत् ॥ २५ ॥

तस्याविद्योपशान्तेयं निर्मला मुक्ततोदिता ।
अशेषदृश्यवैरस्याद्यस्येच्छोदेति न क्वचित् ॥ २६ ॥

विरक्तताऽस्य नो दृश्ये नोदेत्यत्रास्य रक्तता ।
केवलं द्रष्टृदृश्यश्रीः स्वदते न स्वभावतः ॥ २७ ॥

---

संप्रबुद्ध हो जानेपर इच्छा ब्रह्मस्वरूप ही ठहरती है, ब्रह्मसे अन्य नहीं। जैसा आपने समझा है, वह सब बिलकुल सत्य है, किन्तु फिर भी आप यह सुन लीजिये कि—॥ २२ ॥

जब-जब आत्मतत्त्वज्ञान उदित होता है तबतब सांसारिक विषयोपभोगकी इच्छा शान्त हो जाती है ॥ २३ ॥

क्योंकि यही वस्तुका स्वभाव है। सूर्यके उदित होनेपर जैसे रात बिलकुल शान्त हो जाती है, उदित नहीं होती, वैसे ही ज्ञानका उदय होनेपर इच्छा आदि सब शान्त हो जाते हैं ॥ २४ ॥

जैसे-जैसे ज्ञानका उदय होता है, वैसे-वैसे द्वैतकी शान्ति और वासनाका विलय होता है, तब भला इच्छाका उदय कैसे हो ॥ २५ ॥

मूलका उच्छेद होनेसे भी विद्वानोंकी इच्छाके उदयका संभव नहीं है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'तस्या०' इत्यादिसे।

सम्पूर्ण दृश्य पदार्थोंमें वैराग्य आ जानेसे जिस पुरुषको इच्छा कहीं उदित नहीं होती, उसकी यह सांसारिक अविद्या शान्त हो गयी और निर्मल मुक्ति उदित हो गयी ॥ २६ ॥

इस पुरुषको न तो इन दृश्य पदार्थोंमें वैराग्य उत्पन्न होता है और न इसको राग ही उदित होता है। केवल स्वभावसे ही द्रष्टा और दृश्यकी शोभा इसे नहीं रुचती ॥ २७ ॥

काकतालीययोगेन परप्रेरणयाऽनया ।
यदि किञ्चित्कदाचिच्च सम्यगिच्छति वा न वा ॥ २८ ॥
तदस्य सेच्छा नेच्छा वा ब्रह्मैवात्र न संशयः ।
इच्छा न जायते ज्ञस्यावश्यमेवानु वा न वा ॥ २९ ॥
ज्ञता चेदुदिता जन्तोस्तदिच्छाऽस्योपशाम्यति ।
नैतयोः स्थितिरेकत्र प्रकाशतमसोरिव ॥ ३० ॥
प्रतिषेधविधीनां तु तज्ज्ञो न विषयः क्वचित् ।
शान्तसर्वैषणेच्छस्य कोऽस्य किं वक्ति किंकृते ॥ ३१ ॥
एतदेव ज्ञताचिह्नं यदिच्छास्वतितानवम् ।
ह्लादनं सर्वलोकानामथानुभव एव वा ॥ ३२ ॥

काकतालीय योगसे यानी आकस्मिक घटनासे या अन्य किसीकी प्रेरणासे यदि कदाचित् कुछ इच्छा करता भी है, तो फिर वह देहमात्रधारणमें साधनभूत शास्त्रोंसे अनिषिद्ध अन्न आदिकी कुछ इच्छा करता है या नहीं भी करता है ॥ २८ ॥

ऐसी परिस्थितिमें इस आत्मतत्त्वदर्शीकी वह इच्छा या अनिच्छा दोनों ब्रह्मस्वरूप ही हैं; इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। अथवा बात यह है कि इस तत्त्वज्ञानीको अभिनवभोगचमत्कारविषयक इच्छा अवश्य नहीं उदित होती या पूर्वकालमें अभ्यस्त हुए भोगोंका अनुसरण करनेके कारण उसकी स्थिति अनियत है ॥ २९ ॥

भद्र, यदि किसी जीवको तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया, तो उसकी इच्छा तत्काल ही निवृत्त हो जाती है, क्योंकि प्रकाश और अन्धकारके सदृश तत्त्वज्ञान और इच्छा दोनोंकी स्थिति एक जगह हो नहीं सकती ॥ ३० ॥

इसीलिए रागप्राप्त विधिनिषेध शास्त्रोंमें वह इच्छाशून्य तत्त्वज्ञानी अधिकृत नहीं होता, यह कहते हैं—'प्रतिषेध०' इत्यादिसे।

भद्र, तत्त्वज्ञानी पुरुष कहींपर भी विधि-निषेध शास्त्रोंका अधिकारी नहीं है, क्योंकि समस्त इच्छाओंसे शून्य इस तत्त्वदर्शीको किस प्रयोजनकी सिद्धिके लिए कौन क्या उपदेश दे सकता है? क्या कहीं अन्ध पुरुष देखनेवालेको 'कूपमें नहीं गिरना चाहिए', ऐसा उपदेश दे सकता है ॥ ३१ ॥

बाह्य इच्छाकी निवृत्ति और स्वात्मानन्दानुभवमें तृप्ति—ये दोनों

दृश्यं विरसतां यातं यदा न स्वदते क्वचित् ।
तदा नेच्छा प्रसरति तदेव च विमुक्तता ॥ ३३ ॥

बोधादनैक्यमद्वैतं यः शान्तमवतिष्ठते ।
इच्छानिच्छादयः सर्वे भावास्तस्य शिवात्मकाः ॥ ३४ ॥

बोधादस्तमितद्वैतमद्वैतैक्यविवर्जितम् ।
यः स्वच्छो विगतव्यग्रः शान्त आत्मन्यवस्थितः ॥ ३५ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ ३६ ॥

नानिच्छयाऽनेच्छयाऽथ न सता नाऽसता सदा ।
नैवात्मना न चान्येन नैतैर्मरणजीवितैः ॥ ३७ ॥

---

आत्मज्ञानकी प्राप्तिके चिह्न हैं, यह कहते हैं—'एतदेव' इत्यादिसे ।

सब इच्छाओंका सर्वथा निरास होना और सब लोगोंको अभयदान द्वारा प्रसन्न रखना एवं अपने आत्मानन्दानुभवमें स्थित रहना तत्त्वज्ञानका चिह्न है ॥ ३२ ॥

जब सारा प्रपञ्च नीरस हो जाता है तब कहींपर भी तत्त्वदर्शी स्वाद नहीं लेता, तब इच्छा भी बढ़ती नहीं और तभी उसकी मुक्ति भी रहती है ॥ ३३ ॥

तत्त्वज्ञानसे एकता और अनेकताके झगड़ेको छोड़कर जो पुरुष चुपचाप स्थित हो जाता है उस पुरुषके इच्छा, अनिच्छा आदि सभी भाव परब्रह्मस्वरूप ही हो जाते हैं ॥ ३४ ॥

तत्त्वज्ञानसे जिसकी द्वैतबुद्धि नष्ट हो गई है एवं द्वैतनाशरूप वस्तु तथा एकत्वसंख्यासे रहित होकर जो पुरुष स्वच्छ, व्यग्रतारहित और शान्त होकर अपने स्वरूपमें स्थित रहता है उस पुरुषको यहां न तो किसी कर्तव्यसे प्रयोजन है और न अकर्तव्यसे ही प्रयोजन है एवं न तो सब भूतोंमें किसी प्रयोजनकी प्राप्ति ही है ॥ ३५, ३६ ॥

न तो इच्छासे, न अनिच्छासे, न सद्वस्तुसे, न असद्वस्तुसे, न अपनेसे, न दूसरेसे और न इन जीवन-मरणोंसे तत्त्वदर्शीको किसी भी समय अर्थका लाभ होता है ॥ ३७ ॥

इच्छा च तस्य नोदेति निर्वाणस्य प्रबोधिनः ।
यदि चोदेति तस्येच्छा ब्रह्म शाश्वतमेव सा ॥ ३८ ॥

न दुःखमस्ति न सुखं शान्तं शिवमजं जगत् ।
इति योऽन्तः शिलेवास्ते तं प्रबुद्धं विदुर्बुधाः ॥ ३९ ॥

दुःखं सुखं भावनया कुर्वन् विषमिवामृतम् ।
इति निश्चित्य धीरात्मा प्रबुद्ध इति कथ्यते ॥ ४० ॥

तत्स्थितं व्योमनि व्योम शान्ते शान्तं शिवे शिवम् ।
शून्ये शून्यं सति च सद्यद्ब्रह्मणि जगत्स्थितम् ॥ ४१ ॥

असंवेदनसंवित्खे ततेऽविश्वमिति स्थिते ।
सौम्ये समसमे शान्ते शिवेऽहन्ताभ्रमः क्षयी ॥ ४२ ॥

---

अपना मुक्तस्वरूप जाननेवाले तत्त्वदर्शीको कभी इच्छा ही उत्पन्न नहीं होती । यदि उत्पन्न होती है, तो उसकी वह इच्छा अविनाशी ब्रह्मरूपिणी ही रहती है ॥ ३८ ॥

न दुःख है और न सुख ही है, किन्तु यह सारा जगत् अज, आनन्द-स्वरूप, शान्त परब्रह्म ही है, इस तरहके निश्चयसे जो अपने भीतर पत्थरके सदृश अटल रूपसे रहता है उसीको पण्डित लोग विद्वान् कहते हैं ॥ ३९ ॥

भद्र, पूर्ववर्णित आत्मतत्त्वका निश्चय कर दुःखको निरतिशयानन्दरूप आत्माकी भावनासे, विषको अमृतकी नाईं, सुखस्वरूप बना रहा धीरात्मा योगी ही प्रबुद्ध कहा जाता है ॥ ४० ॥

तत्त्वबोधके अनुसार जो स्थिति है वही समस्त वस्तुओंकी अभ्रान्त स्थिति है, ऐसी स्थिति अज्ञानियोंमें प्रसिद्ध नहीं हैं, यह कहते हैं—'तत्' इत्यादिसे ।

जब ब्रह्ममें जगत् स्थित हो जाता है, तब आकाशमें आकाश, शान्तमें शान्त, शिवमें शिव, शून्यमें शून्य, और सतमें सत् स्थित हो जाता है, विपरीत-रूपसे कोई पदार्थ किसीमें स्थित नहीं रहता ॥ ४१ ॥

उक्त रीतिसे जगत् नहीं है, इस भावनासे जब व्यापक विषयशून्य संविद्-रूप आकाश स्थित हो जाता है, तब सबमें एकरूपसे रहनेवाला सौम्य शान्त आनन्दमय आत्मामें अहन्ताभ्रम नष्ट हो जाता है ॥ ४२ ॥

यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
तत्सर्वं शान्तमाकाशं परचिन्तापुरोपमम् ॥ ४३ ॥
परचिन्तापुरोमध्ये गतविघ्नं गमागमौ ।
यथाऽन्तस्तव शून्यत्वात्तथैवास्मिन् जगद्भ्रमे ॥ ४४ ॥
अब्धिद्यूर्वीनदीशैलशोभाशून्यतरात्मनि ।
जृम्भते द्रष्टृकरणं मृगतृष्णाम्बुवीचिवत् ॥ ४५ ॥
स्वप्ननिर्माणपुरवद्बालवेतालतालवत् ।
यदिदं दृश्यते तत्र किं किलासत्यतेतरत् ॥ ४६ ॥
असत्यमेवाहमिति भासते सत्यमेव च ।
भ्रान्तिभाजं विनैवेयं भ्रान्तिः स्फुरति साऽसती ॥ ४७ ॥

भद्र, जो यह कुछ स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् दिखाई दे रहा है वह सब शान्त, आकाशात्मक ब्रह्मरूप ही है और जो कुछ दिखाई दे रहा है वह दूसरेके मनोराज्य-नगरके सदृश तुच्छ है ॥ ४३ ॥

अन्य पुरुषके मनोराज्यके कल्पित नगरमें तुम्हें भीतर जाने-आनेमें जैसे किसी प्रकारकी रुकावट नहीं होती, वैसे ही इस जगद्रूप भ्रममें किसी प्रकारकी रुकावट विद्वान्‌को नहीं होती ॥ ४४ ॥

चूँकि समुद्र, आकाश, पृथिवी, नदी, पर्वत, आदिसे शून्य आत्मामें द्रष्टाका अन्तःकरण ही समुद्र आदिकी शोभाके रूपमें परिणत हो जाता है, इसलिए पूर्वोक्त बात सिद्ध है। [ इस विषयमें दृष्टान्त है—मृगतृष्णाजलतरङ्ग ] क्योंकि तृषार्त एवं श्रान्त पुरुषका नेत्ररूप करण ही जलशून्य सामनेके प्रदेशमें मृगतृष्णा-जलतरङ्गरूपमें परिणत हो जाता है ॥ ४५ ॥

जो कुछ यह दिखाई दे रहा है वह स्वप्नमें बने हुए नगरके सदृश एवं बालक द्वारा कल्पित उन्नत बेतालके सदृश मिथ्या ही है। ऐसी स्थितिमें उसमें असत्यत्वको छोड़कर दूसरा सत्यत्व ही क्या है ? ॥ ४६ ॥

भ्रान्तिग्रस्त पुरुष स्वयं मिथ्या है, इससे भी भ्रान्तिमें मिथ्यात्व है, यह कहते हैं—'असत्य०' इत्यादिसे ।

चूँकि सत्यभूत ब्रह्म ही 'अहम्' 'इदम्' इत्यादिरूपसे असत्य होकर ही भासता है, इसलिए भ्रान्तिग्रस्त पुरुषके बिना ही यह भ्रान्ति भासती है, अतः भ्रान्ति असत्य ( मिथ्या ) है ॥ ४७ ॥

न सन्नासन्न सदसत्किमपीदमतीन्द्रियम् ।
अवाच्यं जगदित्येव भात्यवक्षुभितं खवत् ॥ ४८ ॥
इहेच्छानिच्छते ज्ञस्य शाम्यतां यदलं समे ।
तथापि श्रेयसे मन्ये नन्वनिच्छोदयं स्फुटम् ॥ ४९ ॥
अहं जगदिति ज्ञप्तिः खे खस्येवेयमास्थिता ।
चिदात्मनो यथा वायोः स्पन्दो नात्रास्ति कारणम् ॥ ५० ॥
चितश्चेत्योन्मुखत्वं यत्तच्चित्तं सैव संसृतिः ।
सेच्छा तन्मुक्ततामुक्तिर्युक्तिं ज्ञात्वेति शाम्यताम् ॥ ५१ ॥

यह जो जगत् है, वह न सत है और न असत् तथा न तो सत्-असत् उभयरूप है, इसका तत्त्व भी किसी इन्द्रियसे निर्धारित नहीं किया जा सकता, यह अनिर्वचनीय ही है, इस रूपका होनेपर भी गन्धर्वनगर आदिसे क्षुब्ध आकाशके सदृश प्रतीत होता है। सारांश यह है कि यदि जगत्को अत्यन्त ही असत् मान लिया जाय, तो शून्यवादियोंके मतमें ही अपनी गिनती होने लगेगी, यदि अत्यन्त सत् मान लिया जाय, तो श्रुति और तत्त्ववेत्ताओंके अनुभवके साथ विरोध होगा। यदि सत-असत् उभयरूप मान लें, तो विरोध होनेके कारण एक वस्तुमें सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्म कैसे रह सकते हैं, इन सब बातोंसे अन्तमें यही निष्कर्ष निकलता है कि जगत्का स्वरूप अनिर्वचनीय ही मानना होगा ॥ ४८ ॥

हे श्रीरामभद्र, यद्यपि तत्त्वबोधके बलसे ही भलीभाँति शान्त हो रहे विषयोंकी इच्छा या अनिच्छा दोनों तत्त्वज्ञानीके लिए समान हैं यानी दोनोंका फल समान है, तथापि अनिच्छाका उदय ही विक्षेपशून्य सुखाभिव्यक्तिका हेतु होनेसे कल्याणकारक है, यह मेरा मन्तव्य है ॥ ४९ ॥

भद्र, आकाशमें आकाशकी नाईं अविकृत चिदाकाशमें ही 'आकाशाद् वायुः' ( आकाशसे वायु ) इत्यादि श्रुति-दर्शित क्रमके अनुसार 'अहं जगत्' इत्याकारक चिदात्माकी कलना स्थित है, इसमें वायुमें स्पन्दनकी नाईं दूसरे किसी कारणकी अन्वेषणा नहीं करनी चाहिए ॥ ५० ॥

इन सब बातोंसे निष्कर्ष यह निकला कि चितिकी बहिर्मुखता ही इच्छा, चित्त और संसार है तथा अन्तर्मुखता ही मुक्ति है, यह कहते हैं— 'चित०' इत्यादिसे ।

इच्छा भवत्वनिच्छा वा सर्गो वा प्रलयोऽथवा ।
क्षतिर्न कस्यचित्काचिन्न च किञ्चिदिहास्ति हि ॥ ५२ ॥
इच्छानिच्छे सदसती भावाभावौ सुखासुखे ।
इत्यत्र कलना व्योम्नि सम्भवन्ति न काश्चन ॥ ५३ ॥
इच्छानां तानवं यस्य दिनानुदिनमागतम् ।
विवेकशमतृप्तस्य तमाहुर्मोक्षभागिनम् ॥ ५४ ॥
इच्छाक्षुरिकया विद्धे हृदि शूलं प्रवर्त्तते ।
जयन्ति यत्र नैतानि मणिमन्त्रौषधानि च ॥ ५५ ॥
यान्कार्यकरणव्यूहान् कृतवान् पूर्वमेव तान् ।
संप्रेक्षया न पश्यामि मिथ्याभ्रमभराद्दते ॥ ५६ ॥

---

भद्र, चितिकी जो बाह्यविषयोंकी ओर उन्मुखता है, वही चित्त है, वही संसार है और वही इच्छा है तथा बाह्य विषयोंकी ओरसे उन्मुखताको जो हटा देना है, वही मुक्ति है, इस युक्तिको जानकर आप शान्त हो जाइए ॥ ५१ ॥

इस स्थितिमें सृष्टि या प्रलय दोनों अवस्थाओंमें जैसे ईश्वरको कोई हानि या लाभ नहीं होता, वैसे इच्छा या अनिच्छा दोनों अवस्थाओंमें विद्वान्‌को कोई हानि या लाभ नहीं होता, यह कहते हैं—'इच्छा' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, इच्छा हो या अनिच्छा हो, सृष्टि हो या प्रलय हो, इससे यहां किसीकी कुछ भी न क्षति है या न कुछ फल है ॥ ५२ ॥

उसमें युक्ति बतलाते हैं—'इच्छानिच्छे' इत्यादिसे ।

इच्छा-अनिच्छा, सत्-असत्, भाव-अभाव तथा सुख-दुःख—ये सब कल्पनाएँ इस तत्त्ववेत्ताके स्वरूपभूत चिदाकाशमें कुछ हो ही नहीं सकतीं ॥ ५३ ॥

भद्र, जिस महामतिको दिन-पर-दिन समस्त इच्छाओंकी कमी होती जाती है, विवेक-शमसे सन्तुष्ट उस महामतिको ही विद्वान् लोग मोक्षभागी कहते हैं ॥५४॥

इच्छारूपी छुरीसे विद्ध हुए हृदयमें ऐसी वेदना उत्पन्न होती है कि जिसके लिए ये प्रसिद्ध मणि-मन्त्र आदि महौषध सब कुण्ठित हो जाते हैं ॥ ५५ ॥

ब्रह्माजीने प्राणियोंके दुःखोंकी चिकित्सा करनेके लिए जिन औषध, मन्त्र, यन्त्र आदि कार्य-करणोंका निर्माण किया है उनकी परीक्षाके लिए पहले ही मैंने विचारपूर्वक प्रयत्न किया, परन्तु उनको मैंने मिथ्याभ्रान्तिके भारसे आक्रान्त पुरुषमें चिकित्सासमर्थ नहीं पाया ॥ ५६ ॥

भ्रमभूतेन कुर्मश्चेद्व्यवहारमवस्तुना ।
तत्कस्मात्परचित्ताद्रिः कवलत्वं न नीयते ॥ ५७ ॥
असता व्यवहारश्चेत्प्रेक्षामात्रविनाशिना ।
क्रियते शशशृङ्गेण तत्कथं छाद्यते न खम् ॥ ५८ ॥
अहम्भावाच्चिदाकाशो जाड्यातिशयतः क्षणात् ।
पाषाणतां जलमिव मनस्त्वाद्याति देहताम् ॥ ५९ ॥
चित्त्वादनुभवत्येतामसत्यामेव देहिताम् ।
अविनष्टैव चिच्छक्तिः स्वप्ने स्वमरणं यथा ॥ ६० ॥

---

यदि शङ्का हो कि भ्रमसिद्ध किसी उपायसे ही भ्रमकी चिकित्सा करेंगे, तो इसपर कहते हैं—'भ्रमभूतेन' इत्यादिसे ।

यदि यह कहिये कि भ्रान्तिसिद्ध यानी हमारी भ्रान्तिसे सिद्ध अवस्तुरूप किसी उपायसे अन्य भ्रान्तिसिद्ध दुःख आदिका निवारण आदि व्यवहार हम कर लेंगे, तो इसपर हमारा यही उत्तर है कि हम लोगोंके मनोरथसे सिद्ध अत्यन्त विस्तृत मुखसे दूसरेके स्वप्नमें सिद्ध विस्तृत पर्वत क्यों नहीं निगला जाता ॥५७॥

भ्रान्तिसिद्ध वस्तु असलमें असत् होनेके कारण पारमार्थिक दुःखनिवारणमें सामर्थ्य नहीं रखती, यह कहते हैं—'असता' इत्यादिसे ।

जिसका विचारमात्रसे विनाश हो जाता है, ऐसे भ्रान्तिसिद्ध असत् पदार्थसे यदि व्यवहार मान लें, तो शशशृङ्गसे आकाश क्यों नहीं आच्छादित होता, इससे तत्त्वज्ञानाभिव्यक्त पारमार्थिक ब्रह्म ही सर्वविध भ्रमोंके निवारणका उपाय है, दूसरा नहीं, यह भाव है ॥ ५८ ॥

अमूर्त मनकी भ्रान्तिमात्र यह जगत् मूर्तदेहादिभावको कैसे प्राप्त हो जाता है, इसपर कहते हैं—'अहंभावात्' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार जाड्यातिशयके कारण यानी अत्यन्त शीतलताके कारण जल पाषाणरूपताको प्राप्त हो जाता है वैसे ही चिदाकाश मनके कारण देहाकाराहंभावसे अर्थात् देहादिमें अहन्ताके अभिमानसे देहाकारताको प्राप्त हो जाता है ॥ ५९ ॥

जड देहरूप होनेपर भी वस्तुतः चितिशक्ति अक्षत ही रहती है, विनष्ट नहीं होती, यही कारण है कि चिद्रूप होनेसे इस असत्य ही देहिताका वह ऐसे अनुभव करती है, जैसे स्वप्नमें अपनी मृत्युका ॥ ६० ॥

व्योम्न्यसत्यमवस्तुत्वात्सत्यं चानुभवाद्यथा ।
नीलत्वं तद्वदीशेऽस्मिन् सर्गो नासन्न सन्मयः ॥ ६१ ॥
यथा शून्यत्वनभसोर्यथास्पन्दनभस्वतोः ।
भेदो नास्ति तथा सर्गब्रह्मणोरेकरूपयोः ॥ ६२ ॥
नेह सञ्जायते किञ्चिज्जगदादि न नश्यति ।
स्वप्नो निद्रागतस्येव केवलं प्रतिभासते ॥ ६३ ॥
अविद्यमाने पृथ्व्यादौ प्रतिभामात्ररूपिणि ।
सर्गे क इव संरम्भस्त्यागादानैश्चिदम्बरे ॥ ६४ ॥
न देहः प्रतिभातोऽस्ति पृथ्व्यादिकारणान्वितः ।
केवलं ब्रह्मचिन्मात्रमेवात्मन्येव संस्थितम् ॥ ६५ ॥

---

प्रातिभासिक जड़ताका अस्तित्व प्रतिभासके अधीन है, इसलिए प्रातिभासिक जड़ता अनिर्वचनीय है, यह कहते हैं—'व्योम्न्य०' इत्यादिसे ।

जैसे आकाशमें नीलत्व अवस्तुरूप होनेसे असत् है, प्रतिभासके कारण सत्य-सा भासता है, परन्तु वस्तुतः सत्य ही नहीं है वैसे ही इस परमात्मामें यह सृष्टि सत्य-सी भासती है, वस्तुतः वह न तो सत्य है और न असत्य ही है, किन्तु अनिर्वचनीय है ॥ ६१ ॥

यही कारण है कि जगत् और ब्रह्मसत्ताके एकरूप होनेसे इन दोनोंमें कोई भेद नहीं है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे आकाश और शून्यतामें एवं जैसे स्पन्दन और वायुमें कोई भेद नहीं है वैसे ही एकरूप ब्रह्म और सृष्टिमें भी कोई भेद नहीं है ॥ ६२ ॥

स्वप्नादिक पदार्थोंकी नाईं प्रतिभाससे अतिरिक्त प्रातिभासिक पदार्थोंकी उत्पत्ति आदि कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है, यह कहते हैं—'नेह' इत्यादिसे ।

इस परमात्मामें वस्तुतः जगत् आदि कुछ भी न तो उत्पन्न होता और न नष्ट ही होता है । किन्तु केवल निद्राग्रस्त प्राणीके स्वप्नके सदृश भासता है ॥ ६३ ॥

इसलिए इसके त्याग और ग्रहणमें मनुष्यको अभिनिवेश रखना युक्त नहीं है, यह कहते हैं—'अविद्यमाने' इत्यादिसे ।

चिदाकाशमें पृथिवी आदिके अविद्यमान रहते तथा सृष्टिके एकमात्र प्रतिभासस्वरूप सिद्ध होनेपर मनुष्यको उसके त्याग और ग्रहणमें भला कौन-सा आग्रह ? ॥ ६४ ॥

देहके लिए तो पृथिवी आदिका त्याग और ग्रहण हो सकता है, परन्तु

बुद्ध्यादेः कारणत्वं च द्वैतैक्यासम्भवान्न सत् ।
अनेनेदं क्रियत इत्यस्यार्थं याति सम्भवात् ॥ ६६ ॥
अहेतुरक्रमं भाति चिति कल्पक्रियागणः ।
क्षणेनैव यथा स्वप्ने मृतिजन्मादि सत्वरः ॥ ६७ ॥
खमेव पृथ्वी खं शैलाः खमेव दृढभित्तयः ।
खमेव लोका स्पन्दः खं संसर्गसंवेदनं चितेः ॥ ६८ ॥
व्योमभित्तौ जगच्चित्रं चिद्रङ्गमयमाततम् ।
नोदेति नास्तमायाति न शाम्यति न ताम्यति ॥ ६९ ॥

---

जब वे ही दोनों ( पृथ्व्यादि और देह ) एकमात्र प्रतिभासस्वरूप होनेसे असत् हैं, तब तो वे त्याग और ग्रहण भी असत् ही ठहरे, इस आशयसे कहते हैं—'न देहः' इत्यादिसे ।

पृथिवी आदि कारणसहित यह देह भी एकमात्र प्रतिभासस्वरूप होनेसे नहीं ही है; केवल चिन्मात्र ब्रह्म ही अपनी आत्मामें स्थित है ॥ ६५ ॥

इसी प्रकार बुद्धि आदिमें अपने प्रतिभासक चैतन्यात्माकी अपेक्षासे भेद और अभेदका संभव न होनेके कारण 'इससे यह किया जाता है' इस तरहके व्यवहारकी असत् भी कारणता आखिरमें परमार्थ वस्तुको ही प्राप्त करती है, क्योंकि एकमात्र उसीका संभव है ॥ ६६ ॥

इस चितिमें कल्प, महाकल्प एवं उनमें होनेवाली सब क्रियाएँ अहेतुक तथा अक्रमिक हैं और वे ऐसे भासित होते हैं, जैसे स्वप्नमें क्षणभरमें ही अहेतुक तथा अक्रमिक जन्म-मरण आदि शीघ्र भासित होते हैं ॥ ६७ ॥

इसका फलितार्थ यह हुआ कि सब चिदाकाश ही है, यह कहते हैं—'खमेव' इत्यादिसे ।

चूँकि चितिको सृष्टिका संवेदन अपनी ही आत्मामें होता है, और दूसरी जगह नहीं, इसलिए यह सारी पृथिवी चिदाकाशस्वरूप ही है, ये पर्वत सब चिदाकाशरूप हैं, ये अत्यन्त दृढ़ भित्तियाँ और ये सब लोक चिदाकाशरूप ही हैं एवं स्पन्द भी चिदाकाश ही है ॥ ६८ ॥

चिदाकाशरूप भित्तिमें जगद्रूपी महान् चित्र चितिरूपी रङ्गसे ही व्याप्त है । न तो यह चित्र उदयको प्राप्त होता है, न अस्तको प्राप्त होता है, न तो शान्त होता है और न ग्लानिको ही प्राप्त होता है ॥ ६९ ॥

चिद्वारिणि जगत्तुङ्गतरङ्गद्रवरूपिणि ।
किं नु वा कथमुत्पन्नं किं शान्तं च कदा कथम् ॥ ७० ॥
शान्ते महाचिदाकाशे जगच्छून्यत्वशालिनि ।
चेत्यासम्भवतः सन्ति नोदयास्तमयौ कुतः ॥ ७१ ॥
पर्वता गगनायन्ते गगनं पर्वतायते ।
संवेदनप्रयोगेण ब्रह्मणः सर्गतास्थितौ ॥ ७२ ॥
संविच्चूर्णप्रयोगेण निमेषार्द्धेन योगिनः ।
कुर्वन्ति जगदाकाशमाकाशं त्रिजगन्ति च ॥ ७३ ॥
सिद्धसङ्कल्पनगराण्यसंख्यानि यथाऽम्बरे ।
तथा सर्गसहस्राणि सन्ति तानि तु चिन्नभः ॥ ७४ ॥
महार्णवे यथाऽऽवार्ता अन्योन्यमपि मिश्रिताः ।
पृथगेवावतिष्ठन्ते पयसोऽन्ये च नैव ते ॥ ७५ ॥

---

जगद्रूपी महातरङ्गोंसे युक्त द्रवशील चितिरूपी जलमें कौन-सा पदार्थ कैसे उत्पन्न हुआ या कौन-सा पदार्थ कब कैसे शान्त ही हुआ ॥ ७० ॥

तब तो जगद्-रूपसे चितिके ही उदय और अस्त होते रहें, हानि क्या है, इसपर 'नहीं' ऐसा कहते हैं—'शान्ते' इत्यादिसे ।

जब विषयोंका सर्वथा असंभव होनेसे जगत् ही नहीं है, तो फिर जगत्की शून्यतासे शोभित, शान्त, महाचिदाकाशमें जगद्रूपसे चितिके उदय और अस्त ही कैसे सिद्ध हो सकते हैं ॥ ७१ ॥

परन्तु यदि मायाविलासदृष्टिसे देखते हैं, तो फिर सभी पदार्थोंमें सर्व-रूपताकी यथेच्छ उपपत्ति हो जाती है, यह कहते हैं—'पर्वताः' इत्यादिसे ।

ब्रह्मके सृष्टिरूपमें विवर्तित होनेपर संवेदनके प्रयोगसे यानी विचित्र वास-नाओंके अनुसार उत्पन्न संकल्पसे तो पर्वत भी आकाशरूपमें परिणत हो सकते हैं और आकाश भी पर्वत बन सकते हैं ॥ ७२ ॥

संविद्रूप सिद्धौषधचूर्णके प्रयोगसे तो योगीजन आधे निमेषमें जगत्को आकाशरूप और आकाशको तीनों जगत्के रूपमें कर डालते हैं ॥ ७३ ॥

जैसे इस प्रसिद्ध आकाशमें असंख्य सिद्धसङ्कल्पोंसे कल्पित नगर परस्पर असंलग्न एवं अन्तर्हित हैं, वैसे ही चिदाकाशमें (ब्रह्ममें) हजारों वे सृष्टियां हैं ॥७४॥

इसमें दृष्टान्त बतलाते हैं—'महार्णवे' इत्यादिसे ।

महाचिति महासर्गा अन्योन्यमपि मिश्रिताः ।
पृथगेवावतिष्ठन्ते व्यतिरिक्ता न ते ततः ॥ ७६ ॥
सर्गात्सर्गान्तरालोके या प्रबुद्धस्य योगिनः ।
सिद्धलोकान्तरे प्राप्तिः सैवेति विबुधोक्तयः ॥ ७७ ॥
अविनाशिनि भूतानि स्थितानि परमे शिवे ।
व्योम्नीव शून्यतोल्लासाः सर्गवर्गा निरर्गलम् ॥ ७८ ॥
परमार्थनिजामोदाः सहजाः सर्गविभ्रमाः ।
नोद्यन्ति नोपशाम्यन्ति लेखा इव शिलोदरे ॥ ७९ ॥
अन्योन्यं कुसुमामोदा मिलिता अप्यमीलिताः ।
व्योमरूपास्तथा सर्गा अन्योन्यं सिद्धभूमयः ॥ ८० ॥

जैसे महासमुद्रमें अनेक आवर्त परस्पर मिले हुए भी पृथक्-से अवस्थित हैं, वास्तवमें वे जलसे अतिरिक्त नहीं हैं, वैसे ही महाचितिमें असंख्य बड़ी-बड़ी सृष्टियां यानी ब्रह्माण्ड परस्पर मिले हुए भी पृथक्-से अवस्थित हैं । पर वास्तवमें वे उससे अलग नहीं हैं ॥ ७५, ७६ ॥

परस्पर छिपे हुए सिद्धोंके भिन्न-भिन्न लोकोंके अवलोकनके लिए इच्छासे प्रबुद्ध योगीकी—पहले अपनी उपाधिका मूल चेतनमें प्रविलापनकर फिर दूसरेके चित्तमें प्रवेश कर उसके लोकमें—जो अनुप्रवेशरूप प्राप्ति है, वही एक सृष्टिसे दूसरी सृष्टिके अवलोकनके लिए भी है, यह विद्वान् लोग * बतलाते हैं ॥ ७७ ॥

इस तरह सम्पूर्ण प्राणियों एवं उनके भोग्य सृष्टियोंकी विवर्तरूप स्थिति शाश्वत ब्रह्ममें ही है, यह कहते हैं—'अविनाशिनि' इत्यादिसे ।

अविनाशी परम शिवमें ये सभी भूत स्थित हैं । उसीमें ये सारी सृष्टियां बेरोक-टोक ऐसे स्थित हैं, जैसे आकाशमें शून्यताके उल्लास ॥ ७८ ॥

परमार्थ चिदाकाशके अपने आमोदरूप स्वाभाविक ये सृष्टिके विभ्रम हैं । ये स्फटिकमणिके भीतर दिखाई दे रही रेखाओंकी नाईं न तो उत्पन्न होते हैं और न नष्ट ही होते हैं ॥ ७९ ॥

पुष्पोंकी गन्ध और सिद्धोंकी भूमि जैसे परस्पर मिली हुई रहनेपर भी मिली हुई नहीं रहती, वैसे ही चिदाकाशरूप ये सृष्टियां भी हैं ॥ ८० ॥

* इस तरहका वर्णन लीलोपाख्यानमें हो चुका है ।

सङ्कल्पाकाशरूपत्वात्सर्वानुभववत्स्थितेः ।
तनुसङ्कल्पमोहानां सत्याश्च मननोक्तयः ॥ ८१ ॥
न ज्ञानवादिता सत्या न बाह्यानर्थवादिता ।
यथा वेदनमेतानि वेदनानि फलन्ति वः ॥ ८२ ॥
चिति चित्त्वं यदस्त्यन्तर्जगदित्येव भाविते ।
भेदो द्रवत्वपयसोरिव नात्रोपपद्यते ॥ ८३ ॥

---

यही कारण है कि स्थूल सङ्कल्प और मोहवाले पामरजनोंकी दृष्टिसे इस प्रपञ्चकी स्थूल अनुभवके समान स्थिति है तथा सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम सङ्कल्प एवं मोहवाले योगियोंकी दृष्टिसे सूक्ष्मादिभावसे इस प्रपञ्चकी स्थिति है। ऐसी स्थितिमें सबको अनुभव एक-सा न होनेके कारण अपने-अपने अनुभवके अनुसार सबकी उक्तियाँ सत्य ही हैं, यह कहते हैं—'सङ्कल्पाकाश०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रपञ्चकी स्थिति सङ्कल्पाकाशरूप होनेसे जिसका जैसा अनुभव है वैसी ही है। इसलिए सूक्ष्म सङ्कल्प एवं मोहवाले योगियोंकी मननपूर्वक जगत्के विषयमें जो कुछ उक्तियाँ हैं, वे बिलकुल सत्य हैं ॥ ८१ ॥

अतएव भिन्न-भिन्न वादियोंकी जो नाना प्रकारकी कल्पनाएँ हैं वे भी तत्-तत् वासनाओंसे परिपूर्ण सङ्कल्पोंके अनुसार ही सत्य हैं, सबके सङ्कल्पोंके अनुसार या परमार्थरूपसे वे सत्य नहीं हैं, यह भिन्न-भिन्न वादियोंको सम्बोधित कर कहते हैं—'न' इत्यादिसे।

न तो विज्ञानवादी बौद्धोंकी आन्तर विज्ञानमात्र परमार्थवादिता * सत्य है और न वैशेषिकोंकी बाह्यानर्थवादिता † ही सत्य है, किन्तु आप लोगोंके सङ्कल्पके अनुसार ये सभी ज्ञान फलीभूत होते हैं ॥ ८२ ॥

तब इनमें कौन-सा पक्ष प्रामाणिक है, उसको बतलाते हैं—'चिति' इत्यादिसे।

वस्तुतः चितिमें जो चित्त्व है यानी त्रिपुटीप्रकाशनकी ‡ शक्ति है, वही

---

* विज्ञानवादी बौद्धोंका सिद्धान्त है कि एकमात्र आन्तर विज्ञान ही परमार्थ वस्तु है और कुछ नहीं।

† वैशेषिकोंका मत है कि दुःखके हेतुभूत द्रव्य, गुण, कर्म आदि सात बाह्य ही सत्य हैं।

‡ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तथा प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयके प्रकाशनकी।

कालो जगन्ति भुवनान्यहमक्षवर्ग-
स्त्वं तानि तत्र च तथेति च सर्वमेकम् ।
चिद्व्योम शान्तमजमव्ययमीश्वरात्म-
रागादयः खलु न केचन सम्भवन्ति ॥ ८४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे दृश्योपदेशयोगो नाम सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

—०—

## अष्टत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

चित्पश्यति जगन्मिथ्यास्ववेदनविबोधिता ।
व्योम्नि मायाञ्जनासिक्ता दृगिवाचलान्तरम् ॥ १ ॥

---

भीतर भावित होनेपर 'जगत्' रूपसे भासती है । इसलिए चिति और जगत्में भेद ऐसे उपपन्न नहीं होता, जैसे जल और द्रवत्वमें ॥ ८३ ॥

कहे हुए का अनुवाद कर प्रकृतमें उसकी योजना करते हुए उपसंहार करते हैं—'कालो' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, सर्वाधारकाल, उसके अन्तर्गत ब्रह्माण्ड, उसके अन्तर्गत चौदह भुवन, उन भुवनोंके अन्तर्गत अहम् तथा त्वम् आदि भोक्ता, भोक्ताओंके भोगोंके उपकरणभूत इन्द्रियसमूह, शब्द, स्पर्श आदि भोग्य विषय और उनमें विचित्र भोग—यह सब कुछ ईश्वरात्मक यानी मायिक सर्वज्ञता, सर्वशक्ति आदिसे सम्पन्न और परमार्थतः शान्त, एक, अज, अविनाशी चिदाकाशरूप ही है । ऐसा निश्चय होनेपर राग आदि किसीका भी सम्भव नहीं है ॥ ८४ ॥

---

## अड़तीसवाँ सर्ग

[ चित् और चेत्य ( विषय )—दोनोंके सम्बन्धभ्रमके निरास द्वारा उत्तम युक्तियोंसे चेतन ही जगत् है—यह वर्णन ]

चेत्यरूप समस्त जगत् चेतनस्वरूप ही है, इस विषयका उपपादन करनेवाले महाराज वसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं—'चित्' इत्यादिसे ।

ब्रह्मसर्गश्चित्तसर्गो द्वावेतौ सदृशौ मतौ ।
परमार्थस्वरूपत्वादक्षुब्धत्वात्सदैव च ॥ २ ॥

ज्ञानरूपतया बाह्यं बाह्यं चानुभवात्तथा ।
सत्यरूपमतः सत्यां विद्धि बाह्यार्थरूपताम् ॥ ३ ॥

बाह्यार्थवादविज्ञानवादयोरैक्यमेव नः ।
वेदनात्मैकरूपत्वात्सर्वदाऽसदसंस्थितेः ॥ ४ ॥

---

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, अपनेमें मिथ्या ज्ञानसे यानी अब्रह्मरूपता-भ्रमसे विक्षिप्त हुई चिति जगत्को उस प्रकार देखती है, जिस प्रकार मायादर्शन-हेतु अञ्जनसे युक्त आँख आकाशमें पर्वतरूपताको और पर्वतके शिखर वन, हाथी आदिको देखती है ॥ १ ॥

भ्रान्तिसे कल्पा गया यह संसार चित्रसृष्टिके सदृश केवल मनकी कल्पनासे ही क्षुब्ध-सा भासता है, वस्तुतः नहीं, यह कहते हैं—'ब्रह्म०' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, ब्रह्मसृष्टि और चित्तसृष्टि दोनों समान ही मानी जाती हैं, क्योंकि दोनों सृष्टियां असलमें परमार्थ ब्रह्मसे न भिन्न हैं और न उनमें किसी तरहका क्षोभ ही है ॥ २ ॥

वैसा भले ही हो, इससे प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं—'ज्ञान०' इत्यादिसे ।

जैसे भीतमें रहनेवाला चित्र वास्तवमें भीतसे अलग नहीं है, परन्तु भ्रान्त-पुरुषोंके अनुभवसे भीतसे अलग-सा भासता है,वैसे ही ज्ञानमें कल्पा गया संसार वास्तवमें ज्ञानरूप होनेके कारण ज्ञानसे अलग नहीं है, किन्तु भ्रान्त पुरुषोंके अनुभवरूपसे अलग-सा भासता है । जब यही असली स्थिति है, तब बाह्य-अर्थरूपताको भी, ज्ञानकी सत्यताके कारण, ज्ञानरूपसे सत्यरूप ही मानना चाहिए, यह आप जानिये ॥ ३ ॥

ऐसी स्थितिमें हम लोगोंके मतसे बाह्य अर्थवाद और विज्ञानवादमें कोई विरोध नहीं होता, क्योंकि बाह्यार्थवाद और विज्ञानवाद दोनोंकी उक्तरीतिसे एकता ही है । किसी भी समय चेतनसे भिन्न असत् बाह्य प्रपञ्चकी सत्ता हो ही नहीं सकती, यह अकाट्य सिद्धान्त है ॥ ४ ॥

अक्षुब्धखानिलालोकजलभूशान्तिशालिनी ।
तता शून्या महारम्भा ब्रह्मसत्तैव सर्वतः ॥ ५ ॥
तस्मै सर्वं ततः सर्वं तत्सर्वं सर्वतश्च तत् ।
तच्च सर्वमयं नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ ६ ॥
चिन्मयत्वाद्यदा चेत्यमेति द्रष्टृचितैकताम् ।
तदा दृश्याङ्गयैवैतच्चेत्यते नान्यथा चिता ॥ ७ ॥
यदा चिन्मात्रमेवेयं द्रष्टृदर्शनदृश्यदृक् ।
तदाऽनुभवनं तत्र सर्वस्य फलितं स्थितम् ॥ ८ ॥

---

जब सम्पूर्ण प्रपञ्च चिदेकरस है, चिति निरन्तर ही अक्षुब्ध है और समस्त विशेषणोंसे निर्मुक्त है, तब क्षुब्ध हुए आकाश आदि पञ्चभूतोंकी भी शान्ति अर्थतः सिद्ध हो जाती है, इससे अन्तमें पूर्णब्रह्मरूपता ही बच गई, यह कहते हैं—'अक्षुब्ध०' इत्यादिसे ।

क्षोभशून्य, तथा आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वीसे शून्य एवं पूर्णशान्तिसे विराजमान, बड़े-बड़े आरम्भोंसे युक्त, वास्तवमें शून्यरूप ब्रह्मसत्ता ही चारो ओर विस्तृत है ॥ ५ ॥

यों समस्त क्रियाकारकफलरूप ब्रह्मीभूत जगत्को ही प्रणाम करते हैं—'तस्मै' इत्यादिसे ।

यह सब कुछ ब्रह्मके लिए ही है, उसीसे सब कुछ उत्पन्न हुआ है, वही सर्वरूप है, वही चारों ओर व्याप्त होता है, वही सबमें ओत-प्रोत है, नित्य भी वही है, ऐसे सर्वात्मक ब्रह्मको नमस्कार है ॥ ६ ॥

व्यवहारकालमें भी चितिके साथ ऐक्यप्राप्तिके बलसे ही विषयोंका अस्तित्व और प्रकाशन होता है, किसी दूसरे तरीकेसे नहीं, यह कहते हैं—'चिन्मयत्वात्' इत्यादिसे ।

चिन्मय होनेके ही कारण घटादिरूप विषय जब प्रमातारूप चैतन्यके साथ वृत्ति द्वारा एक हो जाते हैं, तभी दृश्यरूप देहवाली उस चितिके बलसे ही इन घट आदि पदार्थोंका प्रकाशन होता है, अन्यथा नहीं ॥ ७ ॥

इस तरह द्रष्टा, दृश्य और दर्शन—ये सभी, चितिकी एकताके बलसे ही जब सिद्ध होते हैं, तब वे चिन्मात्रस्वरूप ही हैं, ऐसी स्थितिमें सब

द्रष्टृदृश्ये न यद्येकमभविष्यच्चिदात्मके ।
तद् दृश्यास्वादमज्ञः स्यान्ना दृष्ट्वेक्षुमिवोपलः ॥ ९ ॥
चिन्मयत्वाच्चितौ चेत्यं जलमप्स्विव मज्जति ।
तेनानुभूतिर्भवति नान्यथा काष्ठयोरिव ॥ १० ॥
सजातीयैकताभावाद् यद्वत्काष्ठं न चेतते ।
दारु तद्वदपि द्रष्टा दृश्यं नाज्ञास्यदाजडम् ॥ ११ ॥
यादृक्सत्तानि काष्ठानि तादृग्रूपं त्वचेतनम् ।
जानन्ति नेतरत्तस्माद्दृश्यं चिद्दृश्यचेतनम् ॥ १२ ॥

---

जगत्का स्वरूप केवल अनुभवमात्र ही परमार्थसे सिद्ध होता है, यह अर्थतः निकलता है ॥ ८ ॥

द्रष्टा और दृश्यकी एकतामें अनुकूल तर्क बतलाते हैं—'द्रष्टृदृश्ये' इत्यादिसे ।

द्रष्टा और दृश्य यदि चिदात्मक साक्षीमें एकता प्राप्त नहीं करते, तो ईख खानेमें प्रवृत्त पुरुष ईख देखकर और चूसकर भी पत्थरके सदृश उसके स्वाद या माधुर्यका अनुभव नहीं करता, क्योंकि जड़ तो रसका अनुभव कर नहीं सकता और न जड़ रस ही उसके प्रति प्रकाशित हो सकता है ॥ ९ ॥

जब दृश्य और द्रष्टाको चिन्मय मानते हैं, तब अनुभव करनेवाली चितिमें ही चेत्यका ( विषयका ) अनुभव होगा । जलमें गिरा हुआ जलबिन्दु जैसे जलमें प्रवेशकर डूब जाता है, वैसे ही चितिमें विषय प्रवेश कर डूब जाता है, इसीसे 'ईखका माधुर्य चखता हूँ' इस त्रिपुटीका चेतनमें प्रवेश होकर ही अनुभव होता है—इस प्रकारको छोड़कर दूसरा प्रकार हो ही नहीं सकता, क्योंकि जड़ होनेपर दो काठके सदृश अनुभव नहीं होगा ॥ १० ॥

'दो काठके सदृश' यह जो व्यतिरेक दृष्टान्त दिया है, उसकी समानता दार्ष्टान्तिकमें बतलाते हैं—'सजातीय०' इत्यादिसे ।

एक काठ दूसरे काठको, अपना जातीय होनेपर भी, चेतनकी एकता न होनेपर जैसे नहीं जान सकता, वैसे ही द्रष्टा भी चेतनकी एकतासे शून्य दृश्यको नहीं जान सकता ॥ ११ ॥

द्रष्टा और दृश्यकी जड़ता मान लेनेपर कोई भी दो काठकी अपेक्षा उनमें कुछ अधिकता नहीं जान सकते, यह कहते हैं—'यादृक्' इत्यादिसे ।

काठकी जैसी स्थिति अपने सामने है, वही उनका जड़ रूप है, इससे

महाचिदात्मनैवास्ति जलानिलधराश्मतम् ।
नैतेषु स्पन्दबुद्ध्यादि प्राणजीवाद्यभावतः ॥ १३ ॥
प्राणबुद्ध्यादयः सत्तां भावनावशतो गताः ।
भावना चिच्चमत्कारः स यथेच्छमुदेति च ॥ १४ ॥
जगत्तया शान्ततया ब्रह्मसत्ताऽवतिष्ठते ।
पुंस्तया गत एवात्मा रेतो वटकबीजयोः ॥ १५ ॥
सर्वाग्राणुमये बीजे योऽस्मादग्रगतोऽणुकः ।
स स तच्चाद्भवत्यग्रं बीजं स्वात्मनि संस्थितः ॥ १६ ॥

---

अतिरिक्त दूसरे किसी रूपको कोई नहीं जानते । अतः कथित तर्कके आधारपर समस्त दृश्य और द्रष्टा चिद्रूपसे ही चिदभिन्न है, यह सिद्ध हो गया ॥ १२ ॥

यों द्रष्टा और दृश्य जब चेतनरूप सिद्ध हुए, तब दृश्यात्मक जगत्में पृथिवी, वायु, जल आदिका भेद निकल गया और द्रष्टामें स्पन्दन, बुद्धि आदिका भेद निकल गया, इस स्थितिमें समस्त जगत्की ब्रह्मके साथ एकता ही सिद्ध हो गई, यह कहते हैं—'महा०' इत्यादिसे ।

दृश्योंमें जल, वायु, पृथवी, पत्थर आदि तथा द्रष्टामें जो स्पन्दन, बुद्धि आदि एवं प्राण जीव आदि भेद हैं, वह महाचेतनरूपसे है ही नहीं, क्योंकि महाचेतनमें उनका तीनों कालमें अस्तित्व नहीं है ॥ १३ ॥

भावनामात्रसे कल्पित होनेके कारण प्राण आदि भेद मिथ्या हैं, यह कहते हैं—'प्राण०' इत्यादिसे ।

भद्र, प्राण, बुद्धि आदि जो कुछ अपना अस्तित्व रखते हैं, वह केवल भावनाके बलपर ही । भावना तो एक चितिका चमत्कार है, वह इच्छाके अनुसार उदित होता है, अतः भावनामूलक प्राण आदि मिथ्या हैं ॥ १४ ॥

जगत्-रूपसे एवं सुषुप्ति-प्रलयरूपसे ब्रह्मसत्ता ही स्थित है । आत्मा ही प्रसवशक्तिसे आक्रान्त होकर वीर्य और वटबीजरूपमें मानो बन गया है अर्थात् सभी भेद ब्रह्मके विवर्तरूप ही हैं, अतः वे मिथ्या हैं ॥ १५ ॥

वटके बीजमें प्रसवशक्तिसे युक्त सूक्ष्म अविकृत ब्रह्मसत्तावाला भाग और उसमें वटादिविवर्त दिखलाते हैं—'सर्वाग्रा०' इत्यादिसे ।

सबके सारभूत अत्यन्त सूक्ष्म भागसे सम्पन्न बीजमें जो-जो सारभूत अति-

ब्रह्म सर्वपराण्वात्मा यो यस्मादर्थतोऽणुकः ।
स स तत्तद्भवेद्वस्तु वस्तु ब्रह्मैव तिष्ठति ॥ १७ ॥
द्रव्यमेव यथा द्रव्यं तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
सर्वमेव तथा ब्रह्म येन तेन यथा तथा ॥ १८ ॥
हेमत्वमेव नान्यत्वं हेमरूपशते यथा ।
शान्तत्वमेव शान्तस्य सर्गाहन्त्वगणे तथा ॥ १९ ॥
पार्श्वस्थस्वप्नमेघौघा यथा तव न काश्चन ।
सर्गप्रलयसंरम्भास्तथा खात्मान एव मे ॥ २० ॥

---

सूक्ष्म वस्तु है, वह सब परमात्मा ही है। इसी सारभूत वस्तुसे शाखा आदिमें तत्-तत् उत्तरोत्तर कार्यमें अग्रस्थानीय बीज होता है और वह अपने स्वरूपमें स्थित रहता है ॥ १६ ॥

जो-जो जिससे सूक्ष्म होकर कारणरूपसे प्रसिद्ध है, वह सब तो ब्रह्मकोटिमें है और जो स्थूल होकर कार्यरूपसे प्रसिद्ध है, वह मायाकोटिमें है तथा मिथ्या है, यह जानना चाहिए, यह कहते हैं—'ब्रह्म' इत्यादिसे।

ब्रह्म ही सबसे परम अणुरूप है, इसलिए जो-जो जिस-जिस अर्थसे अत्यन्त अणु है, वह सब तत्-तत् सूक्ष्मभूत ब्रह्मवस्तु है, ऐसी स्थितिमें सर्वत्र ब्रह्मवस्तु ही स्थित है ॥ १७ ॥

जैसे घट आदि एक-एक द्रव्य अगल-बगलसे, ऊपरसे-नीचेसे यानी सभी ओरसे द्रव्यरूप ही है, उससे तनिक भी भिन्न पदार्थ नहीं है, वैसे ही सभी पदार्थ यानी जगत् जिस पुरुषके द्वारा जिस किसी रीतिसे परीक्षा द्वारा देखा गया वह सब सन्मात्ररूप ब्रह्मरूप ही देखा गया, दूसरे रूपका नहीं ॥ १८ ॥

अविकारितामें दृष्टान्त कहते हैं—'हेमत्व०' इत्यादिसे।

सैंकड़ों सुवर्णके रूपोंमें जैसे सुवर्णत्व ही रहता है, दूसरा नहीं, वैसे ही शान्तब्रह्मके सैंकड़ों जगद्भाव और जीवभावोंमें शान्तब्रह्मरूपत्व ही रहता है ॥१९॥

सत् ब्रह्मका सर्गरूप विवर्तोंसे अलोप नहीं होता, यह बतलाते हैं—'पार्श्व०' इत्यादिसे।

समीपस्थ पुरुषके स्वप्नके मेघ जैसे आपके कुछ नहीं हैं यानी उनसे आपका कुछ लोप नहीं होता, वैसे ही चिदाकाशरूप मेरे सृष्टि, प्रलय आदि

पङ्क्ता कल्पिता व्योम्नो या पुत्रकपताकिनी ।
सा यथा शान्ततामात्रं खमेवेदं तथा जगत् ॥ २१ ॥
सङ्कल्पभ्रम एवान्तः पुष्पीभूय जगत्स्थितम् ।
जलावनितलक्लिन्नबीजं कल्प इव द्रुमः ॥ २२ ॥
अनहन्तात्मनो ज्ञस्य सत एकत्वमासतः ।
जरत्तृणलवायन्ते ननु नामाणिमादयः ॥ २३ ॥
त्रैलोक्ये तन्न पश्यामि देवासुरमानुषम् ।
एकरोमांशविश्वस्य यल्लोभाय महात्मनः ॥ २४ ॥
यथा तथा स्थितस्यापि यत्र तत्र गतस्य च ।
द्वैतसङ्कल्पसंदोहा न सन्त्यधिगतात्मनः ॥ २५ ॥

---

महारम्भ कुछ भी नहीं हैं, यानी आत्मामें कुछ भी उनसे नहीं होता ॥ २० ॥

आकाशमें कल्पित मलिनता और उसीमें कल्पित गन्धर्वपुत्रोंकी सेना जैसे आकाशरूप ही है, वैसे ही ब्रह्ममें कल्पित यह सारा जगत् एकमात्र शान्त ब्रह्मरूप ही है ॥ २१ ॥

जैसे जलसे भूमितलमें आर्द्र वट आदिका बीज महान् वट आदिके वृक्षके रूपमें परिणत हो जाता है, वैसे ही हृदयके भीतर सङ्कल्परूप भ्रम ही पहले पुष्प बनकर फिर बाहर जगत्-रूप फल बनकर स्थित हो जाता है ॥ २२ ॥

यदि परम सूक्ष्म ब्रह्म है और ब्रह्मभावमें स्थिति ही मोक्ष है, तो अणिमा आदि सिद्धियोंके सदृश ही मोक्ष हुआ, इस शङ्कापर कहते हैं—'अनहन्ता०' इत्यादिसे ।

अहन्ता आदि प्रतिबन्धकोंके दूर हो जानेपर आविर्भूत हुए निरतिशयानन्दरूप, एकस्वभावापन्न, सत् ज्ञानीकी दृष्टिमें ये सब अणिमा आदि सिद्धियाँ जीर्ण-शीर्ण तृणके टुकड़ेके सदृश तुच्छ भासती हैं ॥ २३ ॥

तीनों लोकोंमें देवता, असुर और मनुष्यसे युक्त ऐसी किसी वस्तुको मैं नहीं देखता, जो एक रोमांशके सदृश सारे विश्वको समझनेवाले महात्माके लोभके लिए होवे ॥ २४ ॥

जिस किसी तरहकी स्थिति करनेवाले तथा जहाँ कहीं जानेवाले आत्मतत्त्वविद् पुरुषको किसी तरहके द्वैतसङ्कल्प होते ही नहीं ॥ २५ ॥

विश्वमेव नभो यस्य शून्यं सर्वं महात्मनः ।
कुतः कस्य कथं तस्य भवत्विच्छा निरात्मनः ॥ २६ ॥
शान्ताशेषविशेषस्य निरेषणविशेषतः ।
सत्तामसत्तां सदृशौ क आकलयितुं क्षमः ॥ २७ ॥
मारैर्न किञ्चिन्म्रियते जीवैः किञ्चिन्न जीवति ।
शुद्धसंविन्मयस्यास्य समालोकस्य खस्य च ॥ २८ ॥
मिथ्यालोकस्य कचतो भ्रान्त्या मरणजन्मनी ।
असत्यपि भ्रान्तिभाजि मृगतृष्णानदीतटे ॥ २९ ॥
सम्यक्परीक्षितं यावन्न भ्रान्तिर्न परीक्षकाः ।
न नाम जन्ममरणे केवलं शान्तमव्ययम् ॥ ३० ॥
दृश्याद्यो विरतिं यात आत्मारामः शमं गतः ।
स सन्नेवासदाभासः परितीर्णभवार्णवः ॥ ३१ ॥

---

जिस महामतिकी दृष्टिमें सारा विश्व ही चिदाकाशरूप तथा शून्यात्मक है, ऐसे भोगादिनिमित्तसे शून्य विद्वान्‌को किस निमित्तसे किसकी इच्छा उत्पन्न होगी ॥ २६ ॥

जिसको अशेष विशेषोंसे शान्ति हो चुकी है, तथा जो इच्छाओंसे रहित हो गया है, ऐसे वैभव एवं दरिद्रता—दोनोंको समान देखनेवाले पण्डितराजकी महिमा कौन जान सकता है ॥ २७ ॥

भाई, पुत्र आदिके मरणजीवनसे इसको हर्ष या शोक नहीं होता, इस आशयसे कहते हैं—'मारै०' इत्यादिसे ।

विद्वान् न मरण-साधनोंसे मरता है और न जीवन-साधनोंसे कुछ जीता है । परन्तु विशुद्ध संवित्स्वरूप, आत्मप्रकाशसम्पन्न तथा चिदाकाशस्वरूप हुए इस महात्माके असत् भी मरण-जनन अज्ञानी जनोंकी ही भ्रान्तिसे मृगतृष्णानदीके तटोंके सदृश भ्रान्त आत्मामें भासते हैं ॥ २८, २९ ॥

उत्तम परीक्षा कर लेनेके बाद, न तो भ्रान्ति रहती है, न परीक्षक रहते हैं और न जन्म-मरण ही रहते हैं, केवल कुछ रहता है, तो वह अविनाशी प्रशान्त ब्रह्म ही रहता है ॥ ३० ॥

तत्त्वज्ञानी परीक्षकके उपस्थित रहते आप कैसे कहते हैं कि परीक्षक नहीं रहते ? इसपर कहते हैं—'दृश्याद्यो' इत्यादिसे ।

दीपनिर्वाणनिर्वाणमस्तङ्गतमनोगतिम् ।
आत्मन्येव शमं यातं सन्तमेवामलं विदुः ॥ ३२ ॥
आबुध्यादि जगद्दृश्यं यस्मै न स्वदते स्वतः ।
आकाशस्येव शान्तस्य तमाहुर्मुक्तमुत्तमाः ॥ ३३ ॥
अहमस्त्यविचारेण विचारेणाहमस्ति नो ।
अभावादहमर्थस्य क जगत् क च संसृतिः ॥ ३४ ॥
संवित्संवेदनादेव बुद्ध्याद्याकारवत् स्थितम् ।
रूपालोकमनोरूपं जगद्वेत्ति चिदम्बरम् ॥ ३५ ॥

---

जो शान्त आत्माराम सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्चसे वैराग्यको प्राप्त होकर उपशमको प्राप्त हो गया है, संसारसागरसे पार हुआ वह ब्रह्मभावसे विद्यमान भी देह, इन्द्रिय आदिसे युक्त परीक्षकरूपसे असत्‌के ही ( अविद्यमानके ही ) समान भासता है ॥ ३१ ॥

जिसके मनकी गति अस्त हो चुकी है और जो आत्मामें शान्त है उसके ब्रह्मरूपसे विद्यमान रहते हुए भी विद्वान् लोग दीपनिर्वाणकी नाईं उसको निर्मल निर्वाण समझते हैं ॥ ३२ ॥

इसीलिए उसको यह संसार नहीं रुचता, यह कहते हैं—'आबुध्यादि' इत्यादिसे ।

बुद्धि आदिसे लेकर सम्पूर्ण यह जगद्दृश्य जिसे स्वतः नहीं रुचता, आकाशके सदृश शान्त उस पुरुषको उत्तम लोग मुक्त कहते हैं ॥ ३३ ॥

यदि आप तत्त्वज्ञ हैं, तो दीपनिर्वाणके सदृश आप निर्वाणस्वरूप हैं, आप वसिष्ठरूपसे कैसे हैं ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'अहमस्त्य' इत्यादिसे ।

अविचारसे अहं है, विचारसे अहं नहीं है । तात्पर्य यह कि अविचारसे ही मैं वसिष्ठरूपसे प्रतीत हो रहा हूँ, विचारसे कदापि नहीं । अहंभावके अर्थका अभाव होनेसे कहाँ यह जगत् और कहाँ जन्ममरण आदिरूप संसृति ? ॥ ३४ ॥

अहमर्थका अभाव कैसे ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'संवित्' इत्यादिसे ।

वस्तुतः चिदाकाश ही अपने स्वरूपके अन्यथाज्ञानसे ही बुद्धि आदिके आकारसे युक्त हो स्थित है और वही रूपालोकमनोरूप ( बाह्य एवं आभ्यन्तर ) जगत्‌को जानता है ॥ ३५ ॥

सर्वार्थरिक्तमनसः सतः सर्वात्मनस्तव ।
सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वमाचरणं शिवम् ॥ ३६ ॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि हंस्येषि तत्सर्वं शिवमव्ययम् ॥ ३७ ॥
यदहं यत्त्वमाशा यद्यत्क्रियाकालखादयः ।
यल्लोकालोकगिरयस्तच्चिद्व्योम शिवं ततम् ॥ ३८ ॥
यद्रूपालोकमननं यत्कालत्रितयं जगत् ।
यज्जरामरणार्त्यादि तन्महाचिन्नभः शिवम् ॥ ३९ ॥
निश्चिकित्सो निराभासो निरिच्छो निर्मना मुनिः ।
भूत्वा निरात्मा निर्वाणस्तिष्ठ संतिष्ठसे यथा ॥ ४० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरे ही समान यथार्थवस्तुके ज्ञानसे भ्रान्तिका नाश हो जानेपर आपका मन भी जब सम्पूर्ण पदार्थोंसे शून्य हो जायगा, तब सद्रूप सर्वात्मक आपको भी यह सम्पूर्ण आचरण सर्वात्मक शिवस्वरूप ही ( निर्वाणरूप ही ) अवभासित होगा ॥ ३६ ॥

समस्त आचरणका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—'यत्करोषि' इत्यादिसे ।

जो कुछ आप कर्म करते हैं, जो कुछ भक्षण करते हैं, जो कुछ हवन करते हैं, जो दान देते हैं, जो तप करते हैं और जो हनन-गमन करते हैं, उन सबको आप अविनाशी शिवरूप ही समझिये ॥ ३७ ॥

आचारग्रहण समस्त जगत्का उपलक्षण है, यह कहते हैं—'यद्' इत्यादिसे ।

जो मैं हूँ, जो तुम हो, जो इच्छाएँ और दिशाएँ हैं, जो जो काल, क्रिया और आकाश आदि हैं तथा जो लोकालोक आदि पर्वत हैं, वे सब शिवस्वरूप चिदाकाशरूप ही हैं ॥ ३८ ॥

जो कुछ बाह्य और आन्तर विषय हैं, जो भूत आदि तीन काल हैं तथा जो जरा, मरण, पीडा आदि हैं, वे सब महाचैतन्यरूप शिवमय आकाशरूप ही हैं ॥ ३९ ॥

दुःखशान्तिके उपायोंकी अन्वेषणासे रहित, भ्रमशून्य, इच्छारहित, मनवर्जित, मुनि एवं अहंभावरहित होकर जिस प्रकारसे मोक्षरूप बनकर आपसे स्थित रहा जा सकता है, उस तरहसे स्थित रहिए ॥ ४० ॥

गतेच्छमननं शान्तमनन्तस्थमभावनम् ।
व्यवहारोऽस्तु ते मा वा स्पन्दास्पन्दैर्यथाऽनिलः ॥ ४१ ॥
निर्वासना निष्कलना शान्ता पुरुषताऽस्तु ते ।
शास्त्रेण यन्त्रवाहेन वाह्या दारुमयी यथा ॥ ४२ ॥
भूतालोकस्तु मा स्नेहो मा वा स्नेहश्च बाह्यगः ।
अनिर्देश्यधरालोकश्चित्रदीपवदास्यताम् ॥ ४३ ॥
निर्वासनस्य विरसस्य निरेषणस्य
शास्त्रादृते क इव तत्त्वविनोदहेतुः ।

हे श्रीरामभद्र, जिस तरह पवनका स्पन्दन और अस्पन्दनके द्वारा व्यवहार या अव्यवहार होता है, उसी तरह आपका भी इच्छा-मननसे रहित, शान्त, अनन्त ब्रह्ममें स्थित तथा भावनारहित ही व्यवहार हो या न हो ॥ ४१ ॥

भद्र, जैसे काठकी पुरुषोचित चेष्टाका यन्त्ररूपी घोड़ेसे निर्वाह होता है और वह जैसे वासनाशून्य, सङ्कल्पशून्य एवं उपद्रवरहित होती है, उसी तरह शास्त्ररूपी घोड़ेसे आपकी वैसी ही पुरु...वत चेष्टाका निर्वाह होवे ॥ ४२ ॥

हे श्रीरामजी, माता, पिता, बन्धुजन आदिके साथ होनेवाला आपका बाह्य-व्यवहार न तो अत्यन्त स्नेहसे पूर्ण हो या न एकदम स्नेहसे रहित ही हो, किन्तु वह व्यवहार ऐसा हो कि देखनेवालोंको यह पता न लगे—है या नहीं, यानी अनिर्वचनीय हो । आप चित्रदीपके सदृश रहिए । चित्रगत दीप चित्रगत तेलसे पूर्ण है, परन्तु परमार्थतः तेलसे पूर्ण नहीं है, अतः उसका प्रकाश स्नेह ( तेल ) से पूर्ण है या नहीं, इसका निर्वचन नहीं किया जा सकता ॥ ४३ ॥

'निर्वासना निष्कलना' इस श्लोकसे पहले जो कहा गया है, उसीको अनुवाद द्वारा दृढ़ कर रहे महाराजवसिष्ठजी उपसंहारके रूपमें दर्शाते हैं—'निर्वासनस्य' इत्यादिसे ।

भद्र, जिसकी वासना मिट चुकी है, जिसको वर्तमान भोगोंमें कुछ रस नहीं रहा और जिससे भावी भोगोंकी तृष्णा भी निकल गई—ऐसे विद्वान्‌के लिए उत्तम शास्त्रके सिवा दूसरा कौन-सा पदार्थ आत्मसुखमें विश्रान्ति देनेवाला हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं । शरीरधारणतक अगत्या प्राप्त होनेवाले आवश्यक व्यवहार-कालमें उत्तम शास्त्रोंका अनुसरण ही चित्तदोषनिवारण तथा

शास्त्रार्थसञ्जनमतोऽप्यमलस्य तस्य
संवेदनेष्वनभिसन्धिमतः स्वरूपम् ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणवर्णनं नामाष्टत्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

## एकोनचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

संजाताकृत्रिमक्षीणसंसृतिप्रत्ययः पुमान् ।
असङ्कल्पो न सङ्कल्पं वेत्ति तेनासदेव सः ॥ १ ॥

---

विवेकादिके उद्बोध द्वारा तत्त्वज्ञानमें प्रतिष्ठाकारक है। इसलिए इच्छाशून्य निर्मल तत्त्ववेत्ताका प्रारब्धप्राप्त व्यवहारिक प्रसंगोंमें वर्णाश्रमोचित आचरण करना एवं शम-दमादि साधनोंमें भलीभाँति लगा रहना ही—असाधारण चिह्न है, न कि यथेष्टाचरण ॥ ४४ ॥

अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त

## उनतालीसवाँ सर्ग

[ प्रबुद्ध आत्मामें विश्रान्त तत्त्वज्ञानीका जो स्वरूप रहता है उसका तथा जगत् जिस रूपका रहता है, उसका वर्णन ]

यदि विद्वान्‌के ऊपर शास्त्रानुसरणका नियन्त्रण रक्खा जाय, तो उसमें शास्त्रानुसरणका सङ्कल्प भी उठने लगेगा, ऐसी आशङ्काकर कहते हैं—'संजात०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, जिसे संसारको क्षीण कर देनेवाला सत्य अर्थका स्वाभाविक प्रत्यक्ष हो गया है, वह पुरुष शास्त्रीय व्यवहारमें भी सङ्कल्परहित होकर ही स्थित रहता है, क्योंकि तत्-तत् व्यवहारोंको अपनी आत्मा समझकर यह विद्वान् सङ्कल्पको पृथक् जानता ही नहीं, ज्ञानके बिना तो किसीका अस्तित्व माना नहीं जा सकता, अतः सङ्कल्पाभास असत् ही है ॥१॥

श्वासान्म्लानिरिवादर्शे कुतोऽप्यहमिति स्थिता ।
विदि साऽकारणं दृष्टा नश्यन्त्याशु न लभ्यते ॥ २ ॥
यस्य क्षीणावरणता शान्तसर्वेहतोदिता ।
परमामृतपूर्णात्मा सत्तयैव स राजते ॥ ३ ॥
सर्वसन्देहदुर्ध्वान्तमिहिकामातरिश्वना ।
भाति भास्वद्धिया देशस्तेन पूर्णेन्दुनेव खम् ॥ ४ ॥
विसंसृतिर्विसन्देहो लब्धज्योतिर्निरावृतिः ।
शरदाकाशविशदो ज्ञेयो विज्ञायते बुधः ॥ ५ ॥

---

'विद्वान् सङ्कल्प नहीं जानता' इस उक्तिका विवरण करनेके लिए 'तत्त्वद्रष्टामें समस्त सङ्कल्पका बीजभूत अहन्ताध्यास भी बाधित हो गया है, इससे भी उसको सङ्कल्प नहीं उठता', यह कहते हैं—'श्वासान्' इत्यादिसे ।

तत्त्वज्ञानके पहले किसी अनिर्वचनीय कारणसे ( अविद्यासे ), दर्पणमें श्वाससे उत्पन्न मलिनताके सदृश, आत्मामें अहन्ता स्थित थी, परन्तु वह तत्त्वज्ञानीमें बिना कारण ही नाशको प्राप्त हो गई । बहुत अन्वेषण करनेपर भी वह कहीं प्राप्त नहीं हो रही है ॥ २ ॥

दूसरी बात यह है कि कामनासे सङ्कल्प उठते-रहते हैं, वह तो तत्त्वदर्शीमें है नहीं, क्योंकि उसकी सभी कामनाएँ पूर्ण हो चुकी हैं, यह कहते हैं—'यस्य' इत्यादिसे ।

जिसके आवरणका स्वरूप क्षीण हो चुका है तथा जिसकी समस्त इच्छाएँ नष्ट हो गई हैं, निरतिशय आनन्दामृतसे पूर्ण स्वरूपवाला वह तत्त्ववेत्ता पुरुष केवल निरतिशय आनन्दस्वरूपकी सत्तासे ही शोभित होता है ॥ ३ ॥

जैसे एक वस्तुके लाभसे सब वस्तुओंका लाभ हो जानेसे फिर लाभयोग्य वस्तुसङ्कल्प नहीं होता, वैसे ही एक वस्तुके विज्ञानसे सब वस्तुओंका विज्ञान हो जानेसे ज्ञातव्य विषयमें भ्रम आदि दोष रहते नहीं हैं, इससे भी तन्निमित्तक सङ्कल्प विद्वानको नहीं होता, यह कहते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

जैसे पूर्णचन्द्रसे आकाश जगमगाता-रहता है, वैसे ही सर्वविध आवरणोंसे रहित प्रकाशमय बुद्धिवाले तथा समस्त सन्देहरूप कुटिल अन्धकारात्मक ओसके लिए वायुस्वरूप उक्त विद्वान्से सारा देश जगमगाता-रहता है ॥ ४ ॥

संसारशून्य, सन्देहनिर्मुक्त, आत्मप्रकाश प्राप्त कर लेनेवाला, आवरणात्मक

निःसङ्कल्पो निराधारः शान्तः स्पर्शात्पवित्रताम् ।
अन्तःशीतल आधत्ते ब्रह्मलोकादिवानिलः ॥ ६ ॥
असद्रूपोपलम्भानामियं वस्तुस्वभावता ।
यत्स्वर्गवेदनं स्वप्नवन्ध्यापुत्रोपलम्भवत् ॥ ७ ॥
अविद्यमानमेवेदं जगद्यदनुभूयते ।
असद्रूपोपलम्भस्य सैषा वस्तुस्वभावता ॥ ८ ॥
असत्येष्वेव संसारेष्वास्तामर्थः कुतो भवेत् ।
सर्गापवर्गयोः शब्दादेव वन्ध्यासुतोपमौ ॥ ९ ॥

---

अज्ञानसे शून्य तथा शरदाकाशके सदृश अत्यन्त विशद तत्त्वज्ञ ज्ञेयरूप आत्मा ही है, यह श्रुतियोंमें जाना जाता है ॥ ५ ॥

सङ्कल्पमुक्त, पराधीनतासे रहित, भीतरी शीतलतासे युक्त शान्त तत्त्वदर्शीकी प्रणति, शुश्रूषा आदि द्वारा सङ्गति करनेसे वह पुरुषोंको ऐसे पवित्र ( निष्पाप ) कर देता है जैसे ब्रह्मलोकसे आया हुआ पवन ॥ ६ ॥

'विद्वान् सङ्कल्प नहीं जानता' इस पूर्वोक्त अंशका स्पष्टीकरण करके अब 'तेनासदेव सः' इस बचे अंशका स्पष्टीकरण करनेके लिए असद् वस्तुकी प्राप्तिका स्वरूप बतलाते हैं—'असद्रूपो०' इत्यादि चार श्लोकोंसे ।

प्रत्येक पुरुषमें जो सद्रूप वस्तुके अज्ञान हैं, उनके स्वभावका वास्तविक स्वरूप स्वप्नज्ञान और वन्ध्यापुत्रज्ञानकी तरह असत् सृष्टिके ज्ञानको उत्पन्न कर देना ही है ॥ ७ ॥

यह जगत् तो वास्तवमें असत् ही है, परन्तु उसकी जो उपलब्धि होती है, यही सद् आत्मस्वरूपके अज्ञानका असली स्वभाव है ॥ ८ ॥

'स्वप्नज्ञान और वन्ध्यापुत्रज्ञानकी तरह' यह जो दृष्टान्त दिया गया है, इसकी समानता बतलाते हैं—'असत्ये०' इत्यादिसे ।

असत्यरूप ही संसारमें अर्थ रहे, यदि यह मान लिया जाय, तो इसपर प्रश्न यह है कि वह किससे उत्पन्न होगा ? अर्थात् क्या सत्य वस्तुसे या असत्य वस्तुसे । पहला पक्ष तो युक्त नहीं, क्योंकि सत्य वस्तु कूटस्थ है, अतः उससे अर्थकी उत्पत्ति हो नहीं सकती । यदि असत्य वस्तुसे मान लिया जाय, तो असत्यसे जो असत्यकी उत्पत्ति होगी, वह भी असत्य ही होगी । इस स्थितिमें उक्त अर्थका

जगद्ब्रह्मतया सत्यमनिर्मितमभावितम् ।
अनिष्ठितं चान्यथा तु नाहं नावगतं च तत् ॥ १० ॥
आत्मस्वभावविश्रान्तेरियं वस्तुस्वभावता ।
यदहन्तादिसर्गादि दुःखाद्यनुपलम्भता ॥ ११ ॥
क्षणाद्योजनलक्षान्तं प्राप्ते देशान्तरं चितः ।
चेतने यस्य यद्रूपं मार्गमध्ये निरञ्जनम् ॥ १२ ॥
अस्पन्दवातसदृशं खकोशाभासचिन्मयम् ।
अचेत्यं शान्तमुदितं लताविकसनोपमम् ॥ १३ ॥
सर्वस्य जन्तुजातस्य तत्स्वभावं विदुर्बुधाः ।
सर्गोपलम्भो गलति तत्रस्थस्य विवेकिनः ॥ १४ ॥

आधार कोई हो ही नहीं सकता, क्योंकि सत्य कूटस्थ है और असत् आश्रय नहीं है। इससे संसारके असत्यभूत होनेसे जब बन्ध और मोक्ष शब्द ही वन्ध्या-पुत्रके सदृश हैं, तब उनके अर्थोंकी सिद्धिकी तो कथा ही क्या ? ॥ ९ ॥

भद्र, यह जगत् ब्रह्मरूपसे सत्य है, वह न तो उत्पन्न हुआ है, न भावनाका विषय है और न किसी आधारमें स्थित ही है। जगत्‌को यदि ब्रह्मरूपसे सत्य न माना जाय, तो न मैं ही सत्य ठहर सकता हूँ और न देखा गया यह जगत् ही सत्य ठहर सकता है ॥ १० ॥

सत-रूप वस्तुके अज्ञानका स्वभाव बतलाकर अब आत्मज्ञानमें प्राप्त विश्रान्तिका जो असली चिह्न है, उसे बतलाते हैं—'आत्म०' इत्यादिसे।

अहम्भाव आदि, सृष्टि आदि तथा दुःख आदिका ज्ञान न होना ही यानी अहम्भाव आदिकी निर्विषय चैतन्यमात्ररूपता ही आत्माके स्वभावमें प्राप्त हुई विश्रान्तिका असली चिह्न है ॥ ११ ॥

चितिकी निर्विषयता प्रसिद्ध नहीं है, यों शङ्का करनेवालेके प्रति 'देशाद् देशान्तरप्राप्तौ' इत्यादि श्लोकमें बतलाई गई चितिकी निर्विषयताप्रसिद्धिका स्मरण कराते हैं—'क्षणाद्' इत्यादिसे।

शाखा आदि प्रदेशसे लेकर चन्द्रप्रदेश तकके लाखों योजनपर्यन्त विस्तृत प्रदेशमें जब चक्षुके द्वारा चाक्षुष वृत्तिका चैतन्य क्षणभरमें चला जाता है तब मार्गके बीचमें व्याप्त चितिका—अनावृत, स्पन्दशून्य वायुकी तरह निष्क्रिय, आकाशको जगमगानेवाला, चिन्मय, शान्त, लताविकासके सदृश सुन्दर जो सभी प्राणियोंके

सुषुप्ते स्वप्नधीर्नास्ति स्वप्ने नास्ति सुषुप्तधीः ।
सर्गनिर्वाणयोर्भ्रान्ती सुषुप्तस्वप्नयोरिव ॥ १५ ॥

भ्रान्तिवस्तुस्वभावोऽसौ न स्वप्नो न सुषुप्तता ।
न सर्गो न च निर्वाणं सत्यं शान्तमशेषतः ॥ १६ ॥

भ्रान्तिस्त्वसन्मात्रमयी प्रेक्षिता चेन्न लभ्यते ।
शुक्तिरूप्यमिवासत्यं किल सम्प्राप्यते कथम् ॥ १७ ॥

यन्न लब्धं च तन्नास्ति तेन भ्रान्तेरसंभवः ।
स्वभावादुपलम्भोऽन्यो नास्ति कस्य न कस्यचित् ॥ १८ ॥

---

अनुभवसे सिद्ध—विषयशून्य स्वभाव है, उस स्वभावको, पण्डित लोग जानते ही हैं, उस स्वभावमें स्थित विवेकीका सृष्टिज्ञान चूर-चूर हो जाता है ॥ १२-१४ ॥

सुषुप्ति और स्वप्नमें जैसे एक दूसरेकी विषयता नहीं है, वैसे ही तुरीयमें भी जाग्रत् आदिकी विषयता नहीं है, ऐसी सम्भावना की जा सकती है, यह कहते हैं—'सुषुप्ते' इत्यादिसे ।

सुषुप्तिमें स्वप्नकी बुद्धि नहीं है और स्वप्नमें सुषुप्तिकी बुद्धि नहीं है, यह जैसे सबको ज्ञात है, वैसे ही सृष्टिमें मोक्षबुद्धि और मोक्षमें सृष्टिबुद्धि नहीं है यानी सुषुप्ति और स्वप्नकी बुद्धिके सदृश सर्ग और मोक्षकी बुद्धि है अर्थात् तुरीय मोक्षमें चितिकी सर्गादिविषयता रह ही नहीं सकती ॥ १५ ॥

सुषुप्ति आदि विभाग भी भ्रान्तिमूलक ही है, इसलिए वह परमार्थ नहीं हो सकता, यह कहते हैं—'भ्रान्ति०' इत्यादिसे ।

यह स्वप्न, सुषुप्ति आदि विभाग भी भ्रान्तिका ही एक स्वभाव है, इसलिए न तो स्वप्न, न सुषुप्ति, न सृष्टि और न मुक्ति ही है, किन्तु अशेष विभागोंसे शान्त परब्रह्म ही असली तत्त्व है ॥ १६ ॥

स्वप्नादि क्यों नहीं हैं, इसपर कहते हैं—'भ्रान्तिस्त्व०' इत्यादिसे ।

जो भ्रान्ति है उसका असली स्वरूप असदात्मक ही है, विचार करनेपर यदि उसका शुक्तिरूप्यके सदृश लाभ नहीं होता, तो स्वप्नादि असत्य पदार्थ कैसे प्राप्त किये जा सकते हैं ॥ १७ ॥

भ्रान्तिका अर्थ यद्यपि भ्रान्तिसे भले ही न प्राप्त किया जा सकता हो, परन्तु

स्वभाव एव सर्वस्मै स्वदते किल सर्वदा ।
अनानैव हि नानेव किं वादैः संविभाव्यताम् ॥ १९ ॥
अस्वभावे महद्दुःखं स्वभावे केवलं शमः ।
इति बुद्ध्या विचार्यान्तर्यदिष्टं तद्विधीयताम् ॥ २० ॥
सूक्ष्मे बीजेऽस्त्यगः स्थूलो दृष्टमित्युपपद्यते ।
शिवे मूर्ते जगन्मूर्तमस्तीत्युत्तमसंकथा ॥ २१ ॥

---

दूसरे किसी उपलम्भसे तो प्राप्त किया जा सकता है, इसपर कहते हैं—'यन्न०' इत्यादिसे ।

जो किसी कालमें लब्ध नहीं होता वह है ही नहीं, इसलिए भ्रान्तिका तीनों कालमें अस्तित्व नहीं है । भ्रान्तिका अर्थ भ्रान्तिभिन्न किसी अन्य उपलम्भ ( ज्ञान ) से प्राप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा उपलम्भ प्रमारूप ही होगा, परन्तु वह किसी भ्रान्तिविषय अर्थके साक्षीके स्वभावको छोड़कर दूसरा नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

ऐसी स्थितिमें खूब विचार करनेपर अकेला साक्षिस्वभाव ही अपनेमें त्रिपुटीकी कल्पना कर प्रकाशित होता है दूसरा कुछ भी नहीं, यह कहते हैं—'स्वभाव' इत्यादिसे ।

स्त्रीके लिए उसका स्वभाव ही निरन्तर उत्तम प्रेमका भाजन बनकर प्रकाशित होता है । इसीसे एक ही वस्तु वह अनेक-सी भासती है। इसलिए अनेक वादोंसे समर्थन ही क्या किया जाय ॥ १९ ॥

उसको स्वभावभिन्न मानना ही संसाररूप दुःख है और कल्पनारहित अपनी आत्मामें स्थित रहना मोक्षरूप सुख है, यह कहते हैं—'अस्वभावे' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, साक्षिस्वभावसे अतिरिक्तकी कल्पना करनेपर ही संसारात्मक महान् दुःख है और साक्षिस्वभावमें निरन्तर स्थिति रखना मोक्षरूप सुख है । इसलिए आप अपनी बुद्धिसे अपनी आत्मामें विचारकर जिसे अपना इष्ट समझें, उसे ग्रहण करें ॥ २० ॥

इष्ट वस्तुके ग्रहणमें उपाय क्या है ? इस प्रश्नपर अध्यस्त संसारमें आत्मरूपताका अवलोकन ही उपाय है, इस आशयसे सृष्टिके आरम्भसे ही सृष्टि और आत्माकी अभिन्न सत्ता बतलाते हैं—'सूक्ष्मे' इत्यादि ।

रूपालोकमनस्कारबुद्ध्यहन्तादयः परे ।
स्वरूपभूताः सलिले द्रवत्वमिव स्वात्मकाः ॥ २२ ॥
मूर्तो यथा स्वसदृशैः करोत्यवयवैः क्रियाः ।
आत्मभूतैस्तथा भूतैश्चिदाकाशमकर्तृ सत् ॥ २३ ॥
आत्मस्थादहमित्यादिरस्मदादेरसंस्तुतेः ।
शब्दोऽर्थभावमुक्तो यः पटहादिषु जायते ॥ २४ ॥
यद्गतं प्रेक्षया नास्ति तन्नास्त्येव निरन्तरम् ।
जगद्रूपमरूपात्म ब्रह्म ब्रह्मणि संस्थितम् ॥ २५ ॥

बाहर बड़ा जो वृक्ष दिखाई पड़ता है, वह सूक्ष्मभूत बीजमें है, ऐसा माननेमें जैसे प्रत्यक्षतः युक्ति है, ठीक इसी तरह अमूर्तिमान् शिवरूप आत्मामें भी मूर्त जगत है, ऐसा माननेमें वेदादि शास्त्र और मुनियोंकी उक्ति है ॥ २१ ॥

इस तरह प्रत्यगात्मामें विद्यमान आध्यात्मिक भावोंकी भी पृथक् सत्ता नहीं है, इसका अपनेमें ही सब अनुभव करते हैं, यों कहते हैं—'रूपा०' इत्यादिसे।

जैसे जलमें विद्यमान जलरूप द्रवत्व है, वैसे ही परब्रह्ममें विद्यमान बुद्धि अहन्ता आदि विषय जो हैं, वे सब आत्मरूप तथा चिदाकाशस्वरूप ही हैं ॥२२॥

जैसे अवयवी ( घटादि ) अपने सदृश यानी अपने अस्तित्वसे अलग अस्तित्व न रखनेवाले अवयवोंसे ही क्रिया करता है, वैसे ही स्वरूपभूत पृथ्वी आदि भूतोंसे ही यानी अपनी सत्तासे अलग सत्ता न रखनेवाले भूतोंसे ही चिदाकाश यह सब कुछ करता है, वास्तवमें तो वह सत् और अकर्ता ही है ॥ २३ ॥

अर्थव्यवहारके सदृश शब्दप्रयोग आदि व्यवहार भी आत्मसत्तासे पृथक् सत्ता न रखकर ही चेतनाधिष्ठित देह, वाक् आदिसे होता है, यह कहते हैं—'आत्मस्थात्' इत्यादिसे।

हम लोगोंके शरीर, जीभ आदि जड़ होनेके कारण किसी तरहका व्यवहार करनेके समर्थ नहीं हो सकते, इसलिए उनसे 'अहमादि' अर्थोंका प्रकाशक जो शब्द जीभ आदिके व्यापारसे होगा, वह चेतनसे अधिष्ठित जीभ आदिसे ही होगा, यह उस तरह मानना चाहिए; जिस तरह नर्तकीके पैरोंका संचालन एवं तालोंके ज्ञाता वादक पुरुषसे अधिष्ठित मृदङ्ग आदिमेंसे शब्द होता है ॥ २४ ॥

उक्त रीतिसे सम्पूर्ण व्यवहारका चैतन्यके साथ अभिन्नतासे जब निर्वाह

येषामस्ति जगत्स्वप्नस्ते स्वप्नपुरुषा मिथः ।
न सन्ति ह्यात्मनि मिथो नास्मास्वम्बरपुष्पवत् ॥ २६ ॥
मयि ब्रह्मैकरूपं ते शान्तमाकाशकोशवत् ।
वायोः स्पन्दैरिवाभिन्नैर्व्यवहारैश्च तन्मयि ॥ २७ ॥
अहं तु सन्मयस्तेषां स्वप्नः स्वप्नवतामिव ।
ते तु नूनमसन्तो मे सुषुप्तस्वप्नका इव ॥ २८ ॥

---

किया जा सकता है, तब वह अभेद आत्यन्तिक ही मानना चाहिए; अविचारसिद्ध अर्धजरतीय जड़तारूपभेद माननेसे फायदा ही क्या, यह कहते हैं—'यज्ज्ञातम्' इत्यादिसे ।

जो यह आपाततः देखा जाता है, वह विचारसे उत्पन्न तत्त्वज्ञानसे निरन्तरके लिए अस्तित्व ही खो देता है । इसलिए जड़तारूप जो जगत्का रूप है, वह स्वरूपरहित है, इस स्थितिमें ब्रह्म आत्मा ही अपने स्वरूपमें स्थित है, यही स्वरूपावस्थिति है ॥ २५ ॥

असंसारी ब्रह्म अपने स्वभावमें भले ही रहे, इससे संसारियोंको क्या लाभ पहुँचा, इस तरहकी आशङ्का कर उनकी पुरुषार्थचिन्ता, वन्ध्याको अपने पुत्रके लिए राज्यप्राप्तिकी चिन्ता करनेके सदृश मिथ्या है, इस आशयसे कहते हैं—'येषाम०' इत्यादिसे ।

जिनकी दृष्टिमें जगत्-रूप स्वप्न भासता है, उन पुरुषोंका एक दूसरेकी भ्रान्तिपूर्ण दृष्टिसे भी, जागरण और स्वप्नमें तत्-तत् स्वरूपमें अस्तित्व रहता ही नहीं और एक दूसरेके आत्मस्वरूप हुए हम लोगोंमें तो आकाशकुसुमके सदृश उनका सर्वथा अस्तित्व नहीं है ॥ २६ ॥

हम लोगोंमें ऐसे पुरुष और उनके व्यवहार जड़ अंशको लेकर तो आकाश-पुष्पके सदृश हैं और सचिद् अंशको लेकर तो हम लोगोंमें ब्रह्मस्वभावतासे विद्यमान हैं, यह कहते हैं—'मयि' इत्यादिसे ।

वायुके स्पन्दनके सदृश अपनेसे अभिन्न उन-उन स्वकीय व्यवहारोंके साथ वे स्वप्नपुरुष हममें विद्यमान हैं, क्योंकि ऐसे पुरुष और उनके व्यवहार—ये दोनों शान्त परब्रह्मैकरूप ही हैं और वह ब्रह्म प्रत्यगात्म-स्वभाव मुझमें है ॥२७॥

दूसरा विशेष बतलाते हैं—'अहम्' इत्यादिसे ।

तैस्तु यो व्यवहारो मे तद्ब्रह्म ब्रह्मणि स्थितम् ।
ते यत्पश्यन्ति पश्यन्तु तत्तैरलमलं मम ॥ २९ ॥
अहमात्मनि नैवास्मि ब्रह्मसत्तेयमातता ।
त्वदर्थं समुदेतीव तथारूपैव वागियम् ॥ ३० ॥
अविरुद्धविरुद्धस्य शुद्धसंविन्मयात्मनः ।
न भोगेच्छा न मोक्षेच्छा हृदि स्फुरति तद्विदः ॥ ३१ ॥
स्वभावमात्रायत्तेऽस्मिन् बन्धमोक्षक्रमे नृणाम् ।
कदर्थनेत्यहो मोहाद्गोष्पदेऽप्युदधिभ्रमः ॥ ३२ ॥
स्वभावसाधने मोक्षेऽभावोपशमरूपिणि ।
न धनान्युपकुर्वन्ति न मित्राणि न च क्रियाः ॥ ३३ ॥

---

जैसे स्वप्नवालोंको स्वप्न सन्मय प्रतीत होता है, वैसे ही अज्ञानियोंकी दृष्टिसे मेरी देह भी सन्मय प्रतीत होती है। परन्तु ज्ञानियोंकी दृष्टिसे वे उस प्रकार असद्रूप हैं, जिस प्रकार सुषुप्तिस्थ पुरुषकी दृष्टिमें स्वप्न ॥ २८ ॥

अनुग्रह, उपदेश आदि जो मेरा व्यवहार उनके साथ होता है, वह मेरी दृष्टिमें स्वस्वरूपमें स्थित परब्रह्मस्वरूप ही है। वे जो कुछ देखते हैं, उसे भले ही देखें, उनसे हमें किसी तरहके प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती ॥ २९ ॥

भद्र, मैं वसिष्ठादिभावमें नहीं हूँ, किन्तु स्वस्वरूपसे परब्रह्म परमात्मामें ही हूँ। आपके लिए यह वसिष्ठ आदिके आकारसे व्यापक ब्रह्मसत्ता मानो उदित हुई है। यह मेरी वाणी आदि भी आपके लिए ब्रह्मसत्ताविवर्तरूप ही है, परन्तु मेरी दृष्टिसे तो बिलकुल कुछ है ही नहीं ॥ ३० ॥

सभी वस्तुओंमें आनन्दैकरसात्मताके दर्शनसे विरुद्ध दुःखादि पदार्थ भी जिसको अविरुद्ध प्रतीत होते हैं ऐसे शुद्ध ब्रह्मस्वरूप तत्त्वज्ञानीके हृदयमें न तो भोगोंकी इच्छा उठती है और न मोक्ष ही स्फुरित होता है ॥ ३१ ॥

मनुष्योंका बन्धनसे जो यह मुक्तिक्रम है वह तो केवल अपने अधीन है, फिर भी मोहसे ( अविरुद्ध निरतिशयानन्दात्माके अपरिज्ञानसे ही ) यह संसारपीड़ा उत्पन्न हुई है। आश्चर्य है कि गौके खुरमें ही समुद्रका भ्रम हो रहा है ॥ ३२ ॥

असत् दुःखोंके उपशमरूप तथा सुखरूप आत्मसाधनभूत मोक्षमें न तो धन

तैलबिन्दुर्भवत्युच्चैश्चक्रमप्पतितो यथा ।
तथाऽऽशु चेत्यसङ्कल्पे स्थिता भवति चिज्जगत् ॥ ३४ ॥
जाग्रति स्वप्नवृत्तान्तस्थितिर्यादृग्रसा स्मृतौ ।
तादृग्रसाहंत्वजगज्जालसंस्था विवेकिनः ॥ ३५ ॥
तेनैवाभ्यासयोगेन याति तत्तनुतां तथा ।
यथा नाहं न संसारः शान्तमेवाऽवशिष्यते ॥ ३६ ॥
यदा यदा स्वभावार्कः स्थितिमेति तदा तदा ।
भोगान्धकारो गलति न सन्नप्यनुभूयते ॥ ३७ ॥
मोहमहत्तारहितः
स्फुरति मृतौ भवति भासते च तथा ।

---

उपकार कर सकते हैं और न मित्र एवं न क्रियाएँ ही कुछ उपकार कर सकती हैं ॥ ३३ ॥

जैसे तेलका बिन्दु जलमें गिरकर नाना वर्णोंके चक्ररूपमें परिणत हो जाता है वैसे ही विषयोंके संकल्पमें स्थित चिति तत्काल ही जगद्रूपमें परिणत हो जाती है ॥ ३४ ॥

ज्ञानसे बाधित हुआ संसार तो स्वप्नकी तरह स्मृतिकी एकमात्र लकीर बन जाता है, यह कहते हैं—'जाग्रति' इत्यादिसे ।

जाग्रत्कालमें स्वप्नमें भासित वृत्तान्तकी स्थिति जिस तरहकी स्मृतिमें रहती है, उसी तरहकी स्थिति विवेकीको भी अज्ञानकालमें भासित अहङ्कारके साथ समस्त जगत्की ज्ञानदशामें होती है ॥ ३५ ॥

उक्त भूमिकाके अभ्यासरूप योगसे वह जगत्-जाल ऐसे क्षीणताको प्राप्त करता है, जैसे कि फिर न अहंकार और न संसार ही उत्पन्न हो सकता है, केवल शान्त ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है ॥ ३६ ॥

तत्त्वदृष्टिसे परीक्षा करनेपर इस समय भी उसका विनाश और बाध जाना जा सकता है, इस आशयसे कहते हैं—'यदा यदा' इत्यादिसे ।

जब-जब आत्मारूप सूर्य अपने पूर्ण प्रकाशरूपमें स्थिति करता है, तब-तब यह संसाररूप अन्धकार बाधित हो जाता है, उसका अस्तित्व रहनेपर भी परिज्ञान नहीं होता ॥ ३७ ॥

भोगान्धकारकी ( संसारान्धकारकी ) निवृत्ति हो जानेपर बुद्धि आदि करणोंका

बुद्ध्यादिकरणनिकरो
यस्माद्दीपादिवालोकः ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे वसिष्ठगीतासुखभावविश्रान्तियोगोपदेशोनाम एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥३९॥

—०—

## चत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

रूपालोकमनस्कारबुद्ध्यादीन्द्रियवेदनम् ।
स्वरूपं विदुरम्लानमस्वभावस्य वस्तुनः ॥ १ ॥
अस्वभावतनुत्वेन स्वभावस्थितिराततां ।
यदोदेति तदा सर्गो भ्रमाभः प्रतिभासते ॥ २ ॥

---

दल अज्ञानरूप आवरणसे एवं स्थूल अध्याससे ( भ्रान्तिसे ) रहित बन जाता है तथा ब्रह्माकारवृत्तिसे चमके हुए बोधसे चमकिला बन जाता है। यही कारण है कि उस समय स्फुरणसे, दीपके प्रकाशके सदृश, चारों ओर व्याप्त होकर ब्रह्मभूत होकर भासने लग जाता है ॥ ३८ ॥

उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त

---

## चालीसवाँ सर्ग

[ न तो संसारदशामें ब्रह्मका भान होता है और न ब्रह्मदशामें संसारका ही भान होता है, परन्तु जीवन्मुक्तिमें क्रमशः दोनोंका भान होता है, यह वर्णन ]

विद्वानोंका यह अनुभव है कि स्वतः स्वरूपसे शून्य बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुओंका वास्तविक स्वरूप उसका साक्षिचैतन्य ही है, यह कहते हैं— 'रूपालोक०' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, बाह्य और आभ्यन्तर विषय तथा बुद्धि आदि इन्द्रियोंके प्रकाशक निर्मल साक्षी चैतन्यको ही विद्वान् लोग स्वरूपशून्य जगद्-वस्तुका स्वरूप समझते हैं ॥ १ ॥

उसमें अन्वय-व्यतिरेकरूप युक्ति बतलाते हैं—'अस्वभाव०' इत्यादि दो श्लोकोंसे।

यदा स्वभावविश्रान्तिः स्थितिमेति शमात्मिका ।
जगद्दृश्यं तदा स्वप्नः सुषुप्त इव शाम्यति ॥ ३ ॥
भोगा भवमहारोगा बन्धवो दृढबन्धनम् ।
अनर्थायार्थसम्पत्तिरात्मनाऽऽत्मनि शाम्यताम् ॥ ४ ॥
अस्वभावात्मता सर्गः स्वभावैकात्मता शिवः ।
भूयतां परमव्योम्ना शाम्यतां मेह ताम्यताम् ॥ ५ ॥
नात्मानमवगच्छामि न दृश्यं च जगद्भ्रमम् ।
ब्रह्म शान्तं प्रविष्टोऽस्मि ब्रह्मैवाऽस्मि निरामयः ॥ ६ ॥

---

जब अपरिच्छिन्न वस्तु ( ब्रह्म ) स्वभावकी स्थिति अविद्याकृत परिच्छेदसे तथा उसके शरीररूपसे उदित हो जाती है, तब* यह सृष्टि भ्रमके सदृश प्रतिभासित होने लग जाती है ॥ २ ॥

व्यतिरेक दिखलाते हैं—'**यदा**' इत्यादिसे ।

जब आत्मस्वरूपके ज्ञानसे शान्तिरूप आत्म-विश्रान्ति अपनी स्थिति प्राप्त करती है अर्थात् ब्रह्मस्वरूपमें जब शान्तिरूप विश्रान्ति प्राप्त हो जाती है, तब यह जगद्-रूप दृश्य ऐसे शान्त हो जाता है, जैसे सुषुप्तिमें स्वप्न ॥ ३ ॥

यही कारण है कि ब्रह्मस्वरूपमें विश्रान्तिके विरोधी भोग आदि सबके सब अनर्थरूप ही हैं, यह, कहते हैं—'**भोगा**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ये जितने भोग हैं वे सबके सब संसाररूप महारोग हैं, बन्धु लोग दृढ़ बन्धन हैं तथा यह सारी अर्थसम्पत्ति तो महान् अनर्थकी कारण है । इसलिए अपने-हीसे अपनी आत्मामें शान्ति लीजिये ॥ ४ ॥

ब्रह्मस्वरूपसे विरुद्ध भावना करना सृष्टि है तथा स्वभावात्मक ब्रह्मरूपकी प्राप्ति कल्याण है । इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप परम चिदाकाशरूप हो जाइये, शान्ति प्राप्त कीजिये ॥५॥

अब महाराज वसिष्ठजी अपने अनुभवका अभिनयकर पुरुषकी स्वायत्तता दिखलाते हैं—'**नात्मानम०**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, मैं अपनेको यानी द्रष्टा आदि त्रिपुटीके भीतर सर्वप्रथम वसिष्ठसंज्ञक जीवको नहीं जानता और न दृश्य तथा इस जगत्के भ्रमको ही

---

* यह अन्वयोक्ति है ।

त्वमेव पश्यसि त्वन्त्वं स त्वंशब्दार्थजृम्भितम् ।
पश्यामि शान्तमेवाऽहं केवलं परमं नमः ॥ ७ ॥
ब्रह्मण्येव पराकाशे रूपालोकमनोमयाः ।
विभ्रमास्तव संजातकल्पाः स्पन्दा इवानिले ॥ ८ ॥
ब्रह्मात्मा वेत्ति नो सर्गं सर्गात्मा ब्रह्म वेत्ति नो ।
सुषुप्तो वेत्ति नो स्वप्नं स्वप्नस्थो न सुषुप्तकम् ॥ ९ ॥
प्रबुद्धो ब्रह्मजगतोर्जाग्रत्स्वप्नदृशोरिव ।
रूपं जानाति भारूपं जीवन्मुक्तः प्रशान्तधीः ॥ १० ॥

---

जानता हूँ। मैं शान्त ब्रह्ममें प्रविष्ट हो चुका हूँ। हे श्रीरामजी, मैं निर्विकार ब्रह्म ही हूँ ॥ ६ ॥

हे श्रीरामजी, 'तुम वसिष्ठ हो' इस 'त्वम्' शब्दके अर्थसे घटित त्वन्ताको भी 'त्वम्' शब्दार्थघटित आप ही देख रहे हैं, और मैं तो सबको केवल शान्त, परम चिदाकाशरूप ही देख रहा हूँ ॥ ७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वायुमें स्पन्दनकी नाईं, परम चिदाकाशरूप ही ब्रह्ममें ये शब्दर्थादिरूप बाह्य एवं आभ्यन्तर सब पदार्थ आपमें भी विभ्रमस्वरूप ही उत्पन्न हैं, परमार्थतः वे उत्पन्न नहीं हुए हैं, किन्तु उत्पन्न हुए-से प्रतीत हो रहे हैं ॥ ८ ॥

द्वैतके साथ विद्वेष होनेके कारण मुझे द्वैतका अदर्शन है, ऐसी कोई बात नहीं है, किन्तु द्वैतदर्शन और द्वैतादर्शन दो एक साथ नहीं हो सकते, यह कहते हैं—'ब्रह्मात्मा' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्मस्वरूपमें स्थित पुरुष सृष्टिको नहीं जानता और सृष्टिमें स्थित पुरुष ब्रह्मस्वरूपको नहीं जानता। जैसे कि सुषुप्त पुरुष स्वप्नको नहीं जानता तथा स्वप्नमें स्थित पुरुष सुषुप्तिको नहीं जानता ॥ ९ ॥

जिसका कभी दर्शन नहीं होता, ऐसे पदार्थके विषयमें उपदेशकी प्रसिद्धि कैसे? इस शङ्कापर कहते हैं—'प्रबुद्धो' इत्यादिसे।

तत्त्वज्ञानी प्रशान्तचित्त जीवन्मुक्त पुरुष ब्रह्म और जगत्के प्रकाशस्वरूप रूपको क्रमशः ऐसे जानता है, जैसे जाग्रत् और स्वप्नके द्रष्टा पुरुष क्रमशः उनका रूप जानते हैं, इसीलिए वह उपदेष्टा होता है ॥ १० ॥

यथाभूतमिदं सर्वं परिजानाति बोधवान् ।
संशाम्यति च शुद्धात्मा शरदीव पयोधरः ॥ ११ ॥
स्मृतिस्थः कल्पनस्थो वा यथाख्यातश्च सङ्गरः ।
सदसद्भ्रान्ततामात्रस्तथाहन्त्वजगद्भ्रमः ॥ १२ ॥
आत्मन्यपि नास्ति हि या
द्रष्टा यस्या न विद्यते कश्चित् ।
न च शून्यं नाशून्यं
भ्रान्तिरियं भासते सेति ॥ १३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे वसिष्ठगीतासु आत्मविश्रान्तिकथनं नाम चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

---

वह भी उत्तरोत्तर भूमिकाओंमें क्रमशः द्वैतादर्शनसे आगे चलकर बिलकुल प्रशान्त हो जाता है, यह कहते हैं—'यथाभूतम्' इत्यादिसे ।

जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष सम्पूर्णजगत्को यथास्थित ही जानता है। तथा शरत्कालके मेघके तुल्य शुद्धात्मा हो बिलकुल शान्त हो जाता है ॥ ११ ॥

जीवन्मुक्त ज्ञानीकी दृष्टिसे द्वैत उत्तरोत्तर निर्बल होता जाता है, यह दो दृष्टान्तोंसे कहते हैं—'स्मृतिस्थः' इत्यादिसे ।

जैसे किसीके कहनेपर स्मृति या कल्पनामें स्थित युद्ध भासता है वैसे ही विवेकी पुरुषको सत् और असत्की एकमात्र भ्रान्तिरूप अहन्ता आदि जगद्-भ्रम भासता है ॥ १२ ॥

जो भलीभाँति दिखाई दे रही जगत्की माया परमार्थसत्यरूप आत्मामें तथा अत्यन्त असद्रूप शून्यमें नहीं है एवं जिसका द्रष्टा कोई जीव भी नहीं है, ऐसी शून्य और अशून्यसे विलक्षण यह भ्रान्ति अनिर्वचनीय ही भासती है ॥ १३ ॥

चालीसवाँ सर्ग समाप्त

## एकचत्वारिंशः सर्गः

### वसिष्ठ उवाच

अस्वभावस्वभावोऽयं सर्वोहन्तादिवेदनः ।
स्वभावैकस्वभावेन निर्वाणीक्रियतां स्वयम् ॥ १ ॥
यत्रादित्यो भवेत्तत्र यथाऽऽलोकस्तथा भवेत् ।
परं विषयवैरस्यं तत्र यत्र प्रबुद्धधीः ॥ २ ॥
अकर्तृकर्मकरणमदृश्यद्रष्टृदर्शनम् ।
जगदग्राह्यसंभारमभित्तौ चित्तमुत्थितम् ॥ ३ ॥

---

## इकतालीसवां सर्ग

[ अविद्याके स्वभावसे त्रिलोकीरूपी कठपुतलीके नृत्य तथा एकमात्र आत्मस्वभावसे निर्वाणकी प्राप्तिका वर्णन ]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, अविद्या-स्वभावसे युक्त हुआ यह आत्मा ही सम्पूर्ण जगत्‌का रूप धरकर अहंकार आदिको जाननेवाला बन जाता है। इस तरह अनिर्वाण-स्वरूप हुए इस आत्माको आप स्वयं ही शास्त्रीय उपायों द्वारा उत्पन्न हुई विद्यासे आविर्भूत अद्वितीय, स्वप्रकाश पूर्णानन्दस्वरूप आत्माके स्वभावसे निर्वाण-स्वरूप बना दीजिये ॥ १ ॥

वह विद्या तो विद्वानोंके साथ निरन्तर समागम रखनेसे उत्पन्न विवेकज्ञान जनित वैराग्यसे ही सिद्ध होती है, इस आशयसे कहते हैं—'यत्र' इत्यादि।

जैसे जहां सूर्य होंगे वहाँ प्रकाश अवश्य होगा, यह जैसे अकाट्य सिद्धान्त है, वैसे ही जहां विषयोंसे पूर्णतया वैराग्य होगा, वहां अवश्य तत्त्वज्ञान-रूप प्रकाश होगा ॥ २ ॥

वैराग्यसिद्धिके लिए 'अविद्यास्वभावसे ही शुद्ध ब्रह्ममें जगत्-रूपी चित्रका अध्यास होता है', यह वर्णन करते हैं—'अकर्तृ०' इत्यादिसे।

कर्ता, कर्म तथा करण आदि सामग्रीसे शून्य; द्रष्टा, दर्शन एवं दृश्य आदिसे रहित और उपादेय पदार्थोंसे शून्य यह जगत्-रूपी चित्र बिना भित्ति आदि आधारके ही आविर्भूत है ॥ ३ ॥

न चोत्थितं किञ्च न वा शान्ते शान्तं यथास्थितम् ।
अनामयं परं ब्रह्म सत्यमव्ययमेव तत् ॥ ४ ॥
चिच्चमत्कारमात्रात्मकल्पनारङ्गरञ्जनाः ।
संख्यातुं केन शक्यन्ते खे जगच्चित्रपुत्रिकाः ॥ ५ ॥
रसभावविकाराढ्यं नृत्यन्त्यभिनयैर्नवैः ।
परमाणुप्रतिप्रायः खे स्फुरन्त्यम्बरात्मिकाः ॥ ६ ॥
सर्वर्तुशेखरधरा दिग्बाहुलतिकाकुलाः ।
पातालपादलतिका ब्रह्मलोकशिरोधराः ॥ ७ ॥
चन्द्रार्कलोलनयनास्तारोत्करतनूरुहाः ।
सप्तलोकाङ्गलतिकाः परितोऽच्छाम्बराम्बराः ॥ ८ ॥

---

विद्या-स्वभावसे उस जगत्-रूपी चित्रका खण्डन करके अब निर्वाणका स्वरूप दिखलाते हैं—'न चो०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस रूपसे स्थित यह दृश्य चित्र है, वह ब्रह्ममें न तो कभी कुछ उत्पन्न ही हुआ और न शान्त ब्रह्ममें शान्त ही हुआ । असलमें वह निर्विकार सत्य, अविनाशी परब्रह्मरूप ही है ॥ ४ ॥

त्रिजगत्-रूपी नाच रही पुतलियोंके रूपमें मुख्य अविद्या-स्वभावका वर्णन करते हैं—'चिच्चमत्कार०' इत्यादिसे ।

चितिके एकमात्र चमत्कारस्वरूप जीवोंके सङ्कल्पात्मक नृत्यमण्डपमें शृङ्गार आदि नाना रसोंसे परिपूर्ण जगत्-चित्रकी पुतलियां चिदाकाशमें नाच रही हैं । हे श्रीरामजी, इनकी गणना कौन कर सकता है ॥ ५ ॥

शृङ्गार आदि रसों, रति आदि स्थायिभावों तथा कम्प, स्वेद आदि सञ्चारिभावोंसे परिपूर्ण नये-नये अभिनयोंसे परमाणुकी मात्राओंके भी अन्दर विद्यमान चिदाकाशमें चिदाकाशरूप पुतलियां प्रायः नृत्य कर रही हैं ॥ ६ ॥

सभी ऋतुएँ इनके सिरके आभूषण हैं, जिन्हें ये धारण किये हुई हैं, दिशारूपी बाहुलतिकाओंसे वे सुशोभित हैं, पाताल इनकी पादलतिका हैं, ब्रह्मलोक इनकी कन्धराएँ हैं, चन्द्र और सूर्य इनकी चञ्चल आँखें हैं, तारोंके समूह इनके रोमसमूह हैं, सातो लोक इनकी अङ्गलतिका है, सभी ओरसे अत्यन्त निर्मल आकाश ही तो इनकी सफेद साड़ी है, सभी द्वीप तथा समुद्र ही इनके हाथके

द्वीपाम्बुराशिवलया लोकालोकाद्रिमेखलाः ।
भूतभारचलज्जीवप्रवहत्प्राणमारुताः ॥ ९ ॥
वनोपवनविन्यासहारकेयूरभूषिताः ।
पुराणवेदवचनाः क्रियाफलविनोदनाः ॥ १० ॥
त्रिजगत्पुत्रिकानृत्यं यदिदं दृश्यते पुरः ।
ब्रह्मवारिद्रवत्वं तत्तद्ब्रह्मानिलवेपनम् ॥ ११ ॥
अस्वभावस्थितैवास्य कारणं कारणात्मकम् ।
असुषुप्तस्थिता स्वापे स्वाप्नस्येव सतीव सा ॥ १२ ॥
असुप्तसुषुप्तस्थः स्वभावं भावयन् भव ।
जाग्रत्यपि गतव्यग्रो मा स्वप्नमिदमाश्रय ॥ १३ ॥

---

सुन्दर कंकण हैं, लोकालोक पर्वत इनकी करधनी है, भौतिक शरीरोंके धारण-पोषण आदि निमित्तसे चल-फिर रहे जीव ही इनके बह रहे प्राणमारुत हैं, वन तथा उपवनोंकी विचित्र रचनारूपी हारों और केयूरोंसे ये खूब भूषित हैं, पुराण और वेद ही तो इनके वचन हैं तथा तत्-तत क्रियाओंके फलरूप सुख और नानाविध दुःख ही इनके विलास हैं। हे श्रीरामजी, इस तरहकी त्रिलोकी-रूपी पुतलियोंका जो नृत्य आपके सामने दिखाई दे रहा है वह ब्रह्मरूपी जलका द्रवत्व या ब्रह्मरूपी वायुका संचलन ही है ॥ ७–११ ॥

सुषुप्तिके अवसरमें सुषुप्ति-स्वभावमें स्थित न हुई चिति स्वप्नकी जैसे कारण बन जाती है वैसे ही अस्वभावमें ( अविद्यामें ) स्थित हुई यह चिति ही इस नृत्यकी कारण बन गयी है। हे श्रीरामचन्द्रजी, इसी तरहका कारणात्मक ब्रह्म श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है ॥ १२ ॥

इस तरह अविद्याके स्वभावका वर्णन करके अब ब्रह्मात्मैक्यस्वभावसे निर्वाण-रूप बनानेमें उपाय बतलाते हैं—'असुषुप्त०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, सांसारिक व्याकुलता छोड़कर आप पारमार्थिक स्वभावकी भावना करते हुए, जाग्रत्कालमें भी असुषुप्त-सुषुप्त पदमें यानी अज्ञानके नाशसे असुषुप्तरूप तथा सम्पूर्ण द्वैतका उपसंहारसे सुषुप्तरूप जो तुर्यपद है उसमें स्थित हो जाइये, इस जगद्रूपी स्वप्नका आश्रय मत कीजिये ॥ १३ ॥

यज्जाग्रति सुषुप्तत्वं बोधादरसवासनम् ।
तं स्वभावं विदुस्तज्ज्ञा मुक्तिस्तत्परिणामिता ॥ १४ ॥
अकर्तृकर्मकरणमदृश्यद्रष्टृदर्शनम् ।
अरूपालोकमननं स्थितं ब्रह्म जगत्तया ॥ १५ ॥
कान्ते कान्तं प्रकचति पूर्णे पूर्णं व्यवस्थितम् ।
द्वित्वैक्यरहिते भाति द्वित्वैक्यपरिवर्जितम् ॥ १६ ॥
सत्यं सत्ये स्थितं शान्तं सर्गात्मन्यात्मनि स्वयम् ।
आकाशकोशसदृशं शिलाजठरसंनिभम् ॥ १७ ॥
सुरत्नजठराकारं घनमप्यम्बरोपमम् ।
प्रतिबिम्बमिव क्षुब्धमप्यक्षुब्धमसच्च सत् ॥ १८ ॥

---

तत्त्वज्ञानसे जाग्रत् कालमें जो राग तथा वासनासे शून्य सुषुप्ति-अवस्था प्राप्त होती है, हे श्रीरामचन्द्रजी, उसीको तत्त्वज्ञानी लोग ब्रह्मस्वभाव कहते हैं तथा उसी स्वरूपमें भलीभांति परिनिष्ठित हो जानेको मुक्ति कहते हैं ॥ १४ ॥

ब्रह्मस्वरूपमें निष्ठा होनेपर व्यवहारकालमें भी ज्ञानी पुरुषको यह सारा जगत् चिदेकरसरूप ही भासता है, यह कहते हैं—'अकर्तृकर्म०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्मरूपमें भलीभांति निष्ठा प्राप्त हो जानेपर ज्ञानी पुरुषको व्यवहारकालमें जगत्-रूपसे स्थित कर्ता, कर्म और करणसे शून्य; दृश्य, दर्शन, और द्रष्टासे रहित तथा बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंसे रहित ब्रह्मरूप ही है ॥ १५ ॥

उस अवस्थामें ज्ञानीको प्रकाशमान वस्तुमें स्थित प्रकाशमान ही वस्तु, पूर्णमें स्थित पूर्ण ही वस्तु तथा द्वित्व और एकत्वसे रहित ( शोधित ) प्रत्यगात्मामें द्वित्व-एकत्व रहित ( शोधित ) ब्रह्मरूप वस्तु ही अखण्ड एकरसरूपसे ही भासित होती है ॥ १६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वस्तुतः सृष्टिरूपमें स्थित होनेपर भी आकाशकोशके सदृश शान्त एवं सत्य आत्मा ही अपने सत्यस्वरूपमें पत्थरके उदरके सदृश स्वयं स्थित है ॥ १७ ॥

पत्थरके उदरके सदृश, ऐसा कहनेसे उसमें अप्रकाशस्वभावताकी जो भ्रान्ति हो रही है, उसका खण्डन करते हैं—'सुरत्न०' इत्यादिसे ।

भविष्यन्नवनिर्माणं चेतसीव स्थितं पुरम् ।
ब्रह्म बृंहितभारूपमभेदीकृतमानसम् ॥ १९ ॥
यथा सङ्कल्पनगरं सङ्कल्पान्नैव भिद्यते ।
तथाऽयं जगदाभासः परमार्थान्न भिद्यते ॥ २० ॥
हेमपीठमिवाऽनेकभविष्यत्सन्निवेशवत् ।
लक्ष्यमाणमपि स्फारं शान्तमव्ययमास्थितम् ॥ २१ ॥
अजस्रनाशोत्पादाढ्यमेकरूपमनामयम् ।
अनाशोत्पादमजरमनेकमिव कान्तिमत् ॥ २२ ॥
ब्रह्मैव शान्तिघनभावगतं विभाति
सर्गोदयेन विगतास्तमयोदयेन ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वह सुन्दर रत्नशिलाके उदराकृतिके सदृश प्रकाशमय है, घन होनेपर भी आकाशकी तरह है, जगत्-प्रतिबिम्बको पाकर क्षुब्ध-सा स्थित होनेपर भी वस्तुतः वह अक्षुब्ध है तथा जगद्-रूपसे असत् प्रतीत होनेपर भी वह सत्स्वरूप ही स्थित रहता है ॥ १८ ॥

भविष्यमें जिस नगरका नवीन निर्माण करना होता है, उसका पहले चित्तमें ही कल्पनारूपसे अस्तित्व रहता है, इस तरहका नगर जैसे चित्तस्वरूप है, वैसे ही सामने स्थित यह जगत् पूर्ण प्रकाशात्मक अपने स्वरूपमें ब्रह्मरूप ही है, जिसमें कि मनको एकरस बना दिया गया है ॥ १९ ॥

जैसे सङ्कल्पका नगर सङ्कल्पसे भिन्न नहीं है, वैसे ही यह जगत्का आभास भी परमार्थरूप परब्रह्मसे भिन्न नहीं है ॥ २० ॥

भविष्यमें होनेवाली अनेक तरहकी जिसमें नूतन-नूतन रचनाएँ विद्यमान हैं ऐसे चौकोण सुवर्णपिण्डके समान अनेक तरहके विस्तारोंसे परिपूर्ण दिखाई दे रहा भी यह जगत् शान्त अविनाशी ब्रह्मरूप ही है ॥ २१ ॥

यह निरन्तर नाश और उत्पत्तिसे पूर्ण रहते हुए भी नाश और उत्पत्तिसे वर्जित है, अनेक-सा भासित हो रहा भी एकरूप है यानी अजर, भास्वर तथा परब्रह्म परमात्मरूपसे स्थित है ॥ २२ ॥

हे श्रीरामजी, जब तत्त्वज्ञान हो जाता है, तब यह उदित सृष्टिरूप वस्तु

व्योमेव शून्यविभवेन गलत्स्वभाव-
लाभं प्रति प्रसभमेव ननु प्रबुद्धे ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे स्वरूपविश्रान्त्यर्थमुपदेशकरणं नाम एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

—o—

## द्विचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

चित्तवत्कचनं शान्ते यत्तत्तस्मान्न भिद्यते ।
अव्याकृतामलतया क्वातः सर्गादिसम्भवः ॥ १ ॥

---

उत्पत्ति-विनाशसे रहित हो जाती है यानी तत्त्वज्ञको उस समय यह भान होता है कि सृष्टि न तो कभी उत्पन्न हुई और न नष्ट ही हुई । उस दशामें उसे पूर्ण स्वराज्यकी प्राप्ति हो जाती है और अकेला आनन्दघन ब्रह्म ही अपने अद्वैतस्वभावके प्रभावसे भासने लग जाता है । जैसे आकाशमें भ्रमवश प्रतीत हो रहे केशोण्डूक, गन्धर्वनगर, तलमलिनता आदिके स्वभावका जब बाध हो जाता है, तब पुरुषको हठात् वह शून्यस्वभावसे भासने लग जाता है, ऐसे ही यहांपर भी समझना चाहिए ॥ २३ ॥

इकतालीसवां सर्ग समाप्त

## बयालीसवां सर्ग

[ पुनः विश्व और विश्वेश्वरकी एकताका विस्तारपूर्वक वर्णन तथा स्वात्मभूत परमेश्वर ही विवेक द्वारा पूजनीय हैं, यह कथन ]

'जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है, इस पूर्वोक्तका अनुभव करानेके लिए जगत्की भिन्नता-प्रतीतिमें हेतुभूत चित्त तथा चितिके भेदका निरास करते हैं— 'चित्तवत्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, शान्त कूटस्थ आत्मामें जो चित्त-सा प्रकाश होता है वह उस प्रकाशरूप चिदात्मासे भिन्न नहीं है, अतः

चित्तदीपे गते यान्ति भ्रान्तिवद्भ्रान्तिखे स्थिते ।
रूपालोकमनस्कारसंविदोऽम्बुद्रवोर्मयः ॥ २ ॥
निरस्तकरणापेक्षं मरुतः स्पन्दनं यथा ।
यथा विसरणं भासस्तथा जगदिदं परे ॥ ३ ॥
द्रवत्वमिव कीलाले शून्यत्वमिव चाम्बरे ।
स्पन्दत्वं मरुतीवेदं किमप्यात्ममयं परे ॥ ४ ॥

जगत् आदि किसीका कहीं संभव नहीं है । यदि कहिये क्यों ? तो इसका उत्तर यही है कि वह अव्याकृत और निर्मल है । सार यह है—नाम और रूपोंके भेदसे ही तो इस संसारमें भेदकी प्रसिद्धि है । परन्तु यह भेद नाम और रूपोंके निर्माणके पहले ही उत्पन्न हुए जीवभावके उपाधिभूत चित्तमें हो नहीं सकता, क्योंकि वह उस समय बना ही नहीं है । सूक्ष्म तेज, जल, तथा पृथ्वीरूप लिङ्ग-सृष्टिके अनन्तर 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इस श्रुतिमें उसका निर्माण सुना जाता है । अपिच, चित्तके निर्मल होनेके कारण भी उसका चितिसे भेद नहीं है । चिदात्मा और चित्त दोनों निर्मल हैं । प्रभा और आकाशमें जैसे कोई प्राणी भेद नहीं दिखा सकता, वैसे ही निर्मल इन दोनोंमें कोई भी प्राणी भेद नहीं दिखा सकता, ऐसी स्थितिमें चिति एवं चित्तका भेद ही कहां ॥ १ ॥

इसीको स्पष्टरूपसे कहते हैं—'चित्तदीपे' इत्यादिसे ।

कूटस्थ प्रत्यगात्मारूप आकाशमें जो बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंका प्रकाशन होता है, वह एक तरहसे मानो जलरूप द्रवकी लहरें हैं, वे मृगतृष्णाजलकी नाईं मिथ्या ही भासित होती हैं । चित्तरूपी सूर्यके अस्त हो जानेपर वे भी विलीन हो जाती हैं ॥ २ ॥

जगतको अपनी सत्तामें चितिसे अतिरिक्त दूसरे किसी कारणकी अपेक्षा ही नहीं है, इससे भी यह जगत् चितिरूप ही है, इसका दृष्टान्तोंसे उपपादन करते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

किसी कारणकी अपेक्षा किये बिना जैसे वायुमें स्पन्दन होता है या जैसे सूर्यमें प्रभाका प्रसार होता है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मामें यह जगत है ॥ ३ ॥

हे श्रीरामजी, जैसे जलमें द्रवत्व, आकाशमें शून्यता और वायुमें स्पन्दता

महाचिति महाकाशे यदिदं भासते जगत् ।
तच्चित्त्वमेव कचति निर्मलत्वं मणाविव ॥ ५ ॥
यथा द्रवत्वं पयसि यथा शून्यत्वमम्बरे ।
यथा प्रस्पन्दनं वायौ महाचिति तथा जगत् ॥ ६ ॥
वेत्ति वायुर्यथा स्पन्दं तथा वेत्ति जगच्चितिः ।
न द्वैतैक्यादिभेदानां मनागप्यत्र सम्भवः ॥ ७ ॥
अविवेकविवेकाभ्यां भासुरं भङ्गुरं जगत् ।
बोधे सदैव सद्रूपमभासुरमभङ्गुरम् ॥ ८ ॥

है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मामें यह कोई अनिर्वचनीय आत्माका विवर्तरूप जगत् है ॥ ४ ॥

जाग्रत् और स्वप्न अवस्थामें जैसे चित्त आदिका आत्मामें हुआ प्रकाश आत्मासे अभिन्न है, वैसे ब्रह्ममें मायाधीन आकाशादिका हुआ प्रकाश भी ब्रह्मसे अभिन्न है, इस आशयसे उन्हीं उपर्युक्त दृष्टान्तोंके द्वारा फिर अभेदका उपपादन करते हैं—'महाचिति' इत्यादिसे ।

महाचिद्रूप महाकाशमें जो यह जगत् भासता है वह चिद्रूप ही, मणिमें निर्मलताकी नाईं, स्फुरित होता है ॥ ५ ॥

जैसे जलमें द्रवता, आकाशमें शून्यता, वायुमें स्पन्दता है, वैसे ही महाचितिमें यह जगत् है ॥ ६ ॥

स्फुरणमें भी चितिसे अतिरिक्त किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं है, इसलिए भी उसका चितिसे अभेद है, इस आशयसे कहते हैं—'वेत्ति' इत्यादिसे ।

जैसे वायु स्पन्दनको स्वस्वरूप जानती है वैसे ही चिति भी जगत्को अपना स्वरूप ही समझती है । इसलिए द्वैत और ऐक्य आदि भेदोंका यहां तनिक भी अवसर नहीं है ॥ ७ ॥

हे श्रीरामजी, यह सारा संसार अविवेकसे चमकीला तथा विवेकसे नश्वर है । परमार्थ वस्तुका बोध हो जानेपर तो न यह चमकीला दीखता है और न विनश्वर ही प्रतीत होता है । उस समय तो यह एकमात्र सद्रूप परब्रह्म ही बनकर अवशिष्ट रह जाता है ॥ ८ ॥

ज्ञप्तिमात्रादृते शुद्धादादिमध्यान्तवर्जितात् ।
नान्यदस्तीह निर्णीतं महाचिन्मात्ररूपिणः ॥ ९ ॥

तत्कस्य चिच्छिवं शान्तं कस्यचिद्ब्रह्म शाश्वतम् ।
कस्यचिच्छून्यतामात्रं कस्यचिज्ज्ञप्तिमात्रकम् ॥ १० ॥

तदनन्तात्म चिद्रूपं चेत्यतामिव भावयत् ।
स्वसंस्थमेव ज्ञेयत्वमज्ञत्वमिव गच्छति ॥ ११ ॥

चित्तया नास्ति सत्ता च चित्तता नास्ति तां विना ।
विना विना यथा वायोर्यथा स्पन्देषु कारणम् ॥ १२ ॥

---

तत्त्वज्ञानसे जो निर्णीत हुआ, उसका वर्णन करते हैं—'ज्ञप्तिमात्रा०' इत्यादिसे ।

ज्ञानमात्र, शुद्ध, आदि-मध्य और अन्तसे रहित महाचिन्मात्ररूपी परब्रह्मके सिवा और कुछ दूसरा रहता ही नहीं, यह तत्त्वज्ञानसे निर्णीत हुआ है ॥ ९ ॥

उस स्वरूपके विषयमें वेदोंका अनुसरण करनेवाले और न करनेवाले विचारशील वादियोंकी यथार्थ और अयथार्थरूपोंसे अनेक कल्पनाएँ हैं, यह कहते हैं—'तत्कस्यचिच्छिवम्' इत्यादिसे ।

वह किसीके मतमें शान्त शिव, किसीके मतमें शाश्वत ब्रह्म, किसीके मतमें शून्यतारूप और किसीके मतमें वह ज्ञानरूप है ॥ १० ॥

उसीमें अनादि अविद्या आदि दृश्यप्रपञ्चका अध्यास होता है, यह कहते हैं—'तदनन्ता०' इत्यादिसे ।

अनन्तस्वरूप चेतनात्मक वही अपने आपको विषयस्वरूप-सा समझता हुआ यानी भावना करता हुआ स्वस्वरूपमें स्थित ही विषयरूप एवं अज्ञानी-सा बन जाता है ॥ ११ ॥

जितने पदार्थ अध्याससे प्रतीत होते हैं उनका प्रकाश अधिष्ठानभूत चैतन्यके बलसे ही होता है, इसलिए विषयोंकी सत्ता अधिष्ठानभूत चेतनके बिना नहीं हो सकती और सत्ताके बिना विषयात्मक चित्तरूपता नहीं हो सकती, जैसे शून्यस्वरूप कूटस्थ आकाशके बिना दूसरा कोई वायुका कारण नहीं है और वायुके बिना स्पन्दनोंका दूसरा कोई कारण नहीं है, ठीक ऐसे ही यहां भी बात है ॥ १२ ॥

तथा महाचितीच्छायाः सर्गसंविचिवृत्तिषु ।
नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात् ॥ १३ ॥

इत्यत्रार्थो भविष्यत्सद् द्वित्वैकत्वास्तितावशात् ।
कोऽत्र कल्पयिता द्वित्वमेकत्वं वा महाम्बरे ।
विष्वग्विश्वमपारैकपरमाकाशकोशता ॥ १४ ॥

यथा स्पन्दानिलद्वित्वं शाब्दमेव न वास्तवम् ।
विश्वविश्वेश्वरद्वित्वं तथैवासन्मयात्मकम् ॥ १५ ॥

सदेवासम्भवद्द्वित्वं महाचिन्मात्रकं च यत् ।
विश्वाभासं तदेवेदं न विश्वं सन्न विश्वता ॥ १६ ॥

---

तथा महाचैतन्यके सङ्कल्पसे जायमान एवं निरन्तर ब्रह्मसत्ताके बलपर अपनी सत्ता रखनेवाले सृष्टि-भ्रमोंमें महाधिष्ठानभूत ब्रह्मकी अपेक्षासे सदा सत्ता है, और स्वरूपतः असत्ता है। इस तरहका निरूपण 'सदेव सोम्येदम०' इत्यादि श्रुतिमें है। इस विषयमें दूसरे किसी तर्ककी अपेक्षा नहीं है ॥ १३ ॥

चित् और जड़का द्वैत एवं द्वैतका कारण एकत्व—इनका स्वतः अस्तित्व तथा इसी अस्तित्वके आधारपर सृष्टि-भ्रमोंका अस्तित्व मानना चाहिए, यह बात मानी जा सकती है, परन्तु इसमें कोई युक्ति नहीं है, क्योंकि कूटस्थ अद्वितीय चिदाकाशमें द्वित्व-एकत्वका कोई समर्थन करनेवाला नहीं है और जड़ वस्तुओंमें तो वैसा समर्थन करनेवाला कोई हो ही नहीं सकता। [ इन सब तर्कोंसे निचोड़ यह निकला कि आकाशके द्वैतकी अप्रसिद्धिके सदृश तथा स्पन्दन एवं वायुके भेदकी अप्रसिद्धिके सदृश विश्व और विश्वेश्वरके भेदकी भी अप्रसिद्धि है, यह कहते हैं—'विष्वक्'से ] सम्पूर्ण विश्व असीम, एक परमात्माका स्वरूपभूत ही है ॥१४॥

जैसे वायु और स्पन्दनका भेद शब्दमात्र है, वास्तविक नहीं है, वैसे ही विश्व और विश्वेश्वरका भेद शब्दमात्र है, वास्तविक नहीं, असलमें असदात्मक ही है ॥ १५ ॥

जिसमें द्वैतकी संभावना नहीं है, जो तीनों कालमें सत्स्वरूप ही है और महाचेतनरूप है, वही विश्वके रूपमें भासता है, असलमें न विश्व है और न विश्वका कोई स्वरूप ही है ॥ १६ ॥

देशकालादिमत्त्वेन कदाचिद्धेम्नि सत्यता ।
कटकत्वस्य भिन्नस्य विश्वस्य च तथा परे ॥ १७ ॥
द्वित्वैक्यासम्भवे चात्र कार्यकारणता कुतः ।
स्याच्चेत्तत्कल्पनामात्रमेवैतन्नान्यवस्तुता ॥ १८ ॥
शून्यता नभसीवात्र द्रवत्वमिव चाम्भसि ।
खे खलेखाप्यभिन्नेव किलास्ति जगदादिता ॥ १९ ॥
यद्रूपं ब्रह्म तद्रूपं जगत्काऽत्र द्वितैकते ।
यद्रूपं व्योम तद्रूपमेवं शून्यं किलाखिलम् ॥ २० ॥

---

अथवा ब्रह्मदृष्टिसे असत्य भी विश्वकी उसके कार्यभूत छोटे-छोटे देश-कालकी अपेक्षा बड़े-बड़े देश-कालके सम्बन्धसे सत्ता है, इस आशङ्काका परिहार करते हैं—'देशकालादि०' इत्यादिसे ।

कोई लोग कहते हैं कि कार्यरूपसे भिन्न कटकरूपकी अपेक्षा अधिक देश-कालके सम्बन्धसे सुवर्णमें जैसे कादाचित्क सत्यता है, वैसे ही कार्यकी अपेक्षा अधिक देशकालके सम्बन्धसे विश्वमें भी सत्यता हो सकती है ॥ १७ ॥

परन्तु यह तब होता, जब कि कार्य और कारणका भेद सिद्ध होता, लेकिन वही सिद्ध नहीं है, यह कहते हैं—'द्वित्वैक्या०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, द्वित्व और ऐक्यके ही असम्भवसे यहाँ न कोई कार्यरूप है और न कोई कारणरूप ही है । [यदि काल्पनिक कार्यकारणभेद मान लिया जाय, तो भी काल्पनिक भेदसे सत्यताका निर्वाह नहीं हो सकता, यह कहते हैं—'स्याच्चेत्त्'से । ] यदि काल्पनिक कार्यकारणभेद मान लें तो भी परमात्मासे भिन्न यह संसार एकमात्र काल्पनिक ही सिद्ध होगा; इससे उस परमात्मासे भिन्न दूसरी वस्तु सिद्ध नहीं होगी ॥ १८ ॥

जैसे कि आकाशमें शून्यता है और जैसे जलमें द्रवत्व है वैसे ही इस परब्रह्म परमात्मामें विश्व है । [ अत्यन्त अभेदमें भी जैसे 'आकाशमें आकाशकी रेखा है' इस तरहकी भेदकल्पना देखी जाती है वैसे ही इस जगत्के विषयमें भी होगी, यह कहते हैं—'खे खलेखा०' से । ] अत्यन्त अभेद होनेपर भी जैसे आकाशमें आकाशकी रेखा अज्ञानदृष्टिसे देखी जाती है वैसे ही इस परब्रह्म परमात्मामें जगदादिका रूप अज्ञानियोंकी दृष्टिसे देखा जाता है ॥ १९ ॥

ब्रह्मका जो रूप है वही रूप जगत्का भी है, इससे द्वैत और ऐक्यकी यहाँ

एकात्मनि तते स्वच्छे चिन्मात्रे सर्वरूपिणि ।
शिलापुत्रकसेनायां पाषाणत्व इवास्थिते ॥ २१ ॥
कार्यकारणवैचित्र्यं कथं सम्भवति क्व वा ।
कथमव्योमता व्योम्नि द्वितीयासम्भवाद्भवेत् ॥ २२ ॥
प्रतिभात्मैव भारूपो भाति सर्गो महाचिति ।
पुत्रिकेवोपलोत्कीर्णा तन्मयत्वात्तदात्मिका ॥ २३ ॥
साधो यथास्थितस्यैवं बुद्ध्वा विश्वं प्रलीयते ।
काष्ठमौनदशाभासं संसारमवशिष्यते ॥ २४ ॥
यथा निमीलिताक्षस्य रूपालोकमनोभ्रमः ।
स्वप्ने जाग्रत्यनग्रस्थोऽप्यसन्नेवास्ति भावनात् ॥ २५ ॥

---

आपत्ति ही नहीं हो सकती । आकाशसे भिन्न-सी कल्पित शून्य आकाशकी रेखा जिस रूपकी रहती है यानी रेखाशब्दसे वाच्य आकाश जिस रूपका रहता है, ठीक उसी रूपका यह सारा जगत् भी ब्रह्मसे भिन्न-सा कल्पित है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसी स्थितिमें एकात्मा, व्यापक, स्वच्छ, चिन्मात्र, सर्वस्वरूप परब्रह्म परमात्माके, पत्थरमें खुदी गई सेनाके सदृश पत्थर-रूपसे स्थित रहते, कार्य-कारणकी विचित्रता कहाँ कैसे संभव हो सकती है । द्वितीयका संभव न होनेसे चिदाकाशमें उससे पृथक् किसी दूसरी वस्तुकी संभावना नहीं हो सकती ॥ २०–२२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, प्रतिभारूप ही यह सृष्टि प्रतिभारूपसे महाचेतनमें ऐसे भासती है, जैसे पाषाणमें खुदी हुई प्रतिमा पाषाणरूप होनेके कारण पाषाणमय भासती है । हे साधो, यथार्थभूत वास्तविक ब्रह्मका तत्त्वज्ञान हो जानेसे इस विश्वका विलय हो जाता है और बाह्य तथा आभ्यन्तर सब चेष्टाओंसे शून्य अवस्थाके द्वारा स्फुरित हो रहा ब्रह्म ही सम्पूर्ण संसारभ्रमको नष्ट करके अवशिष्ट रह जाता है ॥२३,२४ ॥

भावनारूप मनकी एकमात्र कल्पनासे उत्पन्न संसारभ्रम भावनात्याग एवं कल्पनारहित स्थितिसे ही विनष्ट हो जाता है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे।

यद्यपि न तो कुछ वस्तु है और न कोई सामने पदार्थ ही है, तथापि एकमात्र

तथैवोन्मीलिताक्षस्य रूपालोकमनोभ्रमः ।
स्वप्ने जाग्रत्यनग्रस्थोऽप्यसन्नेवास्ति भावनात् ॥ २६ ॥

भावनोपशमं कृत्वा शिलीभूय यथास्थितम् ।
अशिलीभूतमेवान्तः स्वभावं सममास्यताम् ॥ २७ ॥

आविवेकोपहारेण यथाप्राप्तार्थपूजनैः ।
बोधाय पूज्यतां बुद्ध्या स्वभावः परमेश्वरः ॥ २८ ॥

विवेकपूजितः स्वात्मा सद्यः स्फारवरप्रदः ।
रुद्रोपेन्द्रादिपूजाऽत्र जरत्तृणलवायते ॥ २९ ॥

विचारशमसत्सङ्गबलिपुष्पैकपूजितः ।
सद्यो मोक्षफलः साधो स्वात्मैव परमेश्वरः ॥ ३० ॥

---

भावनाके बलपर आँखें बन्द कर पड़े हुए पुरुषको स्वप्नके जाग्रतकालमें जैसे बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंका भ्रम होता है वैसे ही यद्यपि न कुछ वस्तु है न सामने कोई पदार्थ ही है तथापि भावनाके बलपर आँखें खुली रखकर बैठे हुए पुरुषको जाग्रद्रूप स्वप्नमें बाह्य एवं आभ्यन्तर विषयोंका भ्रम होता है ॥२५,२६॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, भावनाको शान्त करके पाषाणके समान निश्चल होकर तथा चिदेकरस होनेसे शिलासे विलक्षण भीतरके अशिलाभूत यथास्थित आत्म-स्वभावका अवलम्बन करके एकरूपसे स्थित रहिये ॥ २७ ॥

उस तरहकी स्थिति बनानेके लिए अनुकूल विवेक-वैराग्य आदि साधनोंका अभ्यास ही आत्मरूप परमेश्वरकी सर्वश्रेष्ठ पूजा है, यह कहते हैं—'आविवेको-पहारेण' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामभद्र, पूर्णविवेकरूप उपहारसे पूजनसाधन प्रारब्धप्राप्त अर्थोंके द्वारा बोधके लिए बुद्धिपूर्वक आत्मस्वभावरूप परमेश्वरकी पूजा कीजिये ॥ २८ ॥

विवेकसे पूजित स्वात्मभूत परमात्मा तुरत ही पूजा करनेवालेको निरतिशय आनन्दरूप वर प्रदान करता है । इस पूजामें रुद्र, उपेन्द्र आदिकी पूजा तो, जीर्ण-शीर्ण तिनकेके टुकड़ेके सदृश, हलकी पड़ जाती है ॥ २९ ॥

विचार, शम और सत्संगरूपी बलिदान-पुष्पोंसे पूजित हुआ परमेश्वर शीघ्र मोक्षफल प्रदान करता है । हे साधो, यह स्वात्मा ही परमेश्वर है ॥ ३० ॥

सत्यालोकनमात्रैकपूजितोऽनुत्तमार्थदः ।
यत्राऽस्त्यात्मेश्वरस्तत्र मूढः कोऽन्यं समाश्रयेत् ॥ ३१ ॥
सत्सङ्गशमसन्तोषविवेकापूजितात्मनः ।
शिरीषकुसुमायन्ते शस्त्राहिविषवह्नयः ॥ ३२ ॥
देवार्चनतपस्तीर्थदानान्यतिकृतान्यपि ।
भस्मायन्ते निरर्थत्वादविवेकामहात्मनाम् ॥ ३३ ॥
एतान्यपि विवेकेन क्रियन्ते सफलानि चेत् ।
विवेक एव तत्कस्मात्स्फुटमन्तर्न साध्यते ॥ ३४ ॥

---

केवल यथार्थ अवलोकनरूप अकेली पूजन सामग्रीसे जिसकी पूजा की गई हो, ऐसे सर्वोत्तम फलप्रदान करनेवाला यह ईश्वररूप आत्मा जहाँ उपस्थित हो, वहाँ भला ऐसा कौन मूर्ख होगा, जो किसी दूसरेका (अनात्मभूत तटस्थ ईश्वरका*) आश्रयण करेगा ॥ ३१ ॥

पूजन द्वारा प्रसन्न हुआ तटस्थ ईश्वर तो इस जीवकी शस्त्र, सर्प, अग्नि आदिसे भलीभाँति रक्षा कर सकता है, परन्तु कूटस्थ आत्मा भला क्या कर सकता है ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'सत्सङ्ग०' इत्यादिसे ।

सत्संग, शम, सन्तोष और विवेक द्वारा जिसने आत्माकी पूर्ण रीतिसे पूजा की है ऐसे पुरुषके लिए शस्त्र, सर्प, विष और अग्नि—ये सब शिरीष ( सिरस ) के फूल बन जाते हैं ॥ ३२ ॥

किञ्च, अविवेकियों द्वारा किये गये देवतापूजन आदि सत्कर्मोंमें अपराध होनेकी अवश्य संभावना है, ऐसी स्थितिमें वे निष्फल या अनर्थ देनेवाले हो जाते हैं । दूसरी बात यह है कि उन कर्मोंमें देश, काल, पात्र, द्रव्य, कर्ता आदिकी विशुद्धि तथा उनके परिज्ञान, श्रद्धा, भक्ति, शान्ति आदिकी यदि आवश्यकता पड़ जाती है, तो सर्वविध क्लेशोंसे रहित महाफलवाले आत्मदर्शनमें ही उनका उपयोग क्यों न किया जाय ? यह कहते हैं—'देवार्चन०' इत्यादिसे ।

जिनको देश, काल, पात्र आदिका विवेक नहीं है, ऐसे दुरात्माओं द्वारा अत्यधिक किये गये देवपूजन, तप, तीर्थाटन, दान आदि सबके सब

---

* देखिये श्रुति क्या कहती है—'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्' ।

यथाभूतार्थविज्ञानाद्वासनोपरमे परे।
यत्ने विवेकशब्दाख्यो भवत्यात्मप्रसादतः ॥ ३५ ॥
तथातथा विवेकोऽन्तर्वृद्धिं नेयः शमामृतैः।
यथायथा पुनः शोषमुपयाति न विभ्रमैः ॥ ३६ ॥
देहसत्तामनादृत्य यथाभूतार्थदर्शनात्।
लज्जां भयं विषादेर्ष्ये सुखं दुःखं जयेत्समम् ॥ ३७ ॥
जगदादि शरीरादि नास्त्येवादौ कुतोऽद्य तत्।
कार्यं चेत्कारणस्यैतत्तथापि ब्रह्ममात्रकम् ॥ ३८ ॥

तत्त्वशून्य होनेके कारण भस्मीभूत हो जाते हैं। इसलिए यदि सब विवेकसे सफल किये जायँ, तो अपने अन्तःकरणमें विवेककी ही स्पष्टरूपसे साधना क्यों नहीं की जाय? ॥ ३३, ३४ ॥

वह कौन-सा विवेक है, जिसकी आप साधना बतला रहे हैं, इसपर उसे कहते हैं—'यथाभूतार्थ०' इत्यादिसे।

वास्तविक पदार्थके विज्ञानके अनन्तर वासनाके आत्यन्तिक उच्छेदमें जो प्रयत्न है, वही विवेकशब्दका अर्थ है, यह निष्काम यज्ञ तथा दान किया गया आदि कर्मोंसे जनित चित्तकी प्रसन्नतासे ही होता है। वैराग्य आदि सब साधन-रूप ही यह यत्न है ॥ ३५ ॥

अपने भीतर शमरूपी अमृतसे विवेकको ऐसे धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए, जैसे कि विषयभ्रान्तियोंसे वह फिर नष्ट न होने पावे ॥ ३६ ॥

मनुष्य देहकी सत्ताका अनादर कर उसमें स्थित तात्त्विक वस्तुका प्रत्यक्ष करे, फिर उससे होनेवाले लज्जा, भय, विषाद, ईर्ष्या, सुख, दुःख आदिके ऊपर बराबर विजय प्राप्त करे ॥ ३७ ॥

देहकी सत्ताके अनादरमें उपायभूत विचार दिखलाते हैं—'जगदादि' इत्यादिसे।

शरीरका कारण जगत् और जगत्का भी कारण पहले ही नहीं रहा, फिर आज वह कहांसे रहेगा। यदि कहो कि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इस श्रुतिमें बतलाया गया ब्रह्मात्मक कारण तो पहलेसे ही है, तो यह भी युक्त नहीं है,

प्रतिभामात्रमेवाच्छं न तु ज्ञप्तेर्घटादि सत् ।
ज्ञानात्मिकैव प्रतिमा ज्ञप्तिरेवाखिलं जगत् ॥ ३९ ॥
ज्ञप्तिरप्यात्मतत्त्वश्रीः परिज्ञातोपशाम्यति ।
ज्ञेयाभावे त्वनिर्वाच्या शिष्यते शाश्वतं शिवम् ॥ ४० ॥
अशरीराद्यविश्वात्म सर्वं शान्तमिदं ततम् ।
ज्ञानज्ञेयज्ञप्तिमुक्तं दृषन्मौनमिव स्थितम् ॥ ४१ ॥
शान्तान्तःकरणाः स्वस्थाः शिलापुत्रककोशवत् ।
चलन्तश्चालयन्तश्च ज्ञरूपा एव तिष्ठत ॥ ४२ ॥

---

क्योंकि ऐसा माननेपर कार्य यदि कारणका ही रूप है, तो आखिरमें वह ब्रह्मरूप ही सिद्ध होता है, अन्यरूप नहीं ॥ ३८ ॥

समस्त विकल्पोंसे निर्मुक्त विशुद्ध प्रतिभामात्र ही ब्रह्मका स्वरूप है । विकल्प-प्रतिभा भी चिदाभासरूप ज्ञानरूपा ही है, इसलिए ज्ञानसे पृथक् घट आदिका अस्तित्व नहीं है, किन्तु समस्त जगत ज्ञानरूप ही है ॥ ३९ ॥

जिसमें आत्मतत्त्वरूप श्री प्रतिबिम्बित है ऐसी ज्ञप्ति यानी चिदाभासरूप ज्ञान तब होता है, जब कि आत्माका तत्त्वज्ञान पहले नहीं रहता, इसलिए उसको प्रत्यगात्ममात्रस्वरूप जान लेनेपर वह स्वयं नष्ट हो जायगी, क्योंकि उस समय आत्मतत्त्वसे अलग करनेवाली कोई उपाधिभूत वस्तु अलग नहीं रहेगी । ठीक ही है, दर्पणमें देखी गई मुखशोभा दर्पणके हट जानेपर स्वयं ही शान्त हो जाती है । जब उपाधि शान्त हो जाती है तब ज्ञप्तिका स्वरूप नहीं कहा जाता । उस समय सदा स्थायी शिवस्वरूप एकमात्र आत्मा ही अवशिष्ट रहता है । यह शिवस्वरूप वस्तु शरीर आदि अवयवोंसे रहित जगद्रूपसे निर्मुक्त पूर्ण, शान्त, ज्ञान, ज्ञेय एवं ज्ञप्तिरूप त्रिपुटीसे शून्य, पत्थरकी चट्टानोंके सदृश वाणीके व्यापारोंसे वर्जित है । और यह सारा प्रपञ्च तद्रूप ही है ॥ ४०, ४१ ॥

आप सब लोगोंको वह शिवस्वरूप स्थिति ही प्राप्त करनी चाहिये, यह कहते हैं—'शान्ता०' इत्यादिसे ।

इसलिए आप लोग जैसे पाषाण-प्रतिमाएँ शान्त रहती हैं, वैसे ही अपने अन्तःकरणको शान्त बनाकर स्वस्थ होइए एवं सांसारिक सब व्यवहारोंको करते तथा कराते हुए भी ज्ञानीके रूपमें ही स्थित रहिये ॥ ४२ ॥

अज्ञेयज्ञत्वसद्रूपाः सदसत्साररूपिणः ।
आकाशकोशविशदा भवताऽभवभूमयः ॥ ४३ ॥
यथास्थितं च तिष्ठन्ति गच्छन्तश्च यथागतम् ।
यथाप्राप्तैककर्माणः सम्पद्यन्ते बुधाः परम् ॥ ४४ ॥
अथवा सर्वसंत्यागशान्तान्तःकरणोज्ज्वलाः ।
एकान्तेष्वेव तिष्ठन्तु चित्रकर्मार्पिता इव ॥ ४५ ॥
सङ्कल्पशान्तौ सङ्कल्पपुरवत् सर्वदाऽखिलम् ।
स्वप्नवच्च प्रबुद्धस्य सदैवास्तं गतं जगत् ॥ ४६ ॥
सनेत्ररूपानुभवं जातितोऽन्ध इव भ्रमैः ।
निर्वाणं वर्णयन्नज्ञस्ताप्यतेऽन्तर्न शाम्यति ॥ ४७ ॥

---

ज्ञेय और ज्ञानसे शून्य सद्रूप, सत् और असत्‌के सारभूत, आकाशगोलकके समान विशद तथा संसारके अकारणभूत आप लोग हो जाइये ॥ ४३ ॥

ज्ञानी पुरुष अपनी इच्छाके अनुसार जहाँ चाहे स्थित रहते हैं और जहाँ जानेकी इच्छा होती है, बड़े आनन्दसे वहाँ चले जाते हैं। वे एकमात्र प्रारब्ध-प्राप्त अपना कर्म करते हुए परब्रह्म परमात्माके स्वरूपभूत बन जाते हैं ॥ ४४ ॥

अथवा निरन्तर समाधिमें ही स्थित रहिये, यह कहते हैं—'अथवा' इत्यादिसे।

अथवा समस्त इच्छाओंके उत्तम त्यागसे शान्त हुए अन्तःकरणसे युक्त होकर आप लोग, चित्रकर्ममें लिखित मूर्तियोंके सदृश, निश्चलवृत्ति हो एकान्त स्थानोंमें ही स्थित रहिये ॥ ४५ ॥

भद्र, सङ्कल्पकी शान्ति हो जानेपर जैसे सङ्कल्पनगर शान्त हो जाता है अथवा जाग्रत्-पुरुषके लिए स्वप्न नष्ट हो जाता है वैसे ही समाधि और व्यवहार दशामें निरन्तर आत्मज्ञानसे सम्पन्न पुरुषके लिए सम्पूर्ण जगत् सदाके लिए ही विनष्ट हो जाता है ॥ ४६ ॥

वही तत्त्वज्ञान निर्वाणमें उपयोगी है, जो नेत्रवाले पुरुषको हुए रूपानुभवके सदृश प्रत्यक्ष एवं पूर्णानन्दानुभवतक स्थिर रह सकता है, जन्मान्ध पुरुषकी रूप-कल्पनाके सदृश परोक्ष-सा तत्त्वज्ञान निर्वाणमें उपयोगी नहीं है, यह कहते हैं—'सनेत्र०' इत्यादिसे।

कुछ वेदान्तवाक्योंके श्रवणसे ही 'मैं तत्त्वज्ञ हो गया'—इस प्रकारके भ्रममें

कल्पनांशोपदेशेन लोकोऽविद्यामयात्मना ।
येन केनचिदज्ञत्वात्कृतार्थोऽस्मीति मन्यते ॥ ४८ ॥
अकृतार्थः कृतार्थत्वं जानन् मौर्ख्यविमोहितः ।
विज्ञास्यत्यकृतार्थत्वं क्षणान्तरकदर्थनैः ॥ ४९ ॥
उपायं कल्पनात्मानमनुपायं विदुर्बुधाः ।
दुःखदत्वान्निमेषेण भावाभावैषणभ्रमैः ॥ ५० ॥
जगद्भ्रमं परिज्ञाय यदवासनमासितम् ।
विरसाशेषविषयं तद्धि निर्वाणमुच्यते ॥ ५१ ॥

---

पढ़कर मोक्षका वर्णन कर रहा अज्ञानी पुरुष, देखनेवाले पुरुषको हुए रूपानुभवका वर्णन कर रहे जन्मान्ध पुरुषके सदृश, अपने भीतर मान-अपमान आदि दुःखोंसे सन्तप्त रहता है । तत्त्वज्ञके सदृश भीतर सुखका अनुभव नहीं करता ॥ ४७ ॥

अन्धगोलाङ्गूल न्यायसे असत् उपदेशसे ठगे गये पुरुषोंमें भी कृतार्थताकी भ्रान्ति होती है, यह लोकमें प्रसिद्ध है, यह कहते हैं—'कल्पनांशो०' इत्यादिसे।

अविद्यास्वरूप जिस-किसी काल्पनिक उपदेशसे कोई पुरुष 'मैं कृतार्थ हूँ' यों यदि मानता है, तो वह अज्ञानी होनेके कारण असलमें अकृतार्थ ही है । अपनेमें कृतार्थता जान रहा वह मूर्खतासे अत्यन्त मोहित है । ऐसा पुरुष दूसरे क्षणमें अनेकविध यातनाओंके कारण अपनी अकृतार्थता ही जान पायेगा ॥ ४८,४९ ॥

इससे कल्पनात्मक ज्ञान मोक्षका उपाय नहीं है, पण्डितोंके इस अनुभवको लेकर उपसंहार करते हैं—'उपायम्' इत्यादिसे ।

जो काल्पनिक उपाय है वह निमेषभरमें ही भाव, अभाव तथा इच्छा भ्रमोंसे दुःखदायी होनेके कारण मोक्षका उपाय नहीं है, यह विद्वानोंका मत है ॥५०॥

इसलिए पूर्वोक्त तत्त्वज्ञानको ही वासनाविनाशपर्यन्त दृढ़ करना चाहिये । वही तत्त्वज्ञान निर्वाणरूप बन जाता है, इस आशयसे कहते हैं—'जगद्भ्रमम्' इत्यादिसे ।

जगद्रूप भ्रमका अच्छी तरह ज्ञानकर जो वासनाशून्य स्थिति होती है वही, हिरण्यगर्भस्थानतकके समस्त विषय जिसकी अपेक्षा नीरस हैं, निर्वाण कहा जाता है ॥ ५१ ॥

आख्यायिकार्थप्रतिमानमेत्य
संवेत्स्यचिद्वारि भराद्द्रवात्म ।
अवेद्यचिद्रूपमशेषमच्छं
पश्यन्विनिर्वासि जगत्स्वरूपम् ॥ ५२ ॥

जात्यन्धरूपानुभवानुरूपं
यदागमैर्बुद्धमबोधरूपम् ।
अधस्पदीकृत्य तदन्तरेऽस्मिन्
बोधे निपत्याऽनुभवो भवाभूः ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणोपदेशो नाम द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

---

इसलिए हे श्रीरामभद्र, मैंने जिस अर्थका उपदेश दिया है उसे लौकिक या पौराणिक कथार्थके सदृश कल्पनामात्ररूप बहिर्मुखवृत्तिसे जानकर आप कृतार्थ मत होंगे, किन्तु एकमात्र वासनाओंके भयंकर बाढ़से चारो ओर बह रहे जगद्रूपी अचित् जलको ही देखेंगे, अतः जब आप आत्मदृष्टिसे समस्त जगत्स्वरूपको पूर्ण शुद्ध अवेद्य चिद्रूप, प्रत्यक्ष करेंगे तभी मोक्षमें स्थित रहेंगे यानी कृतार्थ होंगे ॥५२॥

उसीको दृढ़ करते हुए कहते हैं—'जात्यन्ध०' इत्यादिसे ।

हे भद्र, उपदेशवचनोंसे जन्मान्ध पुरुषके रूपानुभवके सदृश परोक्षरूप यदि आपने जाना, तो वह आपका न जानना ही है यानी अज्ञान ही है, क्योंकि अपरोक्ष वस्तुके विषयमें हुआ परोक्षज्ञान केवल भ्रमात्मक ही होता है । इसलिए ऐसे ज्ञानको तिरस्कृत कर प्रत्यगात्मस्वरूप इस नित्य अपरोक्ष आत्मज्ञानमें पड़कर आप जन्मादिशून्य आत्मानुभवरूप ही बन जाइये, यही निर्वाण है ॥ ५३ ॥

बयालीसवां सर्ग समाप्त

## त्रिचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अहन्तादि जगच्चेदं परिज्ञानादसत्यताम् ।
याति सानुभवो मोहात्सत्यमेवाऽन्यथाधियाम् ॥ १ ॥
अज्ञानज्वरमुक्तस्य बोधशीतलितात्मनः ।
एतदेव भवेच्चिह्नं यद्भोगाम्बु न रोचते ॥ २ ॥
अलमन्यैः परिज्ञानैर्वाच्यवाचकविभ्रमैः ।
अनहंवेदनामात्रं निर्वाणं तद्विभाव्यताम् ॥ ३ ॥

---

## तेंतालिसवाँ सर्ग

[ अज्ञानकल्पित मनरूप यक्षनगर-जैसे इस जगत्‌का शुद्ध तत्त्वज्ञानसे विनाश हो जानेपर एकमात्र ब्रह्ममें ही स्थिति हो जाती है—यह वर्णन ]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामभद्र, भोक्ता और भोग्यरूप यह जो सम्पूर्ण आन्तर अहन्तादि और बाह्य जगत् है वह सब तत्त्वज्ञानसे (जगदनुभवरूप भोगके स्वरूपज्ञानसे) असत्य बन जाता है। जो भोग होता है उसका अवसान चितिसे ही होता है। वह भोक्ता और भोग्यके सम्बन्धका अनुभव है। उसी अनुभवसे मोहके द्वारा आत्मा और अनात्माके धर्मोंको एक दूसरेमें समझनेवाले यानी भोक्तामें ही आत्मबुद्धि रखनेवाले मूढ़ोंको बाह्य जगत्‌का भोग होता है, स्वतः नहीं। इसलिए परमार्थदशामें बाह्य और आभ्यन्तर जगत्‌का अनुभव ब्रह्मरूप ही है ॥ १ ॥

इसीलिए तत्त्वज्ञानियोंको भोग्यवर्गोंमें रुचि नहीं होती, यह कहते हैं—'अज्ञान०' इत्यादिसे।

जो पुरुष अज्ञानसे भलीभांति मुक्त हो गया है तथा जिसकी आत्मा बोधसे शीतल हो चुकी है, ऐसे महानुभावका यही चिह्न है कि उसे भोगजल रुचता नहीं ॥ २ ॥

इस प्रकार भोग्यवस्तुओंसे जो विरक्त हो गये हैं उनके लिए भोक्तामें अहंकाररूपी अंशका एकमात्र त्याग कर देनेसे विशुद्ध चिन्मात्ररूपसे अवशिष्ट निर्वाण सिद्ध हो जाता है, यह कहते हैं—'अलम०' इत्यादिसे।

परिज्ञाता यथा स्वप्ने पदार्था रसयन्ति नो ।
न च सन्ति तथैवास्मिन्नहं जगदिदं भ्रमे ॥ ४ ॥
यथा स्वभावनाद्यक्षस्तरौ सस्वजनं पुरम् ।
पश्यत्यसत्यमेवैवं जीवः पश्यति संसृतिम् ॥ ५ ॥
विभ्रमात्मा यथा यक्षो यक्षलोकश्च ते मिथः ।
सद्रूपौ सुस्थितौ मिथ्या तथाऽहन्त्वजगद्भ्रमौ ॥ ६ ॥
अनावरणतोऽरण्ये यक्षा विभ्रमरूपिणः ।
यथा स्फुरन्ति भूतानि तथेमानि चतुर्दश ॥ ७ ॥

---

भद्र, नामरूपात्मक विषयोंके भ्रमस्वरूप दूसरे-दूसरे ज्ञानोंका सम्पादन करना निरर्थक ही है । केवल अहंबुद्धिका अभाव ही मोक्ष है, यह आप जानिये ॥ ३ ॥

भोगजल नहीं रुचता, यह जो कहा गया है, उसीको पुनः विशदरूपसे कहते हैं—'परिज्ञाता' इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नमें दृष्टिगोचर हुए पदार्थ जगे हुए पुरुषको किसी तरहका आनन्द प्रदान नहीं करते और न उसकी दृष्टिमें वे अपना अस्तित्व ही रखते हैं वैसे ही 'मैं' 'यह जगत्' इत्यादि भ्रममें देखे गये पदार्थ न तो तत्त्वज्ञानीको आनन्द प्रदान करते हैं और न उसकी दृष्टिमें अपना अस्तित्व ही रखते हैं ॥ ४ ॥

इस विषयमें गन्धर्व-मायाकल्पित नगर दृष्टान्त है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे यक्ष अपनी भावनासे वृक्षमें अपने स्वजनसे युक्त असत्य नगरको देखता है वैसे ही जीव अपनी अविद्यासे असत्य ही इस विशाल संसारको देखता है ॥५॥

यद्यपि भ्रान्तिकल्पित भोक्तारूप होनेसे विभ्रमरूप यक्ष तथा भ्रान्तिकल्पित भोग्यस्वरूप होनेसे उसका नगर भी नहीं है, तथापि परस्पर उपभोगरूप अर्थ-क्रियाकारी होनेसे जैसे वे दोनों सद्रूपकी तरह स्थित हैं वैसे ही मिथ्या अहन्ता और जगत्का भ्रम भी स्थित है ॥ ६ ॥

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनोंमें असत्के भी सत्यरूपसे प्रतिभासमें आवरण-शून्य साक्षीका अध्यास ही निमित्त है, इस आशयसे कहते हैं—'अनावरणतो' इत्यादिसे ।

जैसे जंगलमें यक्ष आदि विभ्रमरूप ही स्फुरित होते हैं वैसे ही आवरण न

भ्रममात्रमहं मिथ्यैवेति बुद्ध्वा विभावयन् ।
यक्षोऽयक्षत्वमायाति चित्तं चित्तत्त्वतामिदम् ॥ ८ ॥
निरस्तकलनाशङ्कं त्यागग्रहणवर्जितम् ।
अविसारिसमस्तेच्छं शान्तमास्व यथास्थितम् ॥ ९ ॥
असत्तासम्भवं दृश्यं द्रष्ट्रात्मकमिदं ततम् ।
अथवा नैव द्रष्ट्रात्म सदवाच्यं किमास्यते ॥ १० ॥
वसन्तरसपूरस्य यथा विटपगुल्मता ।
स्वरूपमात्रभरितसंविदः सर्गता तथा ॥ ११ ॥

---

रहनेसे ये चौदह भुवन भी स्फुरित होते हैं। तात्पर्य यह कि आवरणरहित साक्षीमें अध्यासके कारण ही ये चौदह भुवन स्फुरित होते हैं ॥ ७ ॥

यक्षके अपने कल्पित देह, नगर आदिके उपसंहारकी तरह जगद्भ्रमके बाधमें भी उसे एकमात्र मिथ्यारूप देखना ही हेतु है, यह कहते हैं—'भ्रममात्रम०' इत्यादिसे ।

जैसे यह सब कुछ एकमात्र मेरा भ्रम है, और कुछ नहीं—यों विचार करता हुआ यक्ष अयक्ष हो जाता है वैसे ही अहमादि सब जगत् मिथ्या ही है—यों जानकर यह चित्त चिद्रूप तात्त्विकभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

सम्पूर्ण कल्पनाओं तथा आशङ्काओंसे रहित, त्याग तथा ग्रहणसे शून्य, बहुत दूरतक जानेवाली समस्त इच्छाओंसे रहित तथा शान्त होकर हे श्रीरामजी, जैसे आप स्थित हैं स्थित रहिये ॥ ९ ॥

विचारपूर्वक देखनेसे यह दृश्य एकमात्र द्रष्टारूप या तुच्छरूप ही पर्यवसित होता है, यह कहते हैं—'असत्ता०' इत्यादिसे ।

यह सब दृश्य द्रष्टारूप ही व्याप्त है अथवा सत्ताकी उत्पत्तिसे शून्य द्रष्टारूप भी यह नहीं है, क्योंकि सत् परमार्थ चिद्रूप द्रष्टृतत्त्व जो अवाच्य है वह क्या तुच्छ दृश्यरूप स्थापित हो सकता है ? कदापि नहीं। कोई भी सत्को असत्-रूप नहीं बना सकता, यह तात्पर्य है ॥ १० ॥

द्रष्टाके दृश्यस्वरूप न होनेपर भी व्यवहारमें दृश्यसत्ताकी स्फूर्तिका निर्वाहक द्रष्टा हो सकता है, यह दृष्टान्त द्वारा दिखलाते हैं—'वसन्तरसपूरस्य' इत्यादिसे।

जैसे वसन्त ऋतुके रसका प्रवाह ही वृक्ष, गुल्म आदिरूप है वैसे ही एकमात्र अपने स्वरूपसे ही परिपूर्ण बना देनेवाली आत्मसंवित् ही सृष्टि है ॥ ११ ॥

यदिदं जगदाभासं शुद्धं चिन्मात्रवेदनम् ।
काऽत्रैकता द्विता का वा निर्वाणमलमास्यताम् ॥ १२ ॥
भूयतां चिन्मयव्योम्ना पीयतां परमो रसः ।
स्थीयतां विगताशङ्कं निर्वाणानन्दनन्दने ॥ १३ ॥
किमेतास्वतिशून्यासु संसारारण्यभूमिषु ।
मानवा वातहरिणा भ्रमथो भ्रान्तबुद्धयः ॥ १४ ॥
जगत्त्रयमरीच्यम्बुविप्रलब्धान्धबुद्धयः ।
मा धावत गतव्यग्रमाशयोपहताशयाः ॥ १५ ॥
रूपालोकमनस्कारमृगतृष्णाम्बुपायिनः ।
व्यर्थमायासमायूंषि मा मा क्षपयतैणकाः ॥ १६ ॥
जगद्गन्धर्वनगरगुरुगर्वेण नश्यथ ।
सुखरूपाणि दुःखानि नाशनायैव पश्यथ ॥ १७ ॥

---

परन्तु परमार्थमें तो द्रष्टाके साथ ऐक्यकी सम्भावना भी नहीं है, यह कहते हैं—'यदिदम्' इत्यादिसे ।

जो यह जगत्का आभास है वह सब विशुद्ध चिन्मात्र वेदनरूप ही है। इसमें क्या एकत्व या क्या द्वित्व हो सकता है। इसलिए हे श्रीरामजी, आप पूर्णरूपसे निर्वाणस्वरूपसे स्थित रहिये ॥ १२ ॥

अब भगवान् वसिष्ठजी सबके प्रति दयासे हितकारक बातें उद्घोषित करते हुए उपदेश देते हैं—'भूयताम्' इत्यादिसे ।

हे सज्जनो, आप सबके सब चिन्मय आकाश हो जाइये, परम रसका—निरतिशयानन्दका पान कीजिये तथा निर्वाणरूप नन्दन बनमें सभी आशङ्काओंसे शून्य हो स्थित रहिये ॥ १३ ॥

हे मनुष्यो, आप सबके सब बिलकुल शून्य इस संसाररूपी महाजंगलकी मरुभूमियोंमें भ्रान्तचित्त मृगोंकी नाईं क्यों भटकते-फिरते हैं ॥ १४ ॥

हे त्रिलोकीरूपी मृगतृष्णाजलसे ठगे गये अतएव नष्टबुद्धि जीवो, आप लोग तृष्णासे चञ्चलहृदय होकर व्यग्रतापूर्वक इधर-उधर मत दौड़ते फिरें ॥१५॥

हे बाह्य तथा आभिमानिक भोगरूपी मृगतृष्णाजलका पान करनेवाले मृगो, तुम लोग व्यर्थका परिश्रम उठाकर अपनी आयु मत गवाओ, मत गवाओ ॥१६॥

हे सभ्यपुरुषो, जगद्रूपी गन्धर्वनगरमें विवेकको नष्ट कर देनेवाले गर्वसे

जगत्केशोण्ड्रकभ्रान्त्यै मा महाम्बरमध्यगम् ।
अवलोकयताभ्रान्ते स्वरूपे परिणम्यताम् ॥ १८ ॥
मानवा वातलोलोच्चपत्रप्राप्ताम्बुभङ्गुर- ।
मानवासु न चाऽऽस्वन्धगर्भशय्यासु सुप्यताम् ॥ १९ ॥
अविराममनाद्यन्ते स्वभावे शान्तमास्यताम् ।
द्रष्टृदृश्यदशादोषादस्वभावाद्विनश्यताम् ॥ २० ॥
अज्ञावबुद्धः संसारः स हि नास्ति मनागपि ।
अवशिष्टं च यत्सत्यं तस्य नाम न विद्यते ॥ २१ ॥
त्रोटयित्वा तु तृष्णायःश्रृङ्खलावलितं बलात् ।
संसारपञ्जरं तिष्ठ सर्वस्योर्ध्वं मृगेन्द्रवत् ॥ २२ ॥
आत्मात्मीयग्रहभ्रान्तिशान्तिमात्रा विमुक्तता ।
यथातथा स्थितस्यापि सा स्वसत्त्वैव योगिनः ॥ २३ ॥

---

आप लोग नष्ट न हो जायँ । अपनेको नष्ट कर देनेके लिए ही स्थित इन सुख-स्वरूप सांसारिक पदार्थोंको आप लोग दुःखरूप ही देखें ॥ १७ ॥

जगद्-रूपी केशोण्ड्रककी भ्रान्तिके लिए ब्रह्माकाशके मध्यमें अज्ञानरूपी नीलिमाका आप लोग अवलोकन न करें, किन्तु अभ्रान्त अपने स्वरूपमें परिणत हो जायँ—विश्राम करें ॥ १८ ॥

हे मनुष्यो, ऊँची शाखाओंमें स्थित पीपलके पत्तोंपर गिरे तथा वायुद्वारा कम्पित हुई ओसकी बूँदोंके सदृश क्षणभंगुर मनुष्यशरीरोंवाली इन संसाररूपी अन्धकारपूर्ण गर्भशय्याओंपर आप शयन मत करें ॥ १९ ॥

आदि और अन्तसे शून्य पारमार्थिक ब्रह्मभावमें आप लोग शान्त हो निरन्तर स्थित रहें । द्रष्टा और दृश्य इत्यादि विरुद्धस्वभावरूपी दोषसे नष्ट न हो जायँ ॥ २० ॥

अज्ञानीजन ही इस संसारको सत्य समझते हैं । वस्तुतः वह कुछ भी नहीं है । अवशिष्ट जो सत्यवस्तु है उसका तो नाम भी नहीं है ॥ २१ ॥

तृष्णारूपी लोहेकी श्रृङ्खलासे वेष्टित संसाररूपी पिंजरेको आत्मज्ञानबलसे जबर्दस्ती तोड़कर सिंहके समान सबके ऊपर स्थित रहिये ॥ २२ ॥

मैं' और 'मेरा' इस अभिमानरूपी भ्रान्तिकी एकमात्र शान्ति ही मुक्ति है ।

निर्वाणताऽवासनता पराऽपतापताज्ञता ।
संसाराध्वनि खिन्नस्य शान्ता विश्रामभूमयः ॥ २४ ॥

तज्ज्ञज्ञातो न मूर्खाणां मूर्खज्ञातो न तद्विदाम् ।
विद्यते जगदर्थोऽसाववाच्यार्थमयो मिथः ॥ २५ ॥

विश्वता भ्रान्तिसंशान्तौ संस्थितैव न लभ्यते ।
महार्णवाम्बुवलिता पुत्रिकेव पयोमयी ॥ २६ ॥

भ्रान्तिशान्तौ प्रबुद्धस्य विनिर्वाणस्य विश्वता ।
यथास्थितैव गलिता विद्यते च यथास्थितम् ॥ २७ ॥

---

इसके सिवा और कोई दूसरी वस्तु मुक्ति नहीं है। तथा जिस किसीरूपसे स्थित योगीकी वह अपनी सत्ता ही है ॥ २३ ॥

अपार संसारमार्गमें निरन्तर चलते रहनेके कारण खिन्न हुए पथिकोंके लिए वही विश्रान्तिका एक अलग स्थान है, वह विश्रान्तिका स्थान है, यों उसीकी कल्पनाकर कहते हैं—'निर्वाणता' इत्यादिसे ।

इस संसाररूपी मार्गमें लगातार चलते रहनेसे खिन्न हुए पथिकके लिए निर्वाणता, वासनाशून्यता और उत्कृष्ट त्रिविधतापशून्यता—ये तीनों ही शान्त विश्रामकी भूमिका हैं ॥ २४ ॥

परस्पर कथनके अयोग्य अर्थोंसे भरे ये जगतके पदार्थ हैं। इन्हें तत्त्वज्ञ जैसा समझते हैं वैसा मूर्ख नहीं समझते और मूर्ख जैसा समझते हैं वैसा तत्त्वज्ञ नहीं समझते ॥ २५ ॥

जैसे महासमुद्रसे वेष्टित हो समुद्ररूपसे स्थित हुई गङ्गा, गोदावरी और नर्मदा आदि नदीरूप आकृति समुद्रवासियोंको उपलब्ध नहीं होती, वैसे ही भ्रान्तिकी निवृत्ति हो जानेपर यह संसारकी आकृति भी ज्ञानियोंको उपलब्ध नहीं होती ॥ २६ ॥

फिर इसीको स्पष्टरूपसे कहते हैं—'भ्रान्तिशान्तौ' इत्यादिसे ।

भ्रमके शान्त हो जानेपर सांसारिक स्वरूपसे स्थित ही जीवन्मुक्त ज्ञानीके लिए यह संसाररूप भी उपलब्ध नहीं होता। उसके लिए तो अपने स्वरूपमें स्थित एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही विद्यमान रहता है ॥ २७ ॥

निर्दग्धतृणभस्माली क्वापि याति यथाऽनिलैः ।
सतां स्वभावविश्रामैः क्वापि याति तथा जगत् ॥ २८ ॥
जगद्ब्रह्मपदार्थस्य सन्निवेशः स तूत्तमः ।
ब्रह्मशब्दार्थरूपात्मा न जगच्छब्दकार्यभाक् ॥ २९ ॥
अविज्ञातस्य बालस्य पदार्था यादृशा इमे ।
विदुषस्तादृशा एव तिष्ठतः क्षीणवासनम् ॥ ३० ॥
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ३१ ॥

---

जैसे खूब जला दिये गये तृणोंके भस्मका ढेर वायुसे उड़कर न जाने किस जगहपर चला जाता है, वैसे ही आत्मस्वरूपमें विश्राम करनेवालोंकी संगतिसे ज्ञान प्राप्तकर सज्जन पुरुषोंका यह जगत् न जाने कहाँ चला जाता है ॥ २८ ॥

ब्रह्मपदका जो बृंहणरूप ( वर्द्धनशील ) अर्थ है उसीका आकारविशेष जगत् है । वह आकारविशेष यदि ब्रह्मशब्दका मुख्यार्थरूप आत्मा ही यानी निर्विकल्प-स्वप्रकाश-निरतिशयानन्द प्रत्यगात्मा ही है, तब तो वह 'जगत्' शब्दका अर्थ बहुत उत्तम है । किन्तु 'गच्छति—षड्विधविकारैः परिवर्तते—इति जगत्' यानी छः तरहके विकारोंसे जो सदा परिवर्तित होता है उसे जगत् कहते हैं । इस तरहकी व्युत्पत्तिसे 'जगत्' शब्दका अर्थ यदि विकारात्मक कार्योंका भागी किया जाता है, तो फिर वह अर्थ उत्तम नहीं है ॥ २९ ॥

इस संसारमें निर्विकल्पका अनुभव बच्चेको भी होता है, उसका साम्य दिखलाते हैं—'अविज्ञातस्य' इत्यादिसे ।

जिस बच्चेको अभी विशेष ज्ञान नहीं हुआ है उसको ये संसारके पदार्थ जिस तरहके भासते हैं, ठीक उसी तरहके वासनाशून्य स्थित विद्वान्को ये सभी संसारके पदार्थ भासते हैं ॥ ३० ॥

इन सांसारिक पदार्थोंका अनुभव तत्त्वज्ञानियोंको जैसा होता है वैसा मूर्खोंको नहीं और मूर्खोंको जैसा होता है वैसा तत्त्वज्ञानियोंको नहीं' यह जो ऊपर कहा गया है, उसका गीतामें प्रतिपादित भगवान् श्रीकृष्णके वचनसे मेल दिखलाते हैं—'या निशा' इत्यादिसे ।

भद्र, आत्माका यथार्थज्ञान अज्ञानियोंके लिए एक तरहकी रात ही है,

स्थितमेवाऽविरामी यज्जाग्रदस्य सुषुप्तवत् ।
चित्रावलोकित इव जाग्रत्योऽस्य रसैषणाः ॥ ३२ ॥
जात्यन्धरूपानुभवसमं भुवनवेदनम् ।
भ्रान्तप्रायमसद्रूपं ज्ञस्य भाति न भाति च ॥ ३३ ॥
विमूढदुःखं त्रिजगद्विमूढविषयं न सत् ।
स्वप्ने स्वप्नतया ज्ञाते रूपालोकमनःक्रियाः ॥ ३४ ॥

क्योंकि जैसे अन्धेरी रात प्रकाशरूप नहीं रहती, वैसे ही अज्ञानियोंके प्रति आत्माका ज्ञान भी प्रकाशरूप नहीं रहता । इस तरहकी जो आत्मविद्यारूपी रात है उसमें जितेन्द्रिय तत्त्वज्ञ पुरुष जागता रहता है यानी आत्मविद्याके लिए तत्त्वज्ञ पुरुष निरन्तर ऐसे सावधान रहता है कि उसमेंसे क्षणभरके लिए भी च्युत नहीं होता । और जिस द्वैतबुद्धिरूप अज्ञानदशामें प्राणी व्यवहार करते हैं वह तत्त्वज्ञ मुनिके लिए रात है, क्योंकि ज्ञानीके प्रति उसका प्रकाश ही नहीं रहता ॥३१॥

इसीकी व्याख्या करते हैं—'स्थितमेवा०' इत्यादिसे ।

चूँकि अज्ञानरूप अन्धकारसे सभी प्राणी आवृत हैं, इसलिए सुषुप्तकी तरह स्थित आत्मतत्त्व ही इस तत्त्वज्ञानी पुरुषके लिए अविरत जागरणरूप है, इसी दृष्टिसे 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' यह कहा गया है । और चूँकि मूढ़ जनोंमें जाग्रद्रूपसे प्रसिद्ध शब्दादिविषयास्वाद चित्रमें देखे गये युद्धादिकी तरह सामने स्थित रहते हुए भी इस तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें नहीं रहते, इसलिए 'यस्यां जागर्ति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः' यह कहा गया है ॥ ३२ ॥

उत्तरार्धकी पुनः व्याख्या करते हैं—'जात्यन्ध०' इत्यादिसे ।

जन्मान्ध पुरुषको हुए रूपोंके अनुभवके सदृश ज्ञानी पुरुषको जगत्का अनुभव यदि होता है, तो वह रात्रिस्वप्नवत् होता है और यदि नहीं होता, तो निशासुषुप्तके समान होता है ॥ ३३ ॥

मूढ़ पुरुषोंको दुःखरूपसे प्रसिद्ध ये तीनों जगत् उन्हींके लिए हैं, तत्त्वज्ञानीके लिए नहीं, क्योंकि ये सत् नहीं हैं । [ यदि ज्ञानीके लिए विषयोपभोग नहीं है, तो फिर वह ज्ञानी किससे तृप्त होकर जीवित रहता है, इसपर कहते हैं—'स्वप्ने'से ] स्वप्नरूपसे स्वप्नका ज्ञान हो जानेपर स्वप्नके बाह्य और आभ्यन्तर विषय जागे हुए पुरुषको जैसे नहीं रुचते, वैसे ही यद्यपि जाग्रत्-स्वप्नके भोग नहीं रुचते,

न स्वदन्ते यथा तद्वज्जाग्रत्स्वप्ने स्फुरन्तु मा ।
निर्विभागः समाश्वस्तोऽविरोधं परमागतः ॥ ३५ ॥
आशीतलान्तःकरणो निर्वाणो ज्ञोऽवतिष्ठते ।
तज्ज्ञस्याकृष्टमुक्तस्य समं ध्यानं विना स्थितिः ।
निम्नं विनैव तोयस्य न सम्भवति काचन ॥ ३६ ॥
अर्थ एव मनस्कारो मन एवार्थरञ्जनम् ॥ ३७ ॥
एष एवैष आभासः सबाह्याभ्यन्तरात्मकः ।
आसमुद्रं नदीवाहशतसंघमयात्मकम् ॥ ३८ ॥
यथैकश्लेषपिण्डात्म वहत्यम्बु तरङ्गिणाम् ।
सबाह्याभ्यन्तराकारमर्थानर्थमयात्मकम् ॥ ३९ ॥
मन एव स्फुरत्यर्थनिर्भासं व्याततं तथा ।
नास्त्यर्थमनसोर्द्वित्वं यथा जलतरङ्गयोः ॥ ४० ॥

---

फिर भी वह सारे भेदोंसे रहित, सबके विश्वासके—श्रद्धाके भाजन परम ऐक्यको प्राप्त, निर्वाणस्वरूप होकर सर्वदा मनमें पूर्ण शान्तिका अवलम्बन कर ही अवस्थित रहता है। भोगोंकी वासनाओंद्वारा चित्तका बाहर आकर्षण न होनेके कारण ज्ञानी-की स्थिति ध्यानके ( चित्तनिरोधके लिए किये जानेवाले प्रयत्नके ) बिना भी समान ही रहती है [ इसका दृष्टान्तद्वारा उपपादन करते हैं—'निम्नम्'से ] ठीक ही है—नाली आदि निम्नमार्गके बिना तालाब आदिके जलकी प्रवाह आदि क्रिया कुछ हो नहीं सकती ॥ ३४–३६ ॥

बाह्य अर्थोंका बाध होनेपर बाह्य इन्द्रियोंका निरोध हो सकता है, परन्तु मनका निरोध कैसे हो सकता है, यह कहते हैं—'अर्थः' इत्यादिसे।

अर्थ ( विषय ) ही मन है और मन ही अर्थ है। जो बाह्य और आभ्यन्तर-रूप विषयाभास है, वह मन ही है ॥ ३७ ॥

जैसे नदियोंके जल जबतक समुद्रमें नहीं पहुँचते तबतक नदी, प्रवाह आदि नानाविध आकारोंमें भासित होते हैं, किन्तु जब वे समुद्रमें जाकर मिल जाते हैं तब तो एकमात्र जलरूप ही भासते हैं, वैसे ही बाह्य और आभ्यन्तर सम्पूर्ण अर्थ तथा अनर्थोंका समुदाय जो स्फुरित होता है वह सब सर्वत्र व्याप्त मन ही स्फुरित होता है, उसीसे अर्थोंका निर्भास होता है। मन तथा संसारके पदार्थोंमें भेद ऐसे

एकाभावे द्वयोः शान्तिः पवनस्पन्दयोरिव ।
नूनमेकोपशान्त्यैव निःसारे परमार्थतः ।
एकत्वादर्थमनसी सममेवाऽऽशु शाम्यतः ॥ ४१ ॥
अर्थः सङ्कल्परूपात्मा नेहितव्यो विजानता ।
मनश्च सम्यग्ज्ञानेन शान्तिरेवं भवेत्तयोः ॥ ४२ ॥
अनष्टे नश्यतश्चैते ज्ञस्यार्थमनसी स्वतः ।
मृन्मये द्विषति ज्ञानात् द्विषद्भावमये यथा ॥ ४३ ॥
यथासंस्थं स्थिते एव ज्ञस्यार्थमनसी सदा ।
किमप्यपूर्वमेवान्यत्सम्पन्ने भावरूपिणि ॥ ४४ ॥

---

नहीं है, जैसे जल और तरङ्गमें भेद नहीं है। [ठीक है, ऐसा ही सही, किन्तु इससे प्रकृतमें क्या आया? इसपर कहते हैं—'एकाभावे' से।] इसलिए मन तथा सांसारिक पदार्थ—इन दोनोंमेंसे किसी एकका बाध हो जानेपर दोनोंका ही बाध हो जाता है, जैसे कि पवन तथा उसके स्पन्दनका। इसलिए इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि परमार्थदृष्टिसे निःसार इस जगत्में एकरूप होनेके कारण अर्थ और मन दोनों ही किसी एककी शान्तिसे शान्त हो जाते हैं। इससे तत्त्वज्ञानसे जब अर्थका बाध हो जाता है तब मन भी बाधित हो ही जाता है ॥ ३८–४१ ॥

संसारके सब अर्थ सङ्कल्परूप ही हैं, बुद्धिमान् व्यक्तिको उसकी कभी भी इच्छा नहीं करनी चाहिए, मनकी भी यही स्थिति है, इसलिए तत्त्वज्ञानसे अर्थोंकी एवं मनकी निवृत्ति अवश्य हो जायगी ॥ ४२ ॥

संसारके पदार्थों और मनका जो यह बाध है वह स्वप्नमें हुए व्याघ्रनाशके समान अनष्टका ही नाश है, यह कहते हैं—'अनष्टे' इत्यादिसे।

भद्र, ज्ञानी पुरुषके अर्थ और मन अनष्ट ही नष्ट हो जाते हैं अर्थात् जब अर्थ और मनकी कभी उत्पत्ति ही नहीं हुई, तब उनका नाश ही क्या? इसलिए वे अनष्ट ही हैं। जैसे कि किसी एक मिट्टीकी मूर्तिमें भ्रान्तिसे कोई एक पुरुष अपने शत्रुकी कल्पना कर लेता है, किन्तु ज्ञानसे जब उसको मिट्टीकी मूर्ति मालूम पड़ जाती है, तब वह मूर्ति न शत्रुरूप ही रहती है और न शत्रु-जनित भयकी कारण ही होती है, बस वही स्थिति यहाँपर भी है ॥ ४३ ॥

ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें अर्थ और मन दोनों पारमार्थिक ब्रह्म-स्वभावसे ही

संहितार्थजगत्कालोऽप्यज्ञो ज्ञविषयोऽप्यसत् ।
पार्श्वसुप्तनरस्वप्न इव क्लीबाग्रयक्षवत् ॥ ४५ ॥
ज्ञस्य साज्ञं जगन्नास्ति वीरस्येव पिशाचधीः ।
ज्ञमज्ञो भावयत्यज्ञं चिरं वन्ध्याऽपि वर्द्धते ॥ ४६ ॥
विनैव ज्ञातशब्दार्थमर्थभावमिवागतम् ।
स्थितं बोधमनाद्यन्तं स्वभावं सर्गगं विदुः ॥ ४७ ॥
मनःशब्दार्थरहितं विभागान्तविवर्जितम् ।
बोधवारिमनोबुद्धितरङ्गमिव निर्मलम् ॥ ४८ ॥

स्थित हैं। वे जिस सांसारिक मिथ्यारूपसे स्थित थे उस रूपसे विलक्षण पूर्णानन्दात्मक पारमार्थिक सत्त्वरूपसे ही स्थित हैं ॥ ४४ ॥

तत्त्वज्ञकी दृष्टिसे सुखादि भोग एवं जगत्को कार्य-कारणरूपसे जुटा देनेमें समर्थ काल, कालकृत जन्मादिविकार, भोगकर्ता एवं अज्ञोंके शब्दादि विषय— ये सब ऐसे असत् हैं, जैसे समीपमें सोये हुए पुरुषका स्वप्न और अधीर बालकको सामने भास रहा यक्ष ॥ ४५ ॥

जैसे धीर-वीर पुरुषकी दृष्टिमें पिशाचबुद्धि अस्तित्व नहीं रखती, वैसे ही ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें अज्ञानियोंके समस्त जगत् भी अस्तित्व नहीं रखते। अज्ञानी पुरुष ज्ञानीको भी बहुतकालतक अज्ञानी समझता है। ठीक ही है, अज्ञानीकी दृष्टिसे तो वन्ध्या भी पुत्र-पौत्र आदि परम्परासे बढ़ती-रहती है ॥ ४६ ॥

तब तत्त्वज्ञानी पुरुष जगत्का स्वभाव कैसा मानते हैं, इसपर कहते हैं— 'विनैव' इत्यादिसे।

तत्त्वज्ञानी लोग तो ज्ञेयरूप न होते हुए भी स्वप्रकाशस्वरूप होनेसे ही अर्थाभासकी तरह स्थित यानी भासमान ( ज्ञेयरूप ) तथा आदि और अन्तसे शून्य ब्रह्मरूप बोधको संसारका असली स्वभाव कहते हैं ॥ ४७ ॥

बाह्य अर्थोंमें कहे गये जाननेके प्रकारको आभ्यन्तर मानसिक अर्थोंमें भी समझना चाहिए, यह कहते हैं—'मनःशब्दार्थरहितम्' इत्यादिसे।

और मनके शब्दार्थसे रहित ( मानसिक ज्ञानके अविषय ) कालादि विभागकृत परिच्छिन्नतासे वर्जित बोधरूपी जल मन एवं बुद्धिरूपी तरङ्गोंसे युक्त-सा प्रतीत होता है, परन्तु वह निर्मल ही है और इसीको प्रपञ्चगत स्वभाव समझते हैं ॥ ४८ ॥

क सम्भवत एवान्तः के वार्थमनसी किल ।
निरर्थिकैव विभ्रान्तिः स्वभावमयमास्यताम् ॥ ४९ ॥
शुद्धबोधस्वभावस्थैराकाशमिव शारदैः ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तान्तैर्मनस्त्वं नानुभूयते ॥ ५० ॥
विधूयानन्तनानात्वमसद्भावमनामये ।
ज्ञेयं रज्जुरिवाशेषं स्वभावे तिष्ठ चिद्घने ॥ ५१ ॥
ज्ञप्तिरेवान्तरं बाह्यं चार्थत्वमधितिष्ठति ।
बीजं शाखाफलानीव क्वातोऽर्थमनसी वद ॥ ५२ ॥

---

इस तरह बिस्तारके साथ अज्ञानी और तत्त्वज्ञानियोंके जगत्-ज्ञानके जो दो प्रकार दिखलाये गये हैं, उनमें यथार्थरूप होनेके कारण द्वितीय प्रकार ही उपादेय है, यह कहते हैं—'क सम्भवत०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, शुद्ध आत्माके भीतर संसारके पदार्थों तथा मनका संभव कहां है अथवा वे ही क्या हैं ? इस मन तथा जगत्के विषयमें उत्पन्न हुई भ्रान्ति बिलकुल निरर्थक है । इसलिए आपसे यही कहना है कि आप ब्रह्मस्वभावमें स्थित रहिये ॥ ४९ ॥

अपनी असली स्थिति जब सुदृढ़ हो जाती है, तब जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाएँ एकमात्र तुरीय बोधरूप बन जाती हैं तदनन्तर मनको मनन करनेका कोई विषय ही नहीं रह जाता, इससे मन भी शान्त हो जाता है, यह कहते हैं—'शुद्धबोध०' इत्यादिसे ।

शरत्कालके कमलों, तारों या मनुष्योंको आकाशकी नाईं शुद्धज्ञानस्वरूप ब्रह्मस्वभावमें स्थित पुरुषोंको जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंसे मनका अनुभव नहीं होता ॥ ५० ॥

जिसमें अनन्त नानात्व ( भेद ) उपस्थित है, ऐसे सम्पूर्ण ज्ञेयका विधूनन करके हे श्रीरामचन्द्रजी, रज्जुमें अध्यस्त सर्पका विधूनन कर अपने स्वरूपमें स्थित रज्जुकी नाईं आप भी अपने चिद्घन स्वभावमें स्थित हो जाइये ॥ ५१ ॥

बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थोंके स्वरूपको ज्ञप्ति ही धारण करती है, जैसे कि बीज शाखा तथा फल आदिके स्वरूपको धारण करता है । अतः हे श्रीरामचन्द्रजी, बतलाइये तो सही, ऐसी स्थितिमें अर्थ और मन कहां रहे ॥ ५२ ॥

ज्ञेयासम्भतो ज्ञप्तिरप्यनाख्यं पदं गता ।
शान्ताशेषविशेषात्मा तेन शेषोऽस्ति सत्स्वभाः ॥ ५३ ॥
अर्थ एव मनस्कारः स चाभावात्मको भ्रमः ।
मन एवार्थसंस्कारः स चाभावात्मको भ्रमः ॥ ५४ ॥
सर्वात्मत्वादजस्यैतदप्यकारणकं मनः ।
भ्रमानुभवतोऽर्थश्च मिथ्यैवास्तीव भासते ॥ ५५ ॥
अकारणकमेवार्थनिर्भासं भासते मनः ।
विद्युद्विलसिताकारमस्थिरं तरलायते ॥ ५६ ॥
त्वं मनस्कारमात्रात्मा संसृतौ विभ्रमायसे ।
स्वभावैकपरिज्ञानान्नासि नापि भ्रमायसे ॥ ५७ ॥

---

ज्ञेय पदार्थोंके अभावसे ज्ञप्ति ( बुद्धि या वृत्ति ) भी अनिर्वचनीय पदको प्राप्त हो चुकी है । इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, सम्पूर्ण विशेषोंसे शून्य स्वयंप्रकाश सद्रूप आत्मा ही शेष है ॥ ५३ ॥

पदार्थ और मन दोनोंका निरूपण एक-दूसरेके अधीन होनेसे इनमें कोई भेद न रहनेपर आखिरमें एकमात्र भ्रान्ति ही इनमें सिद्ध होती है, यह कहते हैं—'अर्थ एव' इत्यादिसे ।

अर्थ ही मन है और वह अभावरूप भ्रम है तथा मन ही जगत्‌के पदार्थ-रूपसे परिणत होता है और वह भी अभावरूप भ्रम ही है ॥ ५४ ॥

तब ऐसी दशामें जगत्‌के पदार्थ और मन—वे दोनों तत्त्वतः क्या हैं ? इसपर कहते हैं—'सर्वात्मत्वात्' इत्यादिसे ।

ब्रह्मके सम्पूर्ण वस्तुओंकी आत्मा होनेसे कारणशून्य इस मनरूपसे वही भासता है । और भ्रमके अनुभवसे पदार्थ भी मिथ्या ही भासता है ॥ ५५ ॥

हे श्रीरामजी, जैसे कारणरहित अर्थोंका प्रकाश होता है वैसे ही कारणरहित ही मन भी भासता है । बिजलीकी चमकके तुल्य अस्थिर यह मन इधर-उधर अपनी चंचलता प्रकट करता है ॥ ५६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, एकमात्र मनका स्वरूप होकर आप भी इस संसारमें भ्रान्त-से हो रहे हैं । एक आत्मस्वभावका यदि आप परिज्ञान कर लेते हैं, तब तो आप न मनरूप हैं और न भ्रान्त-से ही हो रहे हैं ॥ ५७ ॥

मनसैव हि संसार आत्मबोधेन शाम्यति ।
शुक्तिरूप्यभ्रमाकारो जनो मिथ्यैव ताम्यति ॥ ५८ ॥
अभावभावस्तु परं बोधरूपमसंसृतिः ।
निर्वाणादितरा सत्ता दुःखायाहमिति भ्रमः ॥ ५९ ॥
मृगतृष्णाम्बुरूपोऽहमसच्छून्यस्वरूपकः ।
इत्येवात्मपरिज्ञानादहमित्येव शाम्यति ॥ ६० ॥
ज्ञात्वा ज्ञानमयो भूत्वा सबाह्याभ्यन्तरार्थताम् ।
गतं स्वमत्यजद्रूपं तरङ्गत्वं यथा पयः ॥ ६१ ॥
मूलशाखाग्रपर्यन्ता सत्ता विटपिनो यथा ।
निर्विकारमलं ज्ञप्तेर्ज्ञेयान्तैकैव भासते ॥ ६२ ॥

---

यह निश्चित है कि मनसे ही यह संसार उत्पन्न होता है और आत्मज्ञानसे शान्त हो जाता है। सीपमें चांदीके भ्रमके आकारका मनुष्य झूठ-मूठमें दुःख उठाता है ॥ ५८ ॥

परन्तु ज्ञान ही परमात्माका असली स्वरूप है और संसारका अभाव भी ज्ञानरूप ही है। निर्वाणसे भिन्न 'अहम्' यह भ्रमरूप सत्ता तो एकमात्र दुःखके लिए ही है ॥ ५९ ॥

तब निर्वाणसे भिन्न 'अहम्' यह भ्रमरूप सत्ता किस उपायसे शान्त होती है, वह उपाय बतलाते हैं—'मृगतृष्णा०' इत्यादिसे ।

मृगतृष्णाजलके सदृश इस अहङ्कारका रूप असत् और शून्य ही है, इस तरहके आत्माके परिज्ञानसे यह अहङ्कार बिलकुल शान्त हो जाता है ॥ ६० ॥

ऐसा कैसे होगा ? इसपर कहते हैं—'ज्ञात्वा' इत्यादिसे ।

सृष्टिके प्रारम्भमें ज्ञानमय ब्रह्मा सर्वज्ञ होनेके कारण सृष्टि करने योग्य सभी पदार्थोंको आत्मस्वरूप ही जानकर स्वयं उस तरहके ज्ञानसे युक्त हिरण्यगर्भ होकर उसके सङ्कल्पके अनुसार बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थरूपताको अपने शुद्ध आत्मस्वरूपका परित्याग न करते हुए ही ऐसे प्राप्त हो गये, जैसे तरङ्ग-रूपताको जल ॥ ६१ ॥

ठीक है, ऐसा ही सही, किन्तु इससे प्रकृतमें क्या आया, इसपर कहते हैं—'मूलशाखा०' इत्यादिसे ।

यथा योजनलक्षाभमेकमेवामलं नभः ।
एकमेव तथा ज्ञानं ज्ञेयान्तं भात्यखण्डितम् ॥ ६३ ॥
शून्यत्वादेकममलं यथा सर्वगमेव खम् ।
तथैकममलं ज्ञात्वा ज्ञानज्ञेयदशास्वपि ॥ ६४ ॥
घृतेनात्मा घनीभूय पाषाणीक्रियते यथा ।
चिता चेत्यतयाऽऽत्मैव स्वचित्तीक्रियते तथा ॥ ६५ ॥
देशकालं विनैवाऽऽत्मा बोधाबोधेन चित्तताम् ।
अबुद्धो नीयते न्यायैरेकमेवैष सुस्थितः ॥ ६६ ॥
अत्र यद्यप्यबोधादेः सम्भवो नास्ति कश्चन ।
तथापि कल्प्यतेऽत्रैव बोधनाय परस्परम् ॥ ६७ ॥

---

इससे यह सिद्ध हुआ कि मूलसे लेकर शाखाके अग्रभाग तक वृक्षकी जैसे एक ही सत्ता है वैसे ही ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप जगत्‌में भी अत्यन्त निर्विकारभावको प्राप्त ज्ञेयपर्यन्त एक ही ज्ञप्तिकी ( ज्ञानस्वरूप ब्रह्मकी ) सत्ता सर्वत्र भास रही है, दूसरी सत्ता नहीं है ॥ ६२ ॥

सत्ताकी एकतामें दूसरा दृष्टान्त देकर उसका उपपादन करते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे लाखों योजनपर्यन्त दूर एक ही निर्मल आकाश भासता है, वैसे ही ज्ञेयपर्यन्त एक ही अखण्डित निर्मल ज्ञान भासता है ॥ ६३ ॥

ज्ञानकी निर्मलतामें भी यही दृष्टान्त है, यह कहते हैं—'शून्यत्वा०' इत्यादिसे ।

जैसे सर्वत्र विद्यमान एक आकाश शून्यरूप होनेसे निर्मल है, वैसे ज्ञान-ज्ञेयदशामें भी विद्यमान ब्रह्म निर्मल है, यह जानकर स्थित रहिये ॥ ६४ ॥

जैसे शरीरको आत्मा घीके साथ मिलकर पाषाण-सा बना देता है, वैसे ही चेत्यरूप बनकर चिति ही आत्माको स्वचित्तरूप बना देती है ॥ ६५ ॥

बोधरूप आत्माके अज्ञानसे ही देश, काल आदि सामग्रीके बिना यह अज्ञानी आत्मा चित्तरूप बन गया है । वस्तुतः उक्त तर्कोंसे यह आत्मा एक ही स्थित है ॥ ६६ ॥

शुद्ध चिदात्मामें यद्यपि अज्ञान आदिका कोई संभव नहीं है, तथापि अज्ञानकालमें एक दूसरोंको बोध देनेके लिए यह सब कल्पना की जाती है ॥ ६७ ॥

जैसे घनीभूत होकर घी अपनेको पाषाणरूप कर लेता है ऐसेही चेतन चेत्यरूप होके आपनेको चित्तरूप करता है

महानुभावा विगताभिमाना
विमूढभावोपशमे गलन्ति ।
निर्भ्रान्तयोऽनन्ततयैव शान्ता
नित्यं समाधानमया भवन्ति ॥ ६८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्मैकतानतोपदेशो नाम त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

## चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

श्रीराम उवाच

क्रमात्समाधानतरोराजीवफलशालिनीम् ।
सलताकुसुमां ब्रूहि सत्तां विश्रान्तिदां मुने ॥ १ ॥

---

चूँकि अविद्या आदिका स्वरूप सर्वथा असंभव है, इसलिए तत्त्वज्ञानका उदय हो जानेपर अविद्याके साथ सब पदार्थ गल जाते हैं। इस तरह उपसंहार करते हैं—'महानुभावा' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, तत्त्वज्ञानसे मूलाज्ञानके शान्त हो जानेपर महानुभाव लोग अभिमानरहित हो घीकी तरह अपने स्वरूपमें ही गलित हो जाते हैं तथा गल जानेसे वे निरतिशयानन्दपूर्णभावसे शान्त होते हुए विक्षेपरहित हो निरन्तर समाधिरूपी विश्रान्तिमें तत्पर होते हैं ॥ ६८ ॥

तैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

---

## चौवालीसवाँ सर्ग

[ समाधिरूपी कल्पद्रुमको हरतरहसे बढ़ाना चाहिये, ताकि उसके नीचे जीवका श्रान्त मनरूपी मृग अच्छी तरह विश्रान्ति पा सके, यह वर्णन ]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुने, समाधिरूपी वृक्षकी सत्ताका ( स्थितिका ) क्रमशः वर्णन कीजिये, जो विवेकी पुरुषोंके जीवनके उपयोगी सब तरहके फलोंसे

वसिष्ठ उवाच

आजीवमुद्यदुत्सेधं विवेकिजनकानने ।
पत्रपुष्पफलोपेतं समाधानतरुं शृणु ॥ २ ॥
यथाकथंचिदुदितं दुःखेन स्वयमेव च ।
संसारवननिर्वेदं बीजमस्य विदुर्बुधाः ॥ ३ ॥
शुभजालहलाकृष्टं रसासिक्तमहर्निशम् ।
प्रवहच्छ्वसनाकुल्यं क्षेत्रमस्य विदुर्बुधाः ॥ ४ ॥
समाधिबीजं संसारनिर्वेदः पतति स्वयम् ।
चित्तभूमौ विविक्तायां विवेकिजनकानने ॥ ५ ॥
स्वचित्तभूमौ पतितं ध्यानबीजं महाधिया ।
सेकैरमीभिर्यत्नेन संसेक्तव्यमखेदिना ॥ ६ ॥

---

सुशोभित है तथा जो लता, पुष्प आदिसे युक्त मनरूपी मृगको विश्रान्ति प्रदान करनेवाली है ॥ १ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, सुनिये, मैं आपसे ऐसे समाधिरूपी वृक्षका वर्णन कर रहा हूँ, जो विवेकीजनरूपी जङ्गलमें पैदा हुआ है, जिसकी ऊँचाई अभी भी बढ़ती ही जा रही है, जो अपने पत्र, पुष्प एवं फलोंसे खूब लदा है और जो विवेकी पुरुषोंको सब तरहसे जीवन प्रदान करनेवाला है ॥२॥

शत्रुओं तथा सगे-सम्बन्धियों द्वारा हुए अपमान आदिसे जन्य दुःखसे या भाग्यवशात् अपने-आप अथवा साधुओं या मित्रों आदिके उपदेशसे या और किसी दूसरे निमित्तसे तात्पर्य यह कि जिस किसी तरहसे उत्पन्न हुआ जो संसाररूपी वनमें परम वैराग्य है, उसीको विद्वान् लोग समाधिरूपी वृक्षका बीज कहते हैं ॥३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्तको ही विद्वान् लोग इस बीजका खेत बतलाते हैं, जो शुभकर्मसमूहरूपी हलोंसे खूब जोता गया है, शान्ति आदि जलसे रात-दिन खूब सींचा गया है तथा निरन्तर बह रहे प्राणायामरूपी नहरसे जो युक्त है ॥ ४ ॥

यह संसारका परम वैराग्यरूप समाधिका बीज विवेकीजनरूपी जंगलमें विवेकज्ञानसे परिष्कृत चित्तरूपी भूमिमें अपने ही जाकर गिरता है ॥ ५ ॥

अपनी चित्तरूप भूमिमें गिरे हुए पूर्वोक्त वैराग्यरूपी समाधिबीजको

शुद्धैः स्निग्धैः पवित्रैश्च मधुरैरात्मनो हितैः ।
सत्सङ्गमनवक्षीरैरैन्दवैरमृतैरिव ॥ ७ ॥
अन्तःशून्यप्रदैः पूर्णैः स्वच्छैरमृतशीतलैः ।
विसृतैरमृताकुल्याशास्त्रार्थवरवारिभिः ॥ ८ ॥
स्वचित्तभूमौ पतितं परिज्ञाय महाधिया ।
बीजं संसारनिर्वेदो रक्ष्यं ध्यानस्य यत्नतः ॥ ९ ॥
तपःप्रकारदानेन पदार्थघटनेशितैः ।
तीर्थायतनविश्रान्तिवृत्तिविस्तारकल्पनैः ॥ १० ॥

---

बढ़ानेकी इच्छासे दृढ़बुद्धि रखनेवाले खेदशून्य पुरुषको निम्नलिखित जलोंसे यत्नपूर्वक निरन्तर उसे सींचते रहना चाहिये ॥ ६ ॥

सर्वप्रथम बुद्धिमान् पुरुषको सज्जनोंकी सङ्गतिरूपी नवीन क्षीरसे, तदनन्तर शास्त्ररूपी अमृतसे उसे सींचना चाहिये, यह कहते हैं—'शुद्धैः' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह शुद्ध, स्नेहयुक्त, पवित्र, मधुर और आत्माके लिए हितकारक, चन्द्रमाके अमृतके सदृश सत्संगमरूपी नूतन क्षीरसे समाधिके बीजको सबसे पहले सिक्त करे । उसके बाद 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियों द्वारा सम्पूर्ण द्वैतके निषेधसे अन्तःकरणको सांसारिक पदार्थोंसे शून्य बना देनेवाले, पूर्ण, स्वच्छ, सब तरहके तापोंकी शान्ति हो जानेसे अमृतकी तरह स्वादु और शीतल तथा अमृतप्रवाहके नहरके तुल्य तत्त्वज्ञानके द्वारभूत श्रवण-मननादिरूप शास्त्रार्थोंके निर्मल जलोंसे समाधिके बीजको सिक्त करे ॥ ७, ८ ॥

संसारको त्याग देनेकी प्रबल इच्छारूप समाधिबीजको अपनी चित्तरूपी भूमिमें गिरे जानकर बुद्धिमान् पुरुषको उसकी अनेक यत्नोंसे रक्षा करनी चाहिये ॥ ९ ॥

वे यत्न कौन हैं, इसपर कहते हैं—'तपःप्रकारदानेन' इत्यादिसे ।

कायिक, वाचिक तथा मानसिक तप एवं दानसे और अभिमान आदिसे शून्य पदार्थोंके संघटनसे समर्थित—पुण्यमय तीर्थ स्थानोंमें निवासरूपी वृत्तिके विस्तारकी नानाविध—कल्पनाओंसे इस बीजकी रक्षा करनी चाहिए ॥ १० ॥

कर्तव्योऽङ्कुरितस्यास्य रक्षिता शिक्षिताशयः ।
सन्तोषनामा प्रियया नित्यं मुदितयाऽन्वितः ॥ ११ ॥
पश्चात्स्थिताशाविहगान्परप्रणयपक्षिणः ।
अस्मादापततः कामगर्वगृध्रान्निवारयेत् ॥ १२ ॥
मृदुभिः सत्क्रियाकुन्तैर्विवेकार्कातपैरपि ।
अचिन्त्यालोकदैरस्मान्मार्जितव्यं रजस्तमः ॥ १३ ॥
सम्पदः प्रमदाश्चैव तरङ्गाभोगभङ्गुराः ।
पतन्त्यशनयस्तस्मिन् दुष्कृताभ्रसमीरिताः ॥ १४ ॥
धैर्योदार्यदयामन्त्रैर्जपस्नानतपोदमैः ।
विनिवारयितव्यास्ताः प्रणवार्थत्रिशूलिना ॥ १५ ॥
इति संरक्षितादस्माद्ध्यानबीजात्प्रवर्तते ।
आभिजात्योन्नतः श्रीमान्विवेकाख्यो नवाङ्कुरः ॥ १६ ॥

---

इस तरह सींचने आदिके बाद बीजमें जब अङ्कुर पैदा हो जाय, तब इसकी रक्षाके लिए अत्यन्त निपुण सन्तोषनामक पुरुषको उसकी मुदितानामक प्रियपत्नीके साथ संरक्षक बना देना चाहिये ॥ ११ ॥

तदनन्तर पूर्ववासनाओंमें स्थित आशारूपी विहगों, आत्मासे भिन्न पुत्र, मित्र, आदिमें अनुरागरूपी पक्षियों तथा ध्यानाङ्कुरके नाशके लिए झपट रहे काम, गर्व धन आदिरूप गृध्रोंको इसी सन्तोषनामक रक्षक द्वारा दूर भगा देना चाहिए ॥१२॥

अहिंसाप्रधान होनेसे अत्यन्त कोमल, यम, नियम, प्राणायाम, ईश्वरोपासनादि सत्क्रियारूपी झाडुओंसे इस अंकुरके खेतसे रजको ( रजोगुणको ) दूर फेंक देना चाहिये तथा इसी तरह अचिन्त्य ब्रह्मलोकपद विवेकरूपी धूपसे अज्ञानरूपी अन्धकारको भी दूर भगा देना चाहिये ॥ १३ ॥

भोगों द्वारा क्षणभंगुर तथा तरङ्गोंके समान चंचल, दुष्कृतरूपी मेघोंसे प्राप्त सम्पत्ति और प्रमदारूपी अनेक वज्र इस अंकुरके ऊपर गिरते हैं ॥ १४ ॥

इसलिए धैर्य, औदार्य तथा दया आदि यत्नोंसे एवं जप, स्नान, तप और दम आदिके द्वारा प्रणवके अर्थरूप त्रिशूलको धारण करके उन वज्रपातोंका निवारण करना चाहिए ॥ १५ ॥

इस तरहसे रक्षित इस ध्यानके बीजसे विवेकनामक नवीन अंकुर उत्पन्न

तेन सा चित्तभूर्भाति सप्रकाशा विकासिनी ।
भवत्यालोकरम्या च खं यथाऽभिनवेन्दुना ॥ १७ ॥

तस्मादङ्कुरतः पत्रे उभौ विकसतः स्वयम् ।
एकं शास्त्राभिगमनं द्वितीयं साधुसङ्गमः ॥ १८ ॥

स्तम्भमेष निबध्नाति स्थैर्यं नाम समुन्नतिम् ।
सन्तोषत्वग्विवलितं वैराग्यरसरञ्जितम् ॥ १९ ॥

वैराग्यरसपुष्टात्मा शास्त्रार्थप्रावृषान्वितः ।
स्वल्पेनैव स्वकालेन परामेति समुन्नतिम् ॥ २० ॥

शास्त्रार्थसाधुसम्पर्कवैराग्यरसपीवरः ।
रागद्वेषकपिक्षोभैर्न मनागपि कम्पते ॥ २१ ॥

अथ तस्मात्प्रजायन्ते विज्ञानालङ्कृताकृतेः ।
लता रसविलासिन्य इमा विततदेशगाः ॥ २२ ॥

---

होता है, जो अत्यन्त पुष्ट और सौन्दर्यकी अधिकतासे उन्नत एवं श्रीसम्पन्न रहता है ॥ १६ ॥

जैसे अभिनव चन्द्रमासे आकाश सुन्दर प्रतीत होता है वैसे ही उस विवेक-नामक नवीन अंकुरसे आत्मप्रकाशयुक्त विकासशालिनी चित्तभूमि आलोक रहनेसे सुन्दर प्रतीत होती है ॥ १७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस अंकुरसे दो पत्ते अपने-आप निकलते हैं। जिनमें एकका नाम तो वेदान्तशास्त्रोंका विचार और दूसरेका साधुपुरुषोंका समागम है ॥१८॥

आगे चलकर यह अंकुर सन्तोषरूपी त्वचासे वेष्टित तथा वैराग्यरूपी रससे रञ्जित हो काण्ड, दृढ़मूलता और अपनी ऊँचाईको ग्रहण करता है ॥ १९ ॥

शास्त्रार्थरूपी वर्षाका जल पाकर वैराग्यरूपी रससे जब इसकी आत्मा खूब पुष्ट हो जाती है तब यह अंकुर अपने थोड़ेसे ही समयमें परम उन्नतिको प्राप्त हो जाता है ॥ २० ॥

वेदान्तशास्त्रोंके विचार, साधुओंकी सङ्गति तथा वैराग्यरूपी रससे जब यह खूब मोटा हो जाता है तब राग-द्वेषरूपी बन्दरोंके हिलाने-डुलानेसे तनिक भी कम्पित नहीं होता ॥ २१ ॥

तदनन्तर विज्ञानसे अलंकृत आकारवाले उस विवेकसे आत्मरससे

स्फुटता सत्यता सत्ता धीरता निर्विकल्पता ।
समता शान्तता मैत्री करुणा कीर्तिरार्यता ॥ २३ ॥
लताभिर्गुणपत्राभिः स ध्यानतरुरूर्जितः ।
यशःपुष्पाभिरेताभिः पारिजातायते यतेः ॥ २४ ॥
इत्यसौ ज्ञानविटपी लतापल्लवपुष्पवान् ।
भविष्यज्ज्ञानफलदो दिनानुदिनमुत्तमः ॥ २५ ॥
यशःकुसुमगुच्छाढ्यो गुणपल्लवलासवान् ।
वैराग्यरसविस्तारी प्रज्ञामञ्जरिताकृतिः ॥ २६ ॥
सर्वाः शीतलयत्याशाः प्रावृषीव पयोधरः ।
सर्वातपं शमयति सूर्यतापमिवोडुपः ॥ २७ ॥

---

विलास करनेवाली एवं बहुत दूर देशतक जानेवाली * ये लताएँ प्रादुर्भूत होती हैं—॥ २२ ॥

स्वात्मतत्त्वका स्पष्ट आविर्भाव, एकमात्र उसीकी सत्यता, आत्मस्वरूपसे स्थिति, धीरता, निर्विकल्पता, समता, शान्तता, मैत्री, करुणा, कीर्ति और आर्यता—ये सब लताएँ उसी एक विवेकरूपी अंकुरसे निकलती हैं ॥ २३ ॥

यशरूपी पुष्पों तथा शान्ति आदि गुणरूपी पत्तोंसे शोभित इन लताओंसे परिपुष्ट ध्यानरूपी वृक्ष संन्यासीके लिए पारिजात-सा बन जाता है—कल्पवृक्ष हो जाता है ॥ २४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, लता, पल्लव तथा पुष्पोंसे सुशोभित इस तरहका यह उत्तम ज्ञानरूपी वृक्ष ( समाधिरूपी वृक्ष ) दिन-पर-दिन भविष्यत् कालमें मूलाज्ञानके उच्छेदक ब्रह्मसाक्षात्काररूपी ज्ञानका प्रदाता होता है, जिससे कि सप्तम भूमिकातक विश्रान्ति प्राप्त हो जाय ॥ २५ ॥

यशरूपी पुष्पोंके गुच्छोंसे भरा, गुणरूपी पत्तोंके विलाससे भूषित, वैराग्यरूपी रससे विस्तारको प्राप्त तथा प्रज्ञारूपी मञ्जरियोंसे अलंकृत यह समाधिरूपी वृक्ष सारी दिशाओंको ऐसे शीतल कर देता है; जैसे कि वर्षा ऋतुमें मेघ एवं सांसारिक तापको ऐसे शान्त कर देता है, जैसे कि सूर्यके तापको चन्द्रमा ॥ २६,२७ ॥

---

* शाखा-प्रशाखाओंके रूपमें फैलकर बहुत दूर देशतक जानेवाली—यह साधारण अर्थ है। इसका विशेष अर्थ 'अपरिच्छिन्न आत्म-प्रदेशमें जानेवाली' है।

प्रतनोति शमच्छायां छायामिव घनागमः ।
निरोधमास्फारयति शमोऽनिल इवाम्बुदम् ॥ २८ ॥
निबध्नात्यात्मना पीठं कुलाचल इव स्थितम् ।
फलस्य रचयत्यूर्ध्वं घटिकामङ्गलादिताम् ॥ २९ ॥
विवेककल्पवृक्षे तु वर्द्धमाने दिनेदिने ।
छायावितानवलिते पुंसो हृदयकानने ॥ ३० ॥
प्रवर्तते शीतलता तलतापापहारिणी ।
अभ्युल्लसन्मतिलता तुषारोदरसुन्दरी ॥ ३१ ॥
यस्यामवान्तरश्रान्तो विश्राम्यति मनोमृगः ।
आजन्मजीर्णपथिकः पथि कोलाहलाकुलः ॥ ३२ ॥
सत्तामात्रात्मशरीरचर्मार्थं प्रेक्षितोऽरिभिः ।
नानातासारसाकारगोपयज्जर्जरोन्मुखः ॥ ३३ ॥



जैसे मेघ छायाका विस्तार करता है वैसे ही यह भी शमतारूपी छायाका विस्तार करता है और शम भी चित्तकी स्थिरताको ऐसे बढ़ाता है, जैसे पूर्वी हवा बादलको ॥ २८ ॥

आत्मज्ञानके मूलबन्धको यह अपनेसे ही ऐसे बाँध देता है, जैसे कुलाचल-पर्वत स्थित अपने मूलको । हे श्रीरामजी, यह वृक्ष, अपने ऊपर कैवल्यनामक फल देनेवाले शान्ति आदि माङ्गलिक गुच्छोंकी शोभा रचता है ॥ २९ ॥

पुरुषके हृदयरूपी जंगलमें छायाके वितानसे वेष्टित इस विवेकरूपी कल्प-वृक्षके दिन-दिन बढ़नेपर हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्तरूपी भूमिके आध्यात्मिक, आधि-भौतिक तथा आधिदैविक तापोंका हरण करनेवाली उल्लसित हो रही बुद्धिरूपी लतासे तुषारगर्भके समान एक सुन्दर शीतलता प्रवृत्त होती है ॥ ३०,३१ ॥

अनेक जन्मोंके नानाविध दुःखोंसे जीर्ण, दैवात् सन्मार्ग प्राप्त हो जानेपर भी नानावादियोंके कोलाहलसे व्यग्र होकर उस मार्गसे भ्रष्ट एवं विभिन्न संसार-प्रान्तोंमें घूमते रहनेसे श्रान्त यह मनरूपी पथिक मृग इसी वृक्षकी शीतल छायामें आकर विश्राम करता है ॥ ३२ ॥

एकमात्र सत्ता ही जिसकी आत्मा है ऐसे पुरुषरूपी चमड़ेका अपहरण करनेके लिए काम, क्रोध आदि छः व्याध इसके पीछे पड़े हैं । अनेक प्रकारके

संसारारण्यविसरद्वासनापवनेरितः ।
अहन्तातापसरिता सर्वदा विप्रदारदी ॥ ३४ ॥
दीर्घादरीदूरचितसारसंचारजर्जरः ।
पुत्रपौत्रपरामर्शप्रतापात्पतितोऽवटे ॥ ३५ ॥
लक्ष्मीलताविलुठनात्सङ्कटैः कुण्ठिताङ्गकः ।
तृष्णाश्रीसरितं गृह्णन् कल्लोलैर्दूरमाहतः ॥ ३६ ॥
व्याधिदुर्व्याधवैधुर्यपलायनपरायणः ।
अशङ्कितविधिर्व्याधपातादिव कृताकृतिः ॥ ३७ ॥

---

असार शरीर आदिरूप कण्टकोंके कुञ्जोंमें बार-बार छिपकर यह अपनेको बचानेकी चेष्टा करता है। यहाँतक कि उन कुञ्जोंमें बार-बार छिपनेकी कोशिश करनेसे इस मृगका मुख उस शरीरके अन्दर वर्तमान नाना प्रकारके दोषरूपी काँटोंसे जर्जर हो गया है ॥ ३३ ॥

वासनारूपी पवनसे प्रेरित संसाररूपी जंगलमें दौड़ रहा यह मृग अहन्तारूपी मृगतृष्णाकी ओर सदा दौड़ते रहनेसे अन्तःकरणके तृष्णारूपी विषके दाहसे अत्यन्त व्याकुल हो गया है ॥ ३४ ॥

यह मनरूपी मृग अनेक प्रकारके भोगोंमें आदर रखनेवाला है—थोड़ेमें कभी सन्तुष्ट नहीं रहता। यही कारण है कि चाहे कितना ही दूर क्यों न हो, लेकिन वहाँ भी उपजे हुए हरे-हरे तृणरूपी विषयोंमें बराबर दौड़ते रहनेसे इसका शरीर बिलकुल जर्जर हो गया है। [ क्या कहा जाय ! ] यह तो पुत्र, पौत्र आदिकोंके रात-दिन परिपालनकी चिन्तामें ही व्यस्त रहनेके कारण आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक तीन तरहके तापोंसे अनर्थरूपी गड्ढेमें जा गिरा है ॥ ३५ ॥

सम्पत्तिरूपी लताओंमें पैर फँस जानेसे जब यह उठकर भागना चाहता है तब पुनः लड़खड़ाकर गिर पड़ता है, इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, शत्रु, चोर तथा राजा आदि इसे शीघ्र पकड़कर बाँध ले जाते हैं, खूब पीटते हैं तथा नाना प्रकारके दण्ड लगाते हैं। इन सब संकटोंसे इसका शरीर अत्यन्त कुण्ठित हो गया है—किसी कामका नहीं रह गया है। तृष्णारूपी सुन्दर नदीका अवगाहन करनेवाला यह, क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह आदिरूप तरङ्गोंसे दूर फेंक दिया जाता है ॥ ३६ ॥

अनेक व्याधिरूपी दुष्ट व्याधोंके दुःखोंसे पलायनमें तत्पर यह मृग दैवकी

ज्ञेयास्पदसमायातदुःखसायकशङ्कितः ।
वैरिविद्रवणव्यग्रो दृषदाहरणाङ्कितः ॥ ३८ ॥
उन्नतानतसम्पातनिपातेनातिघूर्णितः ।
विकारोपलनिर्घातैः पारम्पर्येण चूर्णितः ॥ ३९ ॥
तृष्णाचारुलताजालप्रवेशवशविक्षतः ।
स्वप्रज्ञारचिताचारः परमायास्वशिक्षितः ॥ ४० ॥
इन्द्रियग्राममागत्य प्रपलायनतत्परः ।
सुदुर्ग्रहगजेन्द्रोग्रविस्फूर्जनविमर्दितः ॥ ४१ ॥
विषयाजगरोदारविषफूत्कारमूर्च्छितः ।
कामुकः कामिनीभूमौ रसात्प्रायो विपोथितः ॥ ४२ ॥

---

संभावनासे रहित है । व्याधोंके आगमनसे मानो इसने अपने आकारको संकुचित कर लिया है ॥ ३७ ॥

नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियोंके आस्वादके विषय गीतों, घण्टाके शब्दों तथा यव आदि अङ्कुरोंके निमित्तभूत व्याधोंके खेत आदिसे उत्पन्न दुःखरूपी बाणोंसे शङ्कित, काम, क्रोध आदि शत्रुओंके आक्रमणसे व्यग्र तथा पत्थरोंके प्रहारोंके तुल्य पूर्व-पूर्वकालके दुःखोंके अनुभवरूप संस्कारोंसे युक्त यह मनरूपी मृग है ॥ ३८ ॥

स्वर्ग, नरक आदिरूप ऊँचे-नीचे स्थानोंमें क्रमशः चढ़ने-गिरनेसे इसके मस्तकमें चक्कर आ गया है तथा काम, क्रोध आदिरूप पत्थरोंकी निरन्तर चोट खानेसे यह चूर्ण-चूर्ण हो गया है ॥ ३९ ॥

तृष्णारूपी सुन्दर लताओंमें छिपते रहनेसे इसका शरीर घावयुक्त हो गया है । इसने अपनी बुद्धिसे अनेक तरहके आचारोंकी कल्पना कर रक्खी है । हे श्रीरामचन्द्रजी, यह परमात्माकी मायाके विषयमें अशिक्षित है ॥ ४० ॥

यह इन्द्रियरूपी गांवमें आकर भागनेमें तत्पर है । जिसको वशमें कर लेना कोई लड़कोंका खेल नहीं है ऐसे कामरूपी गजेन्द्रकी भयानक गर्जनासे यह मर्दित हो चुका है ॥ ४१ ॥

विषयरूपी अजगरोंके भयानक विषरूपी फुफकारसे यह मूर्च्छित हो गया है तथा कामिनीरूपी भूमिमें कामुक यह मनरूपी मृग विषयरससे प्रायः मर्दित हो गया है ॥ ४२ ॥

कोपदावानलप्लुष्टपृष्ठविस्फोटदाहवान् ।
सदा गतागतानेकदीर्घदुःखप्रदाहवान् ॥ ४३ ॥
स्वात्मलग्नाभिलाषांशदंशदोषैरुपद्रुतः ।
भोगलोभलसन्मोदश्रृगालचिरविद्रुतः ॥ ४४ ॥
स्वकर्मकर्तृतोद्भ्रान्तदारिद्र्यद्वीप्यनुद्रुतः ।
व्यामोहमिहिकान्धस्वकूटावटलुठत्तनुः ॥ ४५ ॥
मानसिंहसमुल्लासहृदयोत्कम्पनातुरः ।
मरणेन रणे येन वृकपुष्पमिवेक्षितः ॥ ४६ ॥
गर्वेण गिरणायाशु दूरतो जनसेवितः ।
कामैः समन्ततो दन्तवितानितयवाङ्कुरः ॥ ४७ ॥

क्रोधरूपी दावाग्निसे यह जल गया है। यही कारण है कि इसके पीठपर मानो फोड़ा हो जानेसे इसे बाहर दाह हो रहा है। और हे श्रीरामजी, विषयोंमें बार-बार भ्रमण करते रहनेसे अनेक तरहके चिन्तारूपी दुःखोंसे इसके भीतर भी भारी दाह उठ रहा है ॥ ४३ ॥

अपनी आत्मामें संलग्न अनेक अभिलाषारूपी मच्छर इसे काट-खाये डालते हैं। भोगोंके लोभमें मनोहर प्रमोदरूपी सियार इसके पीछे चिरकालसे दौड़ रहे हैं और यह भी उनके भयसे वेगपूर्वक आगे भाग रहा है ॥ ४४ ॥

यह तो अपने ही कर्म और कर्तृताके फेरमें पड़कर उद्भ्रान्त हो गया है, फिर भी एक दारिद्र्यरूपी व्याघ्र इसके पीछे लगा है। स्त्री, पुत्र आदिमें आसक्ति-रूपी व्यामोहमिहिकासे—अन्धा बना देनेवाले कुहरेसे अन्धा होकर कपटरूपी पर्वतकी चोटियोंपर चढ़ते समय नीचकृत्यरूपी गड्ढोंमें गिर जानेसे इसका शरीर भग्न हो गया है ॥ ४५ ॥

मानरूपी सिंहके समुल्लाससे इसके हृदयमें उत्कम्पन हो रहा है—इसकी छाती धड़क रही है, उससे यह आतुर हो गया है। तथा प्रसिद्ध मृत्युरूपी व्याघ्रसे प्रहार करते समय अगस्त वृक्षके पुष्पकी नाईं सुखपूर्वक विदीर्ण करने योग्य यह दृष्ट है ॥ ४६ ॥

निर्जन जंगलमें गर्वरूपी अजगर इसको शीघ्र निगल जानेके लिए चिरकालसे प्रतीक्षा कर बैठा है। नानाविध कामनाओंकी सिद्धिके लिए चारो ओर अपनी

तारुण्यनारीसुहृदा क्षणमालिङ्ग्यवर्जितः ।
दुःसञ्चारेषु पवनैः कुपितैरिव वर्जितः ॥ ४८ ॥
कदाचिन्निर्वृतिं याति स शमं च तरौ क्वचित् ।
मनोहरिणको राजन्नाजीवमिव भास्वति ॥ ४९ ॥
तालीतमालबकुलादिकवृक्षगुल्म-
विश्रान्तिषु प्रचुरपुष्पविलासहासैः ।
नामापि यस्य न विदन्ति सुखस्य मूढाः
प्राप्नोति तच्छमतरोः स्वमनोमृगो वः ॥५०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मनोमृगविपद्वर्णनं नाम चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

---

दीनता प्रकटकर भीख माँगनेके निमित्त इसने दाँतोंरूपी मानो यवके अंकुर फैला रक्खे हैं ॥ ४७ ॥

स्त्रीके लिए बने हुए युवावस्थारूपी प्रियमित्रने क्षणभर इसका आलिङ्गन कर इसे फिर छोड़ दिया है। झंझावातके सदृश कुपित इन्द्रियोंने दुर्गम नरक लोक तथा स्थावर आदि योनिरूप अनेक जंगलोंमें ले जाकर इसे बार-बार फेंक दिया है ॥४८॥

हे राजन्, इस तरहका यह मनरूपी मृग अनेक जन्मोंके संचित पुण्यके उदयसे कभी अधिकारी शरीरमें शम आदि साधनोंसे युक्त होनेपर इस पूर्वोक्त समाधिरूपी वृक्षके नीचे विश्रान्तिसुखको ऐसे प्राप्त करता है, जैसे रातमें शीत तथा अन्धकारसे पीड़ित प्राणी सूर्यका उदय होनेपर ॥ ४९ ॥

हे श्रोताओ, ताली, तमाल, बकुल आदि वृक्षोंके मूलके नीचे प्राप्त होनेवाले विश्रामोंके सदृश भूलोकसे लेकर सत्यलोकपर्यन्तके निवासोंमें प्रचुर फूलोंके विकासरूपी हासोंके सदृश अनित्य भोगाभासोंके निमित्त यानी उनमें फँसे रहनेके कारण जिस निरतिशय भूमानामक सुखका नाम भी आत्मज्ञान-शून्य लोग नहीं जानते, ऐसे पुनर्जन्मसे शून्य मोक्षनामक विश्रान्तिसुखको आपका अपना मनरूपी मृग उस ध्यानरूपी कल्पवृक्षके ही नीचे आकर प्राप्त कर सकता है, जिसका मैंने अभी आप लोगोंसे वर्णन किया है ॥ ५० ॥

चौवालीसवां सर्ग समाप्त

## पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति विश्रान्तवानेष मनोहरिणकोऽरिहन् ।
तत्रैव रतिमायाति न याति विटपान्तरम् ॥ १ ॥
एतावताऽथ कालेन स विवेकद्रुमः फलम् ।
अन्तस्थं परमार्थात्म शनैः प्रकटयत्यलम् ॥ २ ॥
ध्यानद्रुमफलं पुण्यं तदसौ स्वमनोमृगः ।
अधःस्थितः प्रान्तगतं तस्य पश्यति सत्तरोः ॥ ३ ॥
आरोहति नरो वृक्षं तदास्वादयितुं फलम् ।
अन्यवर्गपरित्यागो विततोऽध्यवसायवान् ॥ ४ ॥

---

## पैंतालीसवाँ सर्ग

[ ध्यानरूपी वृक्षके ऊपर मनको चढ़नेका क्रम तथा उत्तरोत्तर भूमिकाओंमें आरूढ हो रहे मनका सुखोत्कर्ष—यह वर्णन ]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे शत्रुनाशक श्रीरामजी, इस तरह ध्यानरूप कल्पतरुवृक्षके ऊपर विश्रान्ति ले रहा मनरूपी हरिण उसी वृक्षपर प्रेम करने लग जाता है, दूसरे वृक्षपर नहीं जाता ॥ १ ॥

अनन्तर—कुछ समयके बाद वह विवेकपूर्ण ध्यानवृक्ष पाँच कोशोंके भीतर स्थित पारमार्थिक आत्मस्वरूपभूत मोक्षफलको धीरे-धीरे पूर्णरूपसे प्रकट करता है यानी प्रत्यक्ष कराता है ॥ २ ॥

चतुर्थ भूमिकामें असंभावनादोषका थोड़ा विनाश रहता है और मन्द अन्धकारमें घट आदिकी जैसी संभावना होती है, वैसी उसमें भी आत्मतत्त्वकी संभावना होती है, इससे अब पहले चतुर्थ भूमिकाका द्वार बतलाते हैं—'ध्यान०' इत्यादिसे ।

उस उत्तम ध्यानरूपी वृक्षके नीचे विश्रान्ति ले रहा यह अपना मनरूपी मृग उस मोक्षरूप ध्यानवृक्षफलको, जो शाखाके आगे लगा हुआ है, देखता है ॥३॥

बड़े भारी अध्यवसाय ( प्रयत्न ) से भरा तथा अपने सब धर्मोंको छोड़ देनेवाला यानी परमविरक्त पुरुष उक्त फलका स्वाद लेनेके लिए उस वृक्षपर चढ़ता है ॥ ४ ॥

विवेकवृक्षपान्नाम वृत्तीस्त्यजति भूगताः ।
उन्नतं पदमासाद्य भूयो नाधः समीहते ॥ ५ ॥
तेनोत्तमफलार्थेन संस्कारान्प्राक्तनानसौ ।
विवेकपादपारूढस्त्यजत्यहिरिव त्वचम् ॥ ६ ॥
हसत्युच्चैः पदारूढमात्मानमवलोकयन् ।
एतावन्तमहं कालं कृपणः कोऽभवं त्विति ॥ ७ ॥
करुणादिषु तेष्वस्य भ्रमञ्छाखान्तरेषु सः ।
लोभव्यालमधः कुर्वन् सम्राडिव विराजते ॥ ८ ॥
हृदयेन्दोर्गलश्रेणीदुःखाब्जतिमिरावलिः ।
कृष्णायःशृङ्खलातृष्णा दिनानुदिनमुज्झति ॥ ९ ॥

कैसे चढ़ता है, इसे कहते हैं—'विवेक०' इत्यादिसे ।

जो अध्यवसायी चढ़ता है, वह सबसे पहले विवेक वृक्षके ऊपर अपना पैर दृढ़ जमा लेता है, फिर पहलेकी संसारवृत्तियोंका एकदम त्याग कर देता है । ऐसा करनेपर वह ऐसे ऊँचे स्थानपर अपना स्थान बना लेता है कि फिर कभी नीचे नहीं गिरता ॥ ५ ॥

उक्त उत्तम फलकी इच्छासे विवेकरूपी वृक्षपर चढ़ा हुआ पुरुष अपने पहलेके संस्कारोंको उस तरह छोड़ देता है, जिस तरह साँप अपनी केंचुलको छोड़ देता है । संस्कारोंका त्याग कर देनेसे पहलेका कुछ भी स्मरण नहीं होता, यह भाव है ॥ ६ ॥

यदि उसे कुछ पहलेका स्मरण हुआ, तो भी वह जोरसे हँसने लग जाता है और अपनेको ऊँचे विवेकवृक्षके ऊपर चढ़ा देखकर विचारता है कि इतने समयतक मैं विषय-सुखोंकी लालचसे कितना दीन बना था ॥ ७ ॥

सम्पूर्ण भूतोंपर करुणा आदिरूप* इस वृक्षकी शाखाओंमें भ्रमण कर रहा यानी व्युत्थानकालमें विहार कर रहा यह मनरूपी मृग लोभ आदिरूप व्यालोंको नीचे करके पूर्णकाम सम्राट्की तरह शोभित होता है ॥ ८ ॥

सद्बुद्धिरूपी चन्द्रमाको निगल जानेवाली अमावस्याकी पङ्क्तिभूत तथा

* आदिपदसे यहाँ 'अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः' इत्यादि दैवी सम्पत्तियोंका ग्रहण है ।

उपेक्षते न सम्प्राप्तं नाप्राप्तमभिवाञ्छति ।
सोमसौम्यो भवत्यन्तःशीतलः सर्ववृत्तिषु ॥ १० ॥
शास्त्रार्थपल्लवेष्वेव निषण्णात्माऽवतिष्ठते ।
उन्नतावनतायाता अधः पश्यञ्जगद्गतीः ॥ ११ ॥
भीमद्रुमलतोत्कीर्णपुष्पप्रकरदन्तुराः ।
प्राक्तनीः स्वाः स्थलीः पश्यन् हसत्यन्तर्वराकताम् ॥ १२ ॥
तेषु तत्स्कन्धदेशेषु तथोड्डीनविडीनया ।
हारिण्या विहरञ्जात्या राजेव परिराजते ॥ १३ ॥

---

दुःखरूपी चन्द्रमामें अनेकत्वकी भ्रान्ति पैदा कर देनेवाली तिमिररोगकी पङ्क्तिरूप लोहेकी निर्मित शृंखला-सी प्राणियोंके बन्धनकी हेतु तृष्णा दिनपर दिन † इसको छोड़ती जाती है ॥ ९ ॥

यह न तो प्राप्त वस्तुओंकी उपेक्षा करता है और न अप्राप्त वस्तुओंकी अभिलाषा करता है, बल्कि सम्पूर्ण वृत्तियोंमें चन्द्रमाकी नाईं सौम्य तथा शीतल अन्तःकरणसे युक्त होकर स्थित रहता है ॥ १० ॥

अध्यात्मशास्त्रसे अतिरिक्त शास्त्रोंके अनुसार प्रवृत्ति होनेपर प्राणियोंको ब्रह्मलोकपर्यन्त उन्नत स्थान प्राप्त होते हैं तथा स्वाभाविक प्रवृत्ति होनेपर नरकपर्यन्त निम्न श्रेणीके स्थान लब्ध होते हैं—इस तरह संसारकी उन्नत और अवनत दशाओंको अज्ञानावस्थामें देख रहा यह अध्यात्मशास्त्रके विषय शम, दम, सन्तोष आदि रूप पल्लवोंमें ही अपने स्वरूपको छिपाकर अवस्थित रहता है ॥ ११ ॥

भयंकर विषवृक्षलताओंमें विकसित विषमय पुष्पसमूहरूपी दाँतोंसे युक्त अपनी पूर्वोक्त सातों अज्ञानकी भूमिकाओंको भीतर देख रहा यह, उस हीन अवस्थाको हँसता है ॥ १२ ॥

उस ध्यानरूपी वृक्षके उन स्कन्धप्रदेशोंमें यानी उत्तरोत्तर भिन्न-भिन्न भूमिकाओंमें आरूढ़ हो रही ‡ मनोहारिणी चित्तवृत्तिसे यह राजाकी तरह शोभता है ॥ १३ ॥

---

† जिस दिन शुभेच्छा उत्पन्न होती है उस दिनसे लेकर प्रतिदिन निरन्तर क्षीण होती जा रही यह तृष्णा चतुर्थभूमिकामें पहुँच कर बिल्कुल साथ छोड़ देती है। 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' ऐसा भगवान्‌ने भी कहा है।

‡ अर्थात् चिड़ियोंकी नाईं एक शाखासे उड़कर दूसरीपर जा बैठ रही।

पुत्रदारसमग्राणि मित्राणि च धनानि च ।
जन्मान्तरकृतानीव स्वप्नजानीव पश्यति ॥ १४ ॥
रागद्वेषभयोन्मादमानमोहमहत्तया ।
नटस्येवास्य दृश्यन्ते शीतलामलचेतसः ॥ १५ ॥
उन्मत्तचेष्टिताकारा हसत्यपि पुरोगताः ।
तरङ्गभङ्गुराधाराः संसारसरितो गतीः ॥ १६ ॥
न स चेतयते काश्चिल्लोकदारधनैषणाः ।
अपूर्वपदविश्रान्तो जीवन्नेव यथा शवः ॥ १७ ॥
केवलं केवले शुद्धे बोधात्मनि महोन्नते ।
दत्तदृष्टिः फले तस्मिन्परं समधिरोहति ॥ १८ ॥
स्मृत्वा स्मृत्वा पदः पूर्वं सन्तोषामृतपोषितः ।
अर्थानामप्यनर्थानां नाशेषु परितुष्यति ॥ १९ ॥
व्यवहारेषु कार्येषु भोगसम्पादकेष्वपि ।
परमुद्वेगमायाति सनिद्र इव बोधितः ॥ २० ॥

---

पुत्र, स्त्री, मित्र तथा धन आदि सभी पदार्थोंको यह जन्मान्तरमें प्राप्त किये गये या स्वप्नमें पैदा हुएके समान देखता है ॥ १४ ॥

दूसरोंको खुश करना ही जिसमें प्रधान कार्य है ऐसी राग, द्वेष, भय, उन्माद, मान तथा मोहकी महत्तासे नटके व्यवहारकी नाईं शीतल तथा निर्मल चित्त इस ज्ञानीके सब व्यवहार दिखाई देते हैं ॥ १५ ॥

उन्मत्तके चेष्टितके समान आकारवाली, सामने स्थित भी तरङ्गके समान क्षणभङ्गुर आधारवाली संसाररूपी मृगतृष्णाकी नदीकी गतिको मिथ्या समझकर वह हँसता है ॥ १६ ॥

अपूर्व पदमें विश्रान्त जीवन धारण कर रहा भी मृतकके सदृश वह योगी स्त्री, पुत्र आदि सांसारिक किसी पदार्थकी चिन्ता नहीं करता ॥ १७ ॥

किन्तु केवल शुद्ध बोधमय, महा उन्नत उस एक आत्मज्ञानरूप फलमें ही एकमात्र अपने चित्तको लगाकर पञ्चमभूमिकादि स्थानोंमें आरूढ़ होता है ॥१८॥

अपनी पूर्वावस्थाकी आपत्तियोंका बार-बार स्मरण करके सन्तोषरूपी अमृतसे परिपुष्ट होकर अनर्थरूपी अर्थोंके (धनोंके) नाशमें भी सन्तुष्ट ही होता है ॥१९॥

जैसे सोया हुआ पुरुष किसीसे जगा दिये जानेपर निद्रासुखके विच्छेदसे

दीर्घाध्वग इवोदाराममनारतमबाधिताम् ।
चिरं मौर्ख्यश्रमाक्रान्तो विश्रान्तिमभिवाञ्छति ॥ २१ ॥
निःश्वासबोधितोऽप्यग्निरनिन्धन इवात्मनि ।
श्वासमात्रसमोऽप्यन्तरतिष्ठन्नेव शाम्यति ॥ २२ ॥
आपतन्तीं बलादेव पदार्थेष्वरतिं शनैः ।
न शक्नोति निराकर्तुं दृष्टिमत्र च्युतामिव ॥ २३ ॥
तां महापदवीं गच्छन्परमार्थफलप्रदाम् ।
भूमिकामप्युपायाति वचसामप्यगोचराम् ॥ २४ ॥
कुतोऽप्यचेष्टितेष्वेव सम्प्राप्तेषु विधेर्वशात् ।
भोगेष्वरतिमायाति पान्थो मरुमहीष्विव ॥ २५ ॥
घूर्णः क्षीण इवानन्दी सुप्तः संसारवृत्तिषु ।
अन्तःपूर्णमना मौनी कामपि स्थितिमृच्छति ॥ २६ ॥

---

उद्वेगको प्राप्त हो जाता है वैसे ही भोगदायक अवश्य कर्तव्य व्यवहारोंमें भी वह योगी दूसरोंके द्वारा समाधिरूपी निद्रासे जगा दिये जानेपर समाधिसुखके विच्छेद-से अत्यन्त उद्वेगको प्राप्त हो जाता है ॥ २० ॥

बहुत दूरका रास्ता तय करनेवाले बटोहीकी तरह चिरकालतकके मौर्ख्य-प्रयुक्त अनेक जन्म-मरण-परम्पराओंमें चक्कर लगाते रहनेसे उत्पन्न श्रमके कारण अत्यन्त थका हुआ यह पुरुष अति उदार निरन्तर अबाधित आत्मविश्रान्ति चाहता है ॥ २१ ॥

प्राणधारणमात्रसे अन्य पुरुषोंके समान भी यह अपने भीतर अहंभावके अभिमानसे बिलकुल शून्य हो पूर्ण आत्मामें ऐसे शान्त हो जाता है, जैसे निःश्वास-से बोधित होनेपर भी बिना इन्धनकी अग्नि ॥ २२ ॥

पूर्वाभ्यासके बलसे धीरे-धीरे बाह्य पदार्थोंमें हो रही विरक्तिका, यथाप्राप्त भोगोंपर पड़ी दृष्टिकी नाईं, यह निराकरण नहीं कर सकता ॥ २३ ॥

परमार्थरूप फलप्रदान करनेवाली उस महापदवीके ऊपर चल रहा यह ज्ञानी पुरुष वाणीके भी अगोचर छठी भूमिकामें प्राप्त हो जाता है ॥ २४ ॥

बिना प्रयत्न किये ही कहींसे यानी दूसरोंके प्रयत्नसे दैववशात प्राप्त हुए भोगोंमें यह ऐसे विरक्त हो जाता है, जैसे मरुभूमिमें पथिक ॥ २५ ॥

संसारकी वृत्तियोंमें सुप्त, क्षीण उन्मत्तकी तरह आनन्दयुक्त तथा भीतरमें

स तादृग्रूपतामेत्य परमार्थफलस्य तत् ।
क्रमान्निकटमाप्नोति खगोऽगपदवीमिव ॥ २७ ॥
ततस्तदखिलां बुद्धिं विहाय वियता समः ।
गृह्णात्यथास्वादयति भुङ्क्तेऽथ परितृप्यति ॥ २८ ॥
सङ्कल्पार्थपरित्यागाद्दिनानुदिनमातता ।
शुद्धस्वभावविश्रान्तिः परमार्थाप्तिरुच्यते ॥ २९ ॥
भेदबुद्धिर्विलीनार्थाऽभेद एवावशिष्यते ।
शुद्धमेकमनाद्यन्तं तद्ब्रह्मेति विदुर्बुधाः ॥ ३० ॥

---

पूर्ण मनवाला यह मौनी पुरुष किसी अनिर्वचनीय स्थितिको प्राप्त हो जाता है ॥२६॥

वह ज्ञानी पुरुष उस तरहके स्वरूपमें पहुँचकर क्रमशः मोक्षरूप परमार्थ-फलके निकट ऐसे प्राप्त हो जाता है, जैसे सिद्धयोगी मेरुके शिखरपर ॥ २७ ॥

उस योगीकी सप्तमभूमिकामें कैसी स्थिति रहती है, यह बतलाते हैं—'ततस्तद०' इत्यादिसे ।

तदनन्तर सप्तमभूमिकामें प्राप्त आकाशके सदृश वह योगी सम्पूर्ण बुद्धिका * परित्याग कर निरतिशय भूमानन्द ब्रह्मभावरूप फल ग्रहण करता है, उसका स्वाद चखता है, उसका भोग लगाता है और उसीसे तृप्त होता है † ॥ २८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, सङ्कल्पित पदार्थोंके परित्यागसे दिन-पर-दिन जो विस्तृत शुद्ध आत्मस्वभावमें विश्रान्ति होती है वही परमार्थकी प्राप्ति कही जाती है ॥२९॥

त्रिपुटीरूपी अपने अर्थको विलीन कर भेदबुद्धि अभेदरूपमें ही जो अवशिष्ट रह जाती है यानी त्रिपुटीभेदका साक्षी चेतन ही अपने अर्थोंका विलय कर जो शेष रह जाता है, उसीको विद्वान् लोग आदि और अन्तसे रहित शुद्ध एक ब्रह्म कहते हैं ॥ ३० ॥

---

* 'अखिलां बुद्धिं विहाय' इससे इस योगीकी आत्यन्तिक वासनाका क्षय और मनका नाश दिखलाया गया है ।

† आवरणका भङ्ग होनेसे ग्रहण करता है, विक्षेपशून्य स्फुरण होनेसे स्वाद चखता है, एकमात्र उसीमें वृत्तिके स्थित रहनेसे उसका भोग लगाता है और पूर्णस्थिति होनेसे तृप्त होता है—इस तरह चतुर्थी आदि भूमिकाओंके फलोंका 'गृह्णाति' इत्यादि पदोंसे लाभ दिखलाया गया है ।

लोकैषणाविरक्तेन त्यक्तदारैषणेन च ।
धनैषणाविमुक्तेन तस्मिन् विश्रम्यते पदे ॥ ३१ ॥
परेण परिणामेन मिथश्चित्परमार्थयोः ।
तापेन हिमलेखेव भेदबुद्धिर्विलीयते ॥ ३२ ॥
तज्ज्ञस्याऽऽकृष्टमुक्तस्य स्वभावेषूपमां विना ।
स्थितिः स्रग्दामकस्येव न सम्भवति काचन ॥ ३३ ॥
यथाऽप्रकटिताङ्गान्तः संस्थिता शालभञ्जिका ।
न सती नासती स्तम्भे तथा विश्वस्थितिः परे ॥ ३४ ॥

---

हे श्रीरामचन्द्रजी लोक-एषणा, स्त्री-एषणा और धन-एषणा‡ से शून्य जो पुरुष है वही उस ब्रह्मपदमें विश्राम पाता है ॥ ३१ ॥

दृश्य तत्त्वके शोधनसे सन्मात्र परमार्थ और द्रष्टाके तत्त्वके शोधनसे चिन्मात्र परमार्थके—अखण्डैक्यरूप निरतिशयानन्दात्मभूत परमसाक्षात्कारवृत्तिरूप—परिणामसे अभेदबुद्धि ऐसे नष्ट हो जाती है, जैसे तापसे हिमकी लेखा ॥ ३२ ॥

खींचकर छोड़ देनेके पश्चात् धनुषकी स्थितिकी तरह चित्तकी अखण्डाकार-वृत्तिका उपरम हो जानेपर पुनः उसकी पूर्वावस्थाकी स्थिति कदापि नहीं आ सकती, यह आशङ्का कर कहते हैं—'तज्ज्ञस्य' इत्यादिसे ।

आत्मसाक्षात्कार कर चुके योगीके चित्तकी स्थिति, खींचकर छोड़ देनेके बाद धनुष आदि कठोर वस्तुओंकी उपमासे रहित अत्यन्त कोमल फूलोंकी मालाकी तरह होती है, किसी दूसरी स्थितिका संभव नहीं है । पृथ्वीपर पड़ी फूलकी माला सीधी-टेढ़ी चाहे जिस किसी तरहसे स्थापित हो जानेपर वह वैसी ही ज्यों-की-त्यों स्थित रहती है । धनुषकी तरह उसकी पूर्वावस्था नहीं आती । धनुष तो खींचकर छोड़ देनेके बाद ज्यों-का-त्यों हो जाता है, यह तात्पर्य है ॥ ३३ ॥

जैसे पत्थर या काठके स्तम्भमें स्थित अप्रकटित अङ्गोंवाली मूर्ति न तो सद्रूप है और न असद्रूप ही है वैसे ही परमात्मामें इस विश्वकी स्थिति है ॥ ३४ ॥

---

‡ जनतामें प्रसिद्धि प्राप्त करनेकी अभिलाषाका नाम लोकैषणा है, मुझे सुन्दर स्त्री प्राप्त होवे—इस इच्छाका नाम दारैषणा है तथा मैं इस संसारमें खूब धनी हो जाऊँ—इस अभिलाषाका नाम धनैषणा है । पुत्रप्राप्तिकी अभिलाषा स्त्रीप्राप्तिके अधीन है, अतः उसका पृथक् ग्रहण नहीं है । यहाँ कहनेका तात्पर्य यह कि स्त्री-अभिलाषाके परित्यागसे पुत्रप्राप्तिकी अभिलाषा-का त्याग तो अर्थतः लब्ध है । इन तीन एषणाओंमें ही सबका अन्तर्भाव है ।

ध्यानं न शक्यते कर्तुं न चैतदुपयुज्यते ।
अबोधेन विबुद्धस्तु स्वयमत्रैव तिष्ठति ॥ ३५ ॥
आत्यन्तिकी विरसता यस्य दृश्येषु दृश्यते ।
स बुद्धो नाप्रबुद्धस्य दृश्यत्यागे हि शक्तता ॥ ३६ ॥
दृश्यस्य बोधताबोधो यो बोधादपरिक्षयः ।
स समाधानशब्देन प्रोच्यते सुसमाहितैः ॥ ३७ ॥

इस तरह यह निश्चित है कि बोध होनेके पहले यानी अज्ञानदशामें प्रपञ्च-सहित ब्रह्ममें निष्प्रपञ्च ब्रह्मस्वभावका अज्ञान होनेसे उसका ध्यान नहीं किया जा सकता । और यह उपयुक्त है भी नहीं । ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर तो स्वयं ब्रह्म-स्वरूप होकर तत्त्वज्ञानी पुरुष इस ब्रह्ममें ही अवस्थित रहता है [ तब भला उसका ध्यान वह कैसे कर सकता है ? ] कहनेका तात्पर्य यह कि सोता या जागता हुआ कोई भी पुरुष अपनेमें यह ध्यान नहीं करता कि—मैं सो रहा हूँ या मैं सुषुप्त हूँ ॥ ३५ ॥

सोकर उठनेके बाद जैसे पुरुषको स्वाप्निक पदार्थोंमें तुच्छ बुद्धि होनेसे आत्यन्तिक विरक्ति रहती है वैसे ही तत्त्वज्ञानी पुरुष इन सांसारिक प्रपञ्चोंमें आत्यन्तिक विरक्ति कर सकता है, इस आशयसे कहते हैं—'आत्यन्तिकी' इत्यादिसे ।

दृश्य पदार्थोंमें जिस पुरुषकी आत्यन्तिक विरक्ति देखी जाती है वही तत्त्व-ज्ञानी है, क्योंकि दृश्य प्रपञ्चोंके त्यागमें अज्ञानी समर्थ नहीं है ॥ ३६ ॥

यदि ध्यान नहीं है, तो फिर ध्यानके अविषय ब्रह्ममें समाधि कैसे ? क्योंकि धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनोंका विषय एक ही निश्चित है । देखिये भगवान् पतञ्जलिके सूत्र—'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा', 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्', 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' 'त्रयमेकत्र संयमः' । इसपर कहते हैं—'दृश्यस्य बोधता' इत्यादिसे ।

प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण स्वरूप या ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानस्वरूप जगत्‌का एकमात्र साक्षिस्वरूपज्ञानरूपसे जो बोध है वही यथार्थस्वभावमें उत्तम स्थितिका कारण होनेसे 'सुष्ठु-सम्यग् आधानं समाधिः'—ऐसा विग्रह करनेसे 'समाधान' शब्दसे कहा जाता है । हे श्रीरामचन्द्रजी, उस तरहके बोधस्वभावसे ही यह सारा प्रपञ्च शाश्वत होता है ॥ ३७ ॥

द्रष्टृदृश्यैकतारूपः प्रत्ययो मनसो यदा ।
स तदेकसमाधाने तदा विश्राम्यति स्वयम् ॥ ३८ ॥
स्वभावो दृश्यवैरस्यमेव तत्त्वविदो निजः ।
दृश्यस्पन्दनमेवाहुरतत्त्वज्ञत्वमुत्तमाः ॥ ३९ ॥
अतज्ज्ञायैव विषयाः स्वदन्ते न तु तद्विदः ।
न हि पीतामृतायान्तः स्वदते कटु काञ्जिकम् ॥ ४० ॥
वितृष्णस्यात्मनिष्ठत्वादेषणात्रयमुज्झतः ।
ज्ञस्याप्यनिच्छतो ध्यानमर्थायातं प्रवर्तते ॥ ४१ ॥
बोधः स्फुरति तृष्णायाः सैव यस्य न विद्यते ।
तस्य स्वरूपमुत्सृज्य क्वासौ तिष्ठति कः कथम् ॥ ४२ ॥

---

'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यं समाधिः' भगवान् पतञ्जलिके इस वचनका भी—द्रष्टा और दृश्यको एक बनाकर उसके द्वारा मनके विलयमें ही—तात्पर्य है, इस आशयसे कहते हैं—'द्रष्टृदृश्यैकतारूपः' इत्यादि ।

द्रष्टा आदि त्रिपुटीका लय होनेसे अखण्ड एक आत्माकारमें जब मनकी वृत्ति स्थित हो जाती है, तब वह ज्ञानी एक आत्मसमाधिमें स्वयं विश्रान्त हो जाता है ॥ ३८ ॥

दृश्य पदार्थोंमें जो विरक्तिभाव है यानी जड़ता आदि दुःखोंके त्यागपूर्वक एकमात्र चिदानन्दैकरसकी स्थिति है वही तत्त्वज्ञानीका अपना ब्रह्मस्वभाव है । दृश्य पदार्थोंके स्पन्दनको ही—दृश्य पदार्थोंकी ओर चेष्टाशील बननेको ही—ज्ञानी महानुभाव लोग अतत्त्वज्ञता ( अज्ञान ) कहते हैं ॥ ३९ ॥

अज्ञानीको ही संसारके पदार्थ रुचिकर प्रतीत होते हैं, तत्त्वज्ञानीको नहीं । क्योंकि जो अमृतपान कर चुका है, उस प्राणीको कटु मद्य नहीं रुचता ॥ ४० ॥

यदि बार-बार अपने स्वरूपके अनुसन्धानको (स्मरणको) ही आप ध्यान समझते हैं, तो वह जागरूक पुरुषके जाग्रदावस्थामें हुए स्वरूपानुसन्धानकी तरह विद्वान् महानुभावोंको सहज-सिद्ध है, यह कहते हैं—'वितृष्णस्य' इत्यादिसे ।

तृष्णारहित, आत्मनिष्ठ होनेके कारण तीनों एषणाओंका त्याग कर चुके तत्त्वज्ञानी योगीका ध्यान इच्छा न रहनेपर भी अपने-आप स्वयं होता रहता है ॥ ४१ ॥

'वितृष्णस्य' ( तृष्णारहित ) इस विशेषणका तात्पर्य खोलते हैं—'बोधः' इत्यादिसे ।

ज्ञस्यानाराधको ध्येयबोधो नयतु यो भवेत् ।
अनन्ता सा वितृष्णस्य निर्विभागोदितः स्वयम् ॥ ४३ ॥
अनन्तमपतृष्णस्य स्वयमेव प्रवर्तते ।
ध्यानं गलितपक्षस्य संस्थानमिव भूभृतः ॥ ४४ ॥
शुद्धबोधात्मनि ज्ञत्वादसमाहिततोदिता ।
न जातु सुसमिद्धेऽग्नौ घृतबिन्दोरवस्थितिः ॥ ४५ ॥
परं विषयवैतृष्ण्यं समाधानमुदाहृतम् ।
आहृतं येन तन्नूनं तस्मै नृब्रह्मणे नमः ॥ ४६ ॥

---

आत्मस्वरूपानुसन्धानरूपी ध्यान तो तृष्णादिविक्षेपके कारण ही स्फुरित होता है—यह सर्वत्र प्रसिद्ध है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। किन्तु जिस तत्त्वज्ञानीको तृष्णा ही नहीं है उसके स्वरूपको छोड़कर उसका वह कौन ध्यान कैसे कहाँ रहता है ॥ ४२ ॥

अथवा ज्ञानीकी तृष्णा भी अनन्त है, क्योंकि यह स्वयं विभागरहित अपरिच्छिन्न आत्मस्वरूपसे ही उदित है। इसलिए चिन्तनीय बाह्य पदार्थका जैसा बोध हो, उसे वह चाहे समाधिमें लगावे या व्यवहारमें, किन्तु उसकी तृष्णाकी पूर्तिमें वह समर्थ नहीं है ॥ ४३ ॥

पक्षरहित पर्वतकी स्थितिकी तरह बाह्य पदार्थोंमें तृष्णारहित उस ज्ञानीका अनुभवरूप अनन्त ध्यान स्वयं प्रवृत्त होता है, किसी यत्नकी उसे अपेक्षा नहीं होती ॥ ४४ ॥

एकमात्र यही कारण है कि जबतक शुद्ध बोधस्वरूप आत्माका उदय नहीं हो पाता, तभीतक समाधिके लिए यत्नकी अपेक्षा रहती है। शुद्धबोधस्वरूप आत्माके साक्षात् अनुभूत होनेपर तो ज्ञानी हो जानेसे समाधिके यत्नकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती, यह तत्त्वज्ञानी महानुभावोंकी उक्ति है। ठीक ही है, अग्निके प्रज्वलित हो जानेपर उसमें घृतबिन्दुकी स्थिति कभी नहीं रह सकती ॥ ४५ ॥

विक्षेप पैदा करनेवाले रागादि दोषोंका जो आत्यन्तिक विनाश है, उसीको समाधि कहते हैं, यह तो विद्वान् पुरुषोंमें ही संभव है, अतः उन विद्वान् महानुभावोंको नमस्कार करना चाहिए, यह कहते हैं—'परम्' इत्यादिसे।

विषयोंसे जो आत्यन्तिक विरक्ति है, अर्थात् बाह्यपदार्थोंकी तृष्णाका जो

नूनं विषयवैतृष्ण्ये परिप्रौढिमुपागते ।
न शक्नुवन्ति निर्हर्तुं ध्यानं सेन्द्राः सुरासुराः ॥ ४७ ॥
परं विषयवैतृष्ण्यं वज्रध्यानं प्रसाध्यताम् ।
भेदे विगलिते ज्ञानादन्यध्यानतृणेन किम् ॥ ४८ ॥
मूर्खस्थो विश्वशब्दार्थो नामूर्खविषयस्तथा ।
तज्ज्ञाज्ञयोस्तयोश्चैव विश्वविश्वेशयोस्तथा ।
यत्रैकीभूय कचनं तत्र विश्राम्यतां बुधाः ॥ ४९ ॥
बोधभूमिषु सिद्धानामर्थानां वा विवेकिनाम् ।
सत्तासत्ते द्वयैक्ये च निर्णीते नेह केनचित् ॥ ५० ॥

आत्यन्तिक विनाश है, वही समाधि कही गई है । जिसको सांसारिक पदार्थोंमें अत्यन्त वैराग्य हो गया है, उस ब्रह्मरूपी मनुष्यको नमस्कार है ॥ ४६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि विषयोंसे वैराग्यके अत्यन्त दृढ़ हो जानेपर मनुष्यके आत्मध्यानको इन्द्रके सहित सुर और असुर भी नहीं हटा सकते ॥ ४७ ॥

वज्रके समान दृढ़ विषयोंसे विरक्ति भी ध्यान ही है, अतः उसकी प्रशंसा करते हैं—'परम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, विषयोंमें उत्पन्न हुए अत्यन्त दृढ़ वैराग्यको ही आप वज्रके समान दृढ़ ध्यानरूप बना लीजिये, क्योंकि आत्मज्ञानसे भेदके नष्ट हो जानेपर तृणके तुल्य दूसरे पदार्थोंके ध्यानसे कौन-सा मतलब सिद्ध होगा ॥ ४८ ॥

यही कारण है कि विद्वान् पुरुषोंके लिए विश्वशब्द किसी अर्थको नहीं रखता—इसका अर्थ बाधित है, यह कहते हैं—'मूर्खस्थो' इत्यादिसे ।

संसारशब्दका अर्थ मूर्खोंके लिए ही है, तत्त्वज्ञानियोंके लिए नहीं । इसलिए हे पण्डितो, जिस भूमानन्द ब्रह्ममें संसारके विशेषज्ञान और अज्ञान, तत्त्वज्ञानी और मूर्ख एवं संसार और संसारके प्रभु परमेश्वर का अभेदरूपसे भान होता है उसीमें आप लोग विश्राम करें ॥ ४९ ॥

क्योंकि मनन आदि बोधरूप भूमियोंमें आरूढ़ हो रहे विवेकियों या आत्मसाक्षात्कारादि भूमियोंमें आरूढ़ हो चुके सिद्ध महानुभावोंमेंसे किसीने भी पदार्थोंमें आत्मासे अतिरिक्त सत्ता या असत्ता या द्वैतता या एकताका इस संसारमें आजतक निर्णय नहीं किया है ॥ ५० ॥

उपाय एकः शास्त्रार्थो द्वितीयो ज्ञसमागमः ।
ध्यानं तृतीयं निर्वाणे श्रेष्ठस्तत्रोत्तरोत्तरः ॥ ५१ ॥

जीवादर्शान् मिथोरूपं गृह्णात्येषा महद्वपुः ।
जगत्युदेति संघट्टाद्दाविशेषं समेऽसमे ॥ ५२ ॥

ज्ञातपूर्वापराशेषजगदष्टापदस्थितेः ।
एकसिद्धौ द्वयोः सिद्धिर्बोधवैतृष्ण्यदीपयोः ॥ ५३ ॥

मतिवात्याधुतो व्योम्नि दग्धो ज्ञानाग्निनाऽखिलः ।
जगत्तूलः परे शान्ते न जाने क्वाऽऽशु गच्छति ॥ ५४ ॥

---

आत्मस्वरूपमें विश्रान्त होनेके उपाय बतलाते हैं—'उपाय' इत्यादिसे ।

इस आत्मस्वरूपमें विश्रान्ति पानेका प्रथम उपाय निरन्तर अध्यात्मशास्त्रका अभ्यास और दूसरा साधु पुरुषोंकी सङ्गति है तथा तीसरा उपाय इस निर्वाणमें ध्यान है । सज्जनो, इनमें उत्तरोत्तर उपाय श्रेष्ठ हैं ॥ ५१ ॥

नित्य अपरोक्ष, अपरिच्छिन्न यही ब्रह्मचिति जीव नामक अपने प्रतिबिम्बके दर्पणस्वरूप अन्तःकरणभूत उपाधिके कारण परस्पर भिन्न-भिन्नरूपको ग्रहण करती है । प्रिय तथा अप्रिय विषयोंका संघटन करनेवाले ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त शेष विशेष पदार्थोंसे सम्बन्ध पाकर अपने-अपने कर्मोंकी विचित्रताके कारण सम और विषम भिन्न-भिन्न शरीरोंमें उदित होती है ॥ ५२ ॥

इस तरह अनादि कालसे इस संसारमें चक्कर लगा रहे जीवोंके बीचमें भाग्य-वशात् किसी एकको ज्ञान प्राप्त करने योग्य जन्म मिल जानेपर शास्त्रोंके निरन्तर अभ्यास तथा महात्माओंकी सङ्गतिसे उपायप्राप्ति द्वारा पूर्वापर सम्पूर्ण जन्म-भ्रमणरूप जगद्रूपी शतरंज खेलनेकी बिसातकी* जानकारी हो जानेसे उस पुरुषश्रेष्ठको ज्ञान और वैराग्यरूपी दो दीपकोंमेंसे किसी एककी सिद्धि हो जानेपर दोनों ही सिद्ध हो जाते हैं ॥ ५३ ॥

तब ज्ञानरूपी अग्निसे भस्मीभूत हुई जगत्-रूपी सब रूई बुद्धिरूपी झंझा-वातसे शीघ्र उड़कर परम शान्त चिदाकाशमें न जाने कहां चली जाती है ॥५४॥

---

* शतरंज या चौपड़ आदि खेलनेके कपड़े या बिछौनेकी, जिसपर खाने बने रहते हैं ।

चित्राग्निनेव बोधेन तेन जाड्यं न शाम्यति ।
निर्मूलाऽपि जगद्भ्रान्तिर्येनाऽऽशु न विलीयते ॥ ५५ ॥
यथाऽज्ञस्य जगज्ज्ञप्तिरपज्ञानात्प्रदीप्यते ।
तथा ज्ञस्य परिज्ञानात्तदज्ञप्तिः प्रदीप्यते ॥ ५६ ॥
तज्ज्ञस्याज्ञजगज्ज्ञप्तिशब्दार्थरहिता स्थिता ।
यथास्थितैव त्रिजगज्ज्ञप्तिश्चित्र इवोदिता ॥ ५७ ॥
शून्यत्वेनैव रचिता सुप्तत्वेनेव निर्मिता ॥ ५८ ॥
भासते भामयी वाञ्छा जगज्ज्ञप्तिर्ज्ञचेतसि ।
नूनं बोधेऽविमूढस्य नाहन्ता न जगत्स्थितिः ॥ ५९ ॥

---

भ्रान्तिके निवारणमें समर्थ जो बोध है वही मूलाज्ञानरूप जड़ताके विनाशमें हेतु है, न कि ऊपरी ज्ञान, यह कहते हैं—'चित्राग्निनेव' इत्यादिसे ।

जिस ऊपरी ज्ञानसे निर्मूल भी जगत्की भ्रान्ति शीघ्र नष्ट नहीं हो जाती उस ज्ञानसे मनुष्यका अज्ञान ऐसे शान्त नहीं होता, जैसे कि चित्रलिखित अग्निसे मनुष्यका जाड़ा ॥ ५५ ॥

अज्ञानीके अभिनिवेशरूपी अज्ञानसे जैसे संसारकी भ्रान्ति प्रतिदिनकी अभिवृद्धिसे बढ़ती ही जाती है वैसे ही तत्त्वज्ञानीके परिज्ञानकी दिन-प्रतिदिन अभिवृद्धिसे उत्तरोत्तर भूमिकाओंमें अज्ञान भी नित्यप्रति अधिक दग्ध होता जाता है ॥ ५६ ॥

अज्ञानके दग्ध होते समय तत्त्वज्ञानीको जगत्का भान कैसा होता है ? यह कहते हैं 'तज्ज्ञस्य' इत्यादिसे ।

अज्ञानीको जैसा जगत्का ज्ञान स्थित रहता है उस अज्ञानीके जगत्-ज्ञान शब्दार्थसे रहित ही, स्वस्वरूपमें स्थित, चित्रमें लिखित-जैसा, सुप्त पुरुषके द्वारा निर्मितके सदृश एकमात्र शून्यरूपसे विरचित ही तीनों जगत्का भान तत्त्वज्ञानी पुरुषको होता है ॥ ५७,५८ ॥

ज्ञानी पुरुषके चित्तमें जगत्की ज्ञप्ति तथा अभिलाषा आदि चित्प्रकाशस्वरूप ही भासता है । इसमें सन्देह नहीं कि बोध होनेपर ज्ञानीका न तो अहङ्कार रहता है और न जगत्की स्थिति ही रहती है ॥ ५९ ॥

भासते परमाभासरूपिणः काऽप्यवस्थितिः ।
बोधाबोधात्मकं चित्तं भाति शुष्कार्द्रकाष्ठवत् ॥ ६० ॥
बोधादेकं जगद्भावैर्जाड्यान्नात्मत्वमागतम् ।
मिथोऽबोधाद्विवदति मैत्रीं भजति बोधतः ॥ ६१ ॥
य एवास्याधिको भागस्तन्मयत्वेन तिष्ठति ।
बुधः सतत्त्वं नावैति जगतोऽभावभावयोः ॥ ६२ ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानां स्वभावमिव तुर्यगः ।
वासनैव मनः सेयं स्वविचारेण नश्यति ॥ ६३ ॥

---

ज्ञानीको तो परमप्रकाशस्वरूप इस संसारकी कोई अपूर्व स्थिति भासती है। और अर्धज्ञानी पुरुषका चित्त सूखे तथा गीले काठके तुल्य बोध और अबोधरूपसे स्थित रहता है ॥ ६० ॥

बोध होनेके कारण वह अर्धज्ञानी पुरुष नानाविध भावपदार्थोंसे परिपूर्ण इस जगत्को एक आत्मतत्त्वरूप समझता है। तथा जड़ताके विद्यमान रहनेसे वह इस जगत्को एक आत्मरूपसे स्थित नहीं भी देखता है। चूँकि उसमें दोनों स्वभाव उपस्थित रहते हैं, इसलिए जब उसमें बोधकी अधिकता होती है तब वह सभी प्राणियोंमें अत्यन्त मित्रताका बर्ताव करने लग जाता है—अपने ही समान उन्हें भी सुख-दुःखसे युक्त समझने लगता है। और जब उसमें अज्ञानांशकी अधिकता होती है तब वह परस्पर विवाद करने लगता है ॥ ६१ ॥

ज्ञान और अज्ञान—इन दोनोंमें जो भाग इसका प्रबल पड़ता है तद्रूप होकर यह रहता है, किन्तु जिसका ज्ञान परिपक्व हो चुका है वह तो जगत्की सत्ता और असत्ताकी यथार्थता बिलकुल ऐसे नहीं जानता ॥ ६२ ॥

जैसे कि सप्तम भूमिकामें आरूढ़ पुरुष जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिको नहीं देखता। [ ध्यानरूपी वृक्षके नीचे मनरूपी हरिणको विश्रान्ति प्राप्त होती है, इसीको दूसरे रूपसे परम पुरुषार्थफलकी प्राप्ति बतलानी चाहिए, लेकिन यह न कहकर मनके नाशको ही मोक्षरूपी पुरुषार्थ कैसे कहते हैं, यदि यह कोई आशङ्का करे, तो इसपर कहते हैं—'वासनैव' से ] हे श्रीरामचन्द्रजी, वह वासना ही मनरूपी मृग है और यह अपने विचारसे ही नष्ट होता है ॥ ६३ ॥

अवस्तुत्वादतो मोक्षो नात्मनाशे प्रवर्तते ॥ ६४ ॥

ध्यानद्रुमात्स्वयमुपोढमनल्पपाकात्
कालेन बोधमुपयातवतः क्रमेण ।
भुक्त्वा रसायनफलं परबोधमाद्य-
मिच्छन् मनोहरिणको निगडाद्विमुक्तः ॥ ६५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मनोहरिणकोपाख्यानं नाम पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

---

इस मनके अवस्तुरूप होनेसे इसके विद्यमान रहते मोक्ष नहीं होता, किन्तु इसके स्वरूपका नाश होते ही वह प्राप्त होता है* ॥ ६४ ॥

इसका सारांश यह निकला कि यह मनका नाश ही मनरूपी मृगके बहाने वर्णित हुए आत्माका मोक्ष है । अब इस वर्णनका उपसंहार करते हैं—'ध्यान०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, अङ्कुर, काण्ड, शाखा, पल्लव, पुष्प, तथा फलपर्यन्त परिणामरूप अनल्प ( खूब ) परिपाक होनेसे अपने समयसे स्वयं बढ़े हुए ज्ञानरूपी फलको प्राप्त किये हुए इस ध्यानरूपी वृक्षसे दूसरे सर्वप्रथम परम रसायन अखण्डाकार वृत्त्यभिव्यक्त परमानन्दरूपी बोधफलका—मुक्त होनेकी चाह कर रहा यह मनरूपी मृग—आस्वाद लेकर इस संसाररूपी बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ६५ ॥

पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

---

* इससे सिद्ध है कि कल्पित मनरूपी मृगके बहाने आत्माकी ही अनर्थनिवृत्तिरूपी विश्रान्तिका वर्णन यहाँ प्रस्तुत है ।

# षट्चत्वारिंशः सर्गः

**वसिष्ठ उवाच**

परमार्थफले ज्ञाते मुक्तौ परिणतिं गते।
बोधोऽप्यसद्भवत्याशु परमार्थो मनोमृगः ॥ १ ॥
क्वापि सा मृगता याति प्रक्षीणस्नेहदीपवत्।
परमार्थदशैवास्ते तत्रानन्तावभासिनी ॥ २ ॥
ध्यानद्रुमफलप्राप्तौ बोधतामागतं मनः।
वज्रसारां स्थितिं धत्ते छिन्नपक्ष इवाचलः ॥ ३ ॥
मनस्ता क्वापि संयाति तिष्ठत्यच्छैव बोधता।
निर्बाधा निर्विभागा च सर्वाऽखर्वात्मिका सती ॥ ४ ॥

## छियालीसवां सर्ग

[ ध्यानरूपी कल्पद्रुमके फलका आस्वाद लेनेपर मनकी जैसी स्थिति होती है तथा विषयोंसे जैसा दृढ़ वैराग्य उत्पन्न होता है वह वर्णन ]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, परमार्थफलके साक्षात् अनुभूत होने तथा मुक्तिकी दृढ़ स्थिति होनेपर परम साक्षात्कारवृत्तिरूप बोध भी अपने उपादानभूत अज्ञानके बाधसे शीघ्र असद्रूप हो जाता है तथा मनरूपी यह मृग भी परमपुरुषार्थरूप—आत्मारूप ही हो जाता है ॥ १ ॥

तेलरहित दीपकके तुल्य पूर्वकालकी इसकी मृगता यानी विषयरूपी तृणोंके अन्वेषणकी स्वभावता न जाने कहां चली जाती है। उस समय तो हे श्रीरामचन्द्रजी, अनन्त आत्मस्वरूपका प्रकाश करनेवाली एकमात्र परमार्थदशा ही अवशेष रह जाती है ॥ २ ॥

ध्यानरूपी वृक्षको परमार्थरूप फलकी प्राप्ति हो जानेपर बोधरूपताको प्राप्त यह मन वज्रके समान दृढ़ स्थिति ऐसे धारण कर लेता है, जैसे पंखशून्य पर्वत ॥ ३ ॥

बाह्य पदार्थोंके विषयमें मननस्वभावता न मालूम कहां चली जाती है और निर्बाध, विभागशून्य, परिपूर्ण अखर्वात्मक सद्रूप एकमात्र स्वच्छ चिन्मात्रता ही अवशिष्ट रह जाती है ॥ ४ ॥

सुविविक्ततया चित्तसत्ता बोधतयोदिता ।
अनाद्यन्ता भवत्यच्छप्रकाशफलदायिनी ॥ ५ ॥
स्वयमेव ततस्तत्र निरस्तसकलेषणम् ।
अनाद्यन्तमनायासं ध्यानमेवावशिष्यते ॥ ६ ॥
यावन्नाधिगतं ब्रह्म न विश्रान्तं परे पदे ।
तावत्तन्मननत्वेन न ध्यानमवगम्यते ॥ ७ ॥
परमार्थैकतामेत्य न जाने क्व मनो गतम् ।
क्व वासना क्व कर्माणि क्व हर्षामर्षसंविदः ॥ ८ ॥
केवलं दृश्यते योगी गतो ध्यानैकनिष्ठताम् ।
स्थितो वज्रसमाधाने विपक्ष इव पर्वतः ॥ ९ ॥
विरसाखिलभोगस्य प्रशान्तेन्द्रियसंविदः ।
नीरसाशेषदृश्यस्य स्वात्मारामस्य योगिनः ॥ १० ॥

---

जड़ देहादिके अविवेकसे जड़ बनी हुई-सी जो चित्तकी पहले सत्ता थी, वही अब देहादिका ठीक-ठीक परिज्ञान हो जानेके कारण निर्मलस्वरूपसे स्थित हो मानो बोधरूपसे उदित हुई है, क्योंकि वह आदि और अन्तसे शून्य, स्वच्छ आत्मप्रकाशरूपी फल प्रदान करनेवाली है ॥ ५ ॥

उस समय समस्त इच्छाओंसे शून्य रहनेके कारण कोई दूसरी गति न होनेसे वह आदि-अन्तशून्य आत्म-ध्यान ही परिशेषमें अवगत होता है ॥ ६ ॥

कबतक वह ध्यानरूपसे अवगत नहीं होता, यह कहते हैं—'यावत्' इत्यादिसे ।

जबतक उसे ब्रह्मज्ञान नहीं होता तथा जबतक वह परम पदमें विश्रान्त नहीं हो जाता, तबतक विषयोंके मननरूपसे वह मन आत्मध्यानरूपसे अवगत नहीं होता ॥ ७ ॥

परमार्थ स्वरूपताको प्राप्त करके तो वह मन न जाने कहाँ चला जाता है। उस समय वासना कहाँ रहती है, कर्म कहाँ रहते हैं तथा हर्ष और क्रोध आदिकी वृत्तियाँ कहाँ रहती हैं—इसका कुछ भी पता नहीं चलता ॥ ८ ॥

ऐसी दशामें योगी एकमात्र ध्यानैकनिष्ठ दिखाई देता है। वज्रके तुल्य दृढ़ समाधिमें यह ऐसे स्थिर हो जाता है, जैसे पक्षशून्य पर्वत ॥ ९ ॥

ध्यानके समान ही उस योगीकी समाधि भी अनायास सिद्ध हो जाती है, यह कहते हैं—'विरसाखिल०' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

क्रमेण विगलद्वृत्तेर्बलाद्विश्रान्तिमीयुषः ।
अर्थायातं समाधानं केन नाम विचार्यते ॥ ११ ॥
तावद्विषयवैरस्यं भावयन्त्युचिताशयाः ।
न पश्यन्त्येव तान्यावद्भोगांश्चित्रनरो यथा ॥ १२ ॥
अपश्यञ्जागतानर्थान्निर्वासनतयाऽऽत्मवान् ।
बलाद्वज्रसमाधाने त्वन्येनेव निवेश्यते ॥ १३ ॥
प्रावृषीव नदीपूरो यः समाधिरुपस्थितः ।
बलादेव तमायातं भूयश्चलति नो मनः ॥ १४ ॥

सम्पूर्ण भोगोंसे शून्य, इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको शान्त किये हुए, सम्पूर्ण दृश्य पदार्थोंमें अभिरुचि न रखनेवाले, एकमात्र अपनी आत्मामें ही रमण करनेवाले, क्रमशः अपनी वृत्तियोंको गलाये हुए तथा बिना किसी प्रयासके विश्रान्ति प्राप्त कर चुके योगीकी समाधि अर्थतः सिद्ध हो जाती है, इस विषयमें जब वह ब्रह्मस्वरूप हो गया तब विचार ही करने कौन चलता है ॥ १०,११ ॥

उस योगीको परम वैराग्य भी अर्थतः सिद्ध हो जाता है, यह कहते हैं—'तावद्विषय०' इत्यादिसे ।

निर्मल अन्तःकरणवाले योगी लोग विषयोंमें नीरसताकी अनायास ही भावना करने लग जाते हैं । वे उन सभी सांसारिक भोगोंको ऐसे नहीं देखते, जैसे कि चित्रगत मनुष्य चित्रमें लिखित पुरुषोंको ॥ १२ ॥

वासनाशून्य होनेके कारण सांसारिक पदार्थोंको न देख रहा आत्मज्ञानी योगी तो वज्रके तुल्य अभेद्य समाधिमें अन्य पुरुषके द्वारा मानो जबर्दस्ती नियुक्त किया जाता है ॥ १३ ॥

वर्षाकालमें नदीके प्रवाहके तुल्य एकमात्र आनन्दरसका आविर्भाव करानेवाली जो समाधि प्रथम वृत्तिमें उपस्थित होती है उसका—गुडपिपीलिका न्यायके द्वारा * वस्तुस्वभावबलसे ही एकाग्रताको प्राप्त हो—अस्वाद लेता हुआ मन उससे फिर इधर-उधर चलायमान नहीं होता ॥ १४ ॥

* मिठासके लोभसे जब चींटी गुड़में जाकर चिपट जाती है तब फिर उससे अलग नहीं होती । ठीक वही दशा योगीके मनकी है । आनन्दैकरसका आविर्भाव करानेवाली समाधिका आस्वाद लेकर योगीका मन पुनः उससे पृथक् नहीं होता—यह तात्पर्य है ।

सर्वार्थशीतलत्वेन बलाद्ध्याने यदागतम् ।
ज्ञानाद्विषयवैरस्यं स समाधिर्हि नेतरः ॥ १५ ॥
दृढं विषयवैरस्यमेव ध्यानमुदाहृतम् ।
तदेव परिपाकेन वज्रसारं भवत्यलम् ॥ १६ ॥
तदेतद्भोगवैतृष्ण्यं ध्यानमङ्कुरितं हि तत् ।
तदेव पीठबन्धेन बद्धं भवति बन्धुरम् ॥ १७ ॥
सम्यग्ज्ञानं समुच्छूनं सदैवोज्झितवासनम् ।
ध्यानं भवति निर्वाणमानन्दपदमागतम् ॥ १८ ॥

---

सम्पूर्ण अर्थोंकी शान्ति देनेवाली हठात् प्राप्त हुई ध्यानदशामें ज्ञानबलसे जबर्दस्ती जो विषयोंके भीतर वैराग्य आ जाता है वही समाधि है, दूसरी नहीं। रागादिके कारण खूब जल रहे चित्तमें तो कभी भी किसीकी समाधि नहीं देखी गयी है ॥ १५ ॥

इस तरह ध्यानकी उपपत्ति भी विषयोंसे विरक्ति होनेपर ही होती है, अन्यथा नहीं, यह कहते हैं---'दृढम्' इत्यादिसे ।

विषयोंसे जो दृढ़ वैराग्य है वही ध्यान कहा गया है और खूब परिपक्व हो जानेसे वही वज्रके तुल्य अत्यन्त दृढ़ हो जाता है ॥ १६ ॥

ऐसी स्थितिमें वैराग्यरूपी बीज ही जब अङ्कुरितावस्थामें स्थित रहता है तब ध्यान और जब प्ररूढ़ हो जाता है तब समाधिनामसे कहा जाता है, यों अभेदमें भी भेद-व्यवहार हो सकता है, यह कथन फलित हुआ, यह कहते हैं—'तदेतत्' इत्यादिसे ।

भद्र, विषयोंसे जो वैराग्य है वह अङ्कुरित होनेपर ध्यान कहा जाता है और जब पीठबन्धसे यानी काण्डजनन आदि द्वारा दृढ़ बन्धसे सुन्दर बद्ध हो जाता है तब वही समाधि नामसे कहा जाता है ॥ १७ ॥

साक्षात्कारात्मक वृत्तिसे आविर्भूत ब्रह्म ही अविद्याका उच्छेदक होनेके कारण ज्ञान कहा जाता है, वासनाका उच्छेदक होनेके कारण ध्यान कहा जाता है और सर्वदुःखविच्छेदात्मक आनन्दस्वरूप होनेके कारण निर्वाण कहा जाता है, यह कहते हैं—'सम्यक्' इत्यादिसे ।

साक्षात्कारात्मक वृत्तिमें प्रतिबिम्बित ब्रह्म ही अविद्योच्छेदकरूप होनेसे,

अस्ति चेद्भोगवैतृष्ण्यं किमन्यद्दुध्यानदुर्धिया ।
नास्ति चेद्भोगवैतृष्ण्यं किमन्यद्ध्यानदुर्धिया ॥ १९ ॥

दृश्यस्वदनमुक्तस्य सम्यग्ज्ञानवतो मुनेः ।
निर्विकल्पं समाधानमविरामं प्रवर्तते ॥ २० ॥

यस्मै न स्वदते दृश्यं स सम्बुद्ध इति स्मृतः ।
न स्वदन्ते यदा भोगाः सम्यग्बोधस्तथोदितः ॥ २१ ॥

यस्य स्वभावविश्रान्तिः कथं तस्यास्ति भोगिता ।
अस्वभावो हि भोगित्वं तत्क्षये तत्कथं कुतः ॥ २२ ॥

---

निरन्तर परित्यक्त वासनारूप होनेसे तथा आनन्दपदको प्राप्त होनेसे सम्यक् ज्ञान, ध्यान और निर्वाण रूप कहा जाता है ॥ १८ ॥

यह जो कुछ कहा वह सब विषय-वैराग्यसे ही हो सकता है, दूसरे किसी प्रकारसे नहीं, इसलिए विषय-वैराग्यको दृढ़ करनेके लिए कहते हैं—'अस्ति' इत्यादिसे ।

यदि पुरुषमें भोगोंके प्रति विराग विद्यमान है, तो ध्यानरूप दुःखसाध्य बुद्धिसे कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा । और यदि विराग नहीं है, तो भी ध्यानात्मक दुःखसाध्य बुद्धिसे कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा ? ॥ १९ ॥

भद्र, जो पुरुष विषयोंके स्वादसे मुक्त है एवं विवेकज्ञानसे सम्पन्न है उस महामुनिको निर्विकल्पक समाधि निरन्तर लगी रहती है ॥ २० ॥

जिसको विषय नहीं रुचता, उसीको तत्त्वज्ञ लोग ज्ञानी कहते हैं । जब पुरुषको भोग नहीं रुचते तभी उसे सम्यक् ज्ञान उदित होता है ॥ २१ ॥

पूर्ण अद्वय स्वभावसे विरुद्ध भोग उसी समयमें हो सकता है, जिस समयमें अज्ञानके कारण आत्माका असली स्वरूप विपरीत प्रतीत होता है । जब अज्ञानका नाश हो जाता है तब, यह बात नहीं रहती, यह कहते हैं—'यस्य' इत्यादिसे ।

जिस महामुनिकी अपने आत्मस्वभावसे स्थिति हो चुकी उसे भोग कैसे, क्योंकि आत्मविरुद्ध स्वभाव ही भोग है, वह विरुद्धस्वभावके क्षीण हो जानेपर कैसे रह सकता है ॥ २२ ॥

श्रुतपाठजपान्तेषु समाधिनिरतो भवेत् ।
समाधिविरतः श्रान्तः श्रुतपाठजपाञ्छ्रयेत् ॥ २३ ॥
निर्वाणमासीत निरस्तखेदं
समस्तशङ्कास्तमयाभिरामम् ।
सुषुप्तसौम्यं समशान्तचित्तं
शरद्घनाभोगविशुद्धमन्तः ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे साम्यावबोधनो नाम षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

—०—

अभ्यासकालमें समाधिसे उठे हुए पुरुषको क्या करना चाहिए और कब समाधि लगानी चाहिए, इस विषयमें क्रम बतलाते हैं—'श्रुत०' इत्यादिसे ।

भद्र, पहले गुरु, सहपाठी आदिके साथ वेदान्तश्रवण करे, उपनिषदोंकी आवृत्ति करे, फिर प्रणवजप करे, इतना सब कर लेनेके बाद समाधिमें तत्पर हो जावे और समाधि टूट जानेपर समाधिश्रान्त वह पुरुष फिर श्रवण, आवर्तन एवं प्रणवजप करे ॥ २३ ॥

यह सब होनेपर भी समाधिकी ओर प्रधान लक्ष्य रखना चाहिए, इस आशयसे उपसंहार करते हैं—'निर्वाणम्' इत्यादि ।

हे श्रीरामजी, अपने भीतर एकमात्र निर्वाणरूप समाधिकी ओर लक्ष्य रख करके स्थित रहना चाहिए, किसी प्रकारका खेद नहीं करना चाहिए, सारी शङ्काओंको तिलाञ्जलि दे देनी चाहिए । यही समाधि अतिरमणीय, सुषुप्तिके सदृश परमशान्त, शरत्कालीन विस्तृत बादलोंके सदृश निर्मल है । इसी अवस्थामें चित्त एकरूप और प्रशान्त रहता है ॥ २४ ॥

छियालीसवाँ सर्ग समाप्त

## सप्तचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

संसारभारसुश्रान्तः संकटेषु लुठत्तनुः ।
योऽभिवाञ्छति विश्रान्तिं तस्य क्रममिमं शृणु ॥ १ ॥
पूर्वं विवेककणिका यदा स्वहृदि जायते ।
संसारनिर्वेदमयी कारणाद्वाप्यकारणात् ॥ २ ॥
तदा श्रयन्ति सच्छायान् साधुत्वसुविशालिनः ।
अध्वश्रमहरांस्तापतप्ता मार्गतरूनिव ॥ ३ ॥
दूरे परिहरत्यज्ञान्यज्ञयूपानिवाध्वगः ।
स्नानदानतपोयज्ञान् करोति विबुधानुगः ॥ ४ ॥

## सैंतालीसवाँ सर्ग

[ विस्तारसे प्रस्तुत मुक्तिके साधनोंके क्रममें दृढ़ वैराग्यकी प्राप्ति तकके जितने साधन हैं, उन सबका पुनः वर्णन ]

महाराज वसिष्ठजीने कहा——भद्र श्रीरामजी, जो जीव इस संसारके भारको ढोते-ढोते थक गया है तथा मरण, मूर्च्छा आदि सङ्कट-समयको झेलकर जिसका शरीर जर्जर हो गया है, वह विश्रान्ति अवश्य चाहता है। परन्तु उसके लिए जो खास क्रम है यानी विश्रान्ति पानेके लिए प्राप्त किये जानेवाले उन-उन साधनोंसे उत्तम गुणोंके लाभका जो क्रम है, उसे आप सुनिये ॥ १ ॥

सबसे पहले विवेकरूपी अङ्कुरका उदय होनेपर जिन गुणोंकी प्राप्ति होती है, उन्हें बतलाते हैं——'पूर्वम्' इत्यादिसे।

कारणविशेषसे यानी ऐहिक यज्ञ, दान, तप आदि पापक्षयके हेतुभूत सत्कर्मोंसे या अकारणसे यानी पूर्वजन्मार्जित यज्ञ आदि सत्कर्मोंसे जभी अपने हृदयमें पहले संसारसे विरक्ति पैदा करनेवाली विवेककी मात्रा उत्पन्न हो जाती है, तभी उत्तम छाया देनेवाले तथा साधुताके रूपसे चारों ओर फैले हुए गुणोंको संसार-तापतप्त पुरुष ऐसे आश्रयण करते हैं, जैसे सूर्यके तापसे तपे हुए पुरुष मार्गकी थकावट हरनेवाले मार्गके वृक्षोंका आश्रयण करते हैं ॥ २–३ ॥

ऐसा होनेपर पहले अज्ञानियोंके संसर्गका त्याग, यज्ञ-दान आदिमें तत्परता तथा देवताराधन आदि गुण उत्पन्न होते हैं, यह कहते हैं——'दूरे' इत्यादिसे।

पेशलं चानुरूपं च व्यवहारमकृत्रिमम् ।
लोकयमाह्लादनं धत्ते चन्द्रबिम्बमिवामृतम् ॥ ५ ॥
परप्रज्ञानुगो भव्यः परार्थपरिपूरकः ।
पवित्रकर्मरसिकः कोऽपि सौम्यः प्रवर्तते ॥ ६ ॥
नवनीतस्थलीवाच्छा स्निग्धा मृद्वी मनोहरा ।
जनं सुखयति स्वाद्वी तदीया नवसङ्गतिः ॥ ७ ॥
शीतलानि पवित्राणि चरितानि विवेकिनः ।
इन्दोरिवांशुजालानि जनं शीतलयन्त्यलम् ॥ ८ ॥
न तथोद्यानखण्डेषु पुष्पप्रकरहारिषु ।
विश्राम्यते वीतभयं यथा साधुसमागमे ॥ ९ ॥

---

ऐसा पुरुष पहले तो अज्ञानियोंको उस तरह दूरसे ही छोड़ देता है, जैसे पथिक यज्ञयूपको दूरसे ही छोड़ देता है। स्नान, दान, तप, यज्ञ आदिका अनुष्ठान करता है और निरन्तर तत्त्वज्ञोंका पदानुसरण करता है ॥ ४ ॥

जिस तरह चन्द्रमाका बिम्ब लोगोंको आनन्द देनेवाला अमृत धारण करता है, उसी तरह विद्वान् कोमल, अनुरूप, परिणाममें लोगोंके लिए हितकारक तथा आनन्ददायी अकृत्रिम व्यवहार धारण करता है ॥ ५ ॥

ऐसा विद्वान् अपने पक्षमें न अनुराग रखता है और न लोभ या अभिमान ही रखता है, सदा परके हितमें निरत रहता है, इसीसे परप्रज्ञानुग कहा जाता है। वह सभी जनोंका प्रिय होता है, पवित्र शास्त्रानुकूल कर्मोंमें रसिक बना रहता है तथा इन सब गुणोंके कारण सबसे ऊँचा होकर वह विचरण करता रहता है ॥ ६ ॥

ऐसे महापुरुषकी पहली सङ्गति ही पुरुषको सुख पहुँचाती है, उसकी सङ्गति मक्खनके आश्रय दहीके सदृश स्वच्छ होती है तथा स्नेहसे भरपूर, कोमल, मनोहर और स्वादु रहती है ॥ ७ ॥

विवेकी पुरुषोंके चन्द्रमाकी किरणोंके सदृश चरित्र अत्यन्त पवित्र और शीतल रहते हैं, इसलिए प्रत्येक पुरुषके भीतर अत्यन्त ठंढक पहुँचाते हैं ॥ ८ ॥

जैसी साधु पुरुषके समागमसे निर्भय शान्ति मिलती है, वैसी शान्ति मनोहर पुष्पोंके ढेरोंसे भरे उद्यानखण्डोंमें भी नहीं मिलती है ॥ ९ ॥

मन्दाकिनीपयांसीव संगतानि विवेकिनाम् ।
प्रक्षालयन्ति पापानि प्रयच्छन्ति विशुद्धताम् ॥ १० ॥
विवेकिषु विरक्तेषु संसारोत्तरणार्थिषु ।
जनः शीतलतामेति हिमहारगृहेष्विव ॥ ११ ॥
ननु नाम रतोदारा या विवेकिनि विद्यते ।
सुरगन्धर्वकन्यासु मानवीषु न विद्यते ॥ १२ ॥
प्रज्ञा प्रसादमायाति क्रमादुचितकर्मणः ।
अन्तःकरोति शास्त्रार्थमर्थं मुकुरभूरिव ॥ १३ ॥
सत्प्रज्ञोन्नतिमायाति शास्त्रार्थरसशालिनी ।
विवेकिनि विलासेन कदलीव महावने ॥ १४ ॥
अन्तरेवानुभवति सर्वार्थान्प्रतिबिम्बितान् ।
आदर्शवदशेषेण प्रज्ञा नैर्मल्यशालिनी ॥ १५ ॥

---

जैसे भगवती भागीरथीके निर्मल जल पाप धो डालते और शुद्धता प्रदान करते हैं, वैसे ही विवेकियोंके समागम भी पुरुषोंके पाप धो डालते और शुद्धता प्रदान करते हैं ॥ १० ॥

संसार पार पानेकी इच्छा रखनेवाले विरक्त विवेकी पुरुषोंका समागम होनेपर पुरुष ऐसी शीतलता प्राप्त करता है, जैसी हिम एवं पुष्पहारोंसे निर्मित घरोंमें वास करनेपर ॥ ११ ॥

भद्र, जैसी उदार प्रीति विवेकी पुरुषमें रहती है, वैसी उदार प्रीति देवता, गन्धर्व और मानवकी कन्याओंमें भी नहीं रहती ॥१२ ॥

क्रमसे किये गये उचित निष्काम कर्मसे बुद्धिका मल हट जाता है, बुद्धिका मल हट जानेपर आत्मजिज्ञासाका आविर्भाव हो जाता है और गुरुजीके मुखसे सुना गया शास्त्रका अर्थ मनुष्यके हृदयके भीतर ऐसे पैठ जाता है, जैसे दर्पणतलके भीतर प्रतिबिम्ब पैठ जाता है ॥ १३ ॥

विवेकसे पूर्ण हृदयमें शास्त्रार्थरससे पूर्ण होकर उत्तम प्रज्ञा ऐसे बढ़ने लग जाती है, जैसे महावनमें मूलप्ररोहादिके विस्तारसे कदली बढ़ने लग जाती है ॥१४॥

आदर्शके सदृश, निर्मलतासे शोभित बुद्धि अपने भीतर प्रतिबिम्बित समस्त वस्तुओंका अपने अन्दर ही मनके विलासके रूपमें पूर्ण अनुभव करती है ॥ १५ ॥

साधुसंगमशुद्धात्मा शास्त्रार्थपरिमार्जितः ।
प्राज्ञो भात्युद्धृतं वह्नेरग्निशौचमिवांशुकम् ॥ १६ ॥
कचत्काञ्चनकान्तेन विमलालोककारिणा ।
भुवनं भास्करेणेव भाति साधुः स्वतेजसा ॥ १७ ॥
तथाऽनुगच्छति प्राज्ञः शास्त्रसाधुसमागमौ ।
यथाऽत्यन्तानुषङ्गेण तावेवानुभवत्यसौ ॥ १८ ॥
क्रमात्सज्जनतामेत्य शास्त्रार्थभरभावितः ।
भाति भोगानधःकुर्वन्पञ्जरादिव निर्गतः ॥ १९ ॥
भोगाभिगमदौर्भाग्यं तेनानुदिनमुज्झता ।
तेन तत्कुलमाभाति ताराचक्रमिवेन्दुना ॥ २० ॥

---

साधुओंके समागमसे शुद्धबुद्धि हुआ तथा शास्त्रके अर्थोंसे परिमार्जित हुआ प्राज्ञ ( विवेकी ) पुरुष अग्निसे निकाले गये विद्युत्पुञ्जके सदृश चमकदार वस्त्र-रत्नकी नाईं भासता है ॥ १६ ॥

विवेकी पुरुष चमकीले सुवर्णके सदृश चमक रहे तथा निर्मल आलोक करनेवाले अपने आत्मप्रकाशसे सूर्यकी नाईं समस्त भुवनको प्रकाशित कर देता है ॥ १७ ॥

विवेकसम्पन्न तत्त्वज्ञ पुरुष अभ्यास द्वारा शास्त्रका और सेवा आदिवृत्तिसे गुरुसमागमका वैसा निरन्तर अनुसरण करता है, जिससे कि गुरुके उपदिष्ट अर्थमें अत्यन्त आसक्तिके कारण स्वप्नमें भी शास्त्र एवं गुरुके चिन्तन तथा सेवनमें निरत होकर उन्हीं दोनोंका ( शास्त्र और गुरुसमागमका ) अनुभव करता है ॥ १८ ॥

क्रमशः राग आदि दोषोंका विनाश एवं मैत्री आदि गुणोंका संचय कर वह निर्दोष और गुणवान् बनकर शास्त्रमें—उपनिषत्में—कहे गये अर्थोंकी भावनासे पूर्ण भावुक बन जाता है। फिर पिंजड़ेसे छुटकारा पाये हुएके सदृश स्वतन्त्र होकर तथा भोगोंका तिरस्कार कर प्रकाशने लग जाता है ॥ १९ ॥

भद्र, व्यसनी बनकर विषयोंके प्रति दौड़ना बड़ा भारी दौर्भाग्य है, इस दौर्भाग्यका दिनपर दिन त्यागकर रहे उस विवेकशील पुरुषके द्वारा उसका वंश उस तरह चमकने लग जाता है, जिस तरह चन्द्रमाके द्वारा तारोंका समूह चमकने लग जाता है ॥ २० ॥

अभोगकृपणा क्वापि नवैवास्य प्रवर्तते ।
मुखे कान्तिरपूर्वेव चन्द्रे राहुमृते यथा ॥ २१ ॥
तृणीकृतत्रिजगतां महतामभिधेयताम् ।
स याति कल्पविटपी नभसीव दिवौकसाम् ॥ २२ ॥
भोगानां द्वेषणेनान्तर्लज्जमानो मनस्यपि ।
भोगानामप्यसंपत्त्या परमं परितुष्यति ॥ २३ ॥
स्वा एवोपहसत्यन्तस्तरुणीस्तरलक्रियाः ।
खेदस्मेरमुखो जातीर्जातिस्मर इवाधमः ॥ २४ ॥
अथ तं द्रष्टुमायान्ति सौहार्देनैव साधवः ।
भूमाविवोदितं चन्द्रं विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ॥ २५ ॥

---

इस विवेकीके मुखमें भोगलम्पटतासे निर्मुक्त कोई अनिर्वचनीय अपूर्व ही कान्ति ऐसे जगमगाने लग जाती है, जैसे राहुसे छुटकारा पा जानेपर चन्द्रमामें कान्ति जगमगाने लग जाती है ॥ २१ ॥

जिन लोगोंने तीनों जगत्को भी तृणरूप समझ लिया है, उन महान् आत्माओं द्वारा यह ऐसे प्रशंसापदको प्राप्त होता है, जैसे स्वर्गमें देवताओं द्वारा कल्पवृक्ष ॥ २२ ॥

भद्र, विवेकीको जो कुछ भोगसाधन प्राप्त होते हैं, उनका परित्याग कर वह सन्तुष्ट तो होता है, परन्तु कुछ लज्जाग्रस्त बना रहता है, क्योंकि उसके मनमें इस बातकी शर्म रहती है कि मैंने सभीसे जब द्वेष छोड़ दिया तब भोगोंके प्रति द्वेष क्यों कर रहा हूँ । और यदि भोगसाधन विषय उसे प्राप्त ही नहीं हुए, तो वह अत्यन्त सन्तुष्ट रहता है, क्योंकि इस अवस्थामें उसे द्वेष करनेका मौका ही नहीं मिलता ॥ २३ ॥

यदि अधम चाण्डाल आदिको दैववशात् अपनी पूर्वजन्मकी उच्च जातिका स्मरण हो गया, तो वह अपनी इस जन्मकी जातिको जैसे मनमें धिक्कारता है, वैसे ही विवेकी पुरुष भी पहलेकी राग आदिसे प्रौढ तथा भोगकी उत्कण्ठासे तरल हुई अपनी क्रियाओंका स्मरण कर खेदसे कुछ हसमुख होकर अपने भीतर उनको धिक्कारता है ॥ २४ ॥

इस तरहके पुरुषको एक तरहसे पृथ्वीमें उदयको प्राप्त चन्द्रमा ही समझना

नित्यानादृतभोगोऽसौ ततोऽप्युचितया धिया ।
प्राप्तमप्युचितारम्भं भोगं न बहु मन्यते ॥ २६ ॥
पूर्वं संसृतिवैरस्यमन्तरेवोदितात्मनः ।
जायते जीर्णजाड्यस्य पाकादिव शरत्तरोः ॥ २७ ॥
ततः सज्जनसम्पर्कमुदर्कश्रेयसे स्वयम् ।
करोति स्वस्थतागृध्नुर्भिषगाश्रयणं यथा ॥ २८ ॥
तेनोदारमतिर्भूत्वा शास्त्रार्थेषु निमज्जति ।
महान्महाप्रसन्नेषु सरःस्विव महागजः ॥ २९ ॥
सज्जनो हि समुत्तार्य विपद्भ्यो निकटस्थितम् ।
नियोजयति संपत्सु स्वालोकेष्विव भास्करः ॥ ३० ॥

---

चाहिए, इसे देखनेके लिए केवल परम प्रेमसे ही विस्मयसे प्रफुल्ल नेत्रोंवाले सिद्ध पुरुष आते हैं ॥ २५ ॥

सदा ही भोगोंके प्रति यह आदर नहीं रखता, इसीलिए उन सिद्ध महात्माओंके द्वारा अत्यन्त प्रसन्नतासे दिये गये अनिषिद्ध सिद्धि आदि विषयोंको भी श्रेष्ठ नहीं समझता—उनकी ओर कुछ भी अधिक आस्था नहीं रखता ॥२६॥

उन भोगोंके प्रति उसे जो अधिक आदर नहीं होता, इसमें कारण यह है कि गुरु और शास्त्रके समागमसे भोगोंके प्रति पहलेसे ही उसके मनमें नीरसता पैदा हो जाती है तथा उसकी जड़ता भी जीर्ण-शीर्ण ऐसे हो जाती है, जैसे शरद्-ऋतुका पौधा पाकसे जीर्ण-शीर्ण हो जाता है ॥ २७ ॥

अनन्तर जैसे स्वास्थ्य चाहनेवाला पुरुष वैद्यकी शरण लेता है, वैसे ही अपने भावी अधिक कल्याणके लिए स्वयं ही वह सज्जनोंकी शरण लेता है ॥२८॥

सज्जनोंके समागमसे उसकी बुद्धि बड़ी उदार हो जाती है, उदारबुद्धि होकर वह उपनिषद्‌के महावाक्यार्थोंके विचारमें ऐसे डूब जाता है, जैसे अत्यन्त प्रसन्न सरोवरोंमें महान् हाथी डूब जाता है ॥ २९ ॥

क्योंकि सज्जनका यह स्वभाव है कि वह अपने पास स्थित प्राणीको बड़ी-बड़ी आपत्तियोंसे उबार कर सम्पत्तियोंमें ऐसे सम्बन्ध करा देता है, जैसे सूर्य अन्धकारसे उबारकर अपनी प्रकाशमय दीप्तियोंमें सम्बन्ध करा देता है ॥ ३० ॥

परस्वादानविरतिः पूर्वमेव प्रवर्तते ।
विवेकिनो निजार्थेषु सन्तोषश्चोपजायते ॥ ३१ ॥
परस्वादानविरतः सन्तोषामृतनिर्भरः ।
विवेकी क्रमशः स्वार्थानप्युपेक्षितुमिच्छति ॥ ३२ ॥
ददाति कणपिण्याकशाकाद्यपि हि याचते ।
तेनैवाभ्यासयोगेन स्वमांसानि ददात्यसौ ॥ ३३ ॥
नूनं विलयचित्तानां विवेकमनुधावताम् ।
मौर्ख्यं लघुत्वमायाति धावतामिव गोष्पदम् ॥ ३४ ॥
परार्थादानविरतिं पूर्वमभ्यस्य यत्नतः ।
आहर्तव्या विवेकेन ततः स्वार्थेष्वरक्तता ॥ ३५ ॥

---

जो विवेकी है उसकी बुद्धि पहलेसे ही दूसरेका धन लेनेसे विरत बनी रहती है और अपने ही अर्थोंसे उसे सन्तोष बना रहता है ॥ ३१ ॥

दूसरेके धनग्रहणसे विरत तथा सन्तोषरूपी अमृतसे निर्भर विवेकी पुरुष क्रमसे उत्तरोत्तर अपने स्वार्थोंकी भी उपेक्षा करनेकी इच्छा करता है, ऐसी स्थितिमें वह दूसरेका अर्थ तो चाहेगा ही कैसे ? ॥ ३२ ॥

उसके पास जो कोई याचक आ जाय, उसे कण, पिण्याक (तिल या सरसोंकी खली), शाक आदि जो कुछ भी हो दे देता है, उसी अभ्यासयोगके प्रभावसे याचकोंको अपना मांस भी दे डालता है ॥ ३३ ॥

विवेकके अनुसरणसे जिनका चित्त लीन हो गया है उनका दिनपर दिन ज्ञान बढ़ता ही जाता है और अज्ञान क्षीण होता जाता है, यह कहते हैं—'नूनम्' इत्यादिसे ।

विवेकके पीछे-पीछे दौड़ रहे तथा चित्तकी विलयदशाको प्राप्त हुए पुरुषोंका अज्ञान ऐसे तुच्छ हो जाता है, जैसे दौड़ रहे घोड़ोंके लिए बड़ा भारी गढ्ढा भी गोष्पदकी नाईं तुच्छ यानी अनायास उल्लङ्घनयोग्य हो जाता है ॥ ३४ ॥

विवेकीको सबसे पहले प्रयत्नपूर्वक दूसरेका धन लेनेसे निवृत्त हो जाना चाहिए और इसका भली प्रकार अभ्यास कर फिर अपने विवेकसे स्वार्थोंसे भी विरक्ति ग्रहण करनी चाहिए ॥ ३५ ॥

ततो भोगनिरासेन सह स्वार्थनिराकृतिः ।
परमायै सुविश्रान्त्यै क्रियते कृतिभिः क्रमात् ॥ ३६ ॥
न तादृशं जगत्यस्मिन् दुःखं नरककोटिषु ।
यादृशं यावदायुष्कमर्थोपार्जनशासनम् ॥ ३७ ॥
आसने शयने याने गमने रमणे जने ।
आधिचिन्तापरा एव ननु मूढा विदन्तु ताम् ॥ ३८ ॥
नन्वर्था विततानर्थाः सम्पदः सन्ततापदः ।
भोगा भवमहारोगा विपरीतेन भाविताः ॥ ३९ ॥
तावन्नायाति वैरस्यं चिन्ताविषयजृम्भणैः ।
यावदर्थमहानर्थो न कदर्थार्थमर्थ्यते ॥ ४० ॥

---

इसके बाद भोगनिवृत्तिके साथ-साथ अपने स्वार्थोंको भी क्रमशः तिलाञ्जलि दे देनी चाहिए, क्योंकि तत्त्वज्ञ लोग उत्तम शान्तिके लिए यही काम किया करते हैं ॥ ३६ ॥

श्रीरामजी, यह बात आप निश्चित मानिये कि जीवनपर्यन्त जैसा अर्थोपार्जनके लिए झेला गया दण्डरूप ऐहिक पारलौकिक दुःख है, वैसा दूसरा दुःख इस जगत‌में करोड़ों नरकोंमें भी विद्यमान नहीं है ॥ ३७ ॥

जो मूढ़ पुरुष हैं, उनको पारलौकिक दुःखोंका स्मरण भले ही न हो, पर ऐहिक दुःखोंका तो उन्हें स्मरण करना ही चाहिए, यह कहते हैं—'आसने' इत्यादिसे ।

भद्र, आसनके लिए, शयनके लिए, सवारीके लिए, जानेके लिए, आनन्द मनानेके लिए तथा अपने जनके लिए कितनी बड़ी पुरुषोंको मानसिक चिन्ता बनी रहती है, इसलिए अज्ञानियोंको उसे अवश्य स्मरण करना चाहिए कि अर्थोपार्जनके लिए यहां कितना दुःख है ॥ ३८ ॥

भद्र, यदि विवेकसे विचारा जाय, तो ये अर्थ बड़े भारी अनर्थरूप, सम्पत्तियां महान् विपत्तिरूप और भोग संसारके महान् रोगरूप ही सिद्ध होते हैं। परन्तु मोहके कारण प्राणी उनको वैसा नहीं समझता ॥ ३९ ॥

जबतक पुरुष निन्दनीय ऐहिक या पारलौकिक अर्थोंके लिए महान् दुःखरूप अनर्थ झेलनेकी इच्छा नहीं करता, तभीतक पुरुष चिन्तित अर्थोंके कारण उत्पन्न सन्तापोंसे नहीं सूखता ॥ ४० ॥

अनुत्तमसुखं यस्मै चिराय परिरोचते ।
जगत्तृणशिखाद्दष्ट्या सोऽर्थं पश्यतु शाम्यतु ॥ ४१ ॥
भूरिभावविकाराणां जरामरणकर्मणाम् ।
दैन्यदौरात्म्यदाहानामर्थः सार्थ इति स्मृतः ॥ ४२ ॥
अस्मिन् जगति जन्तूनां जरामरणशालिनाम् ।
अजरामरणं कर्तुं सन्तोषोऽस्ति रसायनम् ॥ ४३ ॥
वसन्तो नन्दनोद्यानमिन्दुरप्सरसः स्मृताः ।
इत्येकतः समुदितं सन्तोषामृतमेकतः ॥ ४४ ॥

---

जिस पुरुषको मोक्षका सुख ही सदाके लिए सबसे बढ़-चढ़कर जँचता हो, वह पुरुष धनको यह समझे कि वह जगत्-रूपी तिनकेके अग्रिम हिस्सेके सदृश अत्यन्त तुच्छ है और यह समझकर उससे शान्ति ग्रहण करे यानी उसे प्राप्त करनेके लिए अनर्थके फन्देमें न फँसे ॥ ४१ ॥

धनमें तुच्छता दृढ़ करनेके लिए बार-बार उसकी निन्दा करते हैं—'भूरि०' इत्यादिसे ।

भद्र, यह जो धन है, उसको मुनियोंने यह कहकर याद किया है कि वह चिन्ता, शोक आदि भावविकारोंका, जरा, मरणके जनक दुष्ट कर्मोंका तथा दीनता, दुष्टता, जलन आदिका ढेर है ॥ ४२ ॥

सन्तोष ही वैराग्यमें बैठाकर पुरुषको सब दुःखोंसे छुटकारा दिलाता है, इसलिए अब सन्तोषकी स्तुति करते हैं—'अस्मिन्' इत्यादिसे ।

इस जगत्में बुढ़ौती और मरणसे आक्रान्त जन्तुओंको अजर और अमर बनानेके लिए सन्तोष ही एक रसायन ( अमृत ) है ॥ ४३ ॥

सभी प्रकारके सुखोंका कारण भी वही है, यह कहते हैं—'वसन्तो' इत्यादिसे ।

सुखके साधन एक ओर तो वसन्त, नन्दनवन, चन्द्रमा और अप्सराएँ कही गई हैं और एक ओर पूर्ण सन्तोषरूपी अमृत कहा गया है यानी अकेला सन्तोषरूपी अमृत सुख देनेकी जितनी सामर्थ्य रखता है उतनी वसन्त आदि सब मिलकर भी नहीं रखते ॥ ४४ ॥

सरसः प्रावृषेवान्तःसन्तोषेणैव पूर्णता ।
गम्भीरां शीतलां हृद्यां प्रसन्नां रसशालिनीम् ॥ ४५ ॥
साधुरोजस्वितामेत्य सन्तोषेणैव राजते ।
सुपुष्पितवनाकारो वसन्तेनेव पादपः ॥ ४६ ॥
पादपीठपरामर्शपिष्टकीटवदीहते ।
दीनप्रकृतिरर्थार्थी दुःखाद्दुःखान्तरं व्रजेत् ॥ ४७ ॥
कल्लोलविकलाः क्षुब्धसमुद्रपतिता इव ।
नाप्नुवन्ति स्थितिं स्वस्थां विकृताकृतयोऽर्थिनः ॥ ४८ ॥
सम्पदः प्रमदाश्चैव तरङ्गोत्तुङ्गभङ्गुराः ।
कस्तास्वहिफणच्छत्रच्छायासु रमते बुधः ॥ ४९ ॥
अर्थोपार्जनरक्षाणां जानन्नपि कदर्थनाम् ।
यः करोति स्पृहां मूढो नृपशुं तं न संस्पृशेत् ॥ ५० ॥

---

जैसे सरोवर अपने भीतरकी परिपूर्णता वृष्टिसे कर सकता है, वैसे ही पुरुष भी अपने भीतर परिपूर्णता सन्तोषसे ही कर सकता है । सज्जन पुरुष गम्भीर, शीतल, मनोहर, प्रसन्न और रसपूर्ण ओजस्विताको सन्तोषके ही द्वारा प्राप्त कर सुन्दर पुष्पोंसे युक्त वन के सदृश होकर ऐसे शोभित होने लगता है, जैसे बसन्तसे वृक्ष ॥ ४५, ४६ ॥

जो पुरुष सन्तोष धारण नहीं करता और अर्थोंके लिए लालायित रहता है, उसकी प्रकृति ठीक उस कीटकी तरह दीन बन जाती है, जो कीट जूतोंसे पहले आहत होकर रगड़ खा गया है । इस तरहका असन्तुष्ट जीव एक दुःखसे दूसरे दुःखकी ओर जाता ही है, दुःखोंसे छुटकारा नहीं पाता ॥ ४७ ॥

धनके लोभी जीवोंकी आकृतियाँ ( आकार ) विकृत ही रहा करती हैं और वे अपनी स्वस्थ स्थिति ऐसे प्राप्त नहीं कर सकते, जैसे कि क्षुब्ध समुद्रमें गिरे हुए तथा तरङ्गोंसे विकल हो उठे पुरुष ॥ ४८ ॥

अर्थसम्पत्ति और प्रमदा—ये दोनों वस्तुएँ तरङ्गोंके सदृश थोड़ी ही देरमें नष्ट हो जानेवाली हैं और वे सर्पके फनरूप छत्रकी छाया ही हैं, अतः कौन विद्वान् उनसे खेल करेगा ! ॥ ४९ ॥

धनके उपार्जन और रक्षणमें जो भारी यातनाएँ होती हैं, उनको जानकर

मनसो बाह्यमारम्भमान्तरं च लुनाति यः ।
समं वैतृष्ण्यदात्रेण तस्य क्षेत्रं प्रकाशते ॥ ५१ ॥
जगत्त्वमज्ञसंबुद्धं ज्ञो विदन्नसदेव यत् ।
सतीव तत्र स्फुरति तदनभ्यासजृम्भितम् ॥ ५२ ॥
संसारनिर्वेददशामुपेत्य
सत्सङ्गमं शास्त्रमुपेत्य तेन ।
शास्त्रार्थभावेन निरस्य भोगान्
वैतृष्ण्यदार्ढ्यात्परमार्थमेति ॥५३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मुमुक्षुप्रथमोपक्रमो नाम सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

---

भी जो धनकी इच्छा करता है, वह मूढ़ और नरपशु है उसे छूनातक नहीं चाहिए ॥ ५० ॥

जो पुरुष सन्तोषरूपी हँसुआसे एक साथ बाहरकी इन्द्रियोंके वर्तनको और भीतरके सङ्कल्प आदिको काट डालता है, उसका खेत यानी ज्ञानबीजकी उत्पत्तिका स्थान हृदय प्रकाशने लगता है ॥ ५१ ॥

दृढ़ वैराग्यकी प्राप्तितकके जितने गुण अभी-अभी पीछे बतलाये गये हैं वे भलीभाँति अभ्यस्त होनेपर ही ज्ञानकी स्थिति बना देते हैं, ऊपर-ऊपरसे अभ्यस्त होनेपर नहीं, इस आशयको लेकर उपसंहारकी इच्छासे कहते हैं—'जगत्त्व०' इत्यादिसे ।

भद्र, अज्ञानियोंसे सम्बन्ध रखनेवाली जगत्की जो विचित्रता है, वह साक्षी आत्मामें सत्यता रखती ही नहीं, यों जान रहा भी ज्ञानी जगत्में सत्य अर्थ समझनेवाले अज्ञके सदृश जो अपरिपक्व ज्ञानके कारण व्यवहार करता है, वह प्रस्तुत वैराग्यादिके अनभ्यासका ही परिणाम है ॥ ५२ ॥

पुरुषको सबसे पहले संसारमें विरागदशा प्राप्त करनी चाहिए, फिर सत्समागम और शास्त्रोंका अभ्यास करना चाहिए, अनन्तर 'तत्त्वमसि' आदि शास्त्रोंके अर्थोंकी दृढ़ भावना कर भोगोंसे विरक्त हो जाना चाहिए, इतना करनेके अनन्तर अभी कहे गये वैतृष्ण्यकी यानी सन्तोषकी दृढ़ता बन जायगी और फिर अपने असली स्वरूपको वह अवश्य प्राप्त हो जायगा ॥ ५३ ॥

सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

---

## अष्टचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

रूढे संसारनिर्वेदे स्थिते साधुसमागमे ।
शास्त्रार्थे भाविते बुद्ध्या भोगवैतृष्ण्य आगते ॥ १ ॥
जाते विषयवैरस्ये सज्जनत्वे तथोदिते ।
प्रकाशे सोन्मुखीभूते हृदये कलितोदये ॥ २ ॥
धनानि नाभिवाञ्छयन्ते तमांसीव विवेकिना ।
त्यज्यन्ते विद्यमानानि संशुष्कामेध्यपर्णवत् ॥ ३ ॥
भाराय पान्थदृष्ट्येव दृश्यन्ते दारबन्धवः ।
यथाशक्ति यथाकालमुपचर्यन्त एव च ॥ ४ ॥

---

## अड़तालीसवाँ सर्ग

[ उत्तम वैराग्यके दृढ़ हो जानेपर पुरुषकी जिन लक्षणोंसे स्थिति होती है तथा ज्ञानमें निष्ठा हो जानेपर जिन लक्षणोंसे स्थिति होती है, उनका वर्णन ]

सबसे पहले वैराग्यकी दृढ़ता हो जानेपर पुरुषके जो चिह्न होते हैं, उन्हें बतलाते हैं—'रूढे' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, जब पुरुषको संसारसे विरक्ति उत्पन्न हो जाती है, जब साधु पुरुषोंका समागम प्राप्त हो जाता है, जब 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंका अर्थ बुद्धिद्वारा भावित हो जाता है, जब भोगोंकी तृष्णा चली जाती है, जब विषय नीरस बन जाते हैं, जब साधुताका उदय हो जाता है, जब प्रकाशमय आत्मा सामने आ जाता है तथा जब हृदयमें अपने उदयकी पूर्ण भावना हो जाती है, तब वह विवेकी पुरुष धनोंको ऐसे नहीं चाहता, जैसे अन्धकारोंको । और यदि वे पासमें विद्यमान हों, तो उनका ऐसे त्याग कर देता है, जैसे घरमेंसे एकदम सूखे उच्छिष्ट पत्तलोंका ॥ १–३ ॥

उपयोगी भी बर्तन आदि ढो ले जानेमें असामर्थ्य रखनेके कारण जैसे पथिकोंकी दृष्टिसे वे केवल भारभूत ही देखे जाते हैं, वैसे ही विवेकी पुरुषकी दृष्टिसे स्त्री, बन्धु आदि भी भारभूत देखे जाते हैं । परन्तु सहसा उनका त्याग वह नहीं करता, यथाशक्ति और यथासमय धीरे-धीरे उनका उपचार करता ही जाता है यानी छोड़ता जाता है ॥ ४ ॥

इन्द्रियेष्वपि संलग्ना इन्द्रियार्थाः पुनः पुनः ।
न भोगा अनुभूयन्ते नूनं शान्तमनस्तया ॥ ५ ॥
एकान्तेषु दिगन्तेषु सरःसु विपिनेषु च ।
उद्याने पुण्यदेशेषु निजेष्वेव गृहेषु वा ॥ ६ ॥
सुहृत्केलिविलासेषु शुभोद्यानाशनादिषु ।
शास्त्रतर्कविचारेषु न तथा स्थीयते चिरम् ॥ ७ ॥
उपशान्तेन दान्तेन स्वात्मारामेण मौनिना ।
ज्ञातैवान्विष्यते ज्ञेन विज्ञानैकान्तवादिना ॥ ८ ॥
एवमभ्यासवशतः परे विश्रम्यते पदे ।
निम्नेवाम्भसि शान्तेन स्वयमेव विवेकिना ॥ ९ ॥
सबाह्याभ्यन्तरं शान्ताऽज्ञतैवार्थतयोदिता ।
न संभवति भिन्नोऽर्थ इत्येव परमं पदम् ॥ १० ॥

---

इन्द्रियोंमें बार-बार लगे हुए भी भोगरूप इन्द्रियोंके विषयोंका वह अनुभव नहीं करता, क्योंकि उसका मन अत्यन्त शान्त हो चुका रहता है ॥ ५ ॥

उसीका विस्तार करते हैं—'एकान्तेषु' इत्यादिसे ।

विवेकी जीव, एकान्त स्थानोंमें, दिगन्तोंमें, सरोवरोंमें, जङ्गलोंमें, उद्यानोंमें, पवित्र देशोंमें, अपने ही घरोंमें, मित्रोंकी विलासपूर्ण क्रीड़ाओंमें, सुन्दर बाग आदिके भोजनोंमें, शास्त्रोंके तर्कपूर्ण विचारोंमें अज्ञानीके-जैसे दीर्घकालतक आस्था बाँधकर नहीं रहता या आसक्ति न होनेके कारण दीर्घकालतक स्थित नहीं रहता ॥ ६, ७ ॥

अथवा कदाचित् प्रारब्धवश उन स्थानोंमें रह गया, तो भी वहां रहकर तत्त्ववित् पुरुषकी ही अन्वेषणा करता है, क्योंकि वह पूर्णशान्त, दान्त, अपनी आत्मामें रमनेवाला, मौनी और एकमात्र विज्ञानरूप ब्रह्मकी कथामें निरत रहता है ॥ ८ ॥

यों निरन्तर अन्वेषण करनेपर अवश्य आत्माका दर्शन होता है और इससे शान्ति मिलती है, यह कहते हैं—'एवम०' इत्यादिसे ।

इस तरह अभ्यासके बलसे शान्त विवेकी पुरुष स्वयं ही जलमें निम्न ( नीचेके ) भागके सदृश—परम पदमें विश्रान्ति प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

वह परमपद कैसा है ? जहांपर विवेकी विश्रान्ति पाता है और किस

नार्थोपलब्धिर्नो शून्यमस्ति बोधात्मतां विना ।
इत्यन्तरनुभूतिस्थमाहुस्तत्परमं पदम् ॥ ११ ॥
एकबोधातिसम्बन्धपरिणामान्न बोधता ।
न शून्यता नार्थतेति विद्धि तत्परमं पदम् ॥ १२ ॥
स्वसंविन्मात्रविश्रामवताममनसां सताम् ।
न स्वदन्ते हि विषयाः पयांसि दृषदामिव ॥ १३ ॥

---

तरहका निश्चय विश्रान्तिरूप बन जाता है ? इसपर कहते हैं—'सबाह्या०' इत्यादिसे ।

एकमात्र अज्ञान ही इन बाह्य और आभ्यन्तर दृश्य पदार्थोंके रूपमें परिणत हो गया है, अज्ञान कोई अलग पदार्थ है नहीं, इसलिए अज्ञानकी शान्ति ही परमपद है, यह आप जानिए । अथवा बाह्य और आभ्यन्तर जितने अर्थ दिखाई पड़ते हैं, वे आत्मासे अतिरिक्त कुछ नहीं हैं, इस प्रकारका अन्तिम साक्षात्कारात्मक जो निश्चय है, वह यदि अपने स्वरूपभूत आत्मामें—दग्ध लकड़ीकी आगके सदृश—शान्त हो गया, तो वही परमपद है ॥ १० ॥

बोधरूप आत्माके सिवा न तो अर्थोंका ज्ञान हो सकता है और न शून्य ही सिद्ध हो सकता है, इस प्रकारके भीतरी अनुभवमें विद्यमान सर्वबाधोंकी अवधिभूत जो वस्तु है, वही परमपद है ॥ ११ ॥

परमपदरूप जो वस्तु है, वह न बोधरूप है, न शून्यरूप है और न तो अर्थरूप ही है, यह आप जान लीजिए, क्योंकि समस्त वस्तुएँ अद्वय बोधके साथ एकरस होकर ही परिणत हैं । तात्पर्य यह निकला कि यदि बोधके विषय पदार्थ होते, तो उनको लेकर बोधरूपता कह सकते, परन्तु बोधविषय कोई पदार्थ तो त्रिकालमें भी नहीं है, इसी तरह अर्थ न होनेके कारण अर्थरूपता भी नहीं है । अर्थोंकी शून्यताको लेकर परमपदमें शून्यता कैसे हो सकती है ॥ १२ ॥

परमपदमें विश्रान्ति पा जानेपर विषयोंकी विरक्ति सिद्ध हो जाती है, यह कहते हैं—'स्व०' इत्यादिसे ।

मनशून्य ( मनकी विलयदशाको प्राप्त ) तथा आत्मतत्त्वसाक्षात्काररूप परमपदमें विश्राम किये हुए महात्माओंको विषय ऐसे अच्छे नहीं लगते, जैसे मनशून्य पत्थरोंको दूध ॥ १३ ॥

निरोधपदमापन्नो निर्मना मौनमन्थरः ।
स्वभावे स्थित एवास्ते चित्रे कृत इवात्मवान् ॥ १४ ॥
सर्वार्थमर्थरहितं महदेव पराणुवत् ।
अशून्यमेव शून्यात्मा हृदयं वेद्यवेदिनः ॥ १५ ॥
अहन्त्वं जगदीहादि दिक्कालकलनादि च ।
ज्ञस्य ज्ञानादि शून्यादि स्थितमेव न विद्यते ॥ १६ ॥
ज्ञेनामलपदस्थेन दीपेनेव निरस्यते ।
तमो हार्दं तथा बाह्यं रागद्वेषभयादि च ॥ १७ ॥
रजोरहितसर्वांशं सत्त्वात्पारमुपागतम् ।
असंभवत्तमोरूपं प्रणमेत्तं नृभास्करम् ॥ १८ ॥

---

निरोधपदको प्राप्त यानी बहिर्मुख पुरुषोंको आत्मनिष्ठामें रुकावट डालनेवाले तथा अन्तर्मुख पुरुषोंको बाह्यनिष्ठामें रुकावट डालनेवाले परमपदमें प्राप्त हुआ, मनसे रहित, मुनिके धर्मोंसे पूर्ण शारीरिक कार्योंमें शिथिल आत्मज्ञानी महात्मा अपने स्वभावमें ऐसे निश्चल होकर स्थित रहता है, जैसे चित्रमें अङ्कित पुरुष ॥ १४ ॥

उस समय उसका मन किस तरहका रहता है ? इसपर कहते हैं—'सर्वार्थम्' इत्यादिसे ।

भद्र, अवश्य जानने लायक आत्मवस्तुको जाननेवाले उस महात्माका मन अर्थरहित है, और सम्पूर्ण अर्थोंसे पूर्ण भी है, क्योंकि तत्त्वतः सभी तद्रूप हो गये हैं । अपरिच्छिन्न ब्रह्मरूप हो जानेके कारण महान् ही है और दुर्लक्ष्य होनेके कारण परमाणुरूप भी है, अशून्यरूप होता हुआ भी शून्यात्मक है, कारण कि अहन्ता, जगत्की इच्छा आदि, दिशा और कालकी कल्पना आदि तथा ज्ञाताके ज्ञान आदि जितने पदार्थ हैं, वे सब उसीसे तो हुए हैं, अतः तद्रूप होनेके कारण शून्यरूप नहीं हो सकता और शून्य आदि भी उसीसे हुए हैं, अतः अशून्यरूप भी नहीं है । ऐसी स्थितिमें तत्-तद्रूपसे स्थित हुआ भी नहीं है, यह कहा जा सकता है ॥ १५, १६ ॥

सम्पूर्ण मलोंसे रहित आत्मपदमें स्थिति करनेवाला ज्ञानी अपने हृदयमें स्थित अज्ञानरूपी अन्धकारको तथा बाहरके अन्धकारको एवं राग, द्वेष, भय आदिको, दीपककी तरह निकाल देता है ॥ १७ ॥

भद्र, ऐसे पुरुषरूपी भास्करको ( सूर्यको ) प्रणाम करना चाहिए, जिसका

भेदप्रविलये जाते चित्ते चादृश्यतां गते ।
या स्थितिः प्राप्तबोधस्य न वाग्गोचरमेति सा ॥ १९ ॥
ददात्येतन्महाबुद्धे निर्वाणं परमेश्वरः ।
अहर्निशं परमया चिरं भक्त्या प्रसादितः ॥ २० ॥

श्रीराम उवाच

ईश्वरः को मुनिश्रेष्ठ कथं भक्त्या प्रसाद्यते ।
एतन्मे तत्त्वतो ब्रूहि सर्वतत्त्वविदांवर ॥ २१ ॥

वसिष्ठ उवाच

ईश्वरो न महाबुद्धे दूरे न च सुदुर्लभः ।
महाबोधमयैकात्मा स्वात्मैव परमेश्वरः ॥ २२ ॥
तस्मै सर्वं ततः सर्वं स सर्वं सर्वतश्च सः ।
सोऽन्तः सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ २३ ॥

---

कि समस्त अंश रजोगुणसे शून्य है, सत्त्वगुणके प्रभावसे जो अज्ञानसागरसे पार पा चुका है और जिसमें तमोगुणका सर्वथा अभाव है ॥ १८ ॥

श्रीरामजी, मैं आपसे क्या कहूँ, जब भेद हट जाता है, चित्त अदृश्य बन जाता है, तब ज्ञानीकी जो स्थिति हो जाती है उसका वाणीसे कथन हो ही नहीं सकता ॥ १९ ॥

हे महाबुद्धे, रात-दिनकी उत्तम भक्तिसे चिरकालके बाद प्रसन्न किया गया परमात्मा वर्णित परमपदरूप निर्वाण देता है, दूसरा नहीं । तपके प्रभावसे या ईश्वरके प्रसादसे मोक्ष मिलता है, ऐसी श्रुतिकी उक्ति भी है ॥ २० ॥

श्रीरामजीने कहा—हे समस्त तत्त्वज्ञोंमें श्रेष्ठ मुनिवर, कौन ईश्वर है ? और वह भक्तिसे कैसे प्रसन्न किया जाता है, यह बात मुझसे आप ठीक-ठीक कहिए ॥ २१ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे महामते, ईश्वर न तो दूरीपर ही है और न अत्यन्त दुर्लभ ही है, महाबोधरूप, एकरस अपनी आत्मा ही परमेश्वर है ॥२२॥

ईश्वर उसे कहते हैं, जो सबका नियन्त्रण करनेमें स्वतन्त्र हो, इस तरह स्वतन्त्र सबके प्रति सभी प्रकारसे अपनी आत्मा ही है, इस विषयमें युक्ति कहते हैं—'तस्मै' इत्यादिसे ।

तस्मादिमाः प्रसूयन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः ।
अकारणं कारणतो गतयः पवनादिव ॥ २४ ॥
अनिशं पूजयन्त्येताः सर्वाः स्थावरजङ्गमाः ।
यथाभिमतदानेन सर्वे ते भूतजातयः ॥ २५ ॥
सुबहुन्येष जन्मानि यथाभिमतयेच्छया ।
यदा संपूजितस्तेन प्रसादमधिगच्छति ॥ २६ ॥
प्रसन्नः स महादेवः स्वयमात्मा महेश्वरः
बोधाय प्रेरयत्याशु दूतं पूतं शुभेहितैः ॥ २७ ॥

---

सब कुछ आत्माके लिए ही है। रथ, घर, महल आदि जितने अचेतन पदार्थ हैं, वे सब चेतनके लिए ही हैं, आत्मासे अतिरिक्त कोई चेतनवस्तु है नहीं, इसलिए सर्वभोक्तृतारूप स्वतन्त्रता आत्मामें ही आ गई। उसीसे सब कुछ हुआ है यानी सबका कर्ता वही है, वही सब कुछ है यानी आत्मा ही सबका उपादान और अधिष्ठान है, सभी ओर जहां दृष्टि डालें वहांपर वही नजरमें आता है यानी सम्पूर्ण शक्तियां उसीमें हैं। वही भीतर है यानी सूक्ष्म है, वही सर्वमय—सर्वगत है, वही सनातन है, उस आत्मरूप परमात्माको नमस्कार हो ॥ २३ ॥

इसीलिए श्रुतिमें बतलाई गई जन्मादिकारणता उसमें है, यह कहते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे।

यद्यपि वास्तवमें आत्मा कारण नहीं है, तथापि कारणरूप हुए उसी आत्मासे, पवनसे पवन-गतियोंकी नाईं, ये सृष्टि, प्रलय आदि विकार उत्पन्न होते हैं ॥२४॥

सबका आराध्य भी आत्मा ही है, यह कहते हैं—'अनिशम्' इत्यादिसे।

ये जितने स्थावर-जङ्गम पदार्थ हैं और ये जितने प्राणी हैं, वे सब अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार उपहारसामग्री प्रदानकर उसी आत्माका निरन्तर पूजन करते हैं ॥ २५ ॥

जब अनेक जन्मों तक यह आत्मा यथाभिमत इच्छासे पूजित होता है, तब वह उससे प्रसन्न हो जाता है ॥ २६ ॥

जब अनेक सत्कर्मोंसे वह महादेव, महेश्वररूप आत्मा स्वयं प्रसन्न हो जाता है, तब पूजकके पास बोध देनेके लिए अपना पवित्र दूत तत्काल भेजता है ॥ २७ ॥

श्रीराम उवाच

आत्मना परमेशेन को दूतः प्रेर्यते मुने ।
स दूतो बोधनं वाऽपि करोति वद मे कथम् ॥ २८ ॥

वसिष्ठ उवाच

आत्मसंप्रेरितो दूतो विवेको नाम नामतः ।
हृद्गुहायां सदानन्दस्तिष्ठतीन्दुरिवाम्बरे ॥ २९ ॥
स एष वासनात्मानं जन्तुं बोधयति क्रमात् ।
संसारसागरादस्मात्तारयत्यविवेकिनम् ॥ ३० ॥
बोधात्मैषोऽन्तरात्मैव परमः परमेश्वरः ।
अस्यैव वाचको नाम प्रणवो वेदसंमतः ॥ ३१ ॥
जपहोमतपोदानपाठयज्ञक्रियाक्रमैः ।
एष प्रसाद्यते नित्यं नरनागसुरासुरैः ॥ ३२ ॥
द्यौर्मूर्द्धा पृथिवी पादौ तारका रोमराजयः ।
भूतान्यस्थीनि हृदयं व्योमाऽस्य परमेश्वरः ॥ ३३ ॥

---

श्रीरामजीने कहा—हे मुने, परमेश्वररूपी आत्मा कौन दूत भेजता है, और वह आकर बोध कैसे देता है, इसको मुझसे कहिए ॥ २८ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, आत्मदेवके द्वारा भेजा गया दूत, जिसका शब्दतः नाम विवेक है और सदा आनन्द देनेवाला है, उक्त पुण्यवान् अधिकारीकी हृदयगुहामें आकर, आकाशमें चन्द्रमाकी नाईं, स्थिर हो जाता है ॥ २९ ॥

यही विवेक नामक दूत क्रमशः वासनारूप प्राणीको बोध देता है और अविवेकीको इस संसार-सागरसे पार कर देता है ३० ॥

समस्त जगत्‌का प्रकाश करनेवाला ज्ञानरूप अन्दरका आत्मा ही सबसे बड़ा परमेश्वर है, वासनारूप आत्मा नहीं। इसी परम परमेश्वरका बोधक वेदसम्मत प्रणव (ॐ कार) है ॥ ३१ ॥

जप, होम, तप, दान वेदपाठ, यज्ञ और क्रियाकर्मोंसे निरन्तर इसी आत्माको नर, नाग, देवता और दानव प्रसन्न करते हैं ॥ ३२ ॥

इसी परमपिता परमात्माका द्यौ मस्तक है, पृथ्वी पैर है, तारे रोम हैं भूत अस्थि हैं, आकाश हृदय है और यही सबका अन्तरात्मा है ॥ ३३ ॥

सर्वत्रैष चिदात्मत्वाद्याति जागर्ति पश्यति ।
तेनैष सर्वतो लक्षकरकर्णाक्षिपादभृत् ॥ ३४ ॥
विवेकदूतमुद्बोध्य हत्वा चित्तपिशाचकम् ।
आत्मनः पदवीं स्फारां जीवः कामपि नीयते ॥ ३५ ॥
त्यक्त्वा सर्वविकल्पौघान्विकारानर्थसङ्कटान् ।
पौरुषेणात्मनैवात्मा स्वयमेव प्रसाद्यताम् ॥ ३६ ॥
भ्रमन्मनःपिशाचेऽस्मिन् कल्लोलजलदाकुले ।
संसाररात्रितिमिरे स्वात्मैवापूर्णचन्द्रमाः ॥ ३७ ॥
अगाधमरणावर्तकल्लोलाकुलकोटरे ।
तृष्णातरङ्गतरले स्वमनश्चण्डमारुते ॥ ३८ ॥
महाजडलवाधरे संसारविषमार्णवे ।
इन्द्रियग्राहगहने विवेकः पोतको महान् ॥ ३९ ॥

---

चैतन्यात्मा होनेसे यही सब जगह जाता है, जागता है और देखता है, इसलिए यही आत्मा लाखों, हाथ, पैर, कर्ण, चक्षु और पैरोंका चारों ओरसे धारण करता है ॥ ३४ ॥

विवेकरूपी दूतको जगाकर और चित्तरूपी पिशाचका विनाशकर यही चिदात्मा जीवको अपनी दिव्य अनिर्वचनीय स्थिति पैदा करा देता है ॥ ३५ ॥

भद्र, समस्त सङ्कल्प-विकल्पोंका, विकारोंका और अर्थसङ्कटोंका परित्याग कर अपने ही पुरुषार्थसे अपनी आत्माको स्वयं ही प्रसन्न कर लेना चाहिए ॥ ३६ ॥

जिसमें मनरूप पिशाच घूम रहा है, काम, क्रोधरूप काले मेघोंसे जो सदा व्याकुल रहता है, ऐसे संसार रात्रिके घने अन्धकारमें अपना आत्मा ही पूर्ण चन्द्रमा है ॥ ३७ ॥

विवेक ही पार कर देनेवाला है, इस बातको बतलानेके लिए संसारका समुद्ररूपसे वर्णन करते हैं—'अगाध०' इत्यादिसे ।

अगाध, एवं मरणरूप भँवरोंके कल्लोलोंसे व्याकुल कोटरोंसे युक्त, तृष्णारूपी तरङ्गोंसे तरल, अपने मनरूपी झंझावातोंसे युक्त, स्थावर आदि बड़े-बड़े भूतरूप जलकणोंसे व्याप्त, संसाररूपी बड़े विषम सागरको पार करनेमें, जो कि इन्द्रियरूप मकरोंसे अतिगहन है, विवेक ही एक बड़ा भारी जहाज है ॥३८,३९॥

पूर्वं यथाभिमतपूजनसुप्रसन्नो
दत्वा विवेकमिह पावनदूतमात्मा ।
जीवं पदं नयति निर्मलमेकमाद्यं
सत्सङ्गशास्त्रपरमार्थपरावबोधैः ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विवेकमाहात्म्यं नामाष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

---

## एकोनपञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

परिपुष्टविवेकानां वासनामलमुज्झताम् ।
महत्ता महतामन्तः काप्यपूर्वैव जायते ॥ १ ॥
औदार्योदारमर्यादां मतिं गाम्भीर्यसुन्दरीम् ।
महतां नावगाहन्ते भुवनानि चतुर्दश ॥ २ ॥

---

कहे गये प्रश्न-उत्तरोंका संक्षेपकर उपसंहार करते हैं—'पूर्वम्' इत्यादिसे ।

पूर्व वर्णित शास्त्रविहित पूजनसे प्रसन्न हुआ आत्मा परम विवेकरूप परम-पवित्र दूत भेजकर सत्सङ्ग, शास्त्र और परमार्थ वस्तुके उत्तम बोधन द्वारा जीवको अद्वितीय, निर्मल और सर्वोच्च पद प्राप्त कराता है ॥ ४० ॥

अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त

—०—

## उनचासवाँ सर्ग

[ दृढविवेकज्ञानसम्पन्न पुरुषोंकी जैसी महिमा होती है तथा जैसा उनको संसार भासता है, उन सबका वर्णन ]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जिनका विवेकज्ञान परिपुष्ट हो गया है ऐसे वासनारूपी मलका परित्याग कर रहे महात्माओंके अन्दर कोई अपूर्व ही महत्ता उत्पन्न होती है ॥ १ ॥

उसी महत्ताका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—'औदार्यो०' इत्यादिसे ।

औदार्यकी सर्वश्रेष्ठ अवधिभूत तथा गाम्भीर्यगुणसे अतिसुन्दर महात्माओंकी

चित्तभ्रान्तिर्जगदिति प्ररूढे प्रत्यये सताम् ।
बाह्यश्चान्तश्चरन्नक्रग्रहो मोहश्च शाम्यति ॥ ३ ॥
द्वीन्दुवत्तापजलवत्केशोण्ड्रकवदम्बरे ।
विस्फुरन्त्यां जगद्भ्रान्तौ वासनाप्रत्ययः कुतः ॥ ४ ॥
वासनाप्रत्यये शून्ये शून्यं व्योमैव शिष्यते ।
साऽप्यवस्था मनोऽसत्त्वे कुतस्त्याज्या विवेकिना ॥ ५ ॥

बुद्धिको चौदह भुवन तथा उनके सभी प्राणी एवं वहांकी सारी सम्पत्तियां भी लुब्ध नहीं कर सकतीं ॥ २ ॥

यह सारा संसार चित्तकी एकमात्र भ्रान्ति है, ऐसी सज्जनोंको दृढ़ प्रतीति हो जानेपर बाहर शब्दादि विषयोंके लिए उत्पन्न होनेवाला तथा भीतर सङ्कल्प-विकल्पादि रूपोंसे भ्रमण करनेवाला अतएव हृदयके भीतर और बाहर दोनों जगह संचार करनेमें समर्थ मनसहित इन्द्रियोंका समूहरूपी एक तरहका नक्र तथा उसका मूलभूत अज्ञान एवं वासना, काम, कर्म आदि—ये सबके सब शान्त हो जाते हैं ॥ ३ ॥

जबतक भ्रान्तियोंमें सत्यत्वका अभिमान रहता है तभीतक भोगोंकी वासनाकी वृद्धि भी रहती है। भ्रान्तियोंका भ्रान्तिरूपसे स्फुरण होनेपर यानी ये जगत्की सारी भ्रान्तियां वस्तुतः भ्रान्तिरूप ही हैं, ऐसा ज्ञान हो जानेपर तो मूलका उच्छेद हो जानेके कारण उन वासनाओंका भी उच्छेद लोकमें प्रसिद्ध ही है, यह दृष्टान्त देकर दिखलाते हैं—'द्वीन्दुवत्' इत्यादिसे ।

दो चन्द्रमाके तुल्य, मृगतृष्णाके जलके समान तथा आकाशमें केशोण्ड्रकके सदृश जगत्की भ्रान्ति वस्तुतः भ्रान्ति है, ऐसा तत्त्वबोध द्वारा स्फुरित हो जानेपर तत्त्वज्ञानी पुरुषको वासनाकी प्रतीति भला कहांसे हो सकती है ॥ ४ ॥

वासनाकी प्रतीति ( वृत्ति ) का नाश होनेपर शून्य चिदाकाश ही शेष रह जाता है और वह वासनाकी शून्यावस्था भी मनके न रहनेपर ही सिद्ध होती है। अतः वासनाशून्य मनरहित जो अवस्था सप्तम भूमिकामें विवेकी पुरुषसे प्राप्त है उसका भला त्याग कैसे किया जा सकता है ? उसके त्यागमें कोई हेतु नहीं दीखता, यह भाव है ॥ ५ ॥

त्रयमेतत्तु याऽवस्था त्रयेणानेन वर्जिता ।
पश्यन्तीवाप्यपश्यन्ती साऽवस्था परमोच्यते ॥ ६ ॥
विचित्ररत्नरश्म्योघ इव नानात्मकं जगत् ।
आभासमात्रं न त्वात्मा न घनं न च पार्थिवम् ॥ ७ ॥
रूपालोकनमात्रं हि शून्यमेव जगत्स्थितम् ।
खे विचित्रमणिव्यूहकरजालमिवोत्थितम् ॥ ८ ॥
नेह सत्यानि भूतानि न जगत्ता न शून्यता ।
इदं ब्रह्माख्यरत्नेशप्रभाजालं विजृम्भितम् ॥ ९ ॥
सृष्टयोऽसृष्टयो ब्राह्मयो नानाता च न नाशताः ।
अमूर्ता एव भासन्ते कल्पनार्कगणा घनाः ॥ १० ॥

---

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये जो तीन अवस्थाएँ हैं ये तो सभीको भलीभाँति ज्ञात हैं। परन्तु इन तीनोंसे शून्य जो चौथी अवस्था है वह तो दर्शन आदि व्यवहारोंके मूलका बाध हो जानेपर सांसारिक पदार्थोंको न देखती हुई भी एकमात्र जीवनके हेतुभूत प्रारब्धके शेष रह जानेसे देखती हुई-सी अन्यकी दृष्टिमें अवभासती है। तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें तो वह परमावस्था ही कहलाती है ॥ ६ ॥

सप्तम भूमिकामें स्थित तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें यह जगत् व्युत्थानकालमें भी नहीं भासता और न आत्मा, न घन तथा पृथिवी आदिसे घटित कोई पदार्थ ही भासता है, बल्कि विचित्र तरहका एक रत्नोंका किरण-जाल-सा—निबिड़ित प्रभा-पुञ्ज-सा आभासमात्र भासता है ॥ ७ ॥

तत्त्वज्ञानी महानुभावोंकी दृष्टिमें यह सारा जगत् रूपोंका आलोकमात्र, आकाशमें विचित्र मणिसमूहके किरणजाल-सा उत्थित, एकमात्र शून्यस्वरूप ही स्थित है ॥ ८ ॥

इस संसारमें न तो ये सब नाना प्रकारके जीव सत्य हैं, न यह जगत्-रूप सत्य है और न कहीं शून्यता ही है, किन्तु ब्रह्मनामक रत्नेशका प्रभाजाल ही वह सर्वत्र विजृम्भित है—उसीका चारों ओर विलास हो रहा है ॥ ९ ॥

चूँकि अनेकता नहीं है, अतः ब्रह्मकी सृष्टियां भी नहीं हैं। चूँकि नाशता नहीं है, अतः प्रलय भी नहीं हैं, किन्तु मूर्तिशून्य कल्पनारूपी अनेक सूर्योंकी ही किरणें एकत्रित होकर यहां भासित हो रही हैं ॥ १० ॥

एवं तावद्घनीभूतः पिण्डग्राहो न विद्यते।
सङ्कल्पिते च व्योम्नीव शून्यतैवावगम्यते ॥ ११ ॥
तस्यामवस्तुभूतायां कथं भावनिबन्धनम्।
भविष्यदाकाशतरौ विश्रान्तः को विहङ्गमः ॥ १२ ॥
पिण्डत्वं नास्ति भूतानां शून्यता च न विद्यते।
चित्तमप्यत एवास्तं शेषं सत्तन्न चास्थिति ॥ १३ ॥
अनाना सममेवास्ते नानारूपं विबोधवान्।
अन्तरालीननानार्थो यथा कनकपिण्डकः ॥ १४ ॥

---

मनोराज्य आदिमें सङ्कल्पकल्पित मूर्ताकार पदार्थोंकी तो शून्यता ही प्रसिद्ध है, पिण्डरूपसे उनका ग्रहण प्रसिद्ध नहीं है, यह कहते हैं—'एवं तावत्' इत्यादिसे।

सच पूछिये तो इस प्रकार कल्पना ही मूर्तिमान् जगद्रूपसे भासती है। वास्तवमें यहाँ घनीभूत कोई पिण्डग्रहण नहीं है, क्योंकि जैसे आकाशमें एकमात्र शून्यता अवगत होती है वैसे ही सङ्कल्पकल्पित मनोराज्य आदिमें एकमात्र शून्यता ही अवगत होती है ॥ ११ ॥

शून्यताप्रसाधनका फल कहते हैं—'तस्याम०' इत्यादिसे।

अवस्तुभूत उस शून्यतामें विवेकी पुरुषको अहन्ता, ममता, राग-द्वेष आदि भावोंका बन्धन भला कैसे हो, क्योंकि भविष्यत् आकाशरूपी वृक्षमें किस पक्षीने विश्रान्ति प्राप्त की है ॥ १२ ॥

इस तरह संसारमें पिण्डत्वादिका खण्डन हो जानेपर साररूपसे सन्मात्र ही शेष रह जाता है, यह कहते हैं—'पिण्डत्वम्' इत्यादिसे।

इन सांसारिक जीवोंकी कोई पिण्डता नहीं है—वस्तुतः कोई मूर्ति नहीं है और न शून्यता ही विद्यमान है। यही कारण है कि चित्त भी अस्त हो चुका है और एकमात्र सद्रूप ही शेष रह गया है, उसका किसी तरह अपलाप नहीं हो सकता—वह सदा स्थित है ॥ १३ ॥

यही कारण है कि तत्त्वज्ञानी पुरुष जाग्रदवस्थामें भी सुषुप्तिमें ही स्थित रहता है, क्योंकि उस समय भी उसे भासित हो रहे पदार्थोंकी अनेकता सन्मात्र आत्मामें ही लीन हुई रहती है, यह दृष्टान्त देकर बतलाते हैं—'अनाना' इत्यादिसे।

यथास्थितस्य साहन्त्वं विश्वं चित्तं विलीयते ।
ज्ञस्याऽवाच्यमचित्त्वं सत्स्वरूपमवशिष्यते ॥ १५ ॥
क्लिश्यते केवलं बुद्धिरुत्तराधरदर्शनैः ।
स्तोकयाऽभ्यस्तया युक्त्या सत्योऽर्थो ह्यवगम्यते ॥ १६ ॥
विराडोजोविरहितं कार्यकारणतादिभिः ।
भूतभव्यभविष्यस्य जगदङ्गस्य सम्भवम् ॥ १७ ॥

---

जाग्रदवस्थामें नाना प्रकारके रूपोंसे सम्पन्न होनेपर भी तत्त्वज्ञानी पुरुष एकरूप हो समानभावसे सुषुप्तिमें ही स्थित रहता है, क्योंकि उसकी अनेकता सन्मात्र आत्मामें ऐसे लीन हुई रहती है, जैसे नाना प्रकारके सुवर्णके आभूषण सुवर्णके पिण्डमें ॥ १४ ॥

ज्ञानीका वह अवशिष्ट सन्मात्र चित्तरूप ही क्यों नहीं होगा, क्योंकि चित्तके रहनेपर ही चितिकी अभिव्यक्ति प्रसिद्ध है, चित्तका नाश होनेपर उसकी स्थिति नहीं रहती, यह आशङ्का कर कहते हैं—'यथास्थितस्य' इत्यादिसे ।

यदि अयथास्वभाव जाड्यमें स्थित ज्ञानीका अहङ्कारसहित सारा विश्व और चित्त विलीन हो जाता, तब तो वह ज्ञानी जड़सन्मात्ररूपसे अवशिष्ट रह जाता, किन्तु यह बात नहीं है। यहां तो बात यह है कि यथाभूत चिदेकस्वभावमें स्थित ज्ञानीका अहङ्कारसहित सारा संसार और चित्त तत्त्वज्ञानसे विलीन हो जाता है इसलिए वह सत्स्वरूपसे ही अवशिष्ट रह जाता है। उस समय ज्ञानीका परिशिष्ट चिदेकरस अचिद्रूप है, यह नहीं कहा जा सकता अतः उस समय चिदेकरस सन्मात्रके परिशेषकी ही सिद्धि हो जाती है ॥ १५ ॥

यदि सन्मात्ररूप सबका स्वरूप है, तो फिर वह सबको सुलभ क्यों नहीं है? यदि यह आशङ्का हो, तो उसका उत्तर यही है कि ऊँच-नीच विषयोंमें बुद्धिकी चंचलताके कारण स्थिरताका अभाव होनेसे ही वह स्वरूप सबको सुलभ नहीं है, यह कहते हैं—'क्लिश्यते' इत्यादिसे ।

ऊँच-नीच विषयोंकी ओर दौड़नेसे बुद्धि क्लेश पाती है, इसलिए वह सन्मात्रस्वरूप सबको सुलभ नहीं है। हाँ, धीरे-धीरे युक्तिका अभ्यास करनेसे सत्य अर्थ अवगत हो जाता है ॥ १६ ॥

वह कौन-सी युक्ति है, यह दिखलाते हुए उस युक्तिका फल ज्ञान है, यह बतलाते हैं—'विराडोजो०' इत्यादिसे ।

येन बोधात्मना बुद्धं स ज्ञ इत्यभिधीयते ।
अद्वैतस्योपशान्तस्य तस्य विश्वं न विद्यते ॥ १८ ॥
पूर्वोक्ताः सर्व एवैते उपदेशा विशेषणाः ।
ज्ञस्यानुभवमायान्ति सतः साधुकथा इव ॥ १९ ॥
पिण्डत्वं नास्ति भूतानां शून्यत्वं चाप्यसम्भवात् ।
अत एव मनो नास्ति शेषं सत्तत्त्व स्थितिः ॥ २० ॥
चेत्योन्मुखत्वमेवान्तश्चेतनस्यास्य चेतनम् ।
उदितं तदनर्थाय श्रेयसेऽनुदितं भवेत् ॥ २१ ॥

---

जिस अधिकारी पुरुषने भूत, भविष्य और वर्तमान इस जगद्रूपी अङ्गके जन्मको कार्य-कारणता आदिसे विचार कर वाचारम्भण श्रुतिमें दिखलाये न्याय द्वारा स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्चसे रहित परिशिष्ट सन्मात्र अखण्ड बोधरूपसे जान लिया है वही सचमुच तत्त्वज्ञानी है तथा उस द्वैतशून्य उपशान्त ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें यह संसार है ही नहीं ॥ १७, १८ ॥

सभी उपदेशोंका, जो तत्-तत् असंभावनांशके व्यावर्तक हैं, उस तरहके अनुभवमें ही पर्यवसान है, यह कहते हैं—'पूर्वोक्ताः' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त ये सभी मेरे विशेष रूपके उपदेश, साधु पुरुषोंकी कथाकी तरह, ज्ञानीके अनुभवमें स्वतः आ जाते हैं ॥ १९ ॥

दूसरी युक्ति बतलाते हैं—'पिण्डत्वम्' इत्यादिसे ।

चार तरहके प्राणिसमूहों तथा पृथिवी आदि महाभूतोंका एक-एक अवयव तथा एक-एक गुणसे विवेचन करके देखनेपर इन पदार्थोंकी, जो दिखाई दे रहे हैं, परमाणुभावमें भी विश्रान्ति न होनेसे इन सभी जीवोंमें न तो पिण्डता है और न प्रत्यक्षादिके असंभवसे शून्यता ही है अर्थात् न तो इन सब जीवोंकी कोई मूर्ति है और न ये सब शून्यरूप ही हैं। इन दोनोंके न रहनेसे सम्पूर्ण विकल्पोंका नाश हो जानेके कारण विकल्पोंके अधीन स्थितिवाला मन भी नहीं है । इसलिए निर्विकल्पक सन्मात्ररूप स्फुरण ही अवशेष है। हे श्रीरामचन्द्रजी, वही आपका पारमार्थिक रूप है और वही आपकी अन्तिम स्थिति है ॥ २० ॥

अन्य युक्ति बतलाते हैं—'चेत्योन्मुखत्वम्' इत्यादिसे ।

इस प्रत्यगात्माका ( साक्षी चेतनका ) विषयोंकी ओर उन्मुख होना ही

उदितं बाह्यतामेति तत्र गच्छति पिण्डताम् ।
स्वयं संवेदनादेव जाड्यादम्भिवव शैलताम् ॥ २२ ॥
स्वप्नाद्यर्थवदादत्ते बोधोऽबोधेन पिण्डताम् ।
तद्ग्राहकतया चित्तं भूत्वा बध्नाति देहकम् ॥ २३ ॥
एतावतीष्ववस्थासु बोधस्योदेति नान्यता ।
शब्दकल्पनया भेदः केवलं परिकल्पितः ॥ २४ ॥
बहिरन्तश्च बोधस्य भात्यात्मैवार्थदृष्टिभिः ।
अन्तस्त्वेन बहिष्ट्वेन नैवास्य मनसो यथा ॥ २५ ॥
बोधस्याऽऽकाशकल्पत्वात् कालाकाशादि तद्वपुः ।
पदार्थाश्चैव खात्मानः स्वप्नवन्नार्थरूपि खम् ॥ २६ ॥

---

संसाररूपसे बोध है। यह अनर्थके लिए ही उदित होता है, कल्याणके लिए उदित नहीं होता ॥ २१ ॥

यह अनर्थके लिए कैसे उदित होता है, यह कहते हैं—'उदितम्' इत्यादिसे। संसाररूपसे उदित हुआ वह बोध बाह्यरूपताको प्राप्त करता है और बादमें स्वयं संवेदनके कारण वह साकारपिण्डरूपताको ऐसे प्राप्त हो जाता है, जैसे जड़ताके कारण जल ही जम करके पत्थररूपताको प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

वह चिदात्मा ही अपने स्वरूपके अज्ञानसे स्वप्नकालके पदार्थोंके समान पिण्डरूपताको यानी पदार्थोंके मूर्तिमान् आकारको धारण करता है तथा उसके ग्राहकरूपसे चित्त बनकर फिर शरीर धारण कर लेता है ॥ २३ ॥

इस तरहके हजारों विवर्तोंसे भी चितिमें अणुमात्र भी विकार नहीं आता, क्योंकि वे सभी नाममात्रके ही रहते हैं, यह कहते हैं—'एतावतीष्व०' इत्यादिसे। हे श्रीरामचन्द्रजी, इन सभी अवस्थाओंमें चिदात्मा अपने स्वरूपसे अन्यभावको तनिक भी प्राप्त नहीं होता। शब्दमात्रकी केवल कल्पनासे ही भेदकी कल्पना की गई है ॥ २४ ॥

स्वप्नमें मनसे पदार्थोंका अवलोकन होनेपर मनके ही बाहर-भीतर सर्वत्र विद्यमान रहनेसे एकमात्र मन ही जैसा विकृतरूपसे भासता है, वैसा विकृतरूपसे यह बोधात्मा अर्थदृष्टियोंसे बाहर-भीतर भासमान होनेपर नहीं भासता ॥ २५ ॥

आत्मा विकृत क्यों नहीं होता, इसपर कहते हैं—'बोधस्य' इत्यादिसे।

बाह्यार्थता नान्तरत्वं तद्वद्बोधवशाद्व्रजेत् ।
नासादृश्यं हि बोधत्वं गन्तुं शक्तं जडं क्वचित् ॥ २७ ॥
बोधो दृश्यदशां नैति प्राप्तो वापि च तां स्थितिम् ।
स यथास्थितमेवास्ते मनागप्येति नान्यताम् ॥ २८ ॥
अत्यर्थं शुद्धबोधैकपरिणामे कृतोदये ।
बोधाबोधार्थशब्दानां श्रुतिरप्यस्तमेष्यति ॥ २९ ॥
आतिवाहिकदेहानां चित्तानामेव जायते ।
आधिभौतिकताबोधो दृढभावनया स्वया ॥ ३० ॥

---

आकाशके सदृश होनेसे चिदात्मा भी आकाश और कालके समान अविकृत ही रहता है तथा उसका शरीर भी काल और आकाशरूप ही है। सभी पदार्थ चिदाकाशस्वरूप हैं। वह चिदाकाश स्वप्नके समान अर्थाकारसे परिणत नहीं होता ॥२६॥

जड़स्वरूप बाह्य पदार्थोंके आकारसे चिति भले ही विकृत न हो सके, किन्तु जड़का तो विकार हो सकता है। तत्त्वबोधके वश भीतर स्थित चिदाकाररूपसे वह विकृत क्यों न हो जाय, इसपर कहते हैं—'बाह्यार्थता' इत्यादिसे।

जैसे जड़ बाह्य पदार्थोंके आकारसे चिति विकृत नहीं हो सकती वैसे ही जड़ बाह्य पदार्थता भी तत्त्वबोधवश भीतर स्थित चिदाकाररूपसे विकृत नहीं हो सकती, क्योंकि सर्वथा असदृश जड़ पदार्थ कहीं भी बोधरूप नहीं हो सकता ॥२७॥

चिदात्मा दृश्यदशाको प्राप्त नहीं होता। अथवा विवर्तवश उस दृश्य स्थितिको यदि प्राप्त हो जाता है, तो भी वह अविकृत ही बना रहता है। तनिक भी अन्यरूपताको नहीं प्राप्त होता ॥ २८ ॥

सर्वथा शुद्धबोधस्वरूप एक आत्माका सप्तम भूमिकामें परिणतिरूप उदय हो जानेपर बोध और अबोधरूपी अर्थ और शब्दका भी श्रवण समाप्त हो जाता है ॥ २९ ॥

जिस मनकी भावनासे यह सारा दृश्यप्रपञ्च दृढ़ हो जाता है उसी मनकी भावनासे यह सारा दृश्यप्रपञ्च शिथिल भी हो जाता है, यह कहते हैं— 'आतिवाहिक०' इत्यादिसे।

मनकी दृढ़ भावनासे ही चित्तस्वरूप सूक्ष्म शरीरोंकी स्थूलदशा प्राप्त हो जाती है यानी दृढ़भावनासे ही चित्तरूप लिङ्ग शरीरोंमें आधिभौतिकरूपताका बोध होता है ॥ ३० ॥

आकाशविशदैश्चित्तैर्भावितैषाऽऽतिवाहिकैः ।
आधिभौतिकता मिथ्या नटैरिव पिशाचता ॥ ३१ ॥

भ्रान्तिरभ्रमणाभ्यासात्प्रज्ञातैषोपशाम्यति ।
नोन्मत्तोऽस्मीति सम्बोधाच्छाम्यत्युन्मत्तता किल ॥ ३२ ॥

भ्रान्तिः स्वयं परिज्ञानाद्वासना विनिवर्तते ।
स्वप्ने स्वप्नतया बुद्धे कस्य स्यात्किल भावना ॥ ३३ ॥

वासना तानवेनैव संसार उपशाम्यति ।
वासनैव महायक्षिण्येतच्छेदपरा बुधाः ॥ ३४ ॥

अज्ञानोन्मत्तता पुंसां यथाऽभ्यासेन भाविता ।
तथैव बोधात्स्वभ्यासात्सा कालेनोपशाम्यति ॥ ३५ ॥

---

आकाशके सदृश विशद इन सूक्ष्म चित्तोंके द्वारा यह मिथ्या आधिभौतिक-रूपता ऐसे भावित हुई है, जैसे कि पिशाचवेषका अभिनय करनेके लिए नटों द्वारा मिथ्या पिशाचरूपता भावित होती है। तात्पर्य यह कि पिशाचवेषका अभिनय करनेके लिए जैसे मिथ्या पिशाचवेषको नट धारण करते हैं वैसे ही इन चित्तोंने यह मिथ्या भौतिकरूप धारण किया है ॥ ३१ ॥

अभ्रमताके अभ्याससे यानी सत्यस्वरूपके अभ्याससे भलीभाँति स्वरूपतः ज्ञात हुई यह सांसारिक भ्रान्ति ऐसे शान्त हो जाती है, जैसे कि 'मैं उन्मत्त नहीं हूँ' इस दृढ़ ज्ञानसे उन्मत्त पुरुषकी निःसन्देह उन्मत्तता शान्त हो जाती है ॥३२॥

भ्रान्तिका परिज्ञान होनेसे वासना स्वयं निवृत्त हो जाती है। ठीक ही है, स्वप्नका स्वप्नरूपसे ज्ञान हो जानेपर भला किस पुरुषको स्वाप्निक पदार्थोंमें सत्यत्वकी वासना हो सकती है ॥ ३३ ॥

एकमात्र वासनाके क्षयसे ही यह संसार उपशान्त हो जाता है। यह वासना ही महायक्षिणी है। विवेकी महानुभाव लोग इसके नाशमें लगे हुए रहते हैं ॥ ३४ ॥

पुरुषोंके अभ्याससे अज्ञानप्रयुक्त उन्मत्तता जैसे उत्पन्न हुई रहती है वैसे ही ज्ञान हो जानेपर अपने उस ज्ञानके अभ्याससे धीरे-धीरे समय पाकर वह नष्ट भी हो जाती है ॥ ३५ ॥

आतिवाहिकदेहोऽयमाधिभौतिकतां यथा ।
नीयते भावना तज्ज्ञैर्बोधसत्ताप्रसादतः ॥ ३६ ॥
आतिवाहिकदेहोऽपि नीत्वा जीवपदं तथा ।
दृढेन बोधाभ्यासेन नेतव्यो ब्रह्मतामपि ॥ ३७ ॥
स्ववस्तुवच्चेदुत्पत्तिर्बुध्यते बोधरूपिणी ।
तदाऽऽतिवाहिकी बुद्धिः कथमित्यपि बुध्यते ॥ ३८ ॥

---

जैसे भावनाके बलसे यह सूक्ष्म शरीर स्थूलरूपताको प्राप्त होता है वैसे ही विवेकी पुरुष लोग अभ्यास द्वारा दृढ़ की गई स्थितिके प्रसादसे इस सूक्ष्मशरीरको ब्रह्माहंभावकी एकमात्र वासनामें पहुँचा देते हैं ॥ ३६ ॥

तथा इस सूक्ष्म शरीरको भी ब्रह्माहंभावकी एकमात्र वासनामें ले जा करके वहाँसे जीवरूपताको प्राप्त करा देते हैं और फिर उस जीवको भी अपने दृढ़बोधके अभ्याससे ब्रह्मस्वरूपमें पहुँचा देते हैं ॥ ३७ ॥

ज्ञानी महानुभाव लोग कैसे इस सूक्ष्म शरीरको जीवरूपता तथा ब्रह्मरूपता प्राप्त करा देते हैं, यह कहते हैं—'स्ववस्तुवत्' इत्यादिसे ।

उत्पन्न हुए बाह्य तथा आध्यात्मिक भावोंके प्रति जो आत्माका अतिवहन करता है उस वासनासमूहका नाम अतिवाह है तथा उससे उत्पन्न हुआ जो लिङ्गशरीर है उसको 'आतिवाहिक' कहते हैं । समस्तभाव पदार्थोंके प्रथम विकार-का नाम उत्पत्ति है । वह यदि विचारके बाद कूटस्थ बोधमात्रस्वरूपिणी ज्ञात हो जाय, तो फिर वह सूक्ष्मशरीरविषयक बुद्धि कैसी है, यह भी ठीक-ठीक ज्ञात हो जाय * ॥ ३८ ॥

---

* परन्तु कूटस्थ बोधस्वभावसे अलग किसी भावपदार्थकी उत्पत्तिका निरूपण हो नहीं सकता । देखिये, विचार कीजिये—क्या वह उत्पत्ति पहले स्वयं उत्पन्न होकर भावोंको अपनेसे विशिष्ट बनाकर स्थित होती है या बिना स्वयं उत्पन्न हुए ही ? इसमें यदि आप दूसरा पक्ष स्वीकार करते हैं, तो उस पक्षमें हमारा आपसे यह कहना है कि तब तो सींग भी खरहेको अपनेसे विशिष्ट बना सकता है । रह गया पहला पक्ष । इसमें तो यह समझ लीजिये कि स्वयं उत्पत्त्यादिसे विशिष्ट हुई वह भावपदार्थरूप ही होगी, न कि भावविकार । इसी तरह उसकी उत्पत्ति भी समझ लीजिये । इस रीतिसे अनवस्थादोष माननेपर तो निर्विकार भावोंकी अनवस्था ही बनी रहेगी, अतः यह निश्चित है कि किसीके उत्पत्ति आदि विकारोंका कोई भी विद्वान् किसी तरहसे निरूपण नहीं कर सकता । इसलिए जब यों ज्ञान हो गया कि जितने भाव-

नो चेत्तत्प्रतिवाक्यार्थात्तद्ग्रन्थिर्विनिवर्तते ।
भूतोत्सादनमन्त्रस्य प्रतिपत्तृपदं यथा ॥ ३९ ॥
जगद्बोधैकतां बुद्ध्वा बोद्धव्या तावदव्रणम् ।
अत्यन्तपरिणामेन यावत्साऽपि न बुध्यते ॥ ४० ॥
स बाह्याभ्यन्तरे चित्ते शान्ते भाति स्वभावता ।
शीतलां व्योमनिर्भासां तामेवाश्रित्य शाम्यताम् ॥ ४१ ॥

इसी रीतिसे 'तत्' और 'त्वं' पदार्थका शोधन होनेपर सम्पूर्ण महावाक्य अखण्ड अर्थके बोधन द्वारा सम्पूर्ण सन्देहोंके ग्रन्थिभेदनमें समर्थ होते हैं। अन्यथा वे भूत-प्रेतोंको भगाते समय पढ़े जा रहे मन्त्रोंके भीतर आये हुए 'हुं' 'फट्' आदि पदोंकी तरह बिलकुल अनर्थक सिद्ध होंगे। वे सभी महावाक्य एकमात्र श्रवणके बलसे प्राणीको इस संसारसे छुटकारा दिला देते हैं, ऐसी हमें कल्पना करनी चाहिए, यह कहते हैं—'नो चेत्तत' इत्यादिसे।

यदि ऐसी बात न हो, तो फिर ब्रह्मप्रतिपादक महावाक्योंके अर्थसे संसारकी ग्रन्थि निवृत्त हो जाती है, यह कहना भी वैसे ही बिना अर्थका सिद्ध होगा, जैसे कि भूत-प्रेतादिको दूर भगानेवाले मन्त्रोंके अन्तर्गत 'हुं', 'फट्' आदि पद ॥३९॥

'तत्' पदार्थके शोधनके लिए पहले 'वाचारम्भण' न्यायसे जगत् तथा इसके कारणभूत ईश्वरके स्वरूपकी एकता जान करके उसके बाद 'त्वं' पदार्थके शोधनके लिए 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्' इस श्रुति द्वारा दिखलाये गये मार्गसे प्रत्यक् चैतन्यको भी असङ्ग अद्वय समझना चाहिए [ कबतक इन दोनों पदार्थोंके शोधनमें मनुष्यको लगे रहना चाहिए, इसपर कहते हैं—'अत्यन्त०' से ] जबतक इन दोनों पदार्थोंके अखण्डैकरसवाक्यार्थरूप अत्यन्तपरिणाम द्वारा वह अखण्डाकारवृत्ति भी नहीं जान ली जाती, तबतक साधक मनुष्यको इन दोनों पदार्थोंके शोधनमें तत्पर रहना चाहिए ॥ ४० ॥

बाह्य तथा आभ्यन्तर चित्तके बिलकुल शान्त हो जानेपर अपनी चित्स्वभावता प्रकाशित होती है, इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, प्रत्येक पुरुषको चाहिए कि वह

पदार्थ हैं वे सबके सब कूटस्थ बोधरूप ही हैं तब कहिये ! कौन किसके लिए किसका अतिवहन करे या वह अतिवहन भी किस रूपका हो अथवा कौन-सी उसकी अन्य बुद्धि है। वह भी तत्त्वतः ज्ञात हो ही जाती है, यह तात्पर्य है।

ज्ञानवान् ज्ञानयज्ञस्थो ध्यानयूपं विरोपयन् ।
जगद्विजित्य जयति सर्वत्यागैकदक्षिणः ॥ ४२ ॥
पतत्यङ्गारवर्षे च वाति वा प्रलयानिले ।
भूतले व्रजति व्योम्नि सममास्ते ज्ञ आत्मनि ॥ ४३ ॥
वैतृष्ण्यशान्तमनसो निरोधमलमीयुषः ।
स्थितिर्वज्रसमाधानं विना नान्योपपद्यते ॥ ४४ ॥
यथा बाह्यार्थवैतृष्ण्येनोपशाम्यत्यलं मनः ।
न तथा शास्त्रसन्दर्भैर्नोपदेशतपोदमैः ॥ ४५ ॥

---

आकाशकी नाईं पूर्ण स्वच्छ तथा शीतल उसी चित्स्वभावताका आश्रयण कर शान्त होवे ॥ ४१ ॥

वही मुख्य 'विश्वजित्' नामक ज्ञानयज्ञ है, यह कहते हैं—'ज्ञानवान्' इत्यादिसे ।

ज्ञानी पुरुष ज्ञानरूपी यज्ञशालामें उपस्थित होकर ध्यानरूपी अत्यन्त दृढ़ और लम्बे यज्ञस्तम्भको नीचे दूरतक जमीन खोदकर गाड़ता है तथा सारे संसारको जीतकर सर्वत्यागरूप मुख्य दक्षिणा दे करके सबसे उत्कृष्ट बनकर विराजता है ॥ ४२ ॥

उसके सर्वोत्कर्षका—'समस्त विपत्तियोंमें अकम्पितरूपसे'—पहले वर्णन करते हैं—'पतत्य०' इत्यादिसे ।

चाहे भले ही अङ्गारोंकी वृष्टि हो, प्रलयकालकी वायु बहे, या यह भूतल आकाशमें उड़कर चला जाय, किन्तु हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानी पुरुष अपने स्वरूपमें ही समरूपसे स्थित रहता है ॥ ४३ ॥

वज्रकी तरह दृढ़ वैराग्य एवं शान्ति सुखोत्कर्षकी स्थिरतासे भी उसका वर्णन करते हैं—'वैतृष्ण्य०' इत्यादिसे ।

पूर्ण वैराग्यसे सर्वथा शान्त मन तथा पूर्ण निरोधको प्राप्त पुरुषकी वज्रतुल्य, दृढ़ समाधिके अतिरिक्त कोई दूसरी स्थिति नहीं उपपन्न होती ॥ ४४ ॥

शान्ति आदि साधनोंमें वैराग्यको ही सर्वोत्कृष्ट साधन बतलाते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

बाह्य पदार्थोंसे वैराग्य होनेपर जैसा मन पूर्णरूपसे शान्त होता है, वैसा वह शास्त्रोंके विचार, उपदेश, तप या इन्द्रियोंके निग्रहसे भी नहीं होता ॥ ४५ ॥

मनस्तृणस्य सर्वार्थवैतृष्ण्याग्निर्विबोधितः ।
सर्वत्यागानिलैः सम्पदत्यापदिति भावनात् ॥ ४६ ॥
बहिरन्तश्च मोहश्च पिण्डग्राहोऽर्थवेदनम् ।
ज्ञप्तिरेवेति कचति ज्ञात्वा मणिरिवाऽऽत्मनि ॥ ४७ ॥
नरनागासुरागारगिरिगह्वरदृष्टिभिः ।
चितिरेवेति विसृता धूमोऽम्बुदतयेव खे ॥ ४८ ॥
वेपन्ते चिद्द्रवत्वेन ब्रह्माण्डजडभाण्डगाः ।
स्वविवर्ततरङ्गिण्यो जीवशक्त्या पतद्रसाः ॥ ४९ ॥
जीवकाजीर्णशफरी व्योमवारिविहारिणी ।
मोहजालेन वलिता न स्मरत्यात्मनि स्थितिम् ॥ ५० ॥

---

'सारी सम्पत्तियाँ आपत्तिरूप हैं'—इस तरहकी भावनासे मनरूपी महा-तृणाके बीचमें सर्वत्यागरूप अनिलसे विबोधित सब पदार्थोंसे उत्पन्न वैराग्यरूपी अग्नि परमब्रह्मसाक्षात्कारज्वालारूपसे प्रज्वलित होकर—बाहर और भीतर सर्वत्र प्रसिद्ध जो मोहान्धकार तथा मोहान्धकारप्रयुक्त जो चोर, यक्ष आदिकी कल्पनाके तुल्य ब्रह्माण्डका भूत-भौतिक मूर्तरूपी पिण्ड है यानी ब्रह्माण्डका साकार ज्ञान है एवं चक्षु आदि इन्द्रियोंसे रूप, रस आदि पदार्थोंका जो अनुभव है, वह सब चिदात्मा ही है—यों एकमात्र अखण्ड-अद्वय स्वभाव सबको बनाकर—ऐसे देदीप्यमान होती है, जैसे कि वज्रादिमणि अपनेमें प्रतिबिम्बित हुई वस्तुओंको अपने स्वरूपमें बिलकुल मिलाकर उन्हें प्रकाशित करते हुए स्वयं देदीप्यमान होते हैं ॥ ४६, ४७ ॥

मनुष्य, नाग तथा असुर एवं उनके स्थान पर्वत तथा गुफा आदिके रूपोंसे वह चिति ही नाना प्रकारके वैचित्र्यको वैसे प्राप्त है, जैसे आकाशमें मेघोंके रूपसे धूम ॥ ४८ ॥

ब्रह्माण्डके भाण्डके अन्तर्गत सभी वस्तुओंमें—चिद्व्याप्तिके अधीन स्पन्दन होनेसे—चिद्विवर्तमात्रता है, इस आशयसे कहते हैं—'वेपन्ते' इत्यादिसे ।

चित्-रूप द्रवताके कारण ब्रह्माण्डरूपी जडपात्रके अन्दर चली गईं तथा जीवरूप प्राणशक्तिसे सरस बनी हुईं ये चिद्विवर्तस्वरूप सम्पूर्ण प्राणियोंकी देहरूपी नदियाँ निरन्तर बह रही हैं ॥ ४९ ॥

इन चार प्रकारके शरीररूपी चितिके विवर्तस्वरूप नदियोंके अन्दर रहने-

घनीभूता घनत्वेन चिद्घना गगनाङ्गणे ।
नानापदार्थरूपेण स्फुरति स्वात्मनाऽऽत्मनि ॥ ५१ ॥
सर्वं एव समा जीवा वासनामन्तरेण च ।
शुष्कपर्णवदुड्डीना जडाः श्वसनवेणवः ॥ ५२ ॥

आहृत्य पौरुषबलान्यवजित्य तन्द्री-
मुत्थाय तर्जितसमर्जितवासनौघम् ।

वाली जीवरूपी मछलियां मोहजालमें फँस जानेके कारण स्वतत्त्वका स्मरण नहीं करतीं, यह कहते हैं—'जीवका०' इत्यादिसे ।

चिदाकाशरूपी जलमें विहार करनेवाली बेचारी जीवरूपी जीर्ण मछली मोह-जालमें फँस जानेके कारण अपनी आत्मामें स्थितिका स्मरण नहीं करती ॥ ५० ॥

अपने स्वरूपभूत आकाशरूपी आँगनमें अपनेसे ही घनीभूत हुई यह चिति मानो मेघ बनकर स्थित हो पृथिवी आदि मूर्ताकार नाना पदार्थोंके रूपसे स्फुरित हो रही है ॥ ५१ ॥

सभी जीवोंका स्वभाव एक-सा रहनेपर भी वासनाकी विचित्रतासे उन्हें सांसारिक दुःख भी विचित्र प्रकारके ही प्राप्त होते हैं, और कोई दूसरा कारण नहीं है, यह कहते हैं—'सर्व एव' इत्यादिसे ।

वासनावैचित्र्यके सिवा, अन्य अंशमें सभी जीव समान हैं । विषयवासना रहनेसे ही सूखे पत्तोंकी नाईं उड़-उड़कर वे विचित्र तरहकी स्वर्ग, नरक आदि भोगभूमियोंमें जा गिरते हैं, स्वतः नहीं । क्योंकि वायुभरे बांस जैसे अङ्गुलि व्यापारके बिना भी विचित्र ध्वनि पैदा करनेमें समर्थ होते हैं वैसे ही सबमें बराबर जडोपाधिके कारण वासनाके बिना भी जड़ पदार्थ प्राणयुक्त रहनेपर विचित्र तरहके शब्द करनेमें समर्थ होते ही हैं ॥ ५२ ॥

इसीलिए वज्रतुल्य वासनारूपी पिंजड़ेको तोड़ देनेके लिए मनुष्यको आलस्य-शून्य होकर अपने पौरुषप्रयत्नको बढ़ाना चाहिए, उसीसे परमपुरुषार्थकी सिद्धि होती है, इसी अभिप्रायसे अब उपसंहार करते हैं—'आहृत्य०' इत्यादिसे ।

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, सर्वप्रथम अपने पौरुषबलका यानी श्रवण, मनन आदिरूप साधनचतुष्टयका सम्पादनकर तदनन्तर ध्यानमें विघ्नस्वरूप तन्द्राको आसन, प्राणायाम आदिके अभ्यास द्वारा जीतकर संप्रज्ञात समाधिसे उठ करके

संसारपाशघनपञ्जरमञ्जसैव
भङ्क्त्वाऽभ्युदेयमभितो ज्ञसमेन भाव्यम् ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सर्वोपशान्तिनामैकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

## पञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इमे ये जीवसंघाता दृश्यन्ते दशदिग्गताः ।
नरनागसुरागेन्द्रगन्धर्वाद्यभिधानकाः ॥ १ ॥
ते स्वप्नजागरा केचित्केचित्सङ्कल्पजागराः ।
केचित्केवलजाग्रस्थाश्चिराज्जाग्रत्स्थिताः परे ॥ २ ॥

---

निर्विकल्पक असंप्रज्ञात समाधिमें प्रवेशके बाद अपने पूर्वजन्मके संचित वासनासमूह-भूत संसारपाशरूपी मजबूत पिंजड़ेको तत्त्वसाक्षात्कार द्वारा शीघ्र ही तोड़कर चारों ओरसे पूर्णानन्दैकरस ब्रह्मरूपसे आपको उदित होना चहिए, अज्ञानीके समान संसारके भीतर आपको पड़े नहीं रहना चाहिए ॥ ५३ ॥

उनचासवाँ सर्ग समाप्त

## पचासवाँ सर्ग

[ वासनाकी दृढता और शिथिलताके कारण जीव सात प्रकारके हो जाते हैं, यह बोधार्थ वर्णन ]

'वासना यदि न रहे तो सब जीव एक ही हैं' इस उक्तिसे अन्तमें जो एक-मात्र विचित्रवासनाके प्रभावसे जीवोंके सात प्रकार बतलाये गये हैं, उनका लक्षणोंसे निरूपण करनेके लिए प्रतिज्ञा करते हैं—'इमे' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामचन्द्रजी, ये जो दसों दिशाओंमें नर, हाथी, देवता, वृक्ष, इन्द्र, गन्धर्व आदि नाम धारणकर तत्-तत् विचित्र देहसे जीव दिखाई पड़ते हैं, वे कोई तो स्वप्नजागर (स्वप्नको जाग्रत् समझनेवाले), कोई

घनजाग्रत्स्थिताश्चान्ये जाग्रत्स्वप्नास्तथेतरे।
क्षीणजागरकाः केचिज्जीवाः सप्तविधाः स्मृताः ॥ ३ ॥

श्रीराम उवाच

एतेषां भगवन् भेदो बोधाय मम कथ्यताम्।
जीवानां सप्तरूपाणां जलानामर्णवेष्विव ॥ ४ ॥

वसिष्ठ उवाच

कस्मिंश्चित्प्राक्तने कल्पे कस्मिंश्चिज्जगति क्वचित्।
केचित्सुप्ताः स्थिता देहैर्जीवा जीवितधर्मिणः ॥ ५ ॥
ये स्वप्नमभिपश्यन्ति तेषां स्वप्नमिदं जगत्।
विद्धि ते हि खलूच्यन्ते जीवकाः स्वप्नजागराः ॥ ६ ॥
क्वचिदेव प्रसुप्तानां यः स्वप्नः स्वयमुत्थितः।
विषयः सोऽयमस्माकं तेषां स्वप्ननरा वयम् ॥ ७ ॥

---

सङ्कल्पको जाग्रत् समझनेवाले, कोई केवल जाग्रत्में स्थिति रखनेवाले और कोई दीर्घकालिकी जाग्रत्में स्थिति रखनेवाले हैं। कोई घनीभूत जाग्रत्में स्थित हैं, कोई जाग्रत् और स्वप्नमें स्थित हैं, कोई क्षीण जाग्रत् अवस्थामें स्थित हैं, यों सात तरहके विभागोंसे उनका परिगणन किया गया है ॥ १-३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, जैसे क्षीरसागर आदि सात समुद्रोंमें क्षीर आदिके रससे युक्त जल ही सात तरहके हैं, वैसे ही सात प्रकारके रूपोंको धारण कर रहे इन जीवोंका जो स्वरूप है, वह जाननेके लिए मुझसे कहिए ॥४॥

पहले जीवटकी आख्यायिकामें प्रदर्शित रीतिको लेकर उनका लक्षण करते हैं—'कस्मिंश्चित्' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामजी, किसी एक पूर्वकल्पमें किसी एक जगत्में कहींपर कोई जीव सुषुप्ति अवस्थामें ही स्थित थे, वे जीव अपनी-अपनी देहोंके कारण जीवित ही रहे, मरे हुए नहीं थे ॥ ५ ॥

गाढ़ी नींदमें सोये हुए उन जीवोंमें जो जीव स्वप्न देखते हैं, उन्हींका स्वप्न यह जगत् है, यह आप जानिए। उन्हींका नाम स्वप्नजागर कहा जाता है ॥६॥

कहींपर सोये हुए उन जीवोंको जो स्वप्न हुआ है, वही जब समान-कर्म-वासनाके कारण हम लोगोंका विषय बन जाता है, तब हम उनके स्वप्ननर बन जाते हैं ॥ ७ ॥

तेषां चिरतया स्वप्नः स जाग्रत्त्वमुपागतः ।
स्वप्नजागरकास्ते तु जीवास्ते तद्गताः स्थिताः ॥ ८ ॥
सर्वज्ञत्वात्सर्वगस्य सर्वं सर्वत्र विद्यते ।
येन स्वप्नवतां तेषां वयं स्वप्ननराः स्थिताः ॥ ९ ॥

श्रीराम उवाच

येषु कल्पेषु ते जाताः क्षीयन्ते कल्पकल्पनाः ।
यदि तास्तत्कथं तेषां प्रबुद्धानामवस्थितिः ॥ १० ॥

---

दीर्घकालके प्रभावसे जब उनका स्वप्न जाग्रत्-रूप बन जाता है, तब उनके स्वप्नके वे जीव स्वप्नजाग्रत् कहे जाते हैं, वास्तवमें वे उन्हींके स्वप्नमें ही स्थित हैं ॥ ८ ॥

'उनके हम स्वप्ननर हैं' यह जो बात कही गई, इसका उपपादन करते हैं—'सर्वज्ञत्वात्' इत्यादिसे ।

हमारा देह आदि प्रपञ्च यदि वासनारूपसे उस सोये हुएके चित्तमें होता, तो हमारा देहादिप्रपञ्च उसके चित्तमें उत्पन्न हो जाता और हम लोग उसके स्वप्नके मनुष्य होते, परन्तु यह तो कभी संभव नहीं है, इस तरहका कोई यदि प्रश्न करे, तो उसका वैसा प्रश्न करना ठीक नहीं है, क्योंकि सबको सत्ता देनेवाला मायाशबल ब्रह्म सर्वत्र रहता है और वह सर्वज्ञ है, इसी हेतुसे सब जगह रह सकता है, अतः हमलोग उनके स्वप्ननर हैं यानी वासनारूपसे उन्हींके अन्तःकरणमें स्थित हैं और वासनाकी समानताके कारण उनके स्वप्नमें एक साथ अभिव्यक्त हो गये हैं ॥ ९ ॥

महाराज, ठीक है, देशको लेकर सब वस्तुओंकी सर्वत्र स्थिति भले ही हो जाय, पर कालको लेकर नहीं हो सकती, क्योंकि भूतकालकी वस्तु वर्तमानकालमें कैसे रह सकती है, यदि भिन्न-भिन्नकालकी वस्तुओंकी स्थिति एक कालमें मानी जाय, तो सब कल्प एक साथ ही होने लग जायँगे और उनका पार्थक्य भी नहीं रह जायगा, इस आशयसे श्रीरामजी प्रश्न करते हैं—'येषु' इत्यादिसे ।

श्रीरामभद्रने कहा—गुरुवर, जिन कल्पोंमें हम लोगोंके प्रपञ्चोंके स्वप्नोंके द्रष्टा उन जीवोंने जन्मधारण किया था, उन कल्पोंकी कल्पनाएँ यदि उनके शरीरोंके साथ इस समय नष्ट हो चुकीं, तो इस वर्तमान स्वप्नसे जागे हुए उन लोगोंकी

वसिष्ठ उवाच

इह स्वप्नभ्रमान्ते ते मुच्यन्ते वा विनिद्रताम् ।
प्राप्य सङ्कल्पतो देहांस्तथैवान्यान् श्रयन्त्यलम् ॥ ११ ॥
तथैवान्यं प्रपश्यन्ति जगत्कल्पं च कल्पितम् ।
कल्पनाभासनभसो नहि सङ्कटता भवेत् ॥ १२ ॥
सङ्कल्पनात्मकजगज्जीर्णोदुम्बरकीटकाः ।
स्वप्नजागरकाः प्रोक्ताः शृणु सङ्कल्पजागरान् ॥ १३ ॥
कस्मिंश्चित्प्राक्तने कल्पे कस्मिंश्चिज्जगति क्वचित् ।
अनिद्रालव एवान्तः सङ्कल्पैकपराः स्थिताः ॥ १४ ॥

---

भूतकालके कल्पमें स्थिति नहीं हो सकती । जो आज नींदसे जागा है, वह पूर्व दिनका जागरण जब नहीं जान सकता, तब पूर्वकल्पकी तो बात ही क्या ! ॥१०॥

यदि वे जीव प्रपञ्चात्मक स्वप्नमें दैववश तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लें, तो वे मुक्त हो ही जायँगे, ऐसी स्थितिमें आपका दोष नहीं हो सकता । यदि उन्होंने तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं किया, तो उनका अवशिष्ट कल्प तो व्यतीत हुआ है नहीं, इसलिए कुछ समयके बाद तत्त्वज्ञान हो ही जायगा । जो व्यतीत हो चुके हैं, वे तो दूसरेकी कल्पनासे कल्पित पदार्थ हैं । उसके मनमें तो प्रत्येकका कल्पशेष ऐन्दव आख्यानकी पद्धतिसे विद्यमान ही है, इस आशयसे महाराज वसिष्ठजी समाधान करते हैं—'इह' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, इसी स्वप्नके प्रपञ्चमें यदि ज्ञान हुआ तो वे तत्त्वज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाते हैं । यदि न हुआ, तो निद्रा प्राप्त कर वे सङ्कल्पानुसार उसी प्रकारकी दूसरी ही देह प्राप्त करते हैं ॥ ११ ॥

उसी प्रकारका कल्पित दूसरा जगत्-कल्प देखते हैं, क्योंकि कल्पनाभास-रूपी आकाशकी कहीं निरवकाशता नहीं रहती ॥ १२ ॥

स्वप्नजागर जीवोंका उपसंहार करते हुए अब सङ्कल्पजागरोंका निरूपण करते हैं—'सङ्कल्प०' इत्यादिसे ।

भद्र, यह तो मैंने स्वप्नजागर जीवोंका, जो सङ्कल्परूप जगदात्मक जीर्ण उदुम्बर वृक्षके कीट हैं, निरूपण आपसे किया, अब आप सङ्कल्पजागर जीवोंके विषयमें सुनिये । इस प्रकारके जीव किसी एक पूर्वकल्पमें किसी एक जगत्में

ध्यानाद्विलुठिता वाऽथ मनोराज्यवशानुगाः ।
सङ्कल्पदार्ढ्यमापन्ना गलिताग्रानुभूतयः ॥ १५ ॥
सङ्कल्प एव जाग्रत्त्वं येषां चिरतयांशतः ।
तत्रास्तमितचेष्टानां ते हि सङ्कल्पजागराः ॥ १६ ॥
सङ्कल्पोपशमे भूयस्तमन्यं वा श्रयन्ति ते ।
देहे तेषां वयमिमे सङ्कल्पपुरुषाः स्थिताः ॥ १७ ॥
सङ्कल्पजागराः प्रोक्ता एते सङ्कल्पशायिनः ।
जीवा जीवितगा लोकाः शृणु केवलजागरान् ॥ १८ ॥
प्राथम्येनावतीर्णास्ते ब्रह्मणो बृंहितात्मनः ।
प्रोक्ताः केवलजागर्याः प्रागुत्पत्त्यविकासिनः ॥ १९ ॥

---

कहींपर अपने भीतर तनिक भी निद्रा न लेकर एकमात्र सङ्कल्पमें तत्पर होकर स्थित हैं ॥ १३–१४ ॥

जीवट आख्यानमें वर्णित भिक्षुके समान ये जीव ध्यानसे विचलित होकर स्थित हैं । मनोराज्यके वशमें पड़कर उसके पीछे दौड़ते हैं । दृढ़ सङ्कल्प धारण करते हैं और पूर्वावस्थाकी स्मृतिसे शून्य हैं ॥ १५ ॥

जिन जीवोंका जागराभिमान दीर्घकालके अभ्याससे घनीभूत सङ्कल्पमें है और जिनकी सङ्कल्पजनित अर्थोंमें ही पूर्वापरस्मरणसे रहित मनकी चेष्टा है, ये ही स्वप्नजागर जीव कहलाते हैं ॥ १६ ॥

वे सङ्कल्पका विनाश हो जानेपर फिर पूर्वके व्यवहारको उससे विलक्षण बनाकर करने लग जाते हैं । उनकी दृष्टिसे ये हम उन्हींके शरीरमें सङ्कल्पपुरुष ही स्थित हैं, क्योंकि समानसङ्कल्पसे उत्पन्न हैं ॥ १७ ॥

भद्र, सङ्कल्पके ऊपर निर्भर रहनेवाले ये सङ्कल्पजागर जीव हमने आपसे कहे । ये दृश्यमान जीव उन्हींके सङ्कल्पजीवनमें प्रवेश करते हैं और हम लोगोंके लोक भी ऐसे ही हैं । यानी उनका यदि सङ्कल्प है, तो दृश्यमान जीव हैं और हम लोगोंके लोक भी हैं । अब आप केवलजागर जीवोंको सुनिए ॥ १८ ॥

सृष्टिका सङ्कल्प करनेके कारण हलचलसे युक्त हुए, आगे कहे जानेवाले ब्रह्माके रूपसे वे जीव इस कल्पमें पहलेसे ही शरीरधारी होकर रहते हैं और उस जन्ममें स्वप्न न होनेके कारण केवल जागर कहे जाते हैं । चूँकि वे पहलेके उत्पत्तिविकासरूप स्वप्नसे रहित हैं और पहलेका जाग्रत्संस्कार भी जाग्रत्-

भूयो जन्मान्तरगतास्त एव चिरजागराः ।
कथ्यन्ते प्रौढिमायाताः कार्यकारणचारिणः ॥ २० ॥
त एव दुष्कृतावेशाज्जडस्थावरतां गताः ।
घनजाग्रत्तया प्रोक्ता जाग्रत्सु घनतां गताः ॥ २१ ॥
ये तु शास्त्रार्थतत्सङ्गबोधिता बोधमागताः ।
पश्यन्ति स्वप्नवज्जाग्रज्जाग्रत्स्वप्ना भवन्ति ते ॥ २२ ॥
ते तु सम्प्राप्तसम्बोधा विश्रान्ताः परमे पदे ।
क्षीणजाग्रत्प्रभृतयस्ते तुर्यां भूमिकां गताः ॥ २३ ॥
इति सप्तविधो भेदो जीवानां कथितस्तव ।
समुद्राणामिव मया बुद्ध्वा श्रेयःपरो भव ॥ २४ ॥

स्थितिको उत्पन्न कर स्वयं नष्ट हो गया है, इसलिए इस कल्पमें वह स्वप्नका कारण हो भी नहीं सकता ॥ १९ ॥

फिर ये जीव जब उत्तरोत्तर जन्मपरम्परा लेते-जाते हैं और जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्तिमें विचरण करते-रहते हैं, तब वे ही चिरजागर कहे जाते हैं ॥ २० ॥

पांचवें प्रकारके जीवोंको कहते हैं—'त एव' इत्यादिसे ।

पापरूप दुष्कर्मोंके आवेशसे जड़-स्थावररूप होकर तथा जाग्रत् अवस्थाओंमें भी घन अज्ञानसे पूर्ण होकर वे चिरजागर जीव ही घनजाग्रत् कहे जाते हैं । श्लोकमें 'जाग्रत्सु' इस विशेषणसे यह भाव व्यक्त किया है कि स्थावर जीवोंको भी स्वप्न आदिमें मनुष्यभाव आदिका अपनेमें परिज्ञान होता है ॥ २१ ॥

अब अवशिष्ट जो दो प्रकार हैं, वे दोनों ही जीवन्मुक्तोंमें हैं, यह बतलानेकी इच्छा रख रहे महाराजवसिष्ठजी, छठे प्रकारके जीवोंका उल्लेख करते हैं—'ये तु' इत्यादिसे।

चतुर्थ, पञ्चम और छठी भूमिकामें अवस्थित जो जीव हैं, वे शास्त्रार्थ एवं सत्सङ्गके द्वारा उपदेश ग्रहणकर तत्त्वज्ञानको प्राप्त करके जाग्रत्को स्वप्नके सदृश देखते हैं, वे जाग्रत्स्वप्न कहलाते हैं ॥ २२ ॥

सातवीं भूमिकामें आरूढ़ हुए पुरुष ही सातवें प्रकारके जीव हैं, यह कहते हैं—'ये तु' इत्यादिसे ।

जिन महापुरुषोंको ज्ञान प्राप्त हो चुका है और परमपदमें विश्रान्ति ले रहे हैं, वे क्षीणजाग्रतजीव कहलाते हैं, ये जीव सप्तम भूमिकामें स्थित हैं ॥ २३ ॥

भद्र, समुद्रोंकी तरह सात प्रकारके जीवोंका भेद मैंने आपसे कहा । आप

भ्रान्ति परित्यज जगद्भ्रणनात्मिकां त्वं
बोधैकरूपघनतामलमागतोऽसि ।
शून्यत्ववर्जितमशून्यतया च मुक्तं
तेन द्वयैक्यकविमुक्तवपुस्त्वमाद्यम् ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जीवसप्तकप्रकारवर्णनं नाम पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

---

## एकपञ्चाशः सर्गः

श्रीराम उवाच

कथं केवलजाग्रत्त्वमकारणमनर्थकम् ।
पराद्विकसति ब्रह्मन्गगनादिव पादपः ॥ १ ॥

---

इनका भलीभाँति परिज्ञान करके कल्याणरूप वस्तुमें तत्पर हो जाइए ॥ २४ ॥

हे श्रीरामजी, आप सब भ्रम छोड़ दीजिए, यही भ्रम जगत्का द्वैतादि-वस्तुबुद्धिसे ज्ञान कराता है; क्योंकि अब आप ज्ञानरूप आत्मभावसे एकरस बन गये हैं, द्वैत और ऐक्यसे मुक्तशरीर होकर आप शून्यत्व और अशून्यत्व धर्मसे रहित हो गये हैं तथा सब कल्पनाओंके पूर्ववर्ती अधिष्ठानभूत हो गये हैं ॥२५॥

पचासवाँ सर्ग समाप्त

---

## इक्यावनवाँ सर्ग

[ ब्रह्मदृष्टिमें कभी भी उत्पन्न नहीं हुआ और आत्मदृष्टिमें मिथ्या उत्पन्न जगत् तत्त्वज्ञानसे जिस तरह निवृत्त हो जाता है, उस तरहका वर्णन ]

पहलेके सर्गमें १९वें श्लोकसे एक यह बात कही गई है कि ब्रह्मसे पहले उत्पन्न जीव केवलजागर जीव हैं। इस विषयमें यह शङ्का होती है—वैसा कहना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि कूटस्थ अद्वय ब्रह्म पहले जीवभाव धारण कर उत्पन्न हो ही नहीं सकता, ऐसा करनेमें न तो उसको कोई प्रयोजन है और न कोई बीज है; अपिच, काम, कर्म आदिकी वासनाएँ जीवभावके बाद ही होती हैं, इस प्रकारकी आशङ्का श्रीरामभद्र करते हैं—'कथम्' इत्यादिसे।

वसिष्ठ उवाच

अकारणं महाबुद्धे न कार्यमुपलभ्यते ।
तज्जाग्रतः केवलस्य न कश्चिदिह सम्भवः ॥ २ ॥
तस्यातो सम्भवादन्ये जीवभेदाः सजीवकाः ।
सर्वे न सम्भवन्त्येव कारणाभावविक्षताः ॥ ३ ॥
नेह प्रजायते किञ्चिन्नेह किञ्चन नश्यति ।
उपदेश्योपदेशार्थं शब्दार्थकलनोदयः ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच

कः करोति शरीराणि मनोबुद्ध्यादिचेतनैः ।
को मोहयति भूतानि स्नेहरागादिबन्धनैः ॥ ५ ॥

---

श्रीरामभद्रने कहा—ब्रह्मन्, कूटस्थ अद्वय परब्रह्मसे केवलजागर नामके जीव अर्थ और बीजके बिना, आकाशसे वृक्षकी नाई, कैसे उत्पन्न होते हैं ॥१॥

श्रीरामजी, आपकी शङ्का तो बहुत ही साधारण है कि कूटस्थ अद्वय ब्रह्मसे केवलजागर जीव तो उत्पन्न हो नहीं सकते, क्योंकि अन्य जीवोंकी और जगतकी भी उत्पत्ति तन्मूलक नहीं हो सकेगी, इसलिए कूटस्थ ब्रह्ममें जीव और जगद्भावका अपलाप किये बिना ठीक-ठीक उपदेश नहीं हो सकता, अतः उपदेशार्थ ही ब्रह्ममें जीव-जगद्भावकी कल्पना श्रुति, स्मृति आदिमें की गई है, ऐसा उत्तर महाराज वसिष्ठजी देते हैं—'अकारणम्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—महामते, कोई भी कार्य किसी कारणके बिना उपलब्ध नहीं हो सकता, यह निश्चित है, इसलिए केवल जगत्‌का यहाँ कोई संभव ही नहीं है ॥ २ ॥

कूटस्थसे उसका यदि संभव है, तो उससे अन्य जीव सजीव हो सकते हैं, परन्तु कारणके अभावसे वे सब निरस्त हो जाते हैं ॥ ३ ॥

भद्र, यहाँ न तो कुछ उत्पन्न होता है और न कुछ नष्ट ही होता है, केवल उपदेश और उपदेशयोग्य वस्तुके लिए शब्दार्थकी एकमात्र कल्पना की गई है ॥ ४ ॥

यह बात आपकी हम मानते हैं, पर भोगके आधार शरीर आदिका कर्म आदि द्वारा या साक्षात् कोई निर्माण करनेवाला तो अवश्य मानना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक कार्य कर्ता द्वारा ही बनता है । अतः उस देहमें जीवको बैठाकर विषयोंसे मोहित करनेवाला कोई दूसरा रहना ही चाहिए, क्योंकि मोहित करनेवालेको

वसिष्ठ उवाच

न कश्चिदेव कुरुते शरीराणि कदाचन ।
न मोहयति भूतानि कश्चिदेव कदाचन ॥ ६ ॥
अनाद्यन्तावभासात्मा बोध आत्मनि संस्थितः ।
नानापदार्थरूपेण कमूर्म्यादितया यथा ॥ ७ ॥
बाह्यं न विद्यते किञ्चिद्बोधः स्फुरति बाह्यवत् ।
उदेति बोधहृदयाद्बीजादिव वरद्रुमः ॥ ८ ॥

---

छोड़कर चेतनमें मोह हो नहीं सकता। ऐसी स्थितिमें मोहित होनेवाला और मोहित करनेवाला—यों दो भिन्न-भिन्न जीव एवं ईश्वरनामक चेतन सृष्टि आदिकी प्रतिपादक श्रुतियोंके आधारपर मानना चाहिए—इस प्रकार फिर रामजी शङ्का करते हैं—'क करोति' इत्यादिसे।

श्रीरामजीने कहा—भगवन्, मन, बुद्धि, चेतन आदिसे युक्त इन शरीरोंकी रचना करनेवाला कौन है और प्राणियोंको स्नेह, राग आदि बन्धनोंके द्वारा कौन मोहित करता है? यह हमसे कहिए ॥ ५ ॥

हाँ, यह बात ठीक होती, यदि शरीरादिका कर्ता, मोहित होनेवाला, मोहक आदि—ये सब श्रुति आदि प्रमाणोंसे सत्यरूप ठहरते, परन्तु 'वाचारम्भणम्' आदि श्रुतियोंके द्वारा वे सब मिथ्या ही सिद्ध होते हैं, ऐसी स्थितिमें प्रतिभासमात्र-स्वरूप उन सबका कूटस्थ ब्रह्मके द्वारा विवर्तमात्रसे भी निर्वाह हो सकता है, इसलिए उनकी आवश्यकता नहीं है, यह कहते हैं—'न' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, कोई कभी भी शरीर आदिकी रचना नहीं करता और न कभी कोई प्राणियोंको मोहित ही करता है ॥ ६ ॥

अनादि, अनन्त अवभासस्वरूप जो बोधात्मा है, वह अपने ही स्वरूपमें स्थित होकर ऐसे नाना पदार्थोंके रूपमें भासता है, जैसे अपने स्वरूपमें स्थित जल तरङ्ग आदिके रूपोंमें ॥ ७ ॥

बाह्य पदार्थ कैसे भीतरी चेतनके विवर्त हो सकते हैं, क्योंकि दोनोंके आधार अलग-अलग हैं, इस शङ्कापर कहते हैं—'बाह्यम्' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजी, असलमें तो बाहरके कोई पदार्थ ही नहीं हैं, ज्ञानरूप आत्मा ही बाहरके सदृश भासता है, वह बोधरूप हृदयसे ही बाहर ऐसे उदयको प्राप्त होता है, जैसे बीजसे बड़ा वृक्ष ॥ ८ ॥

बोधस्यान्तरिदं विश्वं स्थितमेव रघूद्वह ।
स्तम्भस्यान्तर्यथा शालभञ्जिका प्रकटीकृता ॥ ९ ॥
सबाह्याभ्यन्तरात्मैकमनन्तं देशकालतः ।
बोधामोदप्रसरणं जगदेव प्रबुध्यताम् ॥ १० ॥
अयमेव परो लोको भाव्यतां वासनाक्षयः ।
शाम्यतां परलोकस्थं काः किलाऽऽयान्ति वासनाः ॥ ११ ॥

---

बीजसे वृक्ष बाहर निकलता है, यह दृष्टान्त विषम है, इस प्रकारकी आशङ्का-कर समान दृष्टान्त बतलाते हैं। अथवा यदि विश्व भीतर ही उत्पन्न होता, तो वह भीतर ही रहता, पर वह तो बाहर रहता है, इसपर कहते हैं—'बोधस्या०' इत्यादिसे ।

रघुकुलको ढोनेवाले (रघुश्रेष्ठ) हे श्रीरामजी, बोधात्माके भीतर स्थित ही यह विश्व बाहरके रूपमें ऐसे प्रकट हुआ है, जैसे खंभेके भीतर ही स्थित कठपुतली ॥९॥

वस्तुतस्तु चेतन नामकी वस्तु न भीतर है और न बाहर है, किन्तु अनन्त है, उसीके भीतर आमोद और पुष्पकी नाईं बाह्य-आभ्यन्तरकी एकमात्र कल्पना की गई है, यों कहते हैं—'सबाह्या०' इत्यादिसे ।

बाह्य और आभ्यन्तर जिसमें विद्यमान है और जो देश एवं कालके परिच्छेद-से अलग है, उस बोधस्वरूप आत्माका ही यह जगत् एक तरहसे सुगन्ध-विस्तार है, यह आप जानिए ॥ १० ॥

यदि शङ्का हो कि समस्त जगत्‌की कल्पना यहींपर है, तो ब्रह्मलोक आदि परलोक, जिसमें अर्चि आदि मार्गोंसे गमन किया जाता है, दूर क्यों माने जाते हैं, इसका समाधान यह है कि वैसी ही लोगोंकी अनादिकालसे वासना है, इसलिए जब वासनाका विनाश हो जायगा, तो सभी लोग एकमात्र अपने आत्मरूपसे अत्यन्त निकट हो जायँगे, इस आशयसे कहते हैं—'अयमेव' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजी, वासनाका विनाश हो जानेपर यह आत्मा ही परलोक है, दूसरा नहीं, यह आप जानिए। जो महापुरुष सब उपद्रवोंसे निर्मुक्त होकर शान्त हो रहे हैं, उनके—परलोकके रूपमें यहींपर स्थित—आत्माकी ओर दूरत्वादि-वासनाएँ आ ही नहीं सकतीं ॥ ११ ॥

देशकालक्रियालोकरूपचित्तात्मसत्पदम् ।
देशकालादिशब्दार्थरहितं न च शून्यकम् ॥ १२ ॥

पदे पदविदामेव तस्मिन् बोधगतिर्भवेत् ।
द्रष्टॄणां शान्तदृश्यानामेवान्येषां न राघव ॥ १३ ॥

ये वै तरलगम्भीरमहन्तागर्तमाश्रिताः ।
पश्यन्ति ते तमालोकं न कदाचन केचन ॥ १४ ॥

चतुर्दशविधानन्तभूतजातघुघुंघुमा ।
जगद्‌दृष्टिरियं ज्ञस्य शरीरावयवोपमा ॥ १५ ॥

---

यदि प्रत्यगात्मा ही परलोक देश, काल आदिरूप है, तो देश, काल आदिका बाध हो जानेपर वह शून्यरूप ही क्यों न हो जायगा ? इसपर कहते हैं—'देश०' इत्यादिसे ।

चूँकि देश, काल, क्रिया, आलोक, रूप, चित्त, आत्मा, सत्—इन सबका अधिष्ठान तथा इन शब्दोंसे बोधित होनेवाला ब्रह्म देश, काल आदि शब्दार्थोंसे रहित है, इसलिए वह शून्यरूप नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

यदि वह शून्यरूप नहीं है, तो दूसरे लोग भी एकमात्र प्रपञ्चका अपलाप कर उस पदमें अपनी बोधगति क्यों नहीं कर लेते, इसपर कहते हैं—'पदे' इत्यादिसे ।

हे राघव, जो तत्त्वद्रष्टा हैं और जो विषयोंसे मुक्त हो गये हैं, ऐसे आत्मपदको जाननेवाले मुनियोंको ही उस पदमें ज्ञानगति होगी, दूसरों-को नहीं ॥ १३ ॥

भद्र, जो पुरुष तरल और गम्भीर अहन्तारूप गड्ढेमें गिरे हुए हैं, वे कोई भी उस आत्मपदरूप प्रकाशको कभी देख नहीं सकते ॥ १४ ॥

आत्मप्रकाश देखनेवालोंको जगत्‌का ज्ञान कैसा रहता है, इसपर कहते हैं—'चतुर्दश०' इत्यादिसे ।

चौदह प्रकारके ये जो भूतसमूह हैं, उनके घुंघुं शब्दोंसे परिपूर्ण जगत्-दृष्टि ज्ञानीके लिए तो देहावयव-जैसी है, यानी अपनेसे भिन्न उसे भासती ही नहीं ॥ १५ ॥

कारणाभावतः सृष्टिर्नोदिता न च शाम्यति ।
यादृशं कारणं वा स्यात्तादृग्भवति कार्यकम् ॥ १६ ॥
यदि स्यात्कारणे कार्यं स्थितं कारणताऽस्य का ।
कार्यमेवोपलम्भात्तदसद्द्वयमवेदनात् ॥ १७ ॥
सौम्यस्यान्तर्यथाम्भोधेरूर्म्यावर्तादयः स्थिताः ।
ब्रह्मण्यसम्भवक्षोभे जगच्चित्तादयस्तथा ॥ १८ ॥
सर्वात्मैवामलं ब्रह्म पिण्ड एक इव स्थितम् ।
नानाभाण्डात्म हेमैव यथाऽन्तःस्थितरूपकम् ॥ १९ ॥
स्वप्नकाले स्वप्न एव जाग्रद्द्वयग्रापरिग्रहात् ।
जाग्रत्काले जाग्रदेव स्वप्नः सत्यावबोधतः ॥ २० ॥

---

ज्ञानीको समाहितदृष्टि और व्यवहारदृष्टिसे जगत् जैसा भासता है, उसे बतलाते हैं—'कारणा०' इत्यादिसे ।

सृष्टिका असलमें तो कोई कारण नहीं है, इसीलिए न तो सृष्टि उत्पन्न होती है और न वह नष्ट ही होती है, यह ज्ञान ज्ञानीको समाहितदृष्टिसे है । और व्यवहारदृष्टिसे तो जैसा कारणका स्वरूप होगा, वैसा ही कार्य भी होगा यानी जैसा कारण कल्पित अतएव मिथ्या है, वैसा ही उससे जनित कार्य भी कल्पित और मिथ्या है, ऐसा ज्ञान व्यवहारदृष्टिसे भी उसे रहता है ॥ १६ ॥

यदि कारणमें कार्यकी स्थिति होगी, तो उसकी कारणता ही कैसी, क्योंकि वह तो कार्यरूप ही ज्ञात होता है, अतः कार्य और कारण दोनों ही असत् हैं, कारण कि दोनोंका ही अलग-अलग ज्ञान नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

प्रशान्त महासमुद्रमें जैसे तरङ्ग, भँवरे आदि स्थित हैं, वैसे ही क्षोभशून्य परब्रह्ममें ये सब आपके बाह्य जगत् और भीतरके चित्त आदि स्थित हैं ॥१८॥

जैसे अपने भीतर अनेक बर्तनोंको रखनेवाला एक ही मृत्पिण्ड रहता है, ठीक वैसे ही अनेक ब्रह्माण्डोंको अपने उदरमें रखनेवाला सबका स्वरूपभूत निर्मल ब्रह्म भी एक पिण्ड ही है । जैसे अपने भीतर कटक, कुण्डल आदि आकारोंसे युक्त तथा नाना बर्तनोंका स्वरूपभूत सुवर्ण स्थित है, वैसे ही सुवर्णरूप ब्रह्म स्थित है ॥ १९ ॥

पिण्डदशामें घट पिण्डरूप और घटदशामें पिण्ड घटरूप है, यों घटके स्वरूप-

चित्तमात्रतया बुद्धं मृगतृष्णाम्बुवत् स्थितम् ।
जाग्रत्स्वप्नत्वमायाति विचारविकलीकृतम् ॥ २१ ॥
सम्यग्ज्ञानेन भूतानि ज्ञस्य देहतया सह ।
पीठबन्धं विमुञ्चन्ति गतकाल इवाऽम्बुदाः ॥ २२ ॥
यथा गलितुमारब्धो घनो गगनतामियात् ।
तथा सत्यावबोधेन शाम्येत्सात्मग्रहं जगत् ॥ २३ ॥
शरदभ्रवदालूना मृगतृष्णाम्बुवत्तथा ।
पुनः संस्पृश्यमानैव बोधाद्गलति दृश्यता ॥ २४ ॥

---

वेत्ताओंको जैसे एकका ही व्यवस्थित ज्ञान होता है, वैसे ही प्रपञ्चमें भी स्वप्नदशामें जाग्रत् स्वप्नरूप और जाग्रत्कालमें स्वप्न जाग्रद्रूप व्यवस्थित जगत्के एकरूपका ही तत्त्वज्ञोंको ज्ञान होता है, यह कहते हैं—'स्वप्नः' इत्यादिसे ।

स्वप्नकालमें स्वप्न ही जाग्रदूरूप ज्ञानियों द्वारा जाना जाता है, क्योंकि वासनाओंके विस्तारसे व्यग्र मन उनके पास नहीं है, और जाग्रत्कालमें जाग्रत्-को स्वप्नरूप जानते हैं, क्योंकि उनको सत्य आत्माका परिज्ञान हो चुका है ॥२०॥

जाग्रत्-दशामें यदि हम लोग यह विचार करें कि यह जगत् केवल चित्तरूप ही है, तो वह स्वप्नतुल्य ही बन जायगा । इसी वास्तविकताको लेकर विद्वान्की सृष्टिको उसके शरीरके अवयवोंकी उपमा दी गई है, यों उपसंहार करते हुए तत्त्वज्ञान हो जानेपर उसका भी समूल बाध हो जाता है, यह कहते हैं—'चित्त०' इत्यादिसे ।

भद्र, वास्तवमें मृगतृष्णाके जलके सदृश असद्रूपसे स्थित तथा विचारसे विकल किया गया—यह जाग्रत् जगत् केवल चित्तरूप यदि समझ लिया जाता है, तो फिर वह स्वप्नरूप बन जाता है ॥ २१ ॥

सम्यक् ज्ञानसे यानी आत्माके सत्यज्ञानसे देहरूपके साथ ये सबभूत ज्ञानीके पिण्डको समूल ऐसे छोड़ देते हैं, जैसे वर्षाकालके जानेपर मेघ ॥ २२ ॥

जैसे विनाशकी ओर उन्मुख हुआ मेघ तत्काल ही गगनरूप बन जाता है, वैसे ही आत्मज्ञानसे यह अहङ्कारसहित जगत् शान्त हो जाता है यानी तत्काल आत्मरूप बन जाता है ॥ २३ ॥

शरत्कालके मेघके सदृश चारों ओरसे छिन्न-भिन्न हुआ मृगतृष्णाजलके सदृश

यथा दीप्तानले लीनं सुवर्णं घृतमिन्धनम् ।
एकतां याति विज्ञाने तथा भुवनचित्तदृक् ॥ २५ ॥
बोधेन तनुतामेति पिण्डबन्धो जगत्त्रये ।
पिशाचबुद्धिः सदने बोधितस्य यथा शिशोः ॥ २६ ॥
बोधस्याऽनन्तरूपस्य स्वयमेवात्मनाऽऽत्मनि ।
जगच्चित्तादिता भाता पिण्डबन्धः किलात्र कः ॥ २७ ॥
बोधाबोधनमेवेदं जगच्चित्तमिवोदितम् ।
तदेवास्तं गतं बोधात्पिण्डबन्धस्य काऽस्तिता ॥ २८ ॥

---

मिथ्या प्रतीयमान तथा बार-बार स्पर्श आदिसे जाना गया भी जगत् आत्मज्ञानसे तत्काल जल जाता है ॥ २४ ॥

जैसे धधक रही अग्निमें विलीन सोना, घी और इन्धन एकरूप बन जाता है, वैसे ही विज्ञानकालमें भी जगत्-चित्त द्रष्टा आदि सब एकरूप बन जाते हैं ॥ २५ ॥

तीनों जगत्में जो एक प्रकारका रूप कल्पित किया गया है, वह तत्त्वज्ञानसे धीरे-धीरे ऐसे विलीन होता जाता है, जैसे घरमें समझाये गये बालकका वृक्षादिमेंसे पिशाचज्ञान धीरे-धीरे विलीन होता जाता है ॥ २६ ॥

अग्नि आदि कारण जबतक लाखके पास रहते हैं, तबतक उसमेंकी कठिनताका विलय रहता है । यदि अग्नि आदि पासमें न रहते, तो कठिनताका विलय भी हट जाता है, क्या इसी तरहका यह जगद्विलय तत्त्वज्ञानसे होता है, यदि ऐसा विलय हुआ, तो निमित्तके हट जानेपर फिर जगत् ज्योंका त्यों बना रहेगा, ऐसी आशङ्कापर कहते हैं कि तत्त्वज्ञान असत्पक्षका विरोधी होनेके कारण उससे हुआ विलय फिर लौटकर नहीं आता, जैसे कि शुक्तिके तत्त्वज्ञानसे बाधित शुक्तिरूप-ज्ञान फिर नहीं होता, इस आशयसे कहते हैं—'बोधस्या०' इत्यादि ।

देश, काल और वस्तुकी परिच्छिन्नता ( स्वल्परूपता ) से रहित साक्षी चेतनमें किसी कारणके बिना ही जगत्, सङ्कल्पकारक चित्त, अज्ञान आदि भासते हैं, अतः साक्षी चेतनमें रूपादिका अवसर ही कैसे ॥ २७ ॥

इन सब बातोंसे निष्कर्ष यह निकला कि मिथ्याभूत जगत्, चित्त आदिके रूपमें मिथ्या अज्ञान ही नृत्य करता है, यह कहते हैं—'बोधा०' इत्यादिसे ।

जहाति पिण्डकाठिन्यं जाग्रत्स्वप्नावबोधतः ।
परां पेलवतामेति हेमवद्द्रुतमिवाग्निना ॥ २९ ॥
यथास्थितं बोध एव घनतामिव गच्छति ।
विनैव देशकलाभ्यां तौ विनिर्माय हेमवत् ॥ ३० ॥
जाग्रत्येवं विचारेण स्वप्नाभे पेलवे स्थिते ।
क्षीयमाणे शरत्काल इवैति तनुतां रसः ॥ ३१ ॥
परां पेलवतां याता दृश्यलक्ष्म्यः स्थिता अपि ।
स्वप्ना इव परिज्ञाता न स्वदन्ते विवेकिनः ॥ ३२ ॥
क्व किल स्वात्मविश्रान्तिः क्वैतद्विषयवेदनम् ।
सुषुप्तजाग्रतोरैक्यं भ्रान्ताभ्रान्तात्मनोर्भवेत् ॥ ३३ ॥

---

साक्षी चेतनके अज्ञानसे ही यह जगत् और चित्त उत्पन्न हुआ है, ज्ञानसे जब अज्ञान नष्ट हो गया, तब निर्मल चेतनमें जगत् आदि स्वरूपोंका अस्तित्व ही क्या रहा ॥ २८ ॥

इससे पहलेकी बात सिद्ध हो गई कि जाग्रत्प्रपञ्च ही स्वप्नदशामें अपनी स्थूलता छोड़कर सूक्ष्म प्रपञ्चरूप बन जाता है और स्वप्नभ्रान्ति ही चिरकालके अभ्याससे घनीभूत होकर जाग्रत्-रूप बन जाती है, यह कहते हैं—'जहाति' इत्यादिसे ।

स्वप्नके अवभाससे जाग्रत्-प्रपञ्च अपनी कठिनता छोड़ देता है और ऐसे अत्यन्त नरम (सूक्ष्म) हो जाता है, जैसे कि अग्निसे पिघला हुआ सुवर्ण ॥२९॥

देश-कालरूप निमित्तके बिना जाग्रत्-स्वप्नका निर्माणकर यथास्थित बोधरूप साक्षी चेतन ही घनस्वरूप जगदाकार-सा सुवर्णके सदृश बन जाता है ॥ ३० ॥

शरत्कालके क्षीण हो जानेपर जैसे जल स्वल्प हो जाता है, वैसे ही स्वप्नके सदृश अत्यन्त तुच्छ जाग्रत् वस्तुके उक्त विचारसे क्षीण हो जानेपर भोगका अनुराग भी स्वल्प यानी क्षीण हो जाता है ॥ ३१ ॥

दृश्यवस्तुओंकी कान्ति जब अत्यन्त तुच्छरूप भासने लग जाती है, तब उनकी स्थिति होनेपर भी विवेकीको वे अच्छी नहीं लगतीं, क्योंकि वह स्वप्नके सदृश उन्हें मिथ्या ही समझता है ॥ ३२ ॥

आत्मसुखसे अत्यन्त तृप्त होनेके कारण ज्ञानी भी विषयोंमें आदर नहीं करता, यह कहते हैं—'क्व' इत्यादिसे ।

चित्तमात्रे भ्रान्तिमात्रे स्वप्नमात्रात्मनि स्थिते ।
जगतीह पदार्थेभ्यः सत्यबुद्धिर्निवर्तते ॥ ३४ ॥
कस्य स्वदन्तेऽसत्यानि कथमेव महामते ।
मृगतृष्णाजलानीव दृश्यान्यपि पुरःस्थितैः ॥ ३५ ॥
सत्यबुद्धौ विलीनायां जगत्पश्यति शान्तधीः ।
जालदीपांशुजालाभमपिण्डात्माम्बरात्मकम् ॥ ३६ ॥
जाग्रतो वस्तुतः शून्यात्परिज्ञातान्निवर्तते ।
चित्तभ्रमात्मनो भ्रान्तिरूपास्वादनभावना ॥ ३७ ॥
यदवस्त्विति विज्ञातं तत्रोपादेयता कुतः ।
केन स्वप्नं परिज्ञाय स्वप्नहेमाभिगम्यते ॥ ३८ ॥

---

कहाँ अपनी आत्मामें विश्रान्ति और कहाँ यह विषयोंका परिज्ञान । यदि ज्ञानीको भी विषय भले प्रतीत होने लगें, तो सुषुप्त और जाग्रत्‌की एकता और मूढ और तत्त्वज्ञकी एकता हो जायगी यानी दोनोंमें कोई पार्थक्य ही नहीं रह जायगा ॥ ३३ ॥

श्रीरामजी, चित्तमात्रस्वरूप यह जगत् जब यहाँ भ्रान्तिरूप और स्वप्नमात्र स्वरूप बनकर स्थित हो जाता है यानी जो पुरुष जगत्‌को स्वप्नके सदृश मिथ्या समझ लेता है, तब पदार्थोंसे सत्यत्वबुद्धि अपने आप हट जाती है ॥ ३४ ॥

असत्य भी ज्ञानीको यदि रुचते हों, तो क्या हानि है ? इसपर कहते हैं— 'कस्य' इत्यादिसे ।

हे महामते, समीपमें स्थित पुरुषों द्वारा असत्यरूपसे देखे गये मृगतृष्णा-जल आदि क्या किसीको भी रुचते हैं ? अर्थात् वे किसी ज्ञानीको किसी तरह भी अच्छे नहीं लगते ॥ ३५ ॥

जगत्‌में सत्यत्व बुद्धिके विलीन हो जानेपर शान्तबुद्धि ज्ञानी जगत्‌को अपिण्डात्मक आकाशरूप, जो कि वातायनमें प्रविष्ट हुए दीपकिरणोंकी प्रभाके सदृश प्रकाशमान भी है, देखता है ॥ ३६ ॥

केवल चित्तके ही विलासस्वरूप स्वप्नात्मक फूल-माला, चन्दन आदिकी भोगभावना जाग्रत् पुरुषकी निकल जाती है, क्योंकि वस्तुतः उसने उन पदार्थोंको शून्यरूप जान लिया है ॥ ३७ ॥

हे श्रीरामजी, जिसको अवस्तुरूप समझ लिया, फिर उसकी ग्राह्यता कैसी ?

स्वप्नादिव परिज्ञाताद्रसो दृश्यान्निवर्तते ।
द्रष्टृदृश्यदशादोषग्रन्थिच्छेदः प्रवर्तते ॥ ३९ ॥
नीरसः शान्तमननो निर्वाणाहंकृतिः कृती ।
वीतरागो निरायासः शान्तस्तिष्ठति शुद्धधीः ॥ ४० ॥
रसे नीरसतां याते वासना प्रविलीयते ।
शिखायां प्रविलीनायां प्रदीपस्यांशवो यथा ॥ ४१ ॥
बोधाद्दीपांशुजालाभमघनं व्योम दृश्यते ।
भ्रान्तिरूपं जगत् कृत्स्नं गन्धर्वनगरं यथा ॥ ४२ ॥
नैवात्मानं न चाकाशं न शून्यं न च वेदनम् ।
अत्यन्तपरिणामेन पश्यन् पश्यति तत्पदम् ॥ ४३ ॥

---

भला ऐसा कौन पुरुष है, जो स्वप्न जानकर भी स्वप्न-सुवर्णको लेनेके लिए उसकी ओर दौड़ता हो ॥ ३८ ॥

भद्र, स्वप्नके सदृश दृश्य पदार्थोंको जब जान लिया जाता है, तब उससे प्रेम मनुष्यका निकल जाता है और द्रष्टा, दृश्यकी अवस्थाओंके दोषसे जनित जो बड़ी भारी गाँठ है, वह विच्छिन्न हो जाती है ॥ ३९ ॥

इसकी निवृत्ति हो जानेपर यह कैसे स्थित रहता है ? यह कहते हैं—'नीरसः' इत्यादिसे ।

दृश्यपदार्थ जिसको नीरस हो गये हैं या बन्धु आदिमें जिसको प्रेम नहीं रह गया है, जिसकी मननशक्ति शान्त हो गई है, जिसका अहङ्कार चला गया है, जो तत्त्वविद्यासे परिपूर्ण वीतराग, प्रयासरहित और निर्मलबुद्धि हो चुका है, वह सदा शान्त ही रहता है ॥ ४० ॥

दीपकी शिखा ( लुक ) जब नष्ट हो जाती है, तब उसकी किरणें जैसे नष्ट हो जाती हैं, वैसे ही जब रस नीरसरूप बन जाता है, तब ज्ञानीकी वासना नष्ट हो जाती है ॥ ४१ ॥

ज्ञानसे पूर्व गन्धर्वनगरके सदृश प्रतीत हो रहा सम्पूर्ण जगत् तत्त्वज्ञानसे दीपककी किरणोंके सदृश एकमात्र प्रकाशरूप एवं अघन होकर आकाशके सदृश भासने लगता है ॥ ४२ ॥

तब सप्तम भूमिकाकी स्थितिसे वह किस तरहका होता है, इसे बतलाते हैं—'नैव' इत्यादिसे ।

यत्र नात्मा न शून्यं च न जगत्कलना न च ।
न चित्तदृश्योदयधीः सर्वं चास्ति यथास्थितम् ॥ ४४ ॥

भूम्यादिताऽज्ञसंबुद्धा ज्ञानादस्तमुपागता ।
ज्ञस्य शून्यैव सम्पन्ना संस्थिताऽपि न विद्यते ॥ ४५ ॥

भवत्येकसमाधानसौम्यात्मा व्योमनिर्मलः ।
तिष्ठत्यपगतासङ्गः स्थित एवाप्यसत्समः ॥ ४६ ॥

अस्तङ्गतमना मौनी निरोधपदवीं गतः ।
तीर्णः संसारजलधेः कर्मणामन्तमागतः ॥ ४७ ॥

तनुभुवनगगनगिरिगणकरणपरम्परमज्ञानम् ।
विगलति गलिते तस्मिन् सकलमिदं विद्यमानमपि ॥ ४८ ॥

---

तत्त्वज्ञानी पुरुष सप्तम भूमिकामें स्थितिकर न आत्माको, न आकाशको न शून्यको, न वृत्तिको देखता है, किन्तु केवल आत्मपदको ही ( ब्रह्मरूपताको ही ) देखता है ॥ ४३ ॥

भद्र, जो तत्पद वस्तु है, उसमें न आत्मा है, न शून्य है और न जगत्की कल्पना ही है, अधिक क्या कहें, उसमें न चित्त है, न दृश्यबुद्धि है और न यह यथास्थित सब कुछ ही है ॥ ४४ ॥

अज्ञानियोंके द्वारा पिण्डरूपसे जाना गया जो यह पृथ्वी आदिका स्वरूप है, वह ज्ञानीके प्रति तो ज्ञानसे अस्त हो जाता है और शून्यरूप बन जाता है, अतः विद्यमान रहते भी नहीं ही है ॥ ४५ ॥

ज्ञानी पुरुष एकमात्र आत्मसमाधिमें चित्तको लगाकर आकाशके सदृश निर्मल बन जाता है, सब आसक्तियोंसे रहित होकर ही अपनी स्थिति बनाता है और स्थित रहकर भी असत्के तुल्य बना रहता है ॥ ४६ ॥

श्रीरामजी, जिसका मन मर गया है और जो सर्वबाधावधि आत्मपदको प्राप्त हुआ है, ऐसा मननशील मौनी संसाररूपी समुद्रको तैर गया है और सब कर्मोंके अन्तको भी प्राप्त हो गया है, यह अवश्य जानिए ॥ ४७ ॥

राघव, चूँकि जो सम्पूर्ण शरीर, शरीरोंके आधार भुवन, भुवनाधार गगन तथा विहारस्थान पर्वत हैं, उनके साधन और करणोंका एकमात्र कारण मूल अज्ञान ही

संशान्तान्तःकरणो
गलितविकल्पः स्वरूपसारमयः ।
परमशमामृततृप्त-
स्तिष्ठति विद्वान्निरावरणः ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विश्रान्तियोगोपदेशो नामैकपञ्चाशः सर्गः ॥५१॥

---

## द्विपञ्चाशः सर्गः

श्रीराम उवाच

बोधो जगदिवाऽऽभाति मुने येन क्रमेण ह ।
तं क्रमेण क्रमं ब्रूहि भूयो भेदनिवृत्तये ॥ १ ॥

---

है, दूसरा नहीं, इसलिए ज्ञान द्वारा अन्तःकरणसे अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर यह शरीर आदि जगत्, अज्ञानियोंकी दृष्टिसे विद्यमान रहते भी, विनष्ट हो जाता है यानी असद्रूप बन जाता है ॥ ४८ ॥

विद्वान् पुरुषका अन्तःकरण शान्त रहता है, उसके विकल्प विनष्ट हुए रहते हैं, वह अपने स्वरूपभूत आत्मरसमें तन्मय रहता है, परम शान्तिरूपी अमृतरससे तृप्त रहता है, उसको आवरण ( अज्ञान ) भी नहीं रहता। इस प्रकार उसकी उत्तम स्थिति होती है ॥ ४९ ॥

इक्यावनवां सर्ग समाप्त

## बावनवाँ सर्ग

[ तार्किकोंके तर्कोंसे उत्पन्न हुई अनेक प्रकारकी कल्पनाओंका खण्डन कर कूटस्थ परमात्माके अनिर्वाच्य जगद्भावका समर्थन ]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुने, कूटस्थ चिदात्मा जिस क्रमसे जगत्-सा भासता है, वह क्रम—भेदकी निवृत्तिके लिए अन्य वादियोंकी कल्पनाओंका खण्डनकर अपने मतके समर्थनक्रमसे—फिर कहिये ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

वृक्षस्येव विमूढस्य यद्दृष्टौ तत्स्वचेतसि ।
यन्न दृष्टौ न तच्चित्ते भवत्यल्पतरस्मृतेः ॥ २ ॥
भव्यः पश्यति शास्त्रार्थमेव पूर्वापरान्वितम् ।
न दृष्टिविषयं वस्तु यत्पश्यति करोति तत् ॥ ३ ॥
भावानुष्ठाननिष्ठः सन् शास्त्रार्थैकमना मुनिः ।
भूत्वोपदेशं त्वमिमं शृणु श्रवणभूषणम् ॥ ४ ॥

'चिदात्माका यह जगद्भाव अनिर्वचनीय ही है' इस अपने मतका समर्थन करनेके लिए पहले दृष्टिसृष्टिपक्षका अवलम्बन करके दृष्टिके अन्वय और व्यतिरेकके अनुसार उसकी स्थिति दिखलाते हैं—'वृक्षस्येव' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, शाखा, पत्र, पुष्प, पल्लव आदि नाना प्रकारके आकारोंसे युक्तके समान अज्ञ आत्माकी दृष्टिमें जो जगद्भाव है वही उसके चित्तमें भी है और जो उसकी दृष्टिमें नहीं है वह उसके चित्तमें भी नहीं है । यही कारण है कि देखी गई अत्यन्त छोटी भी वस्तुका स्मरण होता है, किन्तु न देखी गई बड़ी भी वस्तुका स्मरण नहीं होता ॥ २ ॥

शास्त्र और अशास्त्रके अनुसार सम्पादित हुई विद्वान् और अविद्वान्‌की क्रियाओंमें भी वैलक्षण्य दिखाई देता ही है, अतः जगत्‌की सत्ता भी भिन्न-भिन्न दृष्टिके अनुसार ही व्यवस्थित प्रतीत होती है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'भव्यः' इत्यादिसे ।

जो विवेकी पुरुष है वह पूर्वापर शास्त्रके अनुसार ही देखता और करता है । आँखोंके सामने पड़ी भी शास्त्रनिषिद्ध वस्तुको भोग्यरूपसे नहीं देखता और न तो उसके लिए कुछ करता ही है ॥ ३ ॥

यही कारण है कि मैं भी शास्त्रीय दृष्टिका व्यवस्थापन करते हुए ही श्रवण आदिमें आपको नियुक्त कर रहा हूँ, इस आशयसे कहते हैं—'भावा०' इत्यादि ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसीलिए आपसे मैं कहता हूँ कि आप भी अपने चित्तकी शुद्धिके अनुकूल कर्मोंके अनुष्ठानमें तत्पर हो शास्त्रानुकूल अर्थोंमें अपने चित्तको लगाकर श्रवणभूषण मेरे इस उपदेशका श्रवण कीजिये ॥ ४ ॥

इयं दृश्यभरभ्रान्तिर्नन्वविद्येति चोच्यते ।
वस्तुतो विद्यते नैषा तापनद्यां यथा पयः ॥ ५ ॥
उपदेश्योपदेशार्थमेनां मदुपरोधतः ।
सत्यामिव क्षणं तावदाश्रित्य श्रूयतामिदम् ॥ ६ ॥
कुत एषा कथं चेति विकल्पाननुदाहरन् ।
नेदमेषा न चास्तीति स्वयं ज्ञास्यसि बोधतः ॥ ७ ॥
यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
सर्वं सर्वप्रकाराढ्यं कल्पान्ते तद्विनश्यति ॥ ८ ॥
अस्य भागविभागात्मा नाशोऽवश्यमवारितः ।
बिन्दुना बिन्दुना बोधे उद्धृतस्याऽस्ति हि क्षयः ॥९॥

---

यह दृश्यसमूहकी भ्रान्ति ही अविद्या कही जाती है । वास्तवमें तो यह अविद्या भी ऐसे नहीं है, जैसे मृगतृष्णा नदीमें जल ॥ ५ ॥

जब ऐसी बात है, तब कैसे शास्त्रोंके उपदेश तथा उनकी फलसिद्धि होगी, इसपर कहते हैं—'उपदेश्यो०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उपदेशयोग्य वस्तुके उपदेशके निमित्त मेरे अनुरोधसे क्षण भरके लिए आप इसे सत्य-सा मानकर यह मेरा कथन सुनिये ॥ ६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह अविद्यानामक भ्रान्ति कैसी है और कहाँसे आई—इस तरहके विकल्प न करते हुए आप मेरे इस उपदेशको सुनिये । फिर तो पीछे ज्ञान हो जानेसे आप स्वयं जान जायँगे कि न तो यह जगत् है और न यह अविद्या ही है ॥ ७ ॥

अनुभवमें आरूढ इस विवर्त पक्षको दिखलाकर अन्य पक्षोंमें दोष बतलानेकी अभिलाषा कर रहे महाराज वसिष्ठजी 'सत्य प्रपञ्चका ही ब्रह्मके साथ वृक्षशाखा-न्यायसे अभेद माननेवाले महानुभावोंके पक्षमें'—ब्रह्मकी अविनाशिता नष्ट होगी—यह दोष दिखलानेके लिए जगत्‌में विनश्वरत्वकी प्रतिज्ञा करते हैं—'यदिदम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो कुछ स्थावर-जङ्गमात्मक यह सब तरहसे परिपूर्ण जगत दिखाई देता है वह सब कल्पके अन्तमें नष्ट हो जाता है ॥ ८ ॥

जिसकी महाराज वसिष्ठजीने प्रतिज्ञा की है, उसका अब साधन करते हैं—'अस्य' इत्यादिसे ।

एवं स्थिते द्रव्यनाशे ब्रह्मणस्तन्मयत्वतः ।
नानन्तत्वं न चास्तित्वं न च वै सम्भवत्यलम् ॥ १० ॥
मदशक्तिरिव ज्ञानमिति नास्मासु सिध्यति ।
देहो विज्ञानतोऽस्माकं स्वप्नवन्न तु तत्त्वतः ॥ ११ ॥

---

विचार कर देखनेसे यह निश्चित होता है कि इस जगत्का विनाश, जो कि पृथिवी आदि अवयवोंका विभागस्वरूप है, अवश्य होगा, क्योंकि पृथि आदि सावयव है, अतः उनके विनाशका कोई प्रतीकार नहीं कर सकता । यही कारण है कि एक-एक बूंद निकाल लेनेसे घड़ेके जलका नाश अवश्य ही हो जाता है ॥ ९ ॥

ठीक है, नाश हो जाय, क्या दोष है, इसपर कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसी स्थितिमें तो द्रव्यका नाश होनेपर ब्रह्मकी अनन्तता और अस्तिता भी नहीं रह सकती, क्योंकि ब्रह्म जगन्मय ही तो ठहरा और चिदेकरस निरवयव ब्रह्मका जगत् अवयव नहीं हो सकता । तात्पर्य यह है कि जैसे शाखा आदि अवयवोंका नाश होनेपर वृक्षका भी नाश हो जाता है, वैसे ही यदि पृथिवी आदि द्रव्यका नाश होनेपर ब्रह्मके नाशका प्रसङ्ग माना जाय, तो श्रुतिमें कहे गये ब्रह्मके अनन्तत्वकी सिद्धि न हो सकेगी । इतना ही नहीं और भी सुनिये—विचारकर देखनेपर तो अवयवोंसे पृथक् किये गये अवयवीकी सत्ता न रहनेसे उसका अस्तित्व ही नहीं सिद्ध हो सकता और चिदेकरस निरवयव ब्रह्मका यह जगत् अवयव भी नहीं बन सकता ॥ १० ॥

चिदात्माका अवयव जड़ जगत् न हो, किन्तु मदिराके अवयवोंमें स्थित मदशक्तिकी तरह शरीररूपमें परिणत पृथिवी आदि पञ्चभूतरूप जड़ोंका ही धर्म चैतन्य क्यों न हो, इस चार्वाक मतको उठाकर उसमें दोष दिखलाते हैं—'मदशक्तिरिव' इत्यादिसे ।

मदिराकी शक्तिके समान ज्ञानरूप धर्म हम आस्तिकोंमें नहीं सिद्ध हो सकता—पृथिवी आदिरूप हम लोगोंकी देहमें ही चार्वाक ज्ञान नहीं सिद्ध कर सकते, क्योंकि हम लोगोंके मतमें इस देहकी सिद्धि विज्ञानके ही अधीन होनेसे यह देह स्वप्नके समान है, तात्त्विक नहीं है । तात्पर्य यह है कि प्रामाणिक लोगोंके मतमें देहकी सत्ताका साधक विज्ञानके सिवा और कोई दूसरा नहीं है । यह तो कोई नहीं कह सकता कि, मदशक्तिकी तरह देह न रहनेपर भी विज्ञान उत्पन्न हो सकता है ॥ ११ ॥

नश्यत्येव च दृश्यश्रीः सैव नान्यैव नैव च ।
इत्थं भवेत्समुचितं कृतं शास्त्रं च नान्यथा ॥ १२ ॥
सैवैतीत्यसमुल्लेखं कथं नष्टस्य संभवः ।
तद्रूपान्येति युक्तं स्यादनुभूतानुगा वयम् ॥ १३ ॥
सैव व्योमतयैवाऽऽसीदित्यसत्सैव सा कथम् ।
तथैव व्योमसंस्था चेन्नाशं तर्हि न सा गता ॥ १४ ॥

---

किञ्च, जगत् और ब्रह्मका अभेद स्वीकार करनेसे तो दृश्यप्रपञ्चका नाश होनेपर ब्रह्मके नाशकी भी शङ्का हो सकती है। यदि वह भेद आध्यासिक मान लिया जाय, तब तो प्रतियोगीकी तरह उसके नाशका भी वस्तुतः ब्रह्मके साथ सम्बन्ध न होनेके कारण यह दोष नहीं आता और शास्त्र भी सफल हो जाते हैं, इसी आशयसे कहते हैं—'नश्यत्येव' इत्यादिसे।

यह दृश्यकी शोभा बार-बार नष्ट होती और उत्पन्न होती ही रहती है, अतः यह कोई नहीं कह सकता कि यह वही है या दूसरी। इस तरह अनिर्वचनीय अविद्यामात्रसिद्ध यह दृश्यश्री नष्ट अवश्य ही होती है। ऐसी स्थितिमें अविद्याके बाध द्वारा जगत्का बाध होनेपर शास्त्र सफल होते हैं, अन्यथा नहीं ॥ १२ ॥

प्रलयकालमें जगत्-रचनाके नष्ट हो जानेपर उसके बाद पुनः उत्पन्न हो रही जगत्की शोभाका यह कभी निश्चय नहीं किया जा सकता कि यह वही है या दूसरी, इस तरह भी इसमें अनिर्वचनीयता ही सिद्ध होती है, यह कहते हैं—'सैव' इत्यादिसे।

इस सृष्टिसे पहले जो संसारकी शोभा नष्ट हो चुकी थी, वही पुनः आविर्भूत हो रही है, इसका उल्लेख करना अशक्य है। हां, यदि वही पुनः आविर्भूत होती, तो वही यह है या अन्य, यह कहा जा सकता था, किन्तु नष्टकी उत्पत्ति केवल अनुभवके अनुगामी हम अनुभवविरुद्ध अणुमात्र भी नहीं मान सकते, क्योंकि नष्टकी उत्पत्ति हो कैसे सकती है ॥ १३ ॥

यह अनुभवमें आरूढ़ नहीं है, इसका स्पष्टीकरण करते हैं—'सैव' इत्यादिसे।

मूर्तरूपा जगतकी शोभा प्रलयमें आकाशरूपसे—अमूर्तरूपसे ही विद्यमान

कार्यकारणयोरेकरूपतैवं यदा तदा ।
कार्यकारणताभावादैक्यमेवास्मदागमः ॥ १५ ॥
शून्यत्वमुपलम्भत्वं यद्गतं नष्टमेव तत् ।
अन्यस्तर्हि भवेन्नाशः कीदृशः किल कथ्यताम् ॥ १६ ॥
नष्टं भूयस्तदुत्पन्नमिति यत्प्रत्ययेति कः ।
नश्यत्यवश्यं तेनेदं पुनरन्यत्प्रवर्तते ॥ १७ ॥

---

थी, यह कहना बिलकुल असत् है, क्योंकि जो मूर्तरूप ही थी, वह भला अमूर्तरूप कैसे हो सकती है । यदि यह कहिये कि आकाशमें स्थित ही वह अपनी पूर्वावस्थाको प्राप्त हुई, तो आपसे हमें यही कहना पड़ेगा कि वह फिर प्रलयमें भी नष्ट नहीं हुई । कहनेका तात्पर्य यह है कि इस तरह आपका प्रलयवाद उच्छिन्न हो गया ॥ १४ ॥

इस तरह तो सृष्टिमें भी प्रलयावस्थाकी भी तुल्यन्यायसे प्रसक्ति हो सकती है । ऐसी स्थितिमें तो प्रलयावस्थामें स्थित अव्याकृतसे कार्यरूप सृष्टिकी एकता होनेपर कूटस्थवादके ऊपर आपत्ति आने लगेगी, यह कहते हैं—'कार्य०' इत्यादिसे ।

और इस तरह जब सृष्टिमें भी प्रलयावस्थाकी प्रसक्ति हो सकती है, तब तो कार्यरूप सृष्टिकी प्रलयावस्थामें स्थित उस अव्याकृत कारणके साथ एकरूपता ही सिद्ध हो गई, क्योंकि कार्य और कारणभावसे ऐक्य बतलाना ही तो हमारा सिद्धान्त है, सो इस तरह सिद्ध हो गया ॥ १५ ॥

जो वस्तु उपलब्ध होकर भी शून्यदशाको प्राप्त हो जाती है वह नष्ट ही है, क्योंकि उपलब्धिकालमें भी उसकी असत्ता मानी जा चुकी है । हे श्रीरामजी, असत्त्वापत्तिका ही नाम तो नाश है । हां, आपके मतमें किसी दूसरे तरहका नाश होता हो, तो फिर निःसन्देह बतलाइये वह कैसा है ? ॥ १६ ॥

पुनः उत्पत्तिके अवलोकनसे यदि मध्यमें नष्ट हुएकी सत्ताकी जो कल्पना करते हैं, सो यह ठीक नहीं है, क्योंकि भेदसे भी तो उत्पत्तिकी सिद्धि हो जाती है और प्रत्यभिज्ञा आदिका भी तो अवलोकन नहीं होता, यह कहते हैं— 'नष्टं भूय०' इत्यादिसे ।

जो नष्ट हुआ है वही पुनः उत्पन्न हुआ है, यह प्रत्यभिज्ञा किसको होती

मध्ये मध्ये यदुत्सेधफलाद्यवयवैकिका।
आदेहं बीजसत्ताऽस्ति कार्यकारणता कुतः ॥ १८ ॥
देशकालक्रियात्मैकं यथादृष्टमिह स्थितम्।
बीजमेवैककर्मातो न घटः पटकार्यकृत् ॥ १९ ॥

है, इसलिए नष्ट अवश्य होता है तथा पुनः पुनः दूसरा ही प्रवृत्त भी होता है, यही कहना उचित होगा ॥ १७ ॥

जैसे एक ही वृक्षके ऊपर बीच-बीचमें कोटर, स्कन्ध, शाखा आदिका विचित्रभेद रहनेपर भी मूलसे लेकर शाखापर्यन्त वृक्षशरीरकी तो सत्ता एक ही है। हाँ, शाखा आदि उस वृक्षके कार्य हैं उनमें भेद अवश्य है; वैसे ही उत्पत्ति आदि विकारोंका भेद होनेपर भी प्रलयके बाद पुनः उत्पन्न होनेसे इस दृश्यप्रपञ्चकी भी सत्ता एक ही क्यों न हो, इस शङ्कापर कहते हैं—'मध्ये' इत्यादिसे।

वृक्षके बीच-बीचमें स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पत्र, पुष्प तथा फलादिरूप जो अवयव हैं उनमें सारे वृक्षरूपी शरीरको व्याप्त करके स्थित बीजसत्ता तो अखण्ड एकरूप ही है। अतः जब सर्वत्र एक ही सत्ता दृष्टिगोचर हो रही है तब शाखा आदिकी पृथक् सत्ता सिद्ध न होनेसे कार्यकारणभाव कैसे हो सकता है? ॥ १८ ॥

दृष्टान्तमें कहे गये कार्यकारणभावोच्छेदको दार्ष्टान्तिकमें दिखलाते हैं—'देश०' इत्यादिसे।

यदि प्रलय, सृष्टि आदि तथा देशकाल एवं क्रियात्मक यथादृष्ट एक सन्मात्र ही बीजको स्वस्वरूपमें स्थित स्वीकार करेंगे, तब तो वह एक स्वयं ही क्रिया और उसका फल होता हुआ कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि वैसा करनेमें वह असमर्थ है—पटकार्य करनेमें असमर्थ घट पटरूप कार्य नहीं करता* ॥१९॥

* अथवा देशात्मक, कालात्मक या क्रियात्मक तत्-तत् पदार्थोंमें अनुगत बीजको एक-स्वभाव ही बतलाना उचित है, यह संभव नहीं है कि एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न स्वभावकी हो। यदि स्वभावभेद स्वीकार कर लिया जाय, तो फिर एकत्वकी उपपत्ति नहीं हो सकती। देखिये—यदि वस्तु देशैकस्वभाव है, तो फिर वह कालका कार्य नहीं कर सकती। यह भी कहीं नहीं देखा गया कि घटस्वभाव वस्तु पटका कार्य करती हो।

सर्वदर्शनसिद्धान्ते नास्ति भेदो न वस्तुनि ।
परमार्थमये तेन विवादेन किमत्र नः ॥ २० ॥
इदं शान्तमनाद्यन्तं तद्रूपत्वाद्विचारतः ।
व्योमाभं बोधतामात्रमनुभूतिप्रमाणतः ॥ २१ ॥
यथैतन्नानुभूतं सद्यथैतदनुभूयते ।
यथैतत्सिद्धिमाप्नोति तदिदं कथ्यते क्रमात् ॥ २२ ॥
महाकल्पान्त उन्नष्टे सर्वस्मिन् दृश्यमण्डले ।
आमहादेवपर्यन्तं समनोबुद्धिकर्मणि ॥ २३ ॥

नाना स्वभावकी एक ही वस्तु है, यह कहनेवाला तो सभी दर्शनोंके सिद्धान्तका उल्लंघनकारी होनेसे वितण्डा करनेवाला ही होगा, इस आशयसे कहते हैं—'सर्वदर्शन०' इत्यादि ।

सभी दर्शनोंके सिद्धान्तमें यह निश्चय किया गया है कि वस्तुके एक रहते हुए कार्योंका भेद नहीं है तथा परमार्थमय वस्तुस्वभावमें भी नानात्व नहीं है । इसलिए सभी दर्शनोंसे विरुद्ध बोलनेवालेके साथ विवाद करनेसे हमें मतलब ही क्या ॥ २० ॥

परिशेषात् वस्तु एकस्वभाव है, यह मान लेनेपर तो उपजीव्य एक चित्स्वभावका ही शेष रह जाता है, यह कहते हैं—'इदम्' इत्यादिसे ।

विचार तथा अपने अनुभवरूप प्रमाणसे यह सब शान्त, अनादि, अनन्त और आकाशके सदृश निर्मल केवल बोधमात्र परमात्मा ही अवशेष रहता है । अनुभवरूप प्रमाण ही सभी कल्पनाओंका सार ( बल ) है, अतः उस बोधमात्र परमात्मवस्तुके स्वभावका अपलाप न हो सकनेसे परिशेषात् जड़ स्वभावकी ही हानि है, यह भाव है ॥ २१ ॥

अब एकस्वभाव उस परमात्मवस्तुके प्रतिपादनकी प्रतिज्ञा करते हैं—'यथैतत्' इत्यादिसे ।

यह परमात्मस्वरूप जिस रीतिसे अनुभूत नहीं होता और अनुभूत न होता हुआ भी जैसे अनुभूत होता है तथा जिस रीतिसे मनुष्यको इस परमात्मस्वरूपानुभवकी सिद्धि प्राप्त होती है, हे श्रीरामचन्द्रजी, वह सब मैं आपसे क्रमशः कहता हूँ ॥ २२ ॥

एकमात्र यही कारण है कि महाकल्पके अन्तमें समस्त भेदोंका लय हो

व्योमन्यपि शमं याते कालेऽप्यकलितस्थितौ ।
वायावपि त्वपगते तेजस्यत्यन्तमस्थिते ॥ २४ ॥
तेजस्यपि गते ध्वंसं वार्यादौ सुचिरं क्षते ।
अलमन्तमनुप्राप्ते सर्वशब्दार्थसञ्चये ॥ २५ ॥
शिष्यते शान्तबोधात्म सदच्छं बाध्यवर्जितम् ।
अनादिनिधनं सौम्यं किमप्यमलमव्ययम् ॥ २६ ॥
अवाच्यमनभिव्यक्तमतीन्द्रियमनामकम् ।
सर्वभूतात्मकं शून्यं सदसच्च परं पदम् ॥ २७ ॥
तन्न वायुर्न चाऽऽकाशं न बुद्ध्यादि न शून्यकम् ।
न किञ्चिदपि सर्वात्म किमप्यन्यत्परं नभः ॥ २८ ॥

---

जानेपर भी लयको प्राप्त न हुआ अनुभवात्मा ही अवशेष रह जाता है, यह कहते हैं—महाकल्पान्त०' इत्यादि पांच श्लोकोंसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, महाकल्पके अन्तमें महादेवपर्यन्त मन, बुद्धि और समस्त कर्मोंके साथ जब यह सम्पूर्ण दृश्यमण्डल नष्ट हो जाता है, आकाश तथा अकलित स्थिति काल भी शान्त हो जाता है, वायु चली जाती है तथा तेजकी स्थिति बिलकुल डँवाँडोल हो जाती है एवं तेज भी जब ध्वस्त हो जाता है, जल, पृथिवी आदिका भी दीर्घकालके लिए नाश हो जाता है, जब कि सम्पूर्ण शब्दार्थसमूह बिलकुल अन्तदशाको प्राप्त हो जाता है, तब आदि और अन्तसे रहित सौम्य, अविनाशी, बाध्यशून्य, वाणीका अविषय, स्वच्छ सन्मात्र, केवल निर्मल शान्त बोधस्वरूप कोई अनिर्वचनीय आत्मा ही शेष रह जाता है ॥ २३–२६ ॥

वह परमपद वाणीका अविषय, अनभिव्यक्त, इन्द्रियोंका अविषय, नामरूप-शून्य, सर्वभूतस्वरूप, शून्यरूप, सत् एवं असत् भी है ॥ २७ ॥

महाकल्पके अन्तमें अवशिष्ट वह सद्रूप परमात्मवस्तु वायु आदिस्वरूप ही क्यों न हो, इसपर कहते हैं—'तन्न' इत्यादिसे ।

सद्रूप वह परमात्मवस्तु न वायुस्वरूप है, न आकाशरूप है, न मन, बुद्धि आदिरूप है, न शून्यरूप है, वह कुछ भी नहीं है, सर्वस्वरूप वह अनिर्वचनीय चिदाकाश है ॥ २८ ॥

तद्विदा तत्पदस्थेन तन्मुक्तेनाऽनुभूयते।
अन्यैः केवलमाम्नातैरागमैरेव वर्ण्यते ॥ २९ ॥
न कालो न मनो नात्मा न सन्नासन्न देशदिक्।
न मध्यमेतयोर्नान्तं न बोधो नाऽप्यबोधितम् ॥ ३० ॥
किमप्येव तदत्यच्छं बुध्यते बोधपारगैः।
शान्तसंसारविसरैः परां भूमिमुपागतैः ॥ ३१ ॥
प्रतिषिद्धा मयैते तु येऽर्थाः सर्वत्र ते स्थिताः।
अस्मद्बुद्ध्या परिच्छेद्याः सौम्याम्भोधेरिवोर्मयः ॥ ३२ ॥

---

उस समय भी वह विद्वानोंके अनुभवसे सिद्ध है, यह कहते हैं—'तद्विदा' इत्यादिसे।

उस परमपदमें स्थित समस्त कल्पनाओंसे निर्मुक्त तत्त्वज्ञानी ही इस परमात्मवस्तुका अनुभव करता है, और दूसरे तो केवल वर्णित आगमोंसे इसका वर्णनमात्र करते हैं ॥ २९ ॥

उन आगमोंमें 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्' इत्यादि आगमका अर्थरूपसे अवलोकन कराते हैं—'न कालो' इत्यादिसे।

यह आत्मा न काल है, न मन है, न जीव है, न सत् है, न असत् है, न देश है, न दिशा है, न देश और कालका मध्य है, न अन्त है, न बोधस्वरूप है और न बोधाभावरूप ही है ॥ ३० ॥

एवं 'तद्यथात्मविदो विदुः' इस आगमको भी उद्धृत करते हैं—'किमप्येव' इत्यादिसे।

किन्तु बोधपारङ्गत, संसारविस्तारसे शून्य तथा पञ्चम एवं षष्ठ भूमिकाओंको प्राप्त हो चुके महानुभाव लोग इस अनिर्वचनीय अतिस्वच्छ आत्माका स्वयं अनुभव करते हैं ॥ ३१ ॥

श्रुतिके अनुकूल अनुभवका आश्रयण करके मैंने भी उन पदार्थोंका बार-बार निषेध किया है, यह कहते हैं—'प्रतिषिद्धाः' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, मैंने आत्मबोधके लिए आपसे उन्हीं पदार्थोंका निषेध किया है, जो सर्वत्र श्रुतियोंमें प्रतिषेध्यरूपसे स्थित, हमारी बुद्धिसे परिच्छिन्न एवं शान्त समुद्रके तरङ्गोंके सदृश हैं ॥ ३२ ॥

यथास्थितं स्थिताः सर्वे भावास्तत्र यथा तथा ।
अनुत्कीर्णा महास्तम्भे विविधाः शालभञ्जिकाः ॥ ३३ ॥

एवं तत्र स्थिताः सर्वे भावा एवं च न स्थिताः ।
असर्वात्मैव सर्वात्म तदेव न तदेव च ॥ ३४ ॥

पदं यथैतत्सर्वात्म सर्वार्थपरिवर्जितम् ।
यथा तत्र च पश्यन्ति तत्रैकपरिणामिनः ॥ ३५ ॥

सर्वं सर्वात्मकं चैव सर्वार्थरहितं पदम् ।
सर्वार्थपरिपूर्णं च तदाद्यं परिदृश्यते ॥ ३६ ॥

---

तब 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि सत्कार्यवादी श्रुतियोंका क्या अभिप्राय है, उसे कहते हैं—'यथास्थितम्' इत्यादिसे ।

जैसे महास्तम्भमें ( बड़े खम्भेमें ) बिना खुदी हुई अनेक तरहकी प्रतिमाएँ स्थित हैं, वैसे ही हे श्रीरामचन्द्रजी, स्वस्वरूपमें स्थित परमात्मामें सभी पदार्थ स्थित हैं * ॥ ३३ ॥

इसीलिए 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि तथा 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतियोंके अविरोधसे एक ही का दोनों तरहसे कथन होता है, इस आशयसे कहते हैं—'एवम्' इत्यादि ।

इस तरह सभी पदार्थ उस परमात्मामें अधिष्ठानरूपसे स्थित हैं तथा अपने स्वरूपसे नहीं भी स्थित हैं । वह परमात्मा असर्वात्मक होता हुआ भी सर्वस्वरूप है । वह परमार्थरूप भी है और परमार्थरूप नहीं भी है ॥ ३४ ॥

पत्थरमें न खुदी गई नाना प्रकारकी प्रतिमाओंकी तरह योगियोंको अपनी इच्छाके अनुसार स्वस्वरूपमें स्थित उस परमपदमें 'अस्ति' और 'नास्ति' दोनों तरहसे जगत्का दर्शन होता है, यह कहते हैं—'पदम्' इत्यादिसे ।

योगी लोग अपनी इच्छानुसार सर्वात्मक वह परमपद जैसे समस्त अर्थोंसे युक्त है तथा जैसे समस्त अर्थोंसे रहित है, वैसे उसे देखते हैं ॥ ३५ ॥

उस आद्य पदको योगी लोग सर्वरूप, सर्वात्मक, सम्पूर्ण अर्थोंसे रहित तथा सम्पूर्ण अर्थोंसे परिपूर्ण भी देखते हैं ॥ ३६ ॥

---

* ब्रह्मस्वभावस्थिति ही अविकल्पित जगत्की भी सत्ता है, यही उन श्रुतियोंका अभिप्राय है ।

तवैतावन्महाबुद्धे सर्वार्थोपशमात्मकम् ।
न सम्यग्ज्ञानमुत्पन्नं संशयोऽत्र निदर्शनम् ॥ ३७ ॥
यः प्रबुद्धो निराभासं परमाभासमागतः ।
स्वच्छान्तःकरणः शान्तस्तं स्वभावं स पश्यति ॥ ३८ ॥
अयं त्वमहमित्यादित्रिकालगजगद्भ्रमः ।
तत्रास्ति हेमपिण्डान्तरिव रूपकजालकम् ॥ ३९ ॥
हेमपिण्डाद्यथा भाण्डजालं नानोपलभ्यते ।
तथा न लभ्यते भिन्नं परमार्थघनाज्जगत् ॥ ४० ॥
सर्वदैव हि भिन्नात्मा स्वाङ्गभूतोपलम्भदृक् ।
स जगद् द्वैतमेवेदं हेमेवाङ्गदरूपकम् ॥ ४१ ॥

---

हे महाबुद्धे, पूर्वोक्त समाधिकालपर्यन्त सम्पूर्ण अर्थोंका उपशमरूप वह सम्यग् ज्ञान आपको नहीं उत्पन्न हुआ। इसमें सन्देह होना ही सबसे जबर्दस्त प्रमाण है *॥ ३७ ॥

जो ज्ञानी पुरुष सब दृश्योंके आभाससे निर्मुक्त, परम प्रकाशरूपको ( परम साक्षात्कारको ) प्राप्त है तथा स्वच्छ अन्तःकरण एवं शान्त है, वह उस प्रकाशस्वरूप शान्तस्वभावको देखता है ॥ ३८ ॥

जैसे सुवर्णपिण्डके भीतर आभूषण तथा मुद्रा आदिका समूह कल्पनासे स्थित है, वैसे ही हे श्रीरामचन्द्रजी, अयं, त्वम्, अहम् इत्यादि त्रैकालिक जगत्-भ्रम भी उस परमात्मामें कल्पनासे स्थित है ॥ ३९ ॥

तब क्या अलङ्कारोंकी तरह भेदसे भी जगत् सत् है? इसका 'नहीं' यह उत्तर देते हैं—'हेमपिण्डा०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस तरह सुवर्णके आभूषण तथा पात्र आदि सुवर्णपिण्डसे पृथक्-भिन्नसद्रूपसे उपलब्ध होते हैं, उस तरह यह जगत् परमार्थघन परमात्मासे भिन्न सद्रूपसे उपलब्ध नहीं होता ॥ ४० ॥

अपने अङ्गरूप जगतसे द्रष्टा परमात्मा मिथ्या नाम-रूपात्मक द्वैत जगतसे सर्वदा ऐसे भिन्न है, जैसे कल्पित अङ्गदादि आभूषणात्मक मिथ्या नाम-रूपसे सुवर्ण ॥ ४१ ॥

---

* यदि आपको निश्चित तत्त्वज्ञान हो गया होता, तो आपके मनमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं उठता। सन्देहका होना ही बतलाता है कि अभी आपको निश्चित तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है। देखिये, 'छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' इत्यादि श्रुतियाँ क्या कहती हैं।

रिक्तं देशादिशब्दार्थैर्देशकालक्रियात्मकम् ।
यथास्थितमिदं तत्र सर्वमस्ति न वाऽस्ति च ॥ ४२ ॥
यथोर्म्यादि समे तोये चित्रं चित्रकृदीहते ।
भाण्डवृन्दं मृदः पिण्डे तथेदं ब्रह्मणि स्थितम् ॥ ४३ ॥
तथैतदत्र नो भिन्नं नाभिन्नं नास्ति चास्ति च ।
नित्यं तन्मयमेवाच्छं शान्ते शान्तमिदं तथा ॥ ४४ ॥
अनिखातेव भातीयं त्रिजगच्छालभञ्जिका ।
स्वरसस्येव दृश्यत्वमिता ब्रह्मणि दारुणि ॥ ४५ ॥
निखाता दृश्यतां यान्ति स्तम्भस्थाः शालभञ्जिकाः ।
अस्मिन्नक्षोभ्य एवान्तस्तरङ्गाः सृष्टिदृष्टयः ॥ ४६ ॥
सरस्यतिरसे भान्ति चिद्घनामृतवृष्टयः ।
अविभागे विभागस्था अक्षोभे क्षुभिता इव ।
अविभाता विभान्तीव चिद्घने सृष्टिदृष्टयः ॥ ४७ ॥

---

देश, काल, क्रिया आदि शब्दोंके अर्थोंसे यानी प्रवृत्तिनिमित्तसे ( जाति, गुण, क्रिया आदिसे ) रहित तथा देश, काल एवं क्रियामय वह आत्मा है। यथास्थित यह सम्पूर्ण जगत् अधिष्ठानसे उसमें है और स्वस्वरूपसे नहीं भी है ॥४२॥

जैसे चित्रकार शान्त जलमें तरङ्ग आदिरूप चित्र बनानेकी इच्छा करता है वैसे ही हे श्रीरामचन्द्रजी, शान्तब्रह्ममें स्थित इस जगत्की आप भी इच्छा कीजिये । तथा जैसे मिट्टीके पिण्डमें मिट्टीके बने अनेक पात्रोंका समूह स्थित है वैसे ही ब्रह्ममें यह जगत् स्थित है ॥ ४३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मिट्टीके पिण्डमें जैसे अभिन्नरूपसे ये सब पात्र हैं और भिन्नरूपसे नहीं भी हैं, वैसे ही तत्त्वज्ञानसे शान्त, नित्य आत्मामें तन्मय शान्त यह जगत् अभिन्नरूपसे है और भिन्नरूपसे नहीं भी है ॥ ४४ ॥

महास्तम्भमें अनुत्कीर्ण प्रतिमाकी नाईं, ब्रह्मरूपी काठमें यह त्रिलोकीरूपी प्रतिमा साक्षीरूपी शिल्पीकी आँखोंमें प्राप्त हुई-सी है ॥ ४५ ॥

स्तम्भमें स्थित जो प्रतिमाएँ उत्कीर्ण होती हैं वे ही दृष्टिगोचर होती हैं, किन्तु ब्रह्ममें तो उसके शान्त क्षोभरहित स्थित रहनेपर ही उसके भीतर सृष्टिके विवर्तरूप तरङ्गें दृष्टिगोचर होती हैं ॥ ४६ ॥

नित्य निरतिशयानद जलपरिपूर्ण चितिरूपी सरोवरमें चिन्मय मेघकी अमृतमय

परमाणौ परमाणावत्र संसारमण्डलम् ।
विभाति भासुरारम्भं न विभाति च किञ्चन ॥ ४८ ॥

आकाशकालपवनादिपदार्थजात-
मस्याऽङ्गमङ्गरहितस्य तदप्यनङ्गम् ।
सर्वात्मकं सकलभावविकारशून्य-
मप्येतदाहुरजरं परमार्थतत्त्वम् ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्मस्वरूपवर्णनं नाम द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

---

वृष्टिके सदृश ये सृष्टिकी दृष्टियाँ भासित हो रही हैं । हे श्रीरामचन्द्रजी, विभाजक धर्मोंसे शून्य रहनेपर भी उस चिद्घन ब्रह्ममें ये सबके सब विभक्त तथा क्षोभ-रहित रहनेपर भी क्षुभितके समान, भासित न हुई भी ये सब अविद्याके कारण एक तरहसे भासित हो रही हैं ॥ ४७ ॥

इस चिद्घन ब्रह्ममें परमाणु–परमाणुमें चमकीले समारोहोंसे युक्त यह संसार-मण्डल भासता है और वास्तवमें कुछ भी नहीं भासता ॥ ४८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, निरवयव इस परमात्माके जिस आकाश, काल, पवन आदि पदार्थसमूहरूप अङ्गका मैंने आपसे वर्णन किया है, वह भी मिथ्या तथा अधिष्ठान-मात्र शेष होनेसे अवयवशून्य ही है । इस प्रकार यद्यपि सम्पूर्ण भावविकारोंसे शून्य यह अजर, परमार्थभूत आत्मतत्त्व है तथापि इसको सभी श्रुतियाँ सम्पूर्ण पदार्थोंके अध्यारोपसे सर्वस्वरूप बतलाती हैं ॥ ४९ ॥

बावनवाँ सर्ग समाप्त

---

## त्रिपञ्चाशः सर्गः

### श्रीराम उवाच

यथा चेत्ये चेतनता यथाकाले च कालता ।
यथा च व्यौमता व्योम्नि यथा च जडता जडे ॥ १ ॥

यथा वायौ च वायुत्वमभूतादावभूतता ।
यथा स्पन्दात्मनि स्पन्दो यथा मूर्ते च मूर्तता ॥ २ ॥

यथा भिन्ने च भिन्नत्वं यथाऽनन्ते ह्यनन्तता ।
यथा दृश्ये च दृश्यत्वं यथा सर्गेषु सर्गता ॥ ३ ॥

एतत्क्रमेण हे ब्रह्मन् वद मे वदतां वर ।
आदितः प्रतिपाद्यैव बोध्यन्ते ह्यल्पबोधिनः ॥ ४ ॥

---

## तिरपनवाँ सर्ग

[ अपनी-अपनी अलग-अलग भिन्नताको लिये हुए ये जो आत्मामें आरोपित विषय हैं, इनकी सत्ता यानी त्व, तल् आदि प्रत्ययोंका अर्थ साक्षात् ब्रह्मरूप ही है—यह वर्णन ]

अभीतक यह क्रम बतलाया कि ब्रह्म ही आरोपित अनिर्वचनीय जगत्के रूपमें विवर्तित होता है, अब इस विषयमें रामजी यह जानना चाहते हैं कि त्व, तल् आदि प्रत्ययोंसे बोधित होनेवाली पृथक्-पृथक् जो घटत्व, मनुष्यत्व आदि जातियाँ हैं, उनका तात्त्विक स्वरूप क्या है, इसलिए यह प्रश्न करते हैं—'यथा' इत्यादि ।

श्रीरामजीने कहा—गुरुवर, जैसे स्मरणके योग्य विषयोंमें स्मरणकी विषयता, जैसे कालमें कालता, जैसे आकाशमें आकाशता, जैसे जड़में जड़ता, जैसे वायुमें वायुता, जैसे वर्तमानमें या भविष्यत्में वर्तमानता या भविष्यत्ता, जैसे स्पन्दात्मामें स्पन्दात्मता ( स्पन्द ), जैसे मूर्तमें मूर्तता, जैसे भिन्नमें भिन्नता, जैसे अनन्तमें अनन्तता, जैसे दृश्यमें दृश्यता और जैसे सर्गमें सर्गता असाधारण धर्म है, ऐसे ही सब वस्तुओंमें भावरूप धर्म हैं । अतः इनका परिज्ञान करनेके लिए जो बोधक उपाय हों, उनको क्रमशः मुझसे कहिए, क्योंकि हे उपदेश देनेवालोंमें श्रेष्ठ ब्रह्मन् , जो अल्पज्ञ शिष्य हैं, उनको आरम्भसे ही प्रतिपादनकर समझाना चाहिए ॥१-४॥

वसिष्ठ उवाच

तदनन्तं महाकाशं महाचिद्घनमुच्यते ।
अवेद्यचिद्रूपमयं शान्तमेकं समस्थिति ॥ ५ ॥
ब्रह्मविष्णवीश्वराद्यन्ते महाप्रलयनामनि ।
शब्दार्थेऽरूढिमापन्ने यच्छुद्धमवशिष्यते ॥ ६ ॥
सर्गस्य कारणं तत्र न किञ्चिदुपपद्यते ।
मलमाकारबीजादि मायामोहभ्रमादिकम् ॥ ७ ॥
केवलं शान्तमत्यच्छमाद्यन्तपरिवर्जितम् ।
तद्विद्यते यत्र किल खमपि स्थूलमश्मवत् ॥ ८ ॥

---

आपने जिन वस्तुओंका भाव ( सत्त्व ) पूछा है, वह चिदात्मा ही है, क्योंकि वही अपनेमें अध्यस्त पदार्थोंमें अन्योन्य तादात्म्याध्यास होनेपर तत्-तत् भावरूप बन जाता है, यों उत्तर देनेकी अभिलाषाकर उन भावोंकी नित्यसद्रूपता बतलानेके लिए कहते हैं—'तदनन्तम्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, जो चीज आपने पूछी है, वह चीज तो अनन्त, महाकाश, महा चेतनघन, अवेद्य चिद्रूपमय, शान्त, अद्वितीय और एकरूपसे स्थित रहनेवाली ब्रह्म ही है, यही मुनि लोग कहते हैं ॥ ५ ॥

सबका विनाश हो जानेपर जो वस्तु अन्तमें बच जाती है, वही सब वस्तुओंकी भावरूप सत्ता है, क्योंकि भूधातुसे बना हुआ भावशब्द उसी अर्थका बोधक है, इस आशयसे कहते हैं—'ब्रह्म०' इत्यादिसे ।

चूँकि ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदिका भी जिसमें अन्त हो जाता है, ऐसे महाप्रलयमें नामरूपात्मक सृष्टिका तिरोभाव हो जानेपर वही एकमात्र शुद्ध बच जाता है, इसलिए वही सबकी सत्ता है, दूसरी नहीं ॥ ६ ॥

वह वस्तु भी अपने कारणमें लीन हो जायगी, इससे वह भी तो असत् ही ठहरेगी, इसपर कहते हैं—'सर्गस्य' इत्यादिसे ।

सत् ही जिसका स्वरूप है, ऐसे शान्त महाचिद्घन वस्तुकी उत्पत्तिका कोई भी कारण युक्तिसे सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि मल, आकार, बीज आदि तथा माया, मोह, भ्रम आदि सबकी सिद्धि उसीके अधीन है ॥ ७ ॥

अतः जिसमें आकाश भी स्थूल पत्थरके सदृश है और जो केवल, शान्त,

न च नास्तीति तद्वक्तुं युज्यते चिद्वपुर्यदा।
न चैवास्तीति तद्वक्तुं युक्तं शान्तमलं तदा॥ ९॥
निमेषे योजनशते प्राप्तायामात्मसंविदि।
मध्ये तस्यास्तु यद्रूपं रूपं तस्य पदस्य तत्॥ १०॥
सबाह्याभ्यन्तरे शान्ते वासनाविषयभ्रमे।
सर्वचिन्ताविहीनस्य प्रबुद्धस्यार्द्धरात्रतः॥ ११॥

---

निर्मल, आदि-अन्तसे शून्य है, वही सत्तार्थक भावशब्दका अर्थ हो सकता है, दूसरा नहीं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है॥ ८॥

वह जब चेतन शरीररूपसे भासने लग जाता है, तब उसकी चारों ओर सत्ता होनेके कारण 'नहीं है' ऐसा नहीं कहा जा सकता, और जब शान्तमल ( अज्ञान मलादिसे वर्जित ) होकर अनुभवमें आता है, तब 'वह है' यों भी वाच्यवृत्तिसे नहीं कहा जा सकता॥ ९॥

ऐसे निर्विषय चित्-स्वभावकी अत्यन्त अप्रसिद्धि है, इस शङ्काका अनुभवसे निवारण करते हैं—'निमेषे' इत्यादिसे।

उस निर्विषय आत्मपदका स्वरूप वही है, जो कि निमेषमात्रमें सैकड़ों योजनतक प्रमातृज्ञानके पहुँच जानेपर उस ज्ञानके बीचका रूप है। [ इस विषयका पहले भी अनेक स्थानोंमें निरूपण किया गया है—शाखाओंके अग्रभागमें चन्द्रदर्शनके समय एक निमिषमात्रमें चक्षुकी वृत्तिके द्वारा प्रमातृचैतन्य ऊपर प्रदेशमें सैकड़ों कोश चन्द्रदेश तक दूर चला जाता है, वह गया हुआ प्रमातृचैतन्य बीचके प्रदेशमें यानी शाखाग्रप्रदेश और ऊपरका जो चन्द्रदेश है—इन दो प्रदेशोंके मध्यप्रदेशमें एकदम विशुद्ध रहता है, उसमें कोई भी विषय रहता ही नहीं, अतः मध्यप्रदेशके चेतनका जो भी रूप आप जानिये, वही रूप निर्विषय आत्मपदका स्वरूप है ]॥ १०॥

आधी राततक गाढ़ी नींदसे सो जानेपर मनकी निद्राकालिमा दूर हो जाती है, इस कालिमाके निकल जानेपर समाधिमें स्थित हुए योगियोंको उक्त रूपका अनुभव होने लग जाता है, यह कहते हैं—'सबाह्या॰' इत्यादि दो श्लोकोंसे।

बाहरी और भीतरी जितने वासनाके विषय भ्रमरूप पदार्थ हैं, उनका

शान्तनिःसुखदुःखस्य पुरुषस्यैव तिष्ठतः ।
यदस्पन्दि मनोरूपं रूपं तस्य पदस्य तत् ॥ १२ ॥

तृणगुल्माङ्कुरादीनां सत्ता सामान्यमाततम् ।
यदुद्भवोद्भवं रूपं रूपं तस्य पदस्य तत् ॥ १३ ॥

तस्मिन् पदे जगद्रूपं यदिदं दृश्यते स्फुटम् ।
सकारणमिवाकारं करालमिव भेदवत् ॥ १४ ॥

तत्सर्वं कारणाभावान्न जातं न च विद्यते ।
नाकारयुक्तं न जगन्न च द्वैतैक्यसंयुतम् ॥ १५ ॥

यदकारणकं तस्य सत्ता नेहोपपद्यते ।
स्वयं नित्यानुभूतेऽर्थे कोऽत्रापह्नवशक्तिमान् ॥ १६ ॥

---

विनाश हो जानेपर सब प्रकारकी चिन्ताओंसे निर्मुक्त हुए तथा आधी रातमें निद्रासे जगे, सुख-दुःखकी वृत्तियोंसे रहित तथा शान्तिपूर्वक समाधि लगाकर बैठे हुए पुरुषका जो स्पन्दनशून्य ( निश्चल ) मनोरूप है, वही रूप उस पदका स्वरूप है । इस रूपका समाधिविष्ट पुरुष ही अनुभव करते हैं ॥ ११, १२ ॥

श्रीरामजी, तृण, गुल्म, अङ्कुर, वृक्ष आदिकी उत्पत्ति होनेपर साथ-साथ प्रकट हुआ जो एकरूपसे सबमें रहनेवाला अनुगत सत्ता-सामान्य रूप है यानी तृणत्व, गुल्मत्व आदि है, वही त्व, तल् आदि प्रत्ययोंका अर्थ है ॥ १३ ॥

उसी सत्ता-सामान्यके स्वरूपमें तादात्म्यरूपसे मिला हुआ तथा दूसरेसे भिन्न-सा जो घट, पट आदि जगत्का स्पष्ट रूप दीखता है, वह आगन्तुक होनेसे सकारण-सा तथा कम्बुग्रीव आदि विचित्र आकृतियोंसे कराल-सा भासता है, परन्तु है वह सब अनृत यानी मिथ्या ही । इसीलिए वह सब कारणके अभावसे न तो उत्पन्न हुआ है और न अपना अस्तित्व ही रखता है, इससे यह सिद्ध हुआ कि वह पद न तो आकारयुक्त है, न जगत्-रूप है और न द्वैत एवं ऐक्यसे मिला हुआ ही है ॥ १४,१५ ॥

जो कारणसे शून्य है यानी जिसके कारणकी सत्ता ही नहीं है, उस वस्तुकी सत्ता यहां कैसे युक्तियुक्त मानी जा सकती है । जो स्वयं सदा अनुभूत ही वस्तु है, उसका अपलाप करनेकी शक्ति कौन रख सकता है ॥ १६ ॥

न च शून्यमनाद्यन्तं जगतः कारणं भवेत् ।
ब्रह्मामूर्तं समूर्तस्य दृश्यस्याब्रह्मरूपिणः ॥ १७ ॥
तस्मात् तत्र जगद्रूपं यदाभातं तदेव तत् ।
स्वयमेव तदाभाति चिदाकाशमिति स्थितम् ॥ १८ ॥
जगच्चिद्ब्रह्मभावाच्च तथा भावो भ्रमादिव ।
सर्वमेकमजं शान्तमद्वैतैक्यमनामयम् ॥ १९ ॥
पूर्णात्पूर्णं विसरति पूर्णे पूर्णं विराजते ।
पूर्णमेवोदितं पूर्णे पूर्णमेव व्यवस्थितम् ॥ २० ॥

---

तब यह मानिये कि असत् जगत्का शून्य ही कारण है ? इसपर कहते हैं—'न च' इत्यादिसे ।

हे राघव, शून्य तो अनादि और अनन्त है, वह जगत्का कारण नहीं हो सकेगा, क्योंकि जो आदि और अन्तसे रहित होता है, वह सब तरहकी अल्पतासे निर्मुक्त ही रहता है, इस स्थितिमें सभी सब जगह सभी समयमें रहने लग जायँगे । ब्रह्म तो अमूर्त है यानी आकारसे शून्य है, अतः ब्रह्मस्वभावसे भिन्न साकार जगत्का वह ब्रह्म भी कारण नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

इसलिए ब्रह्ममें जो जगत्-रूप भासित हो रहा है, वह ब्रह्मरूप ही है, दूसरा नहीं । ऐसी स्थितिमें त्व, तल् आदि प्रत्ययोंके अर्थके रूपमें भी जो स्वरूप भासता है, स्वयं वह चिदाकाशरूप ब्रह्म ही स्थित है ॥ १८ ॥

इस तरह यद्यपि असलमें जगत चिद्-ब्रह्मरूप ही है, तथापि जो घट, पट आदि आकार आपाततः ( ऊपर-ऊपरसे ) प्रतीत होते हैं, वे सब भ्रमसे ही सिद्ध होते हैं । ऐसी स्थितिमें हे श्रीरामचन्द्रजी सब कुछ एक, अज, शान्त, द्वैत-ऐक्यसे रहित- निरामय ब्रह्मरूप ही है, यह आप जानिए ॥ १९ ॥

भ्रान्तिसे जीव और जगत्के रूपमें ब्रह्म ही है और भ्रान्तिका विनाश हो जानेपर वास्तव ब्रह्मस्वरूप ही रहता है, इसमें पूर्वदर्शित 'पूर्णमदः' इत्यादि श्रुतिका अनुवाद करते हैं—'पूर्णात्' इत्यादिसे ।

पूर्णरूप ब्रह्मसे पूर्णरूप ही जगत् विस्तारको प्राप्त होता है, उसी पूर्णमें पूर्णात्म जगत् विराजित है, पूर्ण ही पूर्णमें प्रकाशित होता है, अतः पूर्णमें पूर्णात्मक वस्तु ही ठीक-ठीक रूपसे अन्तमें व्यवस्थित है ॥ २० ॥

शान्तं समं समुदयास्तमयैर्विहीन-
माकारमुक्तमजमम्बरमच्छमेकम् ॥
सर्वं सदा सदसदेकतयोदितात्म
निर्वाणमाद्यमिदमुत्तमबोधरूपम् ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणवर्णनं नाम त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

---

## चतुःपञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

जगन्नाम नभः स्वच्छं सद्ब्रह्म नभसि स्थितम् ।
नभो नभसि भातीदं जगच्छब्दार्थ इत्यजम् ॥ १ ॥

---

श्रीरामभद्र, भावप्रत्ययोंका अर्थ यानी त्व, तल् आदिका अर्थ वही है, जो निर्वाणशब्दसे कहलानेवाला विशुद्ध आत्मा है। वह शान्त, एकरूप, उदय-अस्तसे रहित, आकारोंसे शून्य, अज, आकाशवत् व्यापक, स्वच्छ और अद्वितीय है। यह सर्वात्मक है, इसका रूप सत्-असत्की एकता लेकर ही निरन्तर उदित है; सबका आदि है और उत्तम बोधरूप ( आत्मज्ञानरूप ) है ॥ २१ ॥

तिरपनवाँ सर्ग समाप्त

---

## चौवनवाँ सर्ग

[ सभी वस्तुएँ अपने स्वभावमें ही रहती हैं, स्वभावमें न तो कोई क्रिया है और न कोई भेद ही है, अतः स्वभावभूत सन्मात्रवस्तु अविकारी एवं अद्वितीय है, यह वर्णन ]

घट, पट आदिका स्वरूप या भेद घटत्व, पटत्व आदिका उल्लेख किये बिना हो नहीं सकता। घट और घटत्वका परस्पर जो भेद है, उसका भी निरूपण किसी विशेषणको लिये बिना नहीं हो सकता, इसलिए उनके पृथक्करणके लिए धर्म और धर्मीका जो कुछ विभाग आप मानेंगे, वह केवल कल्पनारूप ही होगा, क्योंकि निर्विकल्परूपसे एक-सी भासमान वस्तुओंमें असली विभाग तो होगा ही नहीं। ये जितनी वस्तुएँ हैं, वे सभी भावरूप ( सत्तामात्र ब्रह्मरूप ) ही हैं, यह तो अनेक युक्ति, श्रुति आदिका दिग्दर्शन कराकर सिद्ध कर दिया है। ऐसी स्थितिमें 'घटे घटत्वम्' ( घटमें घटत्व है ) इत्यादि शब्दोंका निचोड़ अर्थ

त्वमहं जगदित्यादि शब्दार्थों ब्रह्म ब्रह्मणि ।
शान्तं समसमाभासं स्थितमस्थितमेव सत् ॥ २ ॥
समुद्रगिरिमेघोर्वीविस्फोटमयमप्यजम् ।
काष्ठमौनवदेवेदं जगद्ब्रह्मावतिष्ठते ॥ ३ ॥
द्रष्टा द्रष्टैव दृश्यस्य स्वभावात्स्वात्मनि स्थितः ।
कर्ता कर्तैव कर्तव्याभावतः कारणादृते ॥ ४ ॥

यही होगा कि 'ब्रह्ममें ब्रह्म है'—यों जो पहले भाव प्रत्ययोंके अर्थका निष्कर्ष सिद्ध किया गया है, उनके फलका उपपादन करनेके लिए आरम्भ करते हैं—'जगन्नाम' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, घटत्व, पटत्व आदि भावोंसे जगत्का स्वरूप यदि निचोड़कर सिद्ध किया जाय, तो वह आकाशके सदृश स्वच्छ एवं भेदरूप कलङ्कसे निर्मुक्त ही सिद्ध होता है । घटत्व आदि भाव तो ब्रह्मरूप ही स्थित हैं, यह पहले ही बतला चुके हैं, इस दृष्टिको लेकर देखा जाय, तो घट, पट आदि भावोंमें किसीमें किसीके प्रति कार्यकारणभाव नहीं है, क्योंकि उस दृष्टिमें यही ज्ञान रहता है कि आकाश ही आकाशमें भासता है, वही (नभोरूप ब्रह्म ही) जगत्-शब्द और घटादि शब्दोंका अर्थ है, वह तो जन्म आदि विकारोंसे शून्य ही है ॥ १ ॥

इसी अर्थका फिर स्पष्टीकरण करते हैं—'त्वमहम्' इत्यादिसे ।

त्वम् ( तूं ), अहम् ( मैं )' जगत्—इत्यादि जो शब्द हैं, उनका अर्थ ब्रह्म ही है, शान्त ब्रह्म सबमें एकरूपसे ही भासनेवाला है, इसलिए अलग स्थित न होकर ही वह शब्दार्थरूप ब्रह्म अपने ही स्वरूपमें स्थित है ॥ २ ॥

समुद्र, पर्वत, मेघ, पृथ्वी, विस्फोट आदि पदार्थोंसे भरा जगत् भी ब्रह्म है यानी समुद्र आदि अनेक विभागोंसे युक्त तथा विचित्र कारक, क्रिया, फल आदिसे भासमान तत्-तत् धर्म और धर्मियोंका तात्त्विक स्वरूप भी निष्कर्षमें ब्रह्मरूप ही है, अतः यह समस्त जगत् काष्ठमौनके सदृश निष्क्रिय ब्रह्मरूप ही ठहरता है ॥ ३ ॥

अब वह द्रष्टा आदि विभागोंसे भरपूर है, इसका विचित्र कारकोंमें तत्-तत् भावोंका निष्कर्ष निकालकर निरूपण करते हैं—'द्रष्टा' इत्यादिसे ।

दृश्यवस्तुके स्वभावसे पृथक् किया गया द्रष्टा चिन्मात्रस्वभावमें स्थित होकर द्रष्टा होता है, इसी प्रकारका कर्ता भी है । इसका कोई वास्तवमें तो कर्तव्य ही नहीं है,

न ज्ञत्वं न च कर्तृत्वं न जडत्वं न भोक्तृता ।
न शून्यता न चार्थत्वमिह नापि नभोर्थता ॥ ५ ॥
शिलाजठरवत्सत्यं घनमेकमजं ततम् ।
सर्वं शान्तमनाद्यन्तमेकं विधिनिषेधयोः ॥ ६ ॥
मरणं जीवितं सत्यमसत्यं च शुभाशुभम् ।
सर्वमेकमजं व्योम वीचिजालं जलं यथा ॥ ७ ॥
विभाग एव दृश्यत्वं द्रष्टृत्वं चैव गच्छति ।
एतच्च कल्पनं स्वप्नपुरादिष्वनुभूयते ॥ ८ ॥
एवमच्छं पराकाशे स्वप्नपत्तनवज्जगत् ।
भाति प्रथममेवेदं ब्रह्मैवेत्थमतः स्थितम् ॥ ९ ॥

---

क्योंकि जब कारण हो, तो कर्तव्य निर्धारण किया जाय, पर कारण ही कोई नहीं है ॥ ४ ॥

इसी दृष्टिसे सम्पूर्ण जगत्‌की विचित्रता हटाई जा सकती है, यह कहते हैं—'न' इत्यादिसे ।

न तो ज्ञातापन, न कर्तापन, न जडपन, न भोक्तापन, न शून्यपन, न अर्थपन और न आकाशपन ही इस ब्रह्ममें रहता है ॥ ५ ॥

यदि कोई है, तो वह शिलाके उदरके सदृश अत्यन्त घन, बाधवर्जित, अद्वितीय, जन्मरहित, सर्वात्मक, शान्त, आदि अन्तसे मुक्त तथा विधि एवं निषेधमें एकरूप ब्रह्म ही है, यही सर्वत्र विस्तृत है ॥ ६ ॥

जीवन, मरण, सत्य, असत्य, शुभ, अशुभ जो कुछ है वह सब एक, अज निर्मल चिदाकाशरूप ऐसे है, जैसे तरङ्गोंका समूह जलरूप ॥ ७ ॥

ब्रह्मका जीवरूपसे विभाग कल्पित होनेपर वह एक ही वस्तु चिदंशकी प्रधानतासे द्रष्टापन और सदंशकी प्रधानतासे चिदंशको तिरोहित ( छिपा ) कर दृश्यपन धारण करती है । इस प्रकारकी कल्पना स्वप्ननगर आदिमें अनुभूत होती है, वहांपर व्यावहारिक जीवसे प्रातिभासिक जीवका विभाग करनेपर निद्रासे तिरोहित हुआ व्यावहारिक जीव स्वप्नका जीव, दृश्य, नगर आदिरूप बन जाता है ॥ ८ ॥

इस तरह जगत् स्वच्छ ब्रह्मरूप ही सिद्ध हुआ, वही स्वप्ननगरके सदृश

तदिदं तादृशं विद्धि सर्वं सर्वात्मकं च यत् ।
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ विदो मध्यमनङ्कितम् ॥ १० ॥
चिद्व्योम्नः शान्तशान्तस्य मध्यमे चैवमास्थितम् ।
जगत्तथैव सलिलमेवोर्म्यादितया यथा ॥ ११ ॥
यदुदेत्युदितं यच्च यच्च नोदेति नोदितम् ।
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ विदो मध्यान्न भेदितम् ॥ १२ ॥
अतः किलास्य सर्गस्य कारणं शशश्रृङ्गवत् ।
प्रयत्नेनापि चान्विष्टं न किञ्चिदुपलभ्यते ॥ १३ ॥
यदकारणकं भाति तदभातं भ्रमात्मकम् ।
भ्रमस्यासत्यरूपस्य सत्यता कथमुच्यते ॥ १४ ॥

---

परम चिदात्मरूप निर्मल आकाशमें भासता है, अतः प्रथम निष्प्रपञ्च जो ब्रह्म है, वही जीवात्मक विभागसे इस जगद्रूपसे स्थित है, हे श्रीरामजी, यह आप अवश्य जान लें ॥ ९ ॥

हे श्रीरामजी, इन सब बातोंसे यह आप अच्छी तरह जान लीजिए कि यह सर्वात्म जगत्स्वरूप पहले जैसा निष्प्रपञ्च ब्रह्मरूप था, वैसा ही सदा रहेगा । इस तरह निष्प्रपञ्चस्वरूप शाखा और चन्द्र—दोनोंके दर्शनकालमें इनके मध्यमें दर्शनसे अभिव्यक्त चेतन प्रसिद्ध ही है ॥ १० ॥

शान्तोंमें परम शान्त चेतनाकाशका मध्यमें उक्त रीतिसे प्रसिद्ध जो निर्विषय रूप है, वही जगत्‌के रूपसे ऐसे भासता है; जैसे तरङ्गादिके रूपसे जल भासता है ॥ ११ ॥

सारा जगत् निर्विषय चैतन्यसे अभिन्न है; यह कहते हैं—'यदु०' इत्यादिसे।

जो कार्यरूपसे उदित होता है और कार्यरूपसे उदित नहीं भी होता है; जो कारणरूपसे उदित है और कारणरूपसे उदित नहीं भी है, वह जगत् प्रमातृ-चैतन्यके एक देशसे दूसरे देशतक जानेपर जो उसका विषयशून्य मध्यमभाग है, उससे भिन्न नहीं है ॥ १२ ॥

इसलिए इस सृष्टिका शशश्रृङ्गके सदृश कोई कारण है ही नहीं, प्रयत्नसे अन्वेषण करनेपर भी इसका कोई कारण नहीं मिलता ॥ १३ ॥

जो किसी कारणके बिना भासित होता है, वह भासित न हुआ ही

कारणेन विना कार्यं किल किं नाम विद्यते ।
यदपुत्रस्य सत्पुत्रदर्शनं स भ्रमो न सत् ॥ १५ ॥
यस्त्वकारणको भाति स स्वभावो विजृम्भते ।
सर्वरूपेण सङ्कल्पगन्धर्वनगरादिवत् ॥ १६ ॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ क्षणान्मध्यं विदो वपुः ।
स्वरूपमजहत्त्वेव राजतेऽर्थविवर्तवत् ॥ १७ ॥
बोध एव कचत्यर्थरूपेण स च खादणुः ।
दृष्टान्तोऽत्रानुभूतोऽन्तः स्वप्नसङ्कल्पपर्वतः ॥ १८ ॥

---

भासित होता है, वह भ्रमात्मक है, यह समझना चाहिए। भ्रम तो असत्यरूप है, अतः उसकी सत्यता कैसे कही जा सकती है ॥ १४ ॥

कारणके बिना कार्य ही कैसे और उसकी सत्ता ही क्या, यदि दिखाई पड़ा तो वह भ्रम ही है। पुत्ररहितको— वन्ध्यापतिको स्वप्नमें अपने अच्छे पुत्रका जो दर्शन है; वह भ्रम ही है; सत्य नहीं है ॥ १५ ॥

जो अकारण भासता है, वह द्रष्टारूप चैतन्य ही अपने स्वरूपका त्यागकर सबरूपसे उस प्रकार भासता है, जिस प्रकार सङ्कल्पसे गन्धर्वनगर आदि भासते हैं ॥ १६ ॥

द्रष्टारूप चेतन कहाँ अपने स्वरूपको छोड़कर प्रकाशता है, इसपर कहते हैं— 'देशात्' इत्यादिसे।

क्षणभरमें शाखाप्रदेशसे चन्द्रमाके प्रदेशतक गये हुए प्रमातारूप चेतनके मध्यका जो स्वरूप है, वही अपने निष्प्रपञ्च स्वरूपको न छोड़कर ही प्रकाशता है, क्योंकि वहाँ बीचमें परमार्थरूप और आद्यन्त भागमें विवर्तरूप—दोनों प्रकाशते हैं ॥ १७ ॥

अर्थसत्ता न रहनेपर भी बोध अर्थाकारसे प्रकाशित होता है, इस विषयमें भी दृष्टान्त देते हैं—'बोध एव' इत्यादिसे।

बोध ही अर्थके रूपमें स्फुरित होता है, वह आकाशसे भी अतिसूक्ष्म है, इस विषयमें स्वप्न और सङ्कल्पका पर्वत दृष्टान्त है, जिसका सभीने भीतर अनुभव किया है ॥ १८ ॥

श्रीराम उवाच

विद्यते वटबीजान्तर्यथा भावि महाद्रुमः ।
परमाणौ तथा सर्गो ब्रह्मन् कस्मान्न विद्यते ॥ १९ ॥

वसिष्ठ उवाच

यत्रास्ति बीजं तत्र स्याच्छाखा विततरूपिणी ।
जन्यते कारणैः सा च वितता सहकारिभिः ॥ २० ॥
समस्तभूतप्रलये बीजमाकारि किं भवेत् ।
सहकार्यथ किं तस्य जायते यद्वशाज्जगत् ॥ २१ ॥
यत्तु ब्रह्मपरं शान्तं का तत्राऽऽकारकल्पना ।
परमाणुत्वयोगोऽपि नात्र केवाऽत्र बीजता ॥ २२ ॥

---

बोध ही अर्थोंके रूपमें विकसित होता है, ऐसी कल्पना क्यों करते हैं, वटबीजके भीतर सूक्ष्मरूपसे स्थित वृक्षके सदृश बोधके अन्दर स्थित जड़ात्मक प्रपञ्च पहलेसे ही बोधमें रहता है, ऐसी कल्पना क्यों नहीं करते, यों श्रीरामभद्र शङ्का करते हैं—'विद्यते' इत्यादिसे ।

श्रीरामभद्रने कहा—ब्रह्मन्, जैसे बटबीजके भीतर भावी महावृक्ष विद्यमान रहता है, वैसे ही बोधात्मक परमाणुमें भी यह सारी सृष्टि क्यों नहीं रह सकेगी ॥१९॥

साकार बीजमें पहले भीतर निराकार वट था, इसलिए वह पृथ्वी, जल आदि सहकारी कारणोंकी पासमें स्थिति हो जानेपर अङ्कुर आदि क्रमसे उत्पन्न हुआ, यह बात तो मानी जा सकती है, परन्तु जगत्‌का जब महाप्रलय हो जाता है, तब न तो कोई साकार वस्तु रहती है और न सहकारी कारण ही प्रतीत होते हैं, इसलिए आपका दृष्टान्त नहीं घटता, यों महाराज बसिष्ठजी समाधान करते हैं—'यत्रास्ति' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, जहाँ बीज है, वहाँपर तो बड़ी-बड़ी उससे शाखाएँ हो सकती हैं, क्योंकि वे विस्तृत शाखाएँ सहकारी कारणोंसे उत्पन्न होती है ॥ २० ॥

परन्तु सम्पूर्ण भूतोंका जब प्रलय हो जाता है, तब कौन-सा साकार बीज होगा और उसका सहकारी कारण कौन होगा, जिसके प्रभावसे जगत् उत्पन्न हो ॥२१॥

जगत्-शक्तिसे युक्त ब्रह्म ही बीज होगा, इसपर कहते हैं—'यत्तु' इत्यादिसे ।

कारणस्येति बीजस्य सत्यासत्यैककारिणः ।
असम्भवाज्जगत्सत्ता कथं केन कुतः क्व का ॥ २३ ॥
जगदास्ते परस्याणोरन्तरित्यपि नोचितम् ।
सार्षपे कणके मेरुरास्त इत्यज्ञकल्पना ॥ २४ ॥
सति बीजे प्रवर्तन्ते कार्यकारणदृष्टयः ।
निराकारस्य किं बीजं क्व जन्यजनकक्रमः ॥ २५ ॥
अतो यत्परमं तत्त्वं तदेवेदं जगत्स्थितम् ।
नेह प्रथयते किञ्चिन्न च किञ्चिद्विनश्यति ॥ २६ ॥

जो ब्रह्मवस्तु है, वह तो असलमें परमशान्त है, उसमें आकारकी कल्पना ही कैसी ? उसमें परमाणुत्वका भी जब योग ( सम्बन्ध ) नहीं हो सकता, तब आकारकी कल्पना तो दूर ही चली गई, इसलिए ऐसी वस्तुमें बीजरूपता आ ही नहीं सकती ॥ २२ ॥

इसीलिए कारणका असंभव है, यह पहले कहा गया है, यों कहते हैं—'कारणस्येति' इत्यादिसे ।

इस रीतिसे सत्य और मिथ्याको एकरूप बनानेवाले बीजरूप कारणका सर्वथा असंभव है, इससे जगत्‌की सत्ता किस प्रकारकी, किससे, कहाँ और क्या होगी, क्योंकि उसको करनेवाला तो कोई है नहीं ॥ २३ ॥

'अणुः पन्थाः विततः' इत्यादि श्रुतिप्रमाणसे ईश्वरमें अणुत्वकी कल्पना यद्यपि हो सकती है, तथापि उसमें जगत्‌की स्थिति मानना अनुचित है, यह कहते हैं—'जगदास्ते' इत्यादिसे ।

परमाणुरूप आत्माके अन्दर सूक्ष्मरूपसे जगत् है, यह कहना अनुचित ही है, क्योंकि सरसोंके कणके अन्दर सुमेरु पर्वत है, यह अज्ञानियोंकी ही कल्पना है ॥ २४ ॥

यदि यह कहिए कि जगत् भी निराकार है, तब तो बीज आदिका अभाव होनेसे अनायास ब्रह्मरूपता ही फलित हो जाती है, यह कहते हैं—'सति' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

बीजकी सत्ता होनेपर ही कार्य, कारण आदिके ज्ञान हो सकते हैं, परन्तु निराकार वस्तुका कौन-सा बीज और कहाँ उसमें जन्य-जनकका क्रम ॥ २५ ॥

इसलिए जो परम ब्रह्मतत्त्व है, वही यह जगद्रूप बनकर स्थित है, यह आविर्भूत

चिदाकाशश्चिदाकाशे हृदि चित्त्वाज्जगद्भ्रमम् ।
अशुद्धवदिवाशुद्धे शुद्धं शुद्धे प्रपश्यति ॥ २७ ॥

खमेवाभासते तस्य रूपं स्पन्द इवानिले ।
सर्गशब्दार्थकलना नेह काश्चन सन्ति नः ॥ २८ ॥

यथा शून्यत्वमाकाशे द्रवत्वं च यथा जले ।
अन्यतात्ममयी शुद्धा सर्गतेयं तथाऽऽत्मनि ॥ २९ ॥

भारूपमिदमाशान्तं जगद्ब्रह्मैव नस्ततम् ।
अनादिनिधनं सत्यं नोदेति न च शाम्यति ॥ ३० ॥

देशाद्देशान्तरप्राप्तौ क्षणान्मध्ये विदो वपुः ।
यत्तज्जगदितीवेदं व्योमात्मनि व्यवस्थितम् ॥ ३१ ॥

---

होकर न तो कुछ स्वरूप बतलाता है और न कुछ नष्ट ही होता है ॥ २६ ॥

तब वह क्या चीज है, उसे कहते हैं—'चिदाकाश०' इत्यादिसे ।

चिदाकाश ही ( आकाशवत् निर्मल चिति ही ) चिदाकाशरूप हृदयमें चितिरूप होनेके कारण जगद्भ्रमको अशुद्धमें अशुद्ध-सा और शुद्धमें शुद्ध-सा देखता है ॥ २७ ॥

वायुमें स्पन्दकी नाईं चिदाकाशमें उसका स्वरूप चिदाकाशरूप ही भासित होता है, अतः हम लोगोंकी कोई भी सृष्टिशब्दार्थकी कल्पनाएँ यहाँ अपना अस्तित्व नहीं रखतीं ॥ २८ ॥

जैसे आकाशमें आकाशरूप शून्यता अथवा जैसे जलमें जलरूप द्रवत्व है, वैसे ही आत्मामें आत्ममय स्वविवर्तरूप यह विशुद्ध सर्गता (सृष्टिरूप) है ॥२९॥

तब अविवर्त कैसा है, इसे कहते हैं—'भारूपम्' इत्यादिसे ।

भद्र, हम लोगोंका विस्तृत यह जो जगत् है, वह प्रकाशमय, अपरिमित शान्त ब्रह्म ही है, वह आदि और अन्तसे शून्य और त्रिकालमें भी बाधित नहीं है, न तो उसका उदय होता और न अस्त ही होता है ॥ ३० ॥

ऐसे प्रपञ्चरहित वस्तुकी अप्रसिद्धिशङ्का तो बहुत स्थानोंमें निवृत्त की है, इसका स्मरण कराते हैं—'देशा०' इत्यादिसे ।

क्षणभरमें शाखादेशसे चन्द्रप्रदेशतक प्रमातृचैतन्यके जानेपर उसका बीच-

यथा स्पन्दोऽनिले तोये द्रवत्वं व्योम्नि शून्यता ।
तथा जगदिदं भातमनन्याश्लेषमात्मनि ॥ ३२ ॥
संविन्नभो ननु जगन्नभ इत्यनर्क-
मात्मन्यवस्थितमनस्तमयोदयं क्व ।
तत्त्वङ्गभूतमखिलं तदनन्यदेव
दृश्यं निरस्तकलनोऽम्बरमात्रमास्व ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अद्वैतैक्यप्रतिपादनं नाम चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥५४॥

---

वाला जो सर्वोपद्रवशून्य निर्विषय स्वरूप है, वही यह जगत्सा बन गया है। इससे चिदाकाशमें वह व्यवस्थित है ॥ ३१ ॥

जैसे वायुमें स्पन्दन, जैसे जलमें द्रवत्व है और आकाशमें शून्यत्व प्रतीत होता है, वैसे ही यह जगत आत्मामें प्रतीत होता है, इसका किसी अन्य पदार्थ-से सम्बन्ध नहीं है, यह असङ्ग अद्वय आत्मरूप ही है ॥ ३२ ॥

जगत चिन्मात्रस्वभाव है, यह जो सब तरहसे कहा गया है, उसे एकट्ठा करके उपदेश देते हुए उपसंहार करते हैं—'संविन्नभो०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, अपने परमार्थस्वभावमें स्थित हुआ जगत् सत्-स्वरूप है। चिदाकाश शून्यभावापन्न प्रसिद्ध आकाशस्वरूप ही है, यह तो किसी तरह नहीं हो सकता, क्योंकि सूर्य-रहित यानी सूर्यके उदय और अस्तसे निर्मुक्त तथा अपने स्वरूपमें अवस्थित आकाश कहाँ प्रसिद्ध है, सच्चित्स्वभाववाला या सूर्यं आदिसे रहित आकाश प्रसिद्ध नहीं है, बल्कि जड़ ही आकाश प्रसिद्ध है। अपिच सच्चित्स्वभावभूत जो तत्त्व है, उससे सम्बद्ध ही सम्पूर्ण दृश्योंका भान होता है, अतः सम्पूर्ण जगत् उस तत्त्वका ही अङ्गभूत है, शून्यात्मक आकाशका अङ्ग नहीं है, इसलिए सच्चिदात्मासे अनन्य है। इन सब बातोंसे आप समस्त कल्पनाओंका परित्यागकर एकमात्र आकाशस्वरूप होकर ही स्थित रहिए ॥३३॥

चौवनवाँ सर्ग समाप्त

## पञ्चपञ्चाशः सर्गः

### वसिष्ठ उवाच

भावाभावग्रहोत्सर्गस्थूलसूक्ष्मचराचराः ।
आदावेव हि नोत्पन्नाः सर्गादौ कारणं विना ॥ १ ॥
न त्वमूर्तो हि चिद्धातुः कारणं भवितुं क्वचित् ।
स्वात्मा शक्तः स मूर्तानां बीजवद्वीरुहामिव ॥ २ ॥
स्वभावमेव सततं भावयन् भावनात्मकम् ।
आत्मन्येव हि चिद्धातुः सर्वोऽनुभववान् स्थितः ॥ ३ ॥

---

## पचपनवाँ सर्ग

[ अन्यकी भावनासे अपनेको अन्यरूप देखती हुई जगत्के रूपमें स्थित चिति स्वभावनासे तो अनन्यरूप ही है, अतः जगत् वास्तवमें परमार्थमय है, यह वर्णन ]

पूर्वोक्त युक्तियोंसे जगत् ब्रह्मसे जब अत्यन्त अभिन्न है, तब फलित यह हुआ कि उसकी कभी उत्पत्ति हुई ही नहीं, यह कहते हैं—'भावा०' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे राघव, उत्पत्ति, विनाश, ग्रहण, त्याग, स्थूल, सूक्ष्म, चर, अचर आदिसे युक्त यह जगत् सृष्टिके आदिमें पहले ही उत्पन्न नहीं हुए हैं, क्योंकि इनको पैदा करनेवाला कोई कारण उस समय रहता ही नहीं ॥ १ ॥

उत्पत्तिवादमें तो अवश्य ही बीज बतलाना चाहिए, परन्तु वह बतलाया जा ही नहीं सकता, यों जो बार-बार कहा गया है, उसीका स्मरण कराते हैं—'न त्व०' इत्यादिसे।

आकारके बिना चितितत्त्व कहींपर भी कारणरूप नहीं हो सकता, जैसे साकार वृक्षोंको साकार बीज उत्पन्न करता है, वैसे ही साकार स्वात्मा ही मूर्त पदार्थोंको उत्पन्न कर सकता है, परन्तु वह साकार तो है नहीं ॥ २ ॥

इसीलिए ज्ञानी पुरुष 'सब जगत् चित्स्वभाव ही है' ऐसी भावना करता हुआ स्थित रहता है, यह कहते हैं—'स्वभावमेव' इत्यादिसे।

जितने तत्त्वज्ञानी हैं, चितितत्त्वरूप वे सब अपनी आत्मामें ही सब कल्पनात्मक जगतमें आत्मरूपताकी निरन्तर भावना करते हुए स्थित रहते हैं ॥ ३ ॥

आस्वादयति यं भावं चिद्धातुर्गगनात्मकः ।
लब्धः सर्गः प्रलापेन क्षीबः क्षुब्धतया यथा ॥ ४ ॥
यदा सर्वमनुत्पन्नं नास्त्येवापि च दृश्यते ।
तदा ब्रह्मैव विद्धीदं समं शान्तमसत्समम् ॥ ५ ॥
चिन्नभश्चिन्नभस्येव पयसीव पयोद्रवः ।
चित्त्वात्कचति यत्तेन तदेवेदं जगत् कृतम् ॥ ६ ॥
स्वप्ने तदेव जगदित्युदेति विमला यथा ।
काचकस्येव कचति तथेत्थं सादि सर्गखे ॥ ७ ॥

---

अतएव अज्ञानी पुरुषने भी स्वभावकल्पनारूप ही संसारको प्राप्त किया है, यह कहते हैं—'आस्वादयति' इत्यादिसे ।

चिदाकाशरूप आत्मा जिस भावका स्वाद लेता है, वही उस प्रकार सृष्टि प्राप्त कर लेता है, जिस प्रकार मद्यकी क्षुब्धतासे प्रलाप द्वारा अपनी आत्मासे ही मद्य पीनेवाला पुरुष अपना स्वरूप प्राप्त कर लेता है ॥ ४ ॥

अतएव अनुत्पन्न अन्य वस्तुके स्वभावका साक्षात्कार हो जानेपर उसीके रूपमें स्थिति होती है, यह कहते हैं—'यदा' इत्यादिसे ।

जब यह सब अनुत्पन्न ही है, है ही नहीं, और दिखाई भी देता है, तब इसे आप शान्त, एकरूप ब्रह्म ही समझिए, जो अज्ञानदशामें असत्-सा है ॥ ५ ॥

तब उसीने यह जगत् उत्पन्न किया है, यह श्रुतियोंका कथन कैसे युक्तिपूर्ण हो सकेगा, इसपर कहते हैं—'चित्र०' इत्यादिसे ।

जैसे जलमें जलरूप द्रवत्व है, वैसे ही चिदाकाशमें चिदाकाशरूप जगत् है । चूँकि उस चिदात्माके कारण यह अध्यस्त समस्त प्रपञ्च प्रकाशित होता है, इसीलिए जगत् ब्रह्मरूप ही है और इसका निर्माण भी जगदाकार उस ब्रह्मने ही किया है, यह श्रुतियोंमें प्रवाद है ॥ ६ ॥

इस प्रवादको 'अथ रथान् रथयोगान्' इत्यादि श्रुतिमें स्वप्नद्रष्टामें रथादिसृष्टिकर्तृताके प्रवादके सदृश ही समझना चाहिए, यह कहते हैं—'स्वप्ने' इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नमें विमल चेतन ही जगत्‌के रूपमें उदित होता है, अथवा जैसे काचदोषसे दूषित नेत्रवाले पुरुषके प्रति आकाशमें केशोण्डूक आदि प्रतीत

चित्काचकस्य कचनं यथा स्वप्ने जगद्भवेत् ।
तथैव जाग्रदविधं तत्खमात्रमिदं स्थितम् ॥ ८ ॥
आदिसर्गे हि चित्स्वप्नो जाग्रदित्यभिशब्द्यते ।
आद्यरात्रौ चितेः स्वप्नः स्वप्न इत्यपि शब्द्यते ॥ ९ ॥
पूर्वप्रवृत्ता सरितां रूढाद्यापि यथास्थिता ।
तरङ्गलेखा दृष्टीनां पदार्थरचना तथा ॥ १० ॥
यथा वारितरङ्गश्रीः सरितां रचनामिता ।
तथा चिद्व्योम्नि चिद्बीजसत्तान्तः सृष्टितामिता ॥ ११ ॥

---

होते हैं, वैसे ही सृष्टिरूपसे भावित चिदाकाशमें इस तरहका विचित्र सादिरूप जगत् प्रकाशित होता है ॥ ७ ॥

जैसे स्वप्नमें जगत् चितिरूप काचका प्रकाश ही है, वैसे ही जाग्रदवस्थामें भी विचित्र जगत् भी चितिरूप काचका प्रकाश 'स्फुरण' ही है, इसलिए यह जगत् चिदाकाशमात्ररूप स्थित है ॥ ८ ॥

ऐसा माननेपर जाग्रत् और स्वप्नमें क्या भेद रहा—इसपर कहते हैं—'आदि०' इत्यादिसे ।

पहले-पहल प्रवृत्त हुए हिरण्यगर्भकी सृष्टिमें जो चितिका स्वप्न है वह जाग्रत्-शब्दसे कहा जाता है और प्रवल रात्रिमें प्रवृत्त स्वव्यष्टि-अन्तःकरणमात्रके परिणामरूप सृष्टिमें जो चितिका स्वप्न है वह स्वप्नशब्दसे कहा जाता है ॥ ९ ॥

प्रथम सङ्कल्प ही महाप्रलयतक समस्त पदार्थोंके स्वभावकी व्यवस्थापक नियति है । उसीके अनुसार आज भी सुव्यवस्थित पदार्थोंकी रचना एक तरहसे पहलेकी नाईं बह रही नदियोंकी तरङ्गरेखा है वही प्रत्यक्ष सिद्ध होती है ॥१०॥

ऐसी स्थितिमें जैसे तरङ्गोंकी सत्ता जलसत्तासे भिन्न दूसरी नहीं है, वैसे ही जगत्की सत्ता भी चितिकी सत्तासे भिन्न दूसरी नहीं है, इस आशयसे ब्रह्मोपादानत्वका प्रवाद है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे जलतरङ्गोंकी शोभा ही नदियोंकी रचनाको प्राप्त हुई है यानी नदियोंकी सत्ता जलतरङ्गशोभाकी सत्तासे पृथक् नहीं है, वैसे ही चिदाकाशके भीतर विद्यमान चितिरूप बीजसत्ता ही सृष्टिरूपताको प्राप्त हो गई है यानी सृष्टिकी सत्ता चितिसत्तासे अतिरिक्त नहीं है, यह तात्पर्य है ॥ ११ ॥

मृतस्यात्यन्तनाशश्चेत्तन्निद्रासु खमेव तत् ।
भूयश्चोदेति संसारस्तत्सुखं नवमेव तत् ॥ १२ ॥
कुकर्मभ्यस्तु चेद्भीतिः सा समेह परत्र च ।
तस्मादेते समसुखे सर्वेषां मृतिजन्मनी ॥ १३ ॥
मरणं जीवितं वाऽस्तु सहजे वासने तयोः ।
इति विश्रान्तचित्तो यः सोऽन्तःशीतल उच्यते ॥ १४ ॥
सर्वसंवित्तिविगमे संविद्रोहति यादृशी ।
भूयते तन्मयेनैव तेनासौ मुक्त उच्यते ॥ १५ ॥

---

इस तरह जगत्‌की अलग सत्ता न होनेके कारण जन्म-मरणकी भीति आ ही नहीं सकती, किन्तु दोनों प्रसङ्गोंमें सुख ही सुख है, ऐसा कहते हैं—'मृतस्या०' इत्यादिसे ।

यदि मृत व्यक्तिकी आत्यन्तिक असत्ता मान ली जाय, तो भी ब्रह्मानन्दकी सत्ताके ही व्यक्ति और व्यक्तिनाशकी सत्ताके रूपसे अवशिष्ट होनेसे सुषुप्ति अवस्थामें प्रसिद्ध निरतिशयानन्दरूप सुख ही उसे प्राप्त हुआ और मर जानेके बाद फिर जो देहादिरूप संसार प्राप्त होता है, वह उसका नवीन संसाररूप सुख भी ब्रह्म-सुखरूप ही है, इसलिए सुखसत्तासे अतिरिक्त किसी सत्ताके न रहनेसे भयकी प्राप्ति ही नहीं हो सकती ॥ १२ ॥

मर जानेवाले व्यक्तिको कुकर्मजनित नरकप्राप्तिकी संभावनासे भय क्यों नहीं होगा ? इस आशङ्काको उठाकर कहते हैं—'कुकर्मभ्यः' इत्यादिसे ।

कुकर्मोंके कारण नरक आदिका जो भय है, वह तो यहाँ जीनेवालेको और परलोकमें मरनेवालेको समान ही है, नरक आदि दुःख और जीवनकी ब्रह्मसुख सत्तासे अतिरिक्त भिन्न सत्ता न होनेके कारण दुःखकी स्थिति भी सुखसत्तासे है, इसलिए उनमें विशेष ( भेद ) नहीं है । अतः सभीके मरण और जन्म समान-सुखवाले हैं ॥ १३ ॥

भले ही मरण हो या भले ही जीवन हो—इन दोनोंकी जो वासनाएँ हैं यानी उनकी सूक्ष्मरूपसे विद्यमान जो सत्ता है, वह ब्रह्मसुखरूप ही है, अतः वे भी ब्रह्मसुखरूप ही हैं । इसलिए ब्रह्मसुखमें विश्रान्ति पानेवाला जो धीर वीर है, वह अन्दरसे शीतलात्मा है, यह कहा जाता है ॥ १४ ॥

जितने प्रकारके भिन्न-भिन्न ज्ञान होते हैं, उनका अस्त हो जानेपर पुरुषको

अत्यन्ताभावसंवित्त्या सर्वदृश्यस्य वेदनम् ।
उदेत्यपास्तसंवेद्यं सति वाऽसति सर्गके ॥ १६ ॥
यन्न चेत्यं न चिद्रूपं यच्चितेरप्यचेतितम् ।
तद्भावैक्यं गतास्तज्ज्ञाः शान्ता व्यवहृतौ स्थिताः ॥ १७ ॥
चित्काचकाचकच्यं यज्जगन्नाम्ना तदुच्यते ।
अत्यच्छे परमाकाशे बन्धमोक्षदृशः कुतः ॥ १८ ॥
चिन्नभःस्पन्दमात्रात्म सङ्कल्पात्मतया जगत् ।
सद्भूतमयमेवेदं न पृथ्व्यादिमयं क्वचित् ॥ १९ ॥
नेह देशो न कालोऽस्ति न द्रव्यं न क्रिया न खम् ।
सदिवाखिलमुच्छूनं वाऽप्यनुच्छूनमप्यसत् ॥ २० ॥

---

जो एकरूप ज्ञान उत्पन्न होता है, तद्रूप ही वह बन जाता है, इससे दृश्य पदार्थों की पृथक् सत्ताका विनाश हो जाता है और पुरुष मुक्त कहा जाता है ॥ १५ ॥

इस तरह पुरुषको जब यह ज्ञान हो जाता है कि विषयोंकी सत्ता त्रिकालमें है ही नहीं, तब उसकी दृष्टिमें ब्रह्मरूपसे सृष्टिकी पारमार्थिक सत्ता और स्वतः असत्ता बन जाती है । उस समय सब दृश्यका ज्ञान निर्विषयक ही उदित होता है, इसलिए ऐसे पुरुषमें मुक्तरूपता भलीभाँति आ जाती है ॥ १६ ॥

जो स्वयं चेत्यरूप ( विषयरूप ) नहीं है, जो चितिक्रियारूप नहीं है, जो चितिक्रियासे प्रकाशित भी नहीं होता, ऐसे ब्रह्मरूपताके साथ एकरूप बन गये तत्त्वज्ञानी पुरुष परमशान्तिसे युक्त होकर व्यवहारमें विद्यमान रहते हैं ॥ १७ ॥

अतिस्वच्छ चिदाकाशमें जो चितिका निरन्तर प्रकाशन होता है, वही तो जगत-शब्दसे कहा जाता है, इसलिए उसमें बन्धन और मुक्तिकी दृष्टियाँ ही कैसे ॥ १८ ॥

भद्र, सङ्कल्पके स्वरूपसे बना हुआ यह जगत् केवल चिदाकाशका स्पन्दन-स्वरूप ही है, अतः वह त्रिकालाबाधित ब्रह्ममय है, न कि कहीं पृथ्वी आदिमय है ॥ १९ ॥

यहाँ न देश है, न काल है, न द्रव्य है, न क्रिया है, न आकाश है; किन्तु प्रतिभासरूपसे ही यह सब उत्पन्न है, इसलिए सत्-सा प्रतीत होता है । प्रतिभास-रूपसे उत्पन्न भी वास्तवमें यह अनुत्पन्न है, अतः असत्य ही है ॥ २० ॥

भाति केवलमेवेत्थं परमार्थघनं घनम् ।
यन्न शून्यं न वाऽशून्यमत्यच्छं गगनादपि ॥ २१ ॥

साकारमप्यनाकारमसदेवातिभास्वरम् ।
अतिशुद्धैकचिन्मात्रस्फारं स्वप्नपुरं यथा ॥ २२ ॥

निर्वाणमेवमिदमाततमित्थमन्त-
श्चिद्व्योम्न आविलमनाविलरूपमेव ।
नानेव न क्वचिदपि प्रसृतं न नाना
शून्यत्वमम्बर इवाम्बुनिधौ द्रवत्वम् ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जगतः परमार्थमयत्ववर्णनं नाम पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

---

इस प्रकार परमार्थघनरूप केवल ब्रह्म ही इस जगत्के रूपमें भासता है, ब्रह्म न शून्यरूप है और न अशून्यरूप है, वह आकाशसे भी अत्यन्त स्वच्छ है ॥ २१ ॥

स्वप्ननगरके सदृश साकार होता हुआ भी ब्रह्मचैतन्य वास्तवमें निराकार है, निराकार होता हुआ ही अतिभास्वर यानी प्रकाशमय है और अतिस्वच्छ एकमात्र चितिस्वरूप होनेके कारण अतिविस्पष्ट है ॥ २२ ॥

हे श्रीरामजी, चिदाकाशके अन्दर जगदात्मक जो कलुषित स्वरूप है, वह कहे गये मार्गसे अकलुषित होकर व्यापक निर्वाणरूप ही बन जाता है। यह निर्वाणरूप आत्मतत्त्व कहींपर उपलब्ध नहीं होता, ऐसी बात नहीं है, किन्तु सर्वत्र उपलब्ध होता ही है। यह जगत् नाना ( भिन्न ) नहीं है, किन्तु आकाशमें शून्यरूपके सदृश तथा समुद्रमें द्रवत्वके सदृश अभिन्न है यानी ब्रह्मरूप ही है ॥२३॥

पचपनवाँ सर्ग समाप्त

## षट्पञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

सर्वत्र सर्वथा सर्वं सर्वदा व्योम्नि चिन्मये ।
साधु सम्भवति स्वच्छशून्यत्वं ख इवाखिले ॥ १ ॥
यत्र चित्तत्र सर्गश्रीरव्योम्नि व्योम्निवाऽस्ति चित् ।
चिन्मयत्वात्पदार्थानां सर्वेषां नास्त्यचित् क्वचित् ॥ २ ॥
पदार्थजातं शैलादि यथा स्वप्ने पुरादि च ।
चिदेवैकं परं व्योम तथा जाग्रत्पदार्थभूः ॥ ३ ॥
पाषाणाख्यानमत्रेदं शृणु राम रसायनम् ।
पूर्वं मयैव यद्दृष्टं चित्रं प्रकृतमेव च ॥ ४ ॥

---

## छप्पनवाँ सर्ग

[ चिति ही सब कुछ है, और सर्वत्र ही सर्वात्मक चिति है, इस निश्चयको दृढ़ बनानेके लिए पाषाणाख्यायिकाका वर्णन ]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, चिन्मय आकाशमें सर्वत्र और सदा सब कुछ किसी प्रकारके सङ्कोचके बिना विद्यमान है ही, परन्तु वह है सर्वथा स्वच्छ । ब्रह्म जगत्के मलसे ऐसे दूषित नहीं होता, जैसे नीलरूपसे भासमान शून्यता अपने मलसे आकाशमें मलिनता पैदाकर उसे दूषित नहीं करती ॥ १ ॥

इस अर्थमें युक्ति दिखलाते हैं—'यत्र' इत्यादिसे ।

भद्र, जहाँ चिति है, वहाँपर ही जगत्की शोभा है, चाहे पृथ्वी आदि पदार्थ हों, चाहे आकाश हो सर्वत्र चित् विद्यमान है, क्योंकि सभी पदार्थ तो चितिरूप हैं, अतः कहींपर चित् नहीं है, यह नहीं हो सकता ॥ २ ॥

सबकी चिन्मात्रता स्वप्नमें प्रसिद्ध है, इसलिए उसको दृष्टान्त बनाकर जाग्रत्में भी पदार्थोंकी चिन्मात्रता सिद्ध करते हैं—'पदार्थजातम्' इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नमें पर्वत आदि तथा नगर आदि पदार्थ केवल चिदात्मरूप हैं, वैसे ही जाग्रत्में भी ये पृथ्वी आदि पदार्थ परम चिदात्मरूप ही हैं ॥ ३ ॥

हे श्रीरामजी, इस विषयमें प्रथम मुझसे ही दृष्ट एक पाषाणाख्यायिका है, वह सब रसोंसे पूर्ण और भ्रान्तिरूप रोगकी तो बड़ी भारी ओषधि है, बड़ी ही विचित्र तथा प्रस्तुतोपयोगी है, उसे आप सुनिए ॥ ४ ॥

अहं विदितवेद्यत्वात्कदाचित्पूर्णमानसः ।
त्यक्तुमिच्छुरिमं लोकव्यवहारं घनभ्रमम् ॥ ५ ॥
ध्यानैकतानतामेत्य शनैर्विश्रान्तये चिरम् ।
त्यक्ताजवं जवीभाव एकान्तार्थी शमं व्रजन् ॥ ६ ॥
इदं चिन्तितवानस्मि कस्मिंश्चिदमरालये ।
संस्थितो विविधाः पश्यन् भङ्गुरा जागतीर्गतीः ॥ ७ ॥
विरसा खल्वियं लोकस्थितिरापातसुन्दरी ।
न जातु सुखदा मन्ये कस्यचित्केनचित् क्वचित् ॥ ८ ॥
उद्वेगं जनयन्त्यन्तस्तीव्रसंवेगखेदतः ।
इमा दृश्यदृशो द्रष्टुरिष्टानिष्टफलप्रदाः ॥ ९ ॥
किमिदं दृश्यते किं वा प्रेक्षते कोऽहमेव वा ।
सर्वं शान्तमजं व्योम चिन्मात्रात्मनि रिङ्गकम् ॥ १० ॥

---

श्रीरामभद्र, किसी समयकी बात है—मैंने ज्ञानयोग्य वस्तुका ज्ञान कर लिया था और मेरा मन भी पूर्ण हो चुका था, अतः उस समय मैंने घने भ्रमसे भरे इस लोकव्यवहारको छोड़ देनेकी इच्छा की ॥ ५ ॥

तदनन्तर समाधिमें एकनिष्ठा प्राप्त कर धीरे-धीरे दीर्घकाल तक विश्रान्ति पानेके निमित्त मैंने सब प्रकारकी चञ्चलताका त्यागकर एकान्त स्थानकी अभिलाषा की और शान्तिकी ओर जाने लगा ॥ ६ ॥

शान्तिकी ओर गमन कर रहा किसी देवताके स्थानमें स्थित मैं जगत्की विलक्षण भङ्गुर गतियोंको देखते हुए यह सोचने लगा ॥ ७ ॥

यह जो लोकोंकी अवस्था है, वह वस्तुतः नीरस ही है, केवल ऊपर-ऊपरसे सुन्दर लगती है, इसलिए मैं मानता हूँ कि यह किसीको, कहीं, किसी हेतुसे किसी समय भी सुखकारक नहीं हो सकती ॥ ८ ॥

लोकस्थिति सुखद नहीं है, इतनी ही बात नहीं है, किन्तु असीम दुःखदायी भी है, यह कहते हैं—'उद्वेगम्' इत्यादिसे ।

तीव्र खलबली और खेद उत्पन्नकर ये इष्ट-अनिष्ट फल देनेवाली दृश्यदृष्टियाँ द्रष्टाके भीतर उद्वेग ही उत्पन्न करती हैं ॥ ९ ॥

यह क्या दिखाई देता है, कौन देखनेवाला है और मैं ही कौन हूँ अर्थात्

तस्मात्समस्तसिद्धेन्द्रदेवदैत्यादिदुर्गमम् ।
सुप्रदेशमितो गत्वा संगोप्यात्मानमात्मना ॥ ११ ॥
अदृश्यः सर्वभूतानां निर्विकल्पसमाधिगः ।
समे स्वच्छे पदे शान्ते आसे विगतवेदनम् ॥ १२ ॥
तस्मात्को नु प्रदेशः स्यादत्यन्तं शून्यतां गतः ।
यत्रैता नानुभूयन्ते पञ्च बाह्यार्थवेदनाः ॥ १३ ॥
शब्दकाननवार्यब्दभूतौघाभिसमाकुलाः ।
क्षोभयन्त्यथ संक्षुब्धास्तस्मान्मे गिरयोऽरयः ॥ १४ ॥
नानाविधा नगेन्द्राणामन्तरा वलिता जनैः ।
देशा विषमया एव निःशेषा विषयाहिभिः ॥ १५ ॥

---

ये सब तुच्छ हैं। कोई नहीं है, सब कुछ शान्त, अज चिदाकाशरूप ही है, केवल चिदाकाशमें थोड़ा-सा रेंगनेवाला विवर्त बन गया है ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्रजी, यह सब विचारकर अन्तमें उसीके कारण समस्त सिद्ध, इन्द्र, देव, दैत्य आदि द्वारा दुर्गम एक अच्छे प्रदेशमें जाकर अपनी देहको अपने आप ही अन्तर्धानके उपायोंसे छिपाकर ( सुरक्षित बनाकर ) मैं सब प्राणियोंकी आँखोंसे ओझल हो जाऊँ और निर्विकल्पक समाधि लगाकर एकरूप अद्वितीय स्वच्छ शान्त पदमें सब विकल्पोंसे निर्मुक्त हो स्थित हो जाऊँ ॥ ११, १२ ॥

मुझे जहां समाधि लगानी है; वह उत्तम प्रदेश कौन हो सकता है, क्योंकि वह प्रदेश अत्यन्त शून्यरूप और समाधिके लिए उपयोगी होना ही चाहिए। उस प्रदेशमें बाह्य अर्थोंके विज्ञान, जो पाँच इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेके कारण पाँच प्रकारके हैं, रहने भी नहीं चाहिएँ ॥ १३ ॥

पर्वत, शिखर आदि अनेक एकान्त प्रदेश समाधिके लिए हैं ही, फिर उनमें ही वास क्यों न किया जाय, इसपर कहते हैं—'शब्द०' इत्यादिसे।

विक्षेप पैदा करनेवाले शब्दोंसे आक्रान्त अरण्य, जल, मेघ एवं सिंह आदि प्राणियोंसे चारों ओर व्याकुल पर्वतोंको मैं अपना शत्रु ही समझता हूँ, क्योंकि वे उनसे स्वयं ही क्षुब्ध होकर दूसरोंको क्षुब्ध कर देते हैं, अतः वे प्रतिकूल हैं ॥ १४ ॥

बड़े-बड़े पर्वतोंके अनेक तरहके बीचवाले प्रदेश तो भील आदि जनोंसे

जनैर्जलचरैर्व्याप्ताः सागरा नीरकुक्षयः ।
विविधारम्भसंक्षुब्धैर्नगराणीव नागरैः ॥ १६ ॥
तटान्यद्र्यम्बुराशीनां लोकपालपुराणि च ।
भूताकुलानि शृङ्गाणि पातालकुहराणि च ॥ १७ ॥
गायन्त्यनिलभाङ्कारैर्नृत्यन्ति लतिकाः करैः ।
पुष्पैर्हसन्त्यगेन्द्राणां गुहा गहनकोटराः ॥ १८ ॥
मौनिमीनमुनिस्पर्शकम्पिनालचलाम्बुजाः ।
सरस्यो विरसा एव वार्यावर्तविराविताः ॥ १९ ॥

---

वेष्टित हैं और वे सब विषयरूप सर्पोंसे दूषित होनेके कारण विषमय ही हैं ॥ १५ ॥

अनेक तरहके बड़े-बड़े समारोहोंसे क्षुब्ध नागरिक जनोंसे युक्त नगर जैसे समाधिके प्रतिकूल हैं, वैसे ही विविध समारम्भोंसे पूर्ण (व्याप्त) जलचरोंसे जलाधार सागर भी समाधिके प्रतिकूल हैं ॥ १६ ॥

पर्वततट, जलतट, लोकपालोंके नगर, शिखर, पातालोंके कुहर आदि सब अनेकविध प्राणियोंसे व्याकुल ही हैं ॥ १७ ॥

पर्वतोंकी गुफाओंका तब सेवन करना चाहिए, इसपर कहते हैं—'गायन्ति' इत्यादिसे ।

बड़े-बड़े पर्वतोंकी गहनछिद्रवाली गुफाएँ तो वायुओंके भाङ्कारशब्दोंसे गान करती हैं, लतिकारूपी हाथोंसे नृत्य करती हैं और वनवृक्षोंके फूलोंसे हँसती हैं, अतः वे भी विक्षेपकारक ही हैं ॥ १८ ॥

तब बड़े-बड़े सरोवर ही, जिनको दक्षिणपथमें सरसी कहते हैं, अपने तटपर समाधिके कारण होंगे ? इसपर कहते हैं—'मौनि०' इत्यादिसे ।

दर्प और भयसे व्याकुल मौनी मीन एवं मुनियोंके स्पर्शसे यानी क्रीड़ा, स्नान आदिके अभिघातसे कम्पनशील नालदण्डोंके कारण चञ्चल हुए कमलोंसे युक्त सरोवर तो जलावर्तोंके द्वारा शब्द ( कल्लोल ) करते रहते हैं, अतः वे समाधिके भङ्गमें ही कारण हो जाते हैं, इसलिए मैं उन्हें भी नीरस ही समझता हूँ ॥ १९ ॥

पवनस्पर्शसंक्षुब्धतृणपांसुपताकिनी ।
रटत्यनिलभाङ्कारैर्निर्झरोर्व्यप्यसंयता ॥ २० ॥
तस्मादाकाशमाशून्यं कस्मिंश्चिद्दूरकोणके ।
अत्र तिष्ठाम्यवष्टभ्य योगयुक्तिमनन्दिताम् ॥ २१ ॥
कस्मिंश्चिदेककोणेऽत्र कृत्वा कल्पनया कुटीम् ।
वज्रोदरदृढं तस्यामन्तस्तिष्ठाम्यवासनम् ॥ २२ ॥
इति सञ्चिन्त्य यातोऽहमाकाशमसिनिर्मलम् ।
यावत्तदपि पश्यामि सकलं विततान्तरम् ॥ २३ ॥
क्वचित् भ्रमत्सिद्धगणं क्वचिदुद्गर्जदम्बुदम् ।
क्वचिद्विद्याधराधारं यक्षोत्क्षिप्तक्षयं क्वचित् ॥ २४ ॥

---

तब झरनेकी भूमि आपकी समाधिमें उपयोगी होगी, इसपर कहते हैं—'पवन०' इत्यादिसे ।

भद्र, जिसमें वायुके स्पर्शसे क्षुब्ध हुए तृण और धूलिरूपी पताकाएँ विद्यमान हैं, ऐसा झरनेका प्रदेश भी विक्षेपका निवारण नहीं कर सकता, क्योंकि वह प्रदेश वायुके भाङ्कारशब्दोंसे निरन्तर 'झाँय्-झाँय्' शब्दका रटन करता रहता है ॥ २० ॥

इन सब बातोंसे निष्कर्ष यह निकला कि आकाश ही सब विक्षेपोंके उत्पादक हेतुओंसे रहित है, इसलिए वही शरण है, ऐसा कहते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ।

इसलिए मैंने सोचा कि यह चारों ओरसे विक्षेपकारणोंसे रहित आकाश ही मेरी समाधिके लिए परम उपयोगी है, इस आकाशके किसी दूरवर्ती कोनेमें परम विशुद्ध आनन्दित योगयुक्तिका अवलम्बन कर मैं यहाँ स्थित रहूँ ॥ २१ ॥

इसके किसी एक कोनेमें कल्पनासे एक कुटियाका निर्माणकर उसके भीतर वासनारहित तथा वज्रके उदरके सदृश दृढ़ होकर मैं बैठूँ ॥ २२ ॥

उस प्रकार विचारकर तलवारकी धारके समान निर्मल आकाशकी ओर मैं जब बढ़ा, तब क्या देखता हूँ कि यह भी पूर्णरूपसे हजारों विक्षेपके कारणोंसे व्याप्त पेटवाला ही है ॥ २३ ॥

कहीं तो सिद्धोंका गण घूम रहा है, कहींपर तो बड़ी-बड़ी भयङ्कर

क्वचिद्भ्रमत्पुरवरं प्रारब्धसमरं क्वचित् ।
क्वचिद्द्रवज्जलधरं क्वचिदुद्वृत्तयोगिनि ॥ २५ ॥
क्वचिद्दैत्यपुरोड्डीनसगन्धर्वपुरं क्वचित् ।
क्वचिद्भ्रमद्ग्रहगणं तारकाकुलितं क्वचित् ॥ २६ ॥
क्वचित्खे खगसंघृष्टं क्वचित् क्रुद्धमहानिलम् ।
क्वचिदुत्पातवलितं क्वचिन्मण्डलमण्डितम् ॥ २७ ॥
क्वचिदपूर्वभूतौघं नागरावलितं क्वचित् ।
क्वचिदर्करथाक्रान्तं क्वचिदन्यरथोद्धुरम् ॥ २८ ॥
क्वचिदादित्यदाहान्तं शशिशैत्यान्वितं क्वचित् ।
क्वचित्क्षुद्रजनासह्यं क्वचिदग्न्यौष्ण्यदुर्गमम् ॥ २९ ॥

---

गर्जनाओंसे युक्त मेघमण्डल है, कहीं पर तो विद्याधारोंकी बैठक जमी है, कहीं-पर यक्षोंके द्वारा विशिष्ट स्थान पड़ा है ॥ २४ ॥

कहींपर सुन्दर नगरोंके नगर ही घूम रहे हैं, कहींपर युद्धका ही आरम्भ हो गया है, कहींपर मेघ ही बरस रहे हैं, कहींपर तो रौद्ररूप धारण की हुई योगिनियाँ विद्यमान हैं ॥ २५ ॥

कहीं-कहींपर आसन्न दैत्यनगरोंके कारण गन्धर्वयुक्त देवनगर उड़ रहे हैं, कहींपर ग्रहमण्डल घूम रहा है, कहींपर तो वह तारोंसे व्याकुल हो रहा है ॥ २६ ॥

कहींपर तो आकाशमें पक्षियों द्वारा आक्रान्त स्थान है, कहींपर क्रुद्ध भयङ्कर झंझावात है, कहींपर उत्पातयुक्त स्थान है, कहींपर मेघादिमण्डलोंसे व्याप्त है ॥ २७ ॥

कहींपर अपूर्व चित्रविचित्र भूतोंका समूह ( पिशाचसंघ ) पड़ा है, कहींपर नगरोंके समूहके समूह पड़े हैं, कहींपर सूर्यके रथोंसे आक्रान्त है, कहींपर तो चन्द्र आदिके रथोंके कारण आक्रान्त बना है ॥ २८ ॥

कहींपर तो सूर्यकी सन्निधिके कारण दाहसे प्राणी मर रहे हैं, कहींपर तो शिशिर ऋतुकी शीतताके कारण लोग आक्रान्त हैं, कहींपर भूत-प्रेत आदिके कारण बीभत्स प्रतीत हो रहा है, कहींपर अग्निकी उष्णतासे दुर्गम है ॥ २९ ॥

क्वचिदुत्तालवेतालं गरुडोड्डामरं क्वचित् ।
क्वचित्सप्रलयाम्भोदं क्वचित्सप्रलयानिलम् ॥ ३० ॥
ततो भूतगणांस्त्यक्त्वा दूराद्दूरतरं गतः ।
प्राप्तवानहमेकान्तं शून्यमत्यन्तं विस्तृतम् ॥ ३१ ॥
अत्यन्तमन्दपवनं स्वप्नेऽप्यप्राप्यभूतकम् ।
मङ्गलोत्पातरहितमगम्यं विद्धि संसृतेः ॥ ३२ ॥
कल्पिताऽथ मया तत्र कुटी प्रकटकोटरा ।
नीरन्ध्रकुड्यनिबिडा पद्मकुड्मलसुन्दरी ॥ ३३ ॥
घुणक्षुण्णाङ्गपूर्णेन्दुबिम्बोदरमनोहरा ।
कह्लारकुन्दमन्दारपुष्पश्रीकोशशोभिता ॥ ३४ ॥
समस्तभूतागम्यत्वं तत्र सङ्कल्प्य चेतसा ।
अगम्ये सर्वभूतानामहमासं तदा ततः ॥ ३५ ॥
बद्धपद्मासनः शान्तमनाः परममौनवान् ।
संवत्सरशतान्तेन निर्णीयोत्थानमात्मनः ॥ ३६ ॥

---

कहींपर भयङ्कर लम्बे लम्बे वेताल हैं, कहींपर गरुडोंसे भयङ्कर है, कहींपर प्रलय लिये मेघ बरस रहे हैं, कहींपर प्रलय लिये पवन बह रहे हैं ॥ ३० ॥

भद्र, यह सब तमाशा देखकर उन भूतगणोंको छोड़कर मैं दूरातिदूर एकान्त स्थानमें पहुँचा, जो अत्यन्त विस्तृत तथा शून्य था ॥ ३१ ॥

श्रीरामजी, उस प्रदेशमें अत्यन्त मन्द पवन बह रहा था, स्वप्नमें भी भूतगण वहाँ नहीं पहुँच सकते थे, शुभचिह्न और अशुभ चिह्नोंसे रहित तथा संसारियोंको वह अगम्य था, यह जान लीजिये ॥ ३२ ॥

राघव, उस शून्य प्रदेशमें मैंने अपने सत्य सङ्कल्पसे एक कुटीका निर्माण किया, उसकी कोठरियाँ बड़ी ही स्वच्छ बनी थीं, छिद्ररहित भीतोंके कारण निविड़ तथा कमलकी कलीके सदृश वह सुन्दर लगती थी ॥ ३३ ॥

वह मनोहर तो ऐसी लगती थी मानो पूर्णचन्द्रबिम्बमें घुनने छेद बना दिया हो, उसे कह्लार, कुन्द और मन्दारके फूलोंकी शोभाओंसे सजाया ॥ ३४ ॥

पहले तो मैंने अपने अन्तःकरणसे उसकी समस्त भूतों द्वारा अगम्यता बना ली, फिर सब भूतोंकी अगम्य उस कुटियामें मैं प्रविष्ट हो गया ॥ ३५ ॥

तदनन्तर वहाँ मैंने पद्मासन बाँध लिया, मनको शान्त कर लिया और

निर्विकल्पसमाधिस्थो निद्रामुद्रामिवागतः ।
समः सौम्यनभः स्वस्थः समुत्कीर्ण इवाम्बरात् ॥ ३७ ॥
चिरं यदनुसंधत्ते चेतः पश्यति तत्क्षणात् ।
चिरेण चाशापवनव्यक्तिवद्वितते यदा ॥ ३८ ॥
तदा वर्षशतेनात्र बोधबीजं वृतान्तरम् ।
आसीन्मे हृदयक्षेत्रे कालमेकं विकासतः ॥ ३९ ॥
संप्रबुद्धोऽभवन्मेऽथ जीवः सम्बुद्धवेदनः ।
शिशिरक्षीणगात्रस्य मधाविव रसस्तरोः ॥ ४० ॥
तच्छतं तत्र वर्षाणां निमेषमिव मे गतम् ।
बह्वयोऽपि कालगतयो भवन्त्येकधियो मनाक् ॥ ४१ ॥
विकासमागतो बाह्यं गतो बुद्धीन्द्रियक्रमः ।
वासन्तः पुष्परूपेण मदस्येव रसो मम ॥ ४२ ॥

उत्तम मौनव्रत धारण किया । फिर यह निश्चय किया कि मैं एक सौ वर्षोंके बाद अपनी समाधिसे उठूंगा । यह निश्चय कर निद्राकी मुद्राके सदृश निर्विकल्पक समाधिमें स्थित हो गया, उस समय मेरी वृत्ति एक थी, निर्मल आकाशके सदृश मैं अपने स्वरूपमें था और ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मैं आकाशसे ही चित्रित हो गया हूँ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

सौ वर्षोंके बाद समाधिसे व्युत्थानका कारण बतलाते हैं—'चिरम्' इत्यादिसे।

भद्र, दीर्घकाल तक मन जिसका स्मरण करता है, उसको वह तत्काल ही देखता है, इस अकाट्य नियमके अनुसार सौ वर्षके दीर्घकालके बाद जब चित आशा ( दिशा ) और पवन व्यक्तिके सदृश विशाल हुआ, तब समाधि टूटनेमें कारणभूत कर्म हृदयमें एक समय पैदा हो गया, उस बीजरूप कर्मका भीतरी भाग ढका हुआ था । अनन्तर ज्ञातव्य वस्तु जानकर मेरा जीव समाधिसे ऐसे प्रबुद्ध हो गया, जैसे शिशिरमें क्षीणशरीर हुए वृक्षका रस चैत्र मासमें ( वसन्तमें ) प्रबुद्ध हो जाता है ॥ ३८–४० ॥

वहाँपर वे मेरे सौ वर्ष एक निमेषमात्रके सदृश व्यतीत हो गये, क्योंकि एकाग्रचित्तवाले पुरुषके लिए बहुत भी कालकी गतियाँ अत्यन्त स्वल्प हो जाती हैं ॥ ४१ ॥

उसके बाद क्या हुआ, इसे बतलाते हैं—'विकास०' इत्यादिसे ।

मां प्राणपूरितमुपागतसंविदंश-
मभ्यागतं त्वहमिति प्रसृतः पिशाचः ।
इच्छाङ्गनाविवलितोऽथ कुतोऽपि सद्यः
प्रोन्नामसन्नमनवायुरिवोग्रवृक्षम् ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने आकाशमन्दिरे वसिष्ठसमाधानवर्णनं नाम षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

---

## सप्तपञ्चाशः सर्गः

श्रीराम उवाच

त्वामप्युदितनिर्वाणमहङ्कारपिशाचकः ।
बाधते किमिति ब्रूहि मुने सन्देहशान्तये ॥ १ ॥

---

जैसे वृक्षोंके मदका यानी पल्लव आदिकी पुष्टिके हेतुभूत हर्षका कारणभूत भीतरी वसन्तकालका रस पुष्परूपसे बाहर आता है, वैसे ही धीरे धीरे विकास प्राप्त कर बुद्धि-इन्द्रियोंकी परम्परा बाहरकी ओर प्रवृत्त हो गई ॥ ४२ ॥

उसके बाद क्या हुआ, यह कहते हैं—'माम्' इत्यादिसे।

तदनन्तर पाँच वृत्तिवाले प्राणवायुसे तथा इन्द्रियोंसे पूर्ण अतएव आविर्भूत जीवरूप चिति-अंशसे युक्त देहवाले अभ्यागत मुझको देखकर 'त्वम्' 'अहम्' रूपसे प्रसिद्ध अहङ्काररूप पिशाच, इच्छारूप अपनी पत्नी पिशाचीके साथ, किसी भी अतर्कित प्रदेशसे मेरी सन्निधिमें ऐसे शीघ्र आ धमका, जैसे उग्र शाल्मली आदि वृक्षोंकी सन्निधिमें ऊँचे वृक्षोंको नमन करानेवाला प्रचण्ड पवन आ धमकता है ॥ ४३ ॥

छप्पनवाँ सर्ग समाप्त

---

## सत्तावनवाँ सर्ग

[ ज्ञानी और अज्ञानीके अहङ्कारके विशेष ज्ञानके लिए ज्ञानसे बाधित हुए दृश्यप्रपञ्चकी चिन्मात्रताका समर्थन ]

'मां……अहमिति प्रसृतः पिशाचः' इस कथन तथा 'प्रोन्नामसन्नमन-

वसिष्ठ उवाच

अहंभावं विना देहस्थितिस्तज्ज्ञाज्ञयोरिह ।
आधेयस्य निराधारा न संस्थेहोपपद्यते ॥ २ ॥
अयं त्वत्र विशेषस्तं शृणु विश्रान्तचेतसः ।
श्रुतेन येनाहंभावपिशाचः शान्तिमेति ते ॥ ३ ॥
अहंभावपिशाचोऽयमज्ञानशिशुनाऽमुना ।
अविद्यमान एवान्तःकल्पितस्तेन संस्थितः ॥ ४ ॥

---

वायुरिवोग्रवृक्षम्' इस दृष्टान्तोक्तिसे महाराज वसिष्ठको भी अहङ्काररूपी पिशाच द्वारा बाधा पहुँचायी गई, ऐसा ज्ञात हो जानेसे ज्ञानफलकी अनित्यताकी संभावना करते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'त्वाम०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुने, निर्वाण प्राप्त किये हुए आपको भी क्या अहङ्काररूपी पिशाच बाधा पहुँचाता है, मेरे सन्देहकी निवृत्तिके लिए यह मुझसे कहिये ॥ १ ॥

एकमात्र प्रारब्धशेषका भोग ही प्रयोजन होनेसे जले हुए वस्त्र-जैसे देह-धारणके निमित्त केवल अहङ्काराभासकी प्रतीति होनेसे अज्ञानियोंकी तरह ज्ञानियोंको संसारबन्धनकी प्राप्ति नहीं होती, यह दिखलानेके लिए महाराज वसिष्ठजी अज्ञानीके अहङ्कारकी अपेक्षा तत्त्वज्ञानीके अहङ्कारमें निर्दोषता बतलाते हुए उत्तर देते हैं—'अहंभाव०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, इस संसारमें अहंभावके बिना तत्त्वज्ञानी और अज्ञानी दोनोंकी देह-स्थिति नहीं हो सकती, क्योंकि हे श्रीरामचन्द्रजी, आधेय पदार्थकी निराधार स्थिति कभी नहीं उपपन्न हो सकती ॥ २ ॥

किन्तु इसमें शान्त चित्तवाले ज्ञानी पुरुषके लिए जो यह विशेष बात है, उसे आप सुनिये, जिसके सुननेसे आपका अहंभावरूपी पिशाच शान्त हो जायगा ॥ ३ ॥

इस अज्ञानरूपी बालकने अपने अन्तःकरणमें अविद्यमान ही अहंभावरूपी पिशाचकी कल्पना कर रक्खी है, अतः इसीसे यानी एकमात्र अज्ञानके वशसे ही यह स्थित है ॥ ४ ॥

अज्ञानमपि नास्त्येव प्रेक्षितं यन्न लभ्यते ।
विचारिणा दीपवता स्वरूपं तमसो यथा ॥ ५ ॥

यथायथा विलोक्यते तथातथा विलीयते ।
इहाज्ञता पिशाचिका तथा विचारिता सती ॥ ६ ॥

किल सत्यामविद्यायामज्ञतोदेति शाश्वती ।
बुद्धिमोहात्मिका यक्षी निर्देहैव यथा निशि ॥ ७ ॥

सति सर्गे त्वविद्यायाः सम्भवो नान्यतः क्वचित् ।
सति द्वितीये शशिनि द्वितीयो विद्यते शशः ॥ ८ ॥

सर्गस्त्वयमजातत्वादज्ञज्ञातो न विद्यते ।
न जातः कारणाभावात्पूर्वमेव खवृक्षवत् ॥ ९ ॥

---

ठीक है, ऐसा ही सही, लेकिन इससे प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं—'अज्ञानमपि' इत्यादिसे ।

तत्त्वज्ञानी यदि विचारकर देखे तो अज्ञान भी उसे बिलकुल ऐसे नहीं उपलब्ध होता, जैसे दीपधारी पुरुषको अन्धकारका स्वरूप ॥ ५ ॥

तथा विद्वानोंको ज्यों-ज्यों अपना अनुभव बढ़ता जाता है त्यों-त्यों क्रमशः अज्ञानका नाश भी होता जाता है, यह कहते हैं—'यथायथा' इत्यादिसे ।

जैसे-जैसे यह अज्ञतारूपी पिशाचिका अनुभवमें आरूढ़ होती जाती है, वैसे-वैसे विचारित होकर नष्ट होती जाती है ॥ ६ ॥

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि अविद्या रहनेपर ऐसे बारबार अज्ञता उदित होती है, जैसे रातमें बुद्धिविभ्रमस्वरूप देहशून्य यक्षी ॥ ७ ॥

अविद्याकी सृष्टि रहनेपर ही उसका अस्तित्व भी है, अन्य किसी दूसरे कारणसे कहीं नहीं है । द्वितीय चन्द्रमाके रहनेपर ही द्वितीय खरगोश दीख पड़ता है ॥ ८ ॥

ऐसा ही सही, पर इससे प्रकृतमें क्या आया, इसपर कहते हैं—'सर्ग०' इत्यादिसे ।

अज्ञानी द्वारा ज्ञात यह संसार उत्पन्न न होनेसे नहीं है, क्योंकि आकाश-वृक्षके समान कारण न रहनेसे यह पहलेसे ही उत्पन्न नहीं हुआ है ॥ ९ ॥

परमाकाशकोशान्तरादिसर्गे निरामये ।
पृथ्व्यादेरुपलम्भस्य भवेत् किमिव कारणम् ॥ १० ॥
मनःषष्ठेन्द्रियातीतं मनःषष्ठेन्द्रियात्मनः ।
साकारस्य निराकारं कथं भवति कारणम् ॥ ११ ॥
बीजात्कारणतः कार्यमङ्कुरः किल जायते ।
न बीजमपि यत्रास्ति तत्र स्यादङ्कुरः कुतः ॥ १२ ॥
कारणेन विना कार्यं न च नामोपपद्यते ।
कदा क इव खे केन दृष्टो लब्धः स्फुटो द्रुमः ॥ १३ ॥
सङ्कल्पेनाम्बरे यद्वद्दृश्यते विटपादिकम् ।
स सङ्कल्पस्तथाभूतो न तत्रास्ति पदार्थता ॥ १४ ॥
एवं येयं चिदाकाशे सर्गादावनुभूयते ।
शून्यरूप इवाकाशे सर्गस्थितिरनर्गला ॥ १५ ॥

---

कारणके अभावका उपपादन करते हैं—'परमाकाश०' इत्यादिसे ।

जब चिदाकाशकोशके भीतर स्थित आदि सृष्टि ही निर्विकार ब्रह्मरूप है तब पृथिवी आदिकी प्राप्तिका कौन-सा कारण हो सकता है ? ॥ १० ॥

मनको लेकर छः इन्द्रियोंसे ज्ञात न होनेवाला निराकार ब्रह्म मनयुक्त छः इन्द्रियोंसे ज्ञात होनेवाले साकार जगत्का कारण कैसे हो सकता है ॥ ११ ॥

बीजरूप कारणसे अङ्कुररूप कार्य उत्पन्न होता है, इसमें तो तनिक भी सन्देह नहीं है । फिर जहाँपर बीजरूप कारण है ही नहीं, वहाँपर अङ्कुर कैसे उत्पन्न होगा ? ॥ १२ ॥

कारणके बिना कार्य नहीं होता, यह तो सभीको विदित है । आकाशमें लहलहा रहे प्रत्यक्ष वृक्षका किसने कब अवलोकन या ग्रहण किया है ? ॥ १३ ॥

यदि वह सृष्टि उत्पन्न ही नहीं है, तो फिर कौन उस रूपसे भासता है, उसको दृष्टान्तपूर्वक बतलाते हैं—'सङ्कल्पेन' इत्यादिसे ।

जैसे सङ्कल्प द्वारा आकाशमें वृक्ष आदि दिखाई देते हैं, वैसे ही सङ्कल्पमय यह संसार भी है । इसमें वस्तुतः पदार्थता नहीं है ॥ १४ ॥

एवं सृष्टिके आरम्भकालमें जो यह अर्गलाशून्य सृष्टिकी स्थिति चिदाकाशमें अनुभूत होती है, वह भी आकाशमें शून्यरूप वृक्षादिके सदृश ही है ॥ १५ ॥

समम एव चिदाकाशः कचत्यात्मनि तत्तथा ।
स्वभाव एव सर्गाख्यश्चित्त्वाच्चैतन्यमीश्वरः ॥ १६ ॥
स्वप्नसर्गोऽत्र दृष्टान्तः प्रत्यहं योऽनुभूयते ।
स्वयं संवेदने स्वप्ने स्फुरत्यद्रिपुराकृतिः ॥ १७ ॥
चित्स्वभावे यथा स्वप्ने आस्ते सर्ग इवेह यः ।
असर्गे सर्गवद्भाति तथा पूर्वं महाम्बरे ॥ १८ ॥
अवेद्यवेदनं शुद्धमेकं भात्यजमव्ययम् ।
सर्गादौ यदनाद्यन्तं स्थितः सर्गः स एव नः ॥ १९ ॥
नेह सर्गोऽस्ति नैवायं पृथ्व्यादिगणगोलकः ।
सर्वं शान्तमनालम्बं ब्रह्मैव ब्रह्मणि स्थितम् ॥ २० ॥

---

तब क्या एकमात्र शून्य ही सृष्टिरूपसे भासित होता है, इसपर 'नहीं' यह उत्तर देते हैं—'सम एव' इत्यादिसे ।

विषयसृष्टिके आकारसे रहित चिदाकाश ईश्वर ही अपने स्वभावमें सृष्टि-रूपसे स्फुरित होता है । सर्गनामक चितिस्वभाव ही चिद्रूप होनेके कारण ईश्वर चैतन्य है, इसलिए चिति ही सृष्टिरूपसे भासित होती है, न कि शून्य ॥ १६ ॥

अविकृत ब्रह्म ही विकृत जगद्रूपसे जो स्फुरित होता है उसमें, स्वप्नका स्वात्मा ही दृष्टान्त है, यह कहते हैं—'स्वप्न०' इत्यादिसे ।

प्रतिदिन जो अनुभूत होता है वह स्वप्न-सर्ग ही इस विषयमें दृष्टान्त है, क्योंकि स्वप्नके विषयोंमें स्वयं आत्मा ही पर्वत, नगर आदिकी आकृतियोंमें स्फुरित होता है ॥ १७ ॥

जैसे यहां स्वप्नमें जो सृष्टि-सा प्रतीत होता है वह चित्स्वभाव सृष्टिरहित स्वात्मामें ही विद्यमान है वैसे ही यहां ज्ञानसे पूर्व सर्ग-सा जो प्रतीत होता है वह सर्गशून्य चित्स्वभाव महाचिदाकाशमें ही प्रतीत होता है ॥ १८ ॥

सृष्टिके प्रारम्भमें विषयज्ञानशून्य, शुद्ध, एक, अज, अव्यय आदि और अन्तसे शून्य जो परमात्मा स्थित है वही हमारा सर्गरूपसे स्थित है ॥ १९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, परब्रह्म परमात्मामें यह सृष्टि नहीं है और न ये पृथिवी आदि लोक ही हैं । सब शान्त, अवलम्बनशून्य एकमात्र ब्रह्म ही ब्रह्ममें स्थित है ॥ २० ॥

सर्वशक्त्यात्म तद्ब्रह्म यथा कचति यादृशम् ।
रूपमत्यजदेवाच्छं तथा भवति तादृशम् ॥ २१ ॥
यथा स्वप्नपुरं जन्तोश्चिन्मात्रप्रविजृम्भितम् ।
तथैव सर्गः सर्गादौ शुद्धचिन्मात्रजृम्भितम् ॥ २२ ॥
स्वच्छे चित्परमाकाशे चिदाकाशो य आस्थितः ।
स्वभाव एव सर्गोऽसाविति तेनैव भावितः ॥ २३ ॥
भाव्यभावकभावादिभूमीनां भावनं भृशम् ।
सर्वं चिन्नभ एवाच्छमात्मनात्मनि संस्थितम् ॥ २४ ॥
एवं स्थिते कुतः सर्गः कुतो विद्या क चाज्ञता ।
ब्रह्म शान्तं घनं सर्वं क्वाहङ्कारादयः स्थिताः ॥ २५ ॥
अहंभावस्य संशान्तिरेषाऽसौ कथिता तव ।
अहंभावः परिज्ञातः पिशाच इव शाम्यति ॥ २६ ॥

---

सर्वशक्तिसम्पन्न वह ब्रह्म जैसे जिस तरहका स्फुरित होता है, वह अपने स्वच्छरूपका परित्याग न करते हुए वैसे उस तरहका हो जाता है ॥ २१ ॥

जैसे स्वप्नका नगर प्राणीके लिए चिन्मात्रका केवल विलास है, वैसे ही सृष्टिके प्रारम्भमें यह सृष्टि भी शुद्ध चिन्मात्रका विलास ही है ॥ २२ ॥

स्वच्छ चिद्रूप परमाकाशमें जो चिदाकाश स्थित है उसीने अपने स्वभावकी सृष्टिरूपमें भावना की है वही यह सृष्टि है अर्थात् चिद्रूप जो ब्रह्म है उसका स्वभाव ही यह सृष्टि है ॥ २३ ॥

भाव्य, भावक आदि त्रिपुटीभूमियोंकी एक रसमें उत्पत्ति कैसे, इसपर कहते हैं—'भाव्य०' इत्यादिसे ।

भाव्य, भावक और भाव आदि भूमियोंकी जो निरन्तर उत्पत्ति है, वह सब स्वच्छ चिदाकाश ही अपनी आत्मामें स्थित है ॥ २४ ॥

ऐसा स्थित होनेपर कहांसे सृष्टि, कहांसे अविद्या, कहां अज्ञता और कहां अहङ्कार आदि स्थित हैं सब शान्त चिद्घन ब्रह्म ही स्थित है ॥ २५ ॥

अज्ञान रहनेपर ही अहंभाव बाधा पहुँचाता है, ज्ञान होनेपर नहीं, यह कहते हैं—'अहंभावस्य' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह मैंने आपसे यह अहङ्कारकी शान्ति कही ।

मया त्वेवमहंभावः परिज्ञातो यदाऽखिलः ।
तदा मे विद्यमानोऽपि निष्फलः शरदभ्रवत् ॥ २७ ॥
चित्राग्निदाहो विज्ञातो यथा दाह्येषु निष्फलः ।
तथाऽहंभावसर्गादि ज्ञातं निष्फलतामियात् ॥ २८ ॥
इति मेऽहंकृतेस्त्यागे रागे च समता यदा ।
तदा व्योम्न इवाव्योम्नः सर्गेऽसर्गे च मे स्थितिः ॥ २९ ॥
अहंभावस्य नैवाहं नाहंभावो ममेति च ।
तेन विद्धि चिदाकाशमेवेदमिति निर्घनम् ॥ ३० ॥
यथा मम तथान्येषामपि बोधवतामिह ।
अग्नित्वमिव चित्राग्नेर्नास्त्ययं बोधविभ्रमः ॥ ३१ ॥

---

यह अहङ्कार भलीभाँति ज्ञात होनेसे बालकल्पित पिशाचकी तरह शान्त हो जाता है ॥ २६ ॥

इससे आपके प्रश्नका समाधान हो गया, यह दिखलाते हैं—'मया त्वेवम०' इत्यादिसे ।

इस तरह जब इस अहङ्कारको मैं पूर्णतया जानता हूँ, तब हे श्रीरामचन्द्रजी, यह रहनेपर भी मेरे लिए शरत्कालके मेघके सदृश निष्फल ही रहता है ॥ २७ ॥

चित्रलिखित अग्निमें अध्यस्त दहनक्रिया जैसे दाह्य वस्तुओंमें निष्फल होती है, वैसे ही अहंभावकी सृष्टि आदि भी पूर्णरूपसे ज्ञात होनेपर निष्फलताको प्राप्त होती है ॥ २८ ॥

इस प्रकार समाधिकालमें अहंकारके त्याग तथा व्यवहारकालमें उसके रागमें जब मेरी समता है तब सृष्टिकी विद्यमान तथा अविद्यमान दशामें मेरी स्थिति ऐसी है, जैसी मेघ, वायु तथा आतप आदिसे अवकाशशून्य आकाशकी ॥२९॥

एकमात्र सम्बन्धत्यागसे भी यह अहम्भाव पीड़ा नहीं पहुँचाता, फिर ज्ञानसे बाधित हो जानेपर तो पूछना ही क्या, इस आशयसे कहते हैं—'अहंभावस्य' इत्यादि ।

न तो कोई मैं अहङ्कारका हूँ और न यह अहङ्कार ही मेरा कुछ लगता है—यों जानकर हे श्रीरामचन्द्रजी, इस सम्पूर्ण संसारको आप निर्घन चिदाकाश ही जानिये ॥ ३० ॥

यह अहंभावादि बोधविभ्रम जिस तरह मेरी दृष्टिमें नहीं है, वैसे ही तत्त्व-

नाहमस्मि न चान्योऽस्ति सर्वं नास्तीति निश्चये ।
प्रकृतव्यवहारस्त्वं शिलामौनमयो भव ॥ ३२ ॥

आकाशकोशविशदाकृतिरेव तिष्ठ
निर्देशवच्चिरमपह्नुतसर्वभावः ।
अद्यादितश्च किल चिन्मयमेव सर्वं
नो दृश्यमस्ति शिवमेवमशेषमित्थम् ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने विदितवेद्याहङ्कारविचारो नाम सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

ज्ञानी और महानुभावोंकी दृष्टिमें भी यह नहीं है, जैसे कि चित्रगत अग्निमें दाहक्रिया किसी भी विद्वान् पुरुषकी दृष्टिमें नहीं है ॥ ३१ ॥

आप भी मेरे समान ही भीतरसे सबका बाध करके अद्वितीय बन जाइये, यह कहते हैं—'नाहम०' इत्यादिसे ।

वास्तवमें तो न मैं हूँ, न कोई अन्य है और न यह सब दृश्य प्रपञ्च ही है, ऐसा निश्चय करके हे श्रीरामचन्द्रजी, आप भी प्रकृत व्यवहारका सम्पादन करते हुए पत्थरके समान मौनमय हो जाइये ॥ ३२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, चिरकालके लिए सम्पूर्णभावोंका अपह्नव करके अवकाश-रहित पत्थरके सदृश बनकर आकाशकोशकी तरह निर्मल-आकारसे ही आप अपने स्वरूपमें स्थित रहिये, क्योंकि इस तरह निश्चित है कि इस सृष्टिकालमें तथा इस सृष्टिके पूर्वकालमें सब कुछ चिन्मय शिव ही स्थित है । इस प्रकारसे जो दृश्यप्रपञ्च दिखाई दे रहा है वह सब कुछ नहीं है ॥ ३३ ॥

सत्तावनवां सर्ग समाप्त

## अष्टपञ्चाशः सर्गः

### श्रीराम उवाच

अहो न विततोदारा विमला विपुलाचला ।
भवता भगवन् भूत्यै भूयो दृष्टिरुदाहृता ॥ १ ॥
सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वं सर्वत्र सर्वदा ।
सदित्येव स्थितं सत्यं समं समनुभूतितः ॥ २ ॥
अयमस्ति मम ब्रह्मन् संशयस्तं निवारय ।
किमिदं भगवन्नाम पाषाणाख्यानमुच्यते ॥ ३ ॥

---

## अठावनवाँ सर्ग

[ सम्पूर्ण सृष्टिकी शोभा सभी जगह है और नहीं भी है, इस प्रकारका जो पाषाणाख्यायिकाका अर्थ है, उसका दृष्टिभेदसे वर्णन ]

प्रासङ्गिक जो जीवन्मुक्त पुरुषके अहङ्कारकी अबाधकता थी, उसका समर्थन किया गया, अब प्रकृत 'सर्वत्र सर्वथा सर्वम्' ( सब जगह सब प्रकारसे सब कुछ है ) इस अर्थकी पाषाणाख्यायिका द्वारा जो प्रतिज्ञा की थी, उसे पूछनेके लिए भूमिका बाँधते हैं—'अहो' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, अहो, आपने मेरे उत्कर्षके लिए फिर एक दृष्टिका ( विज्ञानका ) उपदेश दिया, यह विज्ञान व्यापक और महान् उदार है, विमल है, विपुल और अचल है ॥ १ ॥

भगवन्, सब कुछ सब जगह सभी प्रकारसे सत् है और सब कुछ सब जगह सदा ही सत् है—यह जो विषय प्रस्तुत हुआ था उसका अच्छे अनुभवसे यदि विचार किया जाय, तो सम, अविषम एवं एकरस ही पर्यवसित ( सिद्ध ) होता है, अतः सत्यस्वरूप ही है, क्योंकि जितने धर्म या धर्मी हैं, उनका देश, काल और वस्तुरूपसे यदि सर्वात्मकता बन जाय, तो भेद और भेदकत्व आदिकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥ २ ॥

ब्रह्मन्, अब इस विषयमें मुझे जो यह सन्देह है, इसका निवारण कीजिए । भगवन्, यह पाषाणाख्यान किस अंशकी समानता लेकर कहा गया है । व्यावर्तक यानी भेदके हेतु धर्मोंसे युक्त पदार्थोंका ही साधारणधर्मसे सादृश्य माना जाता है, यह प्रसिद्धि है, अतः सन्देहका होना स्वाभाविक है ॥ ३ ॥

वसिष्ठ उवाच

सर्वत्र सर्वदा सर्वमस्तीति प्रतिपादने ।
पाषाणाख्यानदृष्टान्तो मयाऽयं तव कथ्यते ॥ ४ ॥
नीरन्ध्रैकघनाङ्गस्य पाषाणस्यापि कोटरे ।
सन्ति सर्गसहस्राणि कथयेति प्रदर्श्यते ॥ ५ ॥
भूताकाशे महत्यस्मिन् खशून्यत्वमनुज्झति ।
सन्ति सर्गसहस्राणि कथयेति प्रदर्श्यते ॥ ६ ॥
अन्तर्गुल्माङ्कुरादीनां प्राणवाय्यम्बुतेजसाम् ।
सन्ति सर्गसहस्राणि कथयेति प्रदर्श्यते ॥ ७ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, 'सब कुछ सर्वदा सभी जगह है', यह जो प्रतिपादन करना है, इसी अर्थमें पाषाणाख्यायिकाका दृष्टान्त दिया गया है, इसका किस तरह सादृश्य घटता है, इसे मैं आपसे कहता हूँ ॥ ४ ॥

पाषाणाख्यायिकाका मैंने इसलिए आरम्भ नहीं किया है कि हमको पाषाणकी समानता या सब धर्मोंका सङ्कर कहना है, किन्तु पाषाण-उदरके अध्यासका अधिष्ठानभूत जो ब्रह्म है, उसमें असंकीर्णरूपसे सब जगत्का अध्यास हो सकता है, यों संभावना बतलानेके लिए उक्त दृष्टान्तका उपन्यास है, यह कहते हैं—'नीरन्ध्र०' इत्यादिसे ।

छिद्रोंसे रहित, अत्यन्त घनीभूत अवयवोंवाले पाषाणोदरमें ( पाषाणोदराध्यासके अधिष्ठान चेतनमें ) भी हजारों सृष्टियां हैं, यह प्रस्तुत पाषाणाख्यानके द्वारा बतलाया गया है ॥ ५ ॥

अथवा भावपदार्थोंके उदराधिष्ठानभूत चेतनमें जिस तरह हजारों सृष्टियोंका सम्भव है, उसी तरह शून्यात्मक आकाशरूप अभावाधिष्ठान चेतनमें भी असंकीर्ण रूपसे समस्त जगत्का आरोप संभव है, इस आशयसे कहते हैं—'भूताकाशे' इत्यादिसे ।

आकाशकी शून्यताको न छोड़नेवाले महान् भूताकाशमें यानी अभावाधिष्ठानभूत चेतनमें भी हजारों सर्गोंका आरोप हो सकता है, यह बतलानेके लिए प्रस्तुत कथा कही गई है ॥ ६ ॥

इस न्यायकी सर्वत्र योजना करनी चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'अन्त०' इत्यादि ।

श्रीराम उवाच

कुड्यादौ सन्ति सर्गौघा इति चेत्कथ्यते मुने ।
तत्खे विभान्ति सर्गौघा इति किं न प्रदर्श्यते ॥ ८ ॥

वसिष्ठ उवाच

एतत्ते वर्णितं राम मुख्यमेव मयाऽखिलम् ।
योऽययालक्ष्यते सर्गः स ख एव खमास्थितम् ॥ ९ ॥

---

गुल्म, अङ्कुर आदि तथा प्राण, वायु, जल, तेज आदिके उदरमें ( अधिष्ठान आत्मामें ) हजारों सर्ग हो सकते हैं, इस अर्थको बतलानेके लिए पाषाणाख्यान कहा गया है ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुने, भीत, पाषाण आदिके उदर चेतनमें अनेक सर्गोंका आरोप है, यही अभिप्राय यदि पाषाणाख्यायिकासे बतलाया जाता है, तो मैं कहता हूँ कि इसकी अपेक्षा यही अभिप्राय क्यों नहीं बतलाया जाता कि शुद्ध चिदाकाशमें हजारों सृष्टियोंका आरोप है । तात्पर्य यह है कि भीत आदि भाव और शून्यात्मक आकाशादि अभाव पदार्थोंसे युक्त चेतनमें सभी सर्गोंका आरोप असङ्कीर्णरूपसे हो सकता है, यह यदि आपकी आख्या- यिकाका अभीष्ट अर्थ है, तब शुद्ध चिदाकाशमें सब जगत्का अध्यास है, यही पक्ष क्यों मान न लिया जाय, जिससे कि अध्यस्त जगत्का बाध हो जानेपर शुद्ध ही बच जाता है, यह दूसरी बात भी अनुकूल हो, इस प्रकारकी श्रीरामभद्रकी आशङ्का है ॥ ८ ॥

ठीक है, आपने जिस पक्षका शङ्कामें उल्लेख किया है, ठीक यही पक्ष मुख्यरूपसे मुझे भी अभिप्रेत है, परन्तु विशुद्ध चिदाकाशका सहसा परिचय हो नहीं सकता, इसलिए परिचयोपायरूपसे प्रत्येक भावादि-उपहित चेतनमें भी समस्त जगत्का अध्यास ( आरोप ) है, यह मैंने बतलाया है, इस आशयसे उत्तर देते हैं—'एतत्' इत्यादि ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, तत्-तत् पदार्थोंसे उपहित प्रत्येक चेतनमें समस्त जगत्का आरोप है, यों कहते हुए मैंने आपसे वस्तुतः मुख्य चेतनमें समस्त जगत्का आरोप है, इसीका वर्णन किया है, इसलिए जो यह सृष्टि दिखाई पड़ती है, वह चिदाकाशमें चिदाकाशात्मक ही स्थित है ॥९॥

आदावेव हि नोत्पन्नमद्यापि न च विद्यते ।
दृश्यं यच्चावभातीदं तद्ब्रह्म ब्रह्मणि स्थितम् ॥ १० ॥
नास्ति भूरणुमात्रापि सर्गैर्निर्विवरा न या ।
न च क्वचन विद्यन्ते सर्गा ब्रह्मखमेव ते ॥ ११ ॥
न तेजसोऽणुरप्यस्ति सर्गैर्निर्विवरो न यः ।
न च क्वचन सर्गास्ते सन्ति ब्रह्मखमेव तत् ॥ १२ ॥
न वायोरणुरप्यस्ति सर्गैर्निर्विवरो न यः ।
न च क्वचन विद्यन्ते सर्गा ब्रह्मखमेव तत् ॥ १३ ॥
खं नाणुमात्रमप्यस्ति सर्गैर्निर्विवरं न यत् ।
न च क्वचन सर्गास्ते सन्ति ब्रह्मखमेव तत् ॥ १४ ॥

---

यों जब ब्रह्ममात्रता ही है, तब दृश्यकी अनुत्पत्ति ही फलित हुई, यह कहते हैं—'आदावेव' इत्यादिसे ।

श्रीरामभद्र, परमार्थदृष्टिसे दृश्य पहले ही उत्पन्न नहीं हुआ है और आज भी नहीं है, परन्तु जो इसका अवभास होता है, वह ब्रह्ममें स्थित ब्रह्म ही है ॥ १० ॥

आरोपदृष्टिसे भूतोंके प्रत्येक परमाणुमें सबका आरोप कर सब कुछ देखा जा सकता है और अपवाददृष्टिमें उससे विपरीत भी देखा जा सकता है, इस आशयसे कहते हैं—'नास्ति' इत्यादि ।

जो पृथ्वी सृष्टियोंसे गाढ़भरित ( खूब भरी हुई ) न हो, ऐसी अणुमात्र भी नहीं है यानी सारी पृथ्वी सृष्टियोंसे एकदम खचाखच भरी हुई ही है और सृष्टि भी कहीं नहीं है, किन्तु जो है, वे सब ब्रह्माकाशरूप ही है । आरोपदृष्टिसे पृथ्वीके प्रत्येक परमाणुमें सर्गके सर्ग भरे पड़े हैं तथा अपवाददृष्टिमें न कोई परमाणु है और न उसमें सर्ग ही भरे पड़े हैं, केवल ब्रह्माकाशमात्र है ॥ ११ ॥

ऐसे तेजका कोई भी अणु नहीं है, जिसमें सर्गोंकी स्थिति न हो । और वास्तवमें तो कहींपर भी सर्ग नहीं है, किन्तु सर्गरूपसे भासमान सब ब्रह्माकाशमात्र है ॥ १२ ॥

ऐसा वायुका कोई भी परमाणु नहीं है, जो सर्गोंसे भरा न हो और वे सर्ग भी वास्तवमें नहीं हैं, किन्तु वे ब्रह्माकाशमात्र ही हैं ॥ १३ ॥

अणुमात्र भी आकाश सृष्टियोंसे रहित हो, ऐसा नहीं है, किन्तु सब

न सा महाभूतताऽस्ति सर्गैर्निर्विवरा न या।
न च क्वचन विद्यन्ते सर्गा ब्रह्मखमेव तत् ॥ १५ ॥

शैलानां नाणुरप्यस्ति स सर्गैर्यो न निर्घनः।
न च क्वचन विद्यन्ते सर्गा ब्रह्मखमेव तत् ॥ १६ ॥

ब्रह्मणो नाणुरप्यस्ति सर्गैर्निर्विवरो न यः।
न च क्वचन सर्गास्ते सन्ति ब्रह्मखमेव तत् ॥ १७ ॥

सर्गेषु नाणुरप्यस्ति न ब्रह्मात्मैव यः सदा।
ब्रह्मसर्गास्तथेत्येष वाचि भेदो न वस्तुनि ॥ १८ ॥

सर्गा एव परं ब्रह्म परं ब्रह्मैव सर्गता।
मनागप्यस्ति न द्वैतमत्राग्न्यर्कौष्ण्ययोरिव ॥ १९ ॥

---

सृष्टियोंसे परिपूर्ण है और वे सृष्टियां भी नहीं है, किन्तु वे ब्रह्माकाशमात्र-रूप ही हैं ॥ १४ ॥

ऐसे मिले हुए पञ्चमहाभूत भी नहीं हैं, जो सर्गोंसे परिपूर्ण न हों, किन्तु वे सर्गोंसे परिपूर्ण हैं और कहीं सर्ग भी नहीं हैं, किन्तु वे केवल चिदाकाश-रूप ही हैं ॥ १५ ॥

पर्वतोंका भी ऐसा कोई अणु नहीं है, जो सर्गोंसे भरा पड़ा न हो, किन्तु सभी परमाणु सर्गोंसे भरे पड़े हैं, और उनमें कहीं सर्ग भी वास्तवमें नहीं हैं, केवल ब्रह्मरूप ही वे हैं ॥ १६ ॥

सूक्ष्मभूतरूप उपाधिसे युक्त हिरण्यगर्भका भी ऐसा कोई अणु नहीं है, जो सृष्टियोंसे भरा हुआ न हो, लेकिन उसमें भी वही स्थिति है। वास्तवमें तो उनमें कहीं वे भी सर्ग नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही ब्रह्म है ॥ १७ ॥

हिरण्यगर्भके निर्मित संसारोंमें ऐसे कोई सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग नहीं हैं, जो सदा ब्रह्मरूप ही न हो, किन्तु सदासे ही वे सब ब्रह्मस्वरूप है, इसलिए ब्रह्म तथा सर्ग—यह केवल वाणीमें ही भेद है, वस्तुमें भेद नहीं है ॥ १८ ॥

जैसे अग्नि एवं सूर्यकी उष्णतामें कोई परस्पर भेद नहीं है, किन्तु उष्णता और अग्नि या सूर्य एकरूप ही हैं, वैसे ही जो सर्ग हैं, वे परब्रह्म ही हैं और परब्रह्म ही सर्ग हैं, इनमें तनिक भी भेद नहीं है, किन्तु एकरूप ही हैं ॥ १९ ॥

इमे सर्गा इदं ब्रह्म तेऽत्यन्तावाच्यदृष्टयः।
विदार्यदारुवच्छान्त्यर्थपरिवर्जिताः ॥ २० ॥
द्वैतमैक्यं च यत्रास्ति न मनागपि तत्र ते।
सर्गब्रह्मादिशब्दार्थाः कथं कस्येव भान्तु के ॥ २१ ॥

---

भद्र, ये सर्ग और ब्रह्म आदि जो शब्द हैं, उनके विषयमें यदि विचारा जाय, तो वे अर्थसे शून्य होकर अत्यन्त अनिर्वचनीय वस्तुका बोध करानेवाले उस तरह दिखाई देते हैं, जिस तरह कुठारसे चिरे जानेवाले काठमें उसके बोधक जो भिन्न भिन्न शब्द हैं, वे पृथक् अर्थशून्य होकर केवल काठ वस्तुका बोध कराते दिखाई देते हैं। इसका गम्भीर भाव यह है कि पहले सर्गशब्द और ब्रह्मशब्दके ऊपर विचार कर लेना चाहिए कि असलमें उनसे क्या अर्थ निकलता है, सर्जन क्रियाके कारण सर्गशब्द है और बृंहण यानी वर्धन क्रियाके कारण ब्रह्मशब्द है, सर्जन और वर्धनमें तो कोई परस्पर भेद नहीं है, अतः ब्रह्म और सर्ग आदिमें भी भेद कैसे हो सकता है, अब इन सर्ग और ब्रह्मशब्दमें भेद करनेवाला जो आनुपूर्वी आदि धर्म है, वह भी असलमें तो कोई चीज है नहीं, अतः उससे रहित सर्ग और ब्रह्म आदि शब्द लक्षणासे किसी अनिर्वचनीय अर्थका ही बोध कराते हैं। अपिच क्रिया भी क्रियावान्‌के स्वरूपसे अलग नहीं है, यदि कहें कि क्रिया और क्रियावान् एक नहीं हैं, किन्तु एक आधार और दूसरा आधेय है, अतः उनका भेद है, तो यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इनके आधाराधेय-भावका निरूपण आप कर ही नहीं सकते। ऐसी परिस्थितिमें कुठारसे विदीर्ण होनेवाले काठमें जो-जो काठके लिए प्रसिद्ध शब्द हैं, वे सब पृथक् अर्थसे शून्य होकर जैसे एक ही अर्थके प्रतिपादक भासते हैं अथवा विदार्य (विदीर्ण करने योग्य) और दारु (विदीर्ण होनेवाला) ये दो शब्द जैसे पृथक् अर्थसे शून्य होकर अभेदार्थके ही प्रतिपादक हैं, वैसे ही सर्ग और ब्रह्म आदि शब्द भी एकार्थके यानी ब्रह्मार्थके ही प्रतिपादक हैं ॥ २० ॥

परमार्थदशामें सर्ग और ब्रह्म आदि शब्दार्थोंका भेद भले ही न हो, क्योंकि उस दशामें द्वैत और ऐक्य रहता ही नहीं। परन्तु व्यवहारदशामें तो ब्रह्म एक है और सर्ग अनेक हैं, अतः ब्रह्म और सर्गशब्दोंका भिन्न अर्थ होनेके कारण वे भिन्नार्थक क्यों नहीं होंगे, इसपर कहते हैं—'द्वैत०' इत्यादिसे।

शान्तमेकमनाद्यन्तमिदमच्छमनामयम् ।
व्यवहारवतोऽप्यङ्ग ज्ञस्य मौनं शिलाघनम् ॥ २२ ॥

निर्वाणमेवमखिलं नभ एव दृश्यं
त्वं चाहमद्रिनिचयाश्च सुरासुराश्च ।
तादृग्जगत्समवलोकय यादृगङ्ग
स्वप्नेऽथ जन्तुमनसि व्यवहारजालम् ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने सर्गब्रह्मत्वप्रतिपादनं नाम
अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

---

भद्र, जिस व्यवहारदशामें द्वैत और एकत्व विद्यमान है, उस दशामें भी सर्ग और ब्रह्मशब्दके अर्थ तो तनिक भी नहीं भासते, क्योंकि इसपर प्रश्न यह होगा कि क्या द्वैतात्मक द्रष्टाको वे अर्थ भासते हैं, या अद्वैतात्मक द्रष्टाको ? प्रथमपक्ष तो अयुक्त है, क्योंकि अज्ञानी द्वैतात्मक द्रष्टाको वे किसी हालतमें भी नहीं दीख पड़ेंगे । दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि उस पक्षमें अद्वैतात्मक वस्तुको वे किसकी तरह दीख पड़ेंगे, कौन किस स्वभावके मालूम पड़ेंगे, यह कहना होगा, परन्तु यह कह नहीं सकते, क्योंकि अद्वैतस्थितिमें भान और भासित होनेवालेमें कोई भेद नहीं कहा जा सकता ॥ २१ ॥

अतएव तत्त्ववेत्ताओंके लिए व्यवहारकालमें भी वह वैसा ही रहता है, यह कहते हैं—'शान्त०' इत्यादिसे ।

हे प्रिय श्रीरामजी, व्यवहार कर रहे ज्ञानीके लिए भी यह सब कुछ शान्त, एक, आदि-अन्तरहित, स्वच्छ, निर्विकार, शिलाके सदृश अतिघन, मौन ब्रह्मरूप ही रहता है, तनिक भी उससे पृथक् या भिन्न नहीं रहता ॥ २२ ॥

वर्णित पाषाणाख्यायिकाका जो तात्पर्य है, उसका उपसंहार करते हैं—'निर्वाण०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, यह समस्त दृश्य निर्वाणरूप एवं चिदाकाशरूप ही है । आप, हम, पर्वत, सुर, असुर आदि भी तद्रूप ही हैं । भद्र, जगत् भी आप

## एकोनषष्टितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

अनन्तरं नभःकोशकुटीकोटरतो मुने ।
तव ध्यानात्प्रबुद्धस्य वृत्तं वर्षशतेन किम् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

ततो ध्यानात्प्रबुद्धोऽहं श्रुतवांस्तत्र निःस्वनम् ।
मृदु व्यक्तपदं हृद्यं न च वाच्यानुगो यतः ॥ २ ॥
स्त्रीस्वभावादिव मृदु मधुरं वा निनादि वा ।
स्वल्पाङ्गत्वादनिर्ह्रादि मया तद्वाक्यमूहितम् ॥ ३ ॥

---

वैसा ही आत्मरूप समझिए, जैसा जागनेके बाद जन्तुके मनमें स्वप्नमें देखा गया व्यवहार, स्मृतिमें आनेपर भी, आत्मरूप है ॥ २३ ॥

---

## उनसठवाँ सर्ग

[ उक्त एकान्तशून्य प्रदेशमें समाधि टूट जानेपर वसिष्ठजीको सूक्ष्म ध्वनिका श्रवण और ध्वनिश्रवणके कारणकी अन्वेषणाके लिए ध्यान करनेपर अनन्तकोटि जगत्का ज्ञान होना—यह वर्णन ]

इस तरह पिछलेके दो सर्गोंसे प्रासङ्गिक प्रश्नविषयका निरूपण हो जानेपर अब श्रीरामजी आख्यायिकाका अवशिष्ट भाग सुननेके लिए पूछते हैं—'अनन्तरम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामजीने कहा—हे मुने, उस आकाशकोशकी कुटियासे सौ वर्षके बाद आपका ध्यान टूट जानेके अनन्तर कौन-सी जानने लायक बात हुई, यह मुझसे कहिए ॥ १ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, उस ध्यानसे जब मैं जग गया, तब मैंने वहाँ एक ध्वनि सुनी, वह अत्यन्त लुभावनी थी, उसके शब्द अत्यन्त विस्पष्ट नहीं थे, क्योंकि उसमें न तो कोई पदार्थप्रतिपादनकी सामर्थ्य थी और न वाक्यार्थ-प्रतिपादनकी ही सामर्थ्य थी ॥ २ ॥

किसी स्त्रीके कण्ठसे उत्पत्तिजनित स्वभावविशेषसे मानो यह ध्वनि मृदु,

इन्दिन्दिररुताकारं तन्त्रीरणितरञ्जनम् ।
न रोदनं च पठनं बिसकोशसमस्वनम् ॥ ४ ॥
तदाकर्ण्याऽऽशु तत्रेदमहं चिन्तितवानथ ।
शाब्दिकान्वीक्षणात्पश्यन् दिशो दश सविस्मयः ॥ ५ ॥
व्योम्नोऽयं सिद्धसञ्चारमार्गशून्यान्यनन्तरम् ।
भागो योजनलक्षाणि समतिक्रम्य संस्थितः ॥ ६ ॥
तदिहेदृग्विधस्य स्यात्कुतः शब्दस्य सम्भवः ।
शाब्दिकं न च पश्यामि यत्नेनापि विलोकयन् ॥ ७ ॥
अनन्तमिदमाशून्यं पुरो मे निर्मलं नभः ।
इह भूतं प्रयत्नेन प्रेक्ष्यमाणं न दृश्यते ॥ ८ ॥

---

मधुर और अनुरणनशील प्रतीत हो रही है, ऊँची भी नहीं है, अतएव वह कहीं दूरसे नहीं सुनाई देती अर्थात् पासकी ही है, यों उस ध्वनिके विषयमें मैंने अनुमान किया ॥ ३ ॥

भद्र, वह भ्रमरकी ध्वनिके सदृश थी, वीणाके झंकारके सदृश मनुष्यको लुभावनेवाली थी। वह शब्द न तो कोई बालकका रुदन था और न कोई प्रौढ़व्यक्तिका पठन ही था। हां, कमलके बिसकोशमें प्रसिद्ध भ्रमरोंके गुञ्जनके सदृश वह अवश्य था ॥ ४ ॥

उसे सुनकर वहां मुझे बड़ा ही विस्मय हुआ। उक्त शब्दकर्ताके अन्वेषणके निमित्तसे मैंने दसों दिशाएँ देख डालीं बादमें मैं यह सोचने लगा—॥ ५ ॥

जिन मार्गोंमें सिद्ध पुरुष ही संचरण कर सकते हैं, उनसे भी शून्य जो लाखों योजन दूर हैं, उनको भी लांघकर यह आकाशका ऊर्ध्वतम भाग स्थित है ॥ ६ ॥

इसलिए इस एकान्तस्थानमें स्त्रीवाक्यके सदृश ऐसे शब्दका संभव कैसे होगा और बड़े यत्नसे देखता हूँ, तो भी मैं शब्द करनेवालेको नहीं देख पाता ॥ ७ ॥

मेरे सामने विद्यमान यह जो निर्मल आकाश है, वह तो असीम और चारों ओरसे शून्यरूप ही है। बड़े यत्नसे मैं देख रहा हूँ, तो भी कोई प्राणी दिखाई नहीं देता ॥ ८ ॥

यदेति चिन्तयित्वाऽहं भूयोभूयो विलोकयन् ।
शब्देश्वरं न पश्यामि तदा चिन्तितवानिदम् ॥ ९ ॥
आकाश एव भूत्वाऽहमाकाशेनैकतां गतः ।
आकाशगुणशब्दार्थान् करोम्याकाशकोशके ॥ १० ॥
देहाकाशमिह स्थाप्य ध्यानेनेह यथास्थितम् ।
चिदाकाशवपुर्व्योम्ना याम्यैक्यं वारिवाम्बुना ॥ ११ ॥
चिन्तयित्वेत्यहं त्यक्तुं देहं पद्मासनस्थितः ।
आसं समाधिमाधातुं पुनरामीलितेक्षणः ॥ १२ ॥
त्यक्त्वा बाह्यार्थसंस्पर्शानैन्द्रियानान्तरानपि ।
चित्ताकाशोऽहमभवं संवित्स्पन्दमयात्मकः ॥ १३ ॥
क्रमात्तदपि सन्त्यज्य बुद्धितत्त्वपदं गतः ।
सम्पन्नोऽहं चिदाकाशे जगज्जालैकदर्पणः ॥ १४ ॥

---

उस तरह विचारकर बार-बार चारों ओर खूब देखा, परन्तु जब शब्द करनेवालेका दर्शन नहीं हुआ, तब इस तरह विचारने लगा—॥ ९ ॥

मैं सबसे पहले उपाधिका परित्यागकर चिदाकाशरूप हो जाऊँ, तदनन्तर चिदाकाशमें अध्यस्त अव्याकृत आकाशके साथ एकरूप बन जाऊँ, फिर अव्याकृत आकाशके कार्य भूताकाशके गुण शब्दों और उनके अर्थोंका उसीमें अनुभव करूँ ॥ १० ॥

अभी मैं ध्यानके प्रभावसे यहांपर यथास्थित देहाकाशको यहीं आकाशमें छोड़कर और चिदाकाशरूपी शरीर धारण कर वैसे अव्याकृत आकाशके साथ एकरूप बन जाता हूँ, जैसे जलबिन्दु साधारण जलके साथ एकरूप बन जाता है ॥ ११ ॥

भद्र, उस तरह विचारकर पद्मासनपर स्थित हुआ और शरीरको छोड़नेके निमित्त समाधि लगानेके लिए मैंने फिर अपनी आँखें मूँद लीं ॥ १२ ॥

अनन्तर इन्द्रियोंके सम्बन्धी बाह्य अर्थोंका स्पर्श तथा अन्तःकरणके विषयोंका स्पर्श त्याग दिया, अधिक क्या कहें, मन्तव्य आदिका भी परित्याग कर दिया, फिर मैं एकमात्र संवित्स्पन्दनरूप चित्ताकाश बन गया ॥ १३ ॥

इसके बाद उनका भी क्रमशः परित्यागकर बुद्धितत्त्वके स्थानमें पहुँच गया,

ततस्तेन स्वभावेन भूतव्योमैकतामहम् ।
सम्प्रयातोऽम्बुनैवाम्बु सौरभं सौरभेन वा ॥ १५ ॥
सम्पन्नोऽथ महाकाशं व्याप्यानन्तोऽथ सर्वगः ।
अनाकारोऽप्यनाधारः सर्वार्थाधारतां गतः ॥ १६ ॥
अहं त्रैलोक्यवृन्दानि संसाराणां शतानि च ।
तत्र ब्रह्माण्डलक्षाणि पश्याम्यगणितान्यपि ॥ १७ ॥
परस्परमदृष्टानि मिथः खान्यमलानि च ।
नानाचारविचाराणि शून्यान्येव परस्परम् ॥ १८ ॥
स्वप्नरूपाणि सुप्तानां तुल्यकालं नृणामिव ।
महारम्भानुमृष्टानि शून्यानि च परस्परम् ॥ १९ ॥

---

फिर उसका भी त्यागकर चिदाकाशरूप वास्तविक स्वरूपमें पहुँच गया और वहां पहुँचकर अपनी आत्मामें अध्यस्त समस्त जगत्के प्रतिबिम्बोंका एकदर्पणरूप बन गया ॥ १४ ॥

भद्र, इसके बाद उसी चित्स्वभावसे मैं भूताकाशके साथ एकरूप ऐसे बन गया, जैसे सामान्य जलके साथ समुद्रादिजल या सामान्य सौरभके साथ कमलादि-सौरभ एकरूप बन जाता है ॥ १५ ॥

उस भूताकाशमें भूताकाशके कार्यभूत समस्त सृष्टियोंका अवलोकन करनेके लिए चिदाकाशके साथ अभेदकल्पना कहते हैं—'सम्पन्नोऽथ' इत्यादिसे ।

तदनन्तर मैं चितिरूप महाकाशके साथ अभेदसम्बन्धकी कल्पनाकर असीम और सर्वगामी बन गया। असङ्ग-अद्वयरूप होनेके कारण अनाकार और अनाधार होता हुआ भी सर्वाधारयोग्य भूताकाशके साथ अभिन्नतासे सब पदार्थोंका आधारभूत बन गया ॥ १६ ॥

भूताकाशकी अवस्थाको प्राप्त चिदाकाशमें मैं तीनों लोकोंके झुण्डोंको, सैकड़ों संसारोंको और लाखों अगणित ब्रह्माण्डोंको देखने लगा ॥ १७ ॥

ये सब सर्ग अव्याकृत निर्मल आकाशमात्ररूप थे, इसलिए एक दूसरेकी दृष्टिसे छिपे थे। उनमें अनेक तरहके आचार और अनेक तरहके विचार थे एवं परस्पर वे शून्यरूप थे ॥ १८ ॥

इसमें दृष्टान्त देते हैं—'स्वप्न०' इत्यादिसे ।

जायमानानि नश्यन्ति वर्द्धमानानि भूरिशः ।
वर्तमानान्यतीतानि भविष्यन्ति च सर्वशः ॥ २० ॥
अनेकचित्रजालानि महाभित्तीनि खानि च ।
मनसेवोग्रराज्यानि कृतानि विविधैर्जनैः ॥ २१ ॥
निरावरणरूपाणि तथैकावरणानि च ।
पञ्चावरणयुक्तानि षडेकावरणानि च ॥ २२ ॥
दशावरणचित्राणि षोडशावरणानि च ।
चतुर्विंशत्यावृतीनि षट्त्रिंशत्खावृतानि च ॥ २३ ॥
शून्यानि भूतपूर्णानि पञ्चभूतमयान्यपि ।
एकपृथ्व्यादिभूतानि चतुःपृथ्व्यादिकानि च ॥ २४ ॥

---

एक समय सोये हुए पुरुषोंके लिए वे सृष्टियाँ स्वप्नरूप थीं, एककी दृष्टिसे वे बड़े-बड़े समारोहोंसे पूर्ण थीं, तो दूसरेकी दृष्टिसे उत्तरोत्तर विमर्दित थीं अतएव परस्पर शून्य-अशून्यरूप थीं ॥ १९ ॥

उनमें कुछ तो उत्पन्न हो रही थीं, कुछ नष्ट हो रही थीं, कुछ तेजीसे बढ़ रहीं थीं, कुछ विद्यमान थीं, कुछ अतीत थीं और बहुत-सी भविष्यकालके गर्भमें थीं ॥ २० ॥

श्रीरामजी, उनके विषयमें क्या वर्णन करूँ, कुछ तो अनेक चित्रोंसे शोभित, कुछ बड़ी-बड़ी भित्तियोंसे युक्त, कुछ भित्तियोंसे रहित और कुछ मनुष्यों द्वारा अपने मनसे ही उग्र राजोंसे आक्रान्त बनाई गई थीं ॥ २१ ॥

स्वप्नमें देखी गई सृष्टियोंमें तो ब्रह्माण्डोंके आवरण और उनकी संख्याका कोई नियम ही नहीं है, क्योंकि जिसको जितनी वासना हुई, उसके प्रति उतनी ही सृष्टि कल्पित होती है, इस आशयसे कहते हैं—'निरावरण०' इत्यादि।

कुछ सृष्टियां तो आवरणात्मक पदार्थोंसे रहित थीं, तथा कुछ एक आवरणवाली ही थीं। किन्हींमें पाँच आवरण थे, किन्हींमें सात आवरण थे, किन्हींमें दस आवरण थे, किन्हींमें सोलह आवरण थे, किन्हींमें चौबीस आवरण थे, किन्हींमें छत्तीस आवरण थे, कुछ आकाशरूप आवरणसे आवृत थीं* ॥२२,२३॥

कुछ शून्य-आकाशरूप ही थीं, कुछ भूतोंसे भरी थीं, कुछ पाँच भूतरूप

---

* एक पदार्थवादी आदियोंके मतोंसे कहा गया है।

त्रिःपृथ्व्यादीनि चान्यानि द्विःपृथ्व्यादीन्यथापि च ।
तथा सप्तमहाभूतान्येकजातिमयानि च ॥ २५ ॥
त्वादृशानुभवाभोगविरुद्धातिदशानि तु ।
तथा नित्यान्धकाराणि सूर्यादिरहितानि च ॥ २६ ॥
तथा मीलितसर्गाणि एकनाथावृतानि च ।
विलक्षणप्रजेशांशविचित्राचारवन्ति च ॥ २७ ॥
तथा निर्वेदशास्त्राणि निःशास्त्राणि तथैव च ।
कृमिक्रमसमारम्भदेवादिप्राणिमन्ति च ॥ २८ ॥
जात्या तु पारम्पर्येण संकेताचारवन्ति च ।
तथा नित्यप्रकाशानि ज्वलिताग्निमयानि च ॥ २९ ॥

ही थीं, कुछ तो एक-एक पृथ्वी आदि भूतवाली थीं, कुछ पृथ्वी आदि चार भूतोंवाली ही थीं ॥ २४ ॥

किन्हींमें पृथ्वी, जल, तेज—ये तीन ही थे, किन्हींमें कोई और ही भूत थे, किन्हींमें तो पृथ्वी एवं जल—ये दो ही थे, किन्हींमें सात भूत ( काल और दिशाको भूत मानकर ) थे तथा किन्हींमें एकजातिके ही सब पदार्थ थे ॥ २५ ॥

सिद्ध, विद्याधर आदिकी जो चित्र-विचित्र कल्पनाएँ हैं, उनकी तो मनुष्यकी बुद्धिसे संभावना भी नहीं हो सकती, इस आशयसे कहते हैं—'त्वादृशा०' इत्यादि ।

भद्र, कुछ तो मैंने ऐसे सूक्ष्म चित्र-विचित्र परिणामवाले भूतोंसे युक्त संसार देखे कि उन परिणामोंकी आप अपने अनुभवके विस्तारसे संभावना भी नहीं कर सकते। कुछ तो निरन्तर अन्धकारसे व्याप्त और सूर्य आदिसे रहित थे ॥२६॥

कुछ सर्ग तो सुषुप्ति और प्रलयोंसे ही भरपूर थे यानी सुषुप्ति-प्रलयमय थे, किन्हींमें केवल हिरण्यगर्भ ही विराजमान थे, और कुछमें प्रजापति और उनके अंशभूत देवताओंका चित्र-विचित्र आचरण देखते ही बनता था ॥ २७ ॥

इसी अर्थका विस्तार करते हैं—'तथा' इत्यादिसे ।

किन्हींमें विराग पैदा करनेवाले वेदादि शास्त्र थे और किन्हींमें वेदादि शास्त्र नहीं भी थे तथा किन्हींमें उदुम्बरके कीटके सदृश समारम्भवाले देवता ही प्राणी थे ॥ २८ ॥

कहींपर कलिका आरम्भ हो जानेके कारण वेदादि शास्त्रोंका उच्छेद हो

तथा जलैकपूर्णानि पवनैकमयानि च ।
स्तब्धानि परमाकाशे वहन्ति च तथाऽनिशम् ॥ ३० ॥
जायमानानि पुष्यन्ति परिपुष्टानि चाभितः ।
तिर्यग्गच्छन्ति चान्यानि पूर्णसर्वमयान्यपि ॥ ३१ ॥
देवमात्रैकसर्गाणि नरमात्रमयानि च ।
दैत्यवृन्दमयान्येव क्रमिनिर्विवराणि च ॥ ३२ ॥
अन्तरन्तस्तदन्तश्च स्वकोशेऽप्यणुकं प्रति ।
जातानि जायमानानि कदलीदलपीठवत् ॥ ३३ ॥
परस्परमदृष्टानि नानुभूतानि वै मिथः ।
सैनिकस्वप्नजालानि जातानीव महान्त्यपि ॥ ३४ ॥
विविधान्यप्यनन्तानि स्वच्छाकाशात्मकान्यलम् ।
अन्योऽन्यमन्यवृत्तीनि न मिथोऽन्यस्थितीनि च ॥ ३५ ॥

---

गया था, इसलिए ब्राह्मण आदि जातियाँ अपनी केवल परम्परासे ही कुछ संकेतोंसे अपना आचरण करती थीं। कुछ निरन्तर प्रकाशमय थे और कुछ प्रज्वलित अग्नियोंसे पूर्ण थे ॥ २९ ॥

कुछ सृष्टियाँ केवल जलसे ही भरी थीं, कुछ केवल वायुसे ही भरपूर थीं, कुछ परमाकाशमें निश्चल थीं, कुछ रात-दिन चलती-फिरती थीं ॥ ३० ॥

कुछ उत्पन्न हो रही थीं, कुछ वृद्धि प्राप्त कर रही थीं, कुछ चारों ओरसे खूब पुष्ट हो रही थीं, कुछ टेढ़ी जा रही थीं और कुछ अन्य परिपूर्ण भोग्य पदार्थोंसे भरी थीं ॥ ३१ ॥

किन्हींमें केवल देवताओंकी ही सृष्टि थी, किन्हींमें अधिक केवल मनुष्य ही थे, किन्हींमें अधिकता दैत्योंके समूहोंकी थी और कुछ तो कीटोंसे ही नीरन्ध्र थीं ॥ ३२ ॥

कहींपर कदलीस्तम्भके दलके सदृश प्रत्येक परमाणुके भीतर, उसके भीतरके भी भीतर कल्पित अपने कोशमें अनेक जगत् उत्पन्न हो रहे थे, और कुछ उत्पन्न भी हो चुके थे ॥ ३३ ॥

सैनिकोंके स्वप्नोंके सदृश उत्पन्न हुए बड़े भी कुछ सर्ग एक दूसरेसे छिपे थे और किन्हींका परस्पर अनुभव भी नहीं हो रहा था ॥ ३४ ॥

कुछ तो भिन्न-भिन्न तरहकी सृष्टियाँ थीं, कुछ असीम थीं, कुछ स्वच्छ

मिथश्चान्यान्यशास्त्राणि मिथोऽनन्तानि यानि च ।
अन्योन्यसन्निवेशानि मिथोऽन्योन्यानि यानि च ॥ ३६ ॥
अन्योन्यं परलोकानि मिथः सिद्धपुराणि च ।
अन्यादृशमहाभूतान्यन्यादृग्दिग्गिरीणि च ॥ ३७ ॥
त्वादृशानुभवेहानामगम्याभ्यागतानि च ।
असमञ्जसरूपाणि कथ्यमानानि मादृशैः ॥ ३८ ॥
अणुवत्सेष्यमाणानि चिदादित्यांशुमण्डले ।
परमार्थश्रियो व्योम्नि रश्मिजालानि कुण्डले ॥ ३९ ॥

---

आकाशके सदृश निर्मल थीं, किन्हींमें भिन्न-भिन्न क्रिया-कर्म थे और कुछ विषम स्थितिवाली थीं ॥ ३५ ॥

कुछ सर्ग ऐसे थे, जिनमें दूसरेसे मेल न खानेवाले भिन्न-भिन्न शास्त्र थे, कुछ परस्पर अनन्त अवयव एक-से थे, कुछका स्मरण होनेपर एक दूसरे एकरूप ही मालूम होते थे ॥ ३६ ॥

कुछ सृष्टियाँ ऐसी थीं, जिनमें एक दूसरी एक दूसरी सृष्टिके लिए परलोक बन जाती थी यानी एकमें मरकर पुरुष दूसरी सृष्टिमें जाता था। कुछ सृष्टियाँ ऐसी थीं, जिनमें एक दूसरी सृष्टिके प्रति दूसरी सृष्टि सिद्ध नगररूप बन जाती थी। किन्हीं सृष्टियोंमें अलग-अलग स्वरूपके महाभूत थे और कहींपर दिशाएँ एवं पर्वत भिन्न-भिन्न रूपके थे ॥ ३७ ॥

इसीलिए अन्य वस्तुका अन्यत्र वर्णन करनेपर अपरिनिष्ठित बुद्धिवालोंकी दृष्टिमें ये अगम्यताके कारण असमञ्जसरूप भासते हैं, यह कहते हैं— 'त्वादृशा०' इत्यादिसे।

आपके-जैसे पुरुषोंके अनुभव और प्रयत्नके अविषय जो पदार्थ हैं, वे यदि सामने आ जायँ और मेरे-जैसे पुरुष उनका वर्णन करें, तो भी उनका स्वरूप असमञ्जस ही लगेगा, यानी उनके स्वरूपका ज्ञान अननुभवी पुरुषको हो ही नहीं सकता, ऐसे भी पदार्थ कहींपर थे ॥ ३८ ॥

तब तो ऐसे पदार्थ आपके सदृश पुरुषोंके उपदेशसे ज्ञात हो जायँगे, इसपर कहते हैं—'अणुवत्' इत्यादिसे।

भद्र, चैतन्यरूपी सूर्यके किरणमण्डलमें परमाणुओंके सदृश अत्यन्त सूक्ष्मरूप

कानिचित्तानि तान्येव भूत्वा भूत्वा भवन्त्यलम् ।
कानिचित्तादृशान्येव जातानि वनपर्णवत् ॥ ४० ॥
अन्योन्यत्वाच्च सदृशान्यन्यानि सदृशान्यपि ।
कश्चित्कालं सुसदृशान्यन्यान्येव च कानिचित् ॥ ४१ ॥
फलानि तान्यनन्तानि परमार्थमहातरोः ।
अनन्यान्येव चान्यानि तन्मयान्येव वै ततः ॥ ४२ ॥
कानिचित्स्वल्पकल्पानि दीर्घकल्पानि कानिचित् ।
अन्यान्यनियतं भूरि नियतं भूरि कानिचित् ॥ ४३ ॥

---

वाले कहींपर सर्ग प्रसिद्धिको प्राप्त किये हुए थे * तथा कहींपर तो मोक्षलक्ष्मीके कुण्डलरूप अव्याकृत आकाश और भूताकाशमें चित्र-विचित्र रत्नरश्मिजालकी अधिकतासे चमकीले सर्ग थे, इसलिए उपदेशसे भी उनका ज्ञान होना कठिन ही समझिए ॥ ३९ ॥

कुछ सर्ग तो ऐसे देखे कि वनके पत्तोंके सदृश वे ही फिर तद्रूप उत्पन्न हो होकर नष्ट होते जाते थे और फिर उत्पन्न होते जाते थे एवं कुछ उन्हींके सदृश ही उत्पन्न होते थे ॥ ४० ॥

भद्र, कुछ सर्ग ऐसे थे कि एक ही चितिमें सबका अध्यास होनेके कारण पृथक् अस्तित्व न रखनेसे सदृश होते हुए भी असदृश ही थे और सदृश भी होते हुए कुछ समयतक अत्यन्त सदृश एवं कुछ कालके लिए अत्यन्त विसदृश भी रहते थे ॥ ४१ ॥

अथवा वृक्ष और फलके सदृश उनमें भेद और अभेदकी कल्पना है, यह कहते हैं—'फलानि' इत्यादिसे ।

परमार्थ चैतन्यरूप महावृक्षके वे अनन्त फल थे, वे अनन्य ही होते हुए भी उससे भिन्न-से थे ॥ ४२ ॥

किन्हीं सर्गोंमें स्वल्प ही कल्पका काल था, तो किन्हीं सर्गोंमें बड़ा लम्बा कल्पका काल था, दूसरे बहुतोंमें तो नियम ही न था यानी देश, काल,

---

* कहींपर 'शेष्यमानानि' यह भी पाठ मिलता है, उसका 'परिशेषरूपताको प्राप्त किये हुए थे'—यह अर्थ होगा ।

अन्यान्यज्ञातकालानि यदृच्छावशतः स्वयम् ।
जायमानानि पुष्टानि सुस्थिराणि स्थितानि च ॥ ४४ ॥
तानि शून्यत्वजालानि परमाकाशकोशके ।
अपरिज्ञातकालानि रूढान्यज्ञातदोषके ॥ ४५ ॥
अब्ध्यर्काकाशमेर्वादिशतैरावलितान्यलम् ।
चिच्चमत्कारखे स्वप्नजालान्याभान्ति चाऽऽविलम् ॥ ४६ ॥
अनुभूतेर्भ्रमात्मत्वात्कारणानामभावतः ।
पृथ्व्यादीनामहेतूनामत्यन्तं सन्त्यसन्ति च ॥ ४७ ॥
मृगतृष्णाम्बुभरवद्द्विचन्द्रव्योमवर्णवत् ।
सम्पन्नानि न सत्यानि सत्यान्यप्यनुभूतितः ॥ ४८ ॥

---

वस्तु आदिके स्वभावका नियम ही नहीं था और दूसरे बहुतोंमें उनका नियम था भी ॥ ४३ ॥

सूर्यका अभाव होनेसे किन्हींमें कालज्ञान ही न हो पाता था, कुछ तो काकतालीय न्यायसे अकस्मात् ही स्वयं उत्पन्न, पुष्ट और सुदृढ़ स्थिति बनाकर स्थित थे ॥ ४४ ॥

वे क्या सत्य हैं, इस प्रश्नका 'नहीं' उत्तर देते हैं—'तानि' इत्यादिसे ।

परमचिदाकाशके कोशमें वे शून्यरूप ही हैं, सत्यरूप नहीं । वे कबसे उत्पन्न हैं, यह उनके विषयमें नहीं कहा जा सकता । हाँ, इतना कहा जा सकता है कि वे अज्ञानरूप दोषसे युक्त प्रत्यगात्मामें अनादिकालसे ही उत्पन्न हुए हैं ॥ ४५ ॥

चितिके चमत्काररूप आकाशमें यानी चिदाकाशमें सैकड़ों समुद्र, सूर्य, आकाश, मेरु आदि पदार्थोंसे भलीभाँति आक्रान्त स्वप्नजालके सदृश रजोगुण एवं तमोगुणसे कलुषित होकर वे अनेक जगत् भासित हो रहे हैं ॥ ४६ ॥

वास्तवमें कारणोंके अभावसे कारणरहित पृथ्वी आदिका अनुभव तो भ्रमात्मक है, इसलिए ब्रह्मरूप अधिष्ठानकी सत्ता लेकर ही वे सब जगत् विद्यमान हैं, उसे न लेकर वे अपने स्वरूपसे तो नहीं ही हैं ॥ ४७ ॥

मृगतृष्णाजलके प्रवाहके सदृश अथवा दो चन्द्रयुक्त आकाशके वर्णके सदृश ये जगत् भ्रमरूप अनुभवसे ही उत्पन्न हुए हैं, अतः वे सत्यरूप अधिष्ठान-की सत्तासे सत्यरूप हैं, अपने स्वरूपसे वे सत्यरूप नहीं हैं ॥ ४८ ॥

चित्सङ्कल्पनभस्येव भासमानानि भूरिशः ।
वासनावातनुन्नानि विलुठन्त्यात्मचेष्टितैः ॥ ४९ ॥
सुरासुरादिमशका बहुशोदुम्बरद्रुमे ।
फलानि रसपूर्णानि घूर्णमानानि मारुतैः ॥ ५० ॥
अभिजातस्वभावस्य सर्गारम्भकरस्य च ।
शुद्धचित्तत्त्वबालस्य सङ्कल्पनगराणि खे ॥ ५१ ॥
त्वमहं स इदं चेति धिया बलदृढान्यलम् ।
सम्पन्नान्यर्कदीप्त्येव पङ्कक्रीडनकानि च ॥ ५२ ॥
वृत्तानि रसशालिन्या नियत्या नित्यतृप्तया ।
वनान्युग्रफलानीव वसन्तरसलेखया ॥ ५३ ॥

---

चितिके सङ्कल्परूप आकाशमें ही ऐसे-ऐसे असंख्य जगत् भासित हो रहे हैं, वे सबके सब वासनारूपी वायुसे उड़ाये जा रहे अपनी चेष्टाओंसे विलुण्ठित हो रहे हैं—इधर-उधर लुढ़क रहे हैं ॥ ४९ ॥

परब्रह्मरूपी उदुम्बरवृक्षके अन्दर असंख्य देव, दानव आदि तो मच्छड़ हैं, और वे ब्रह्माण्ड पवनोंसे झूम रहे, भोगादि विचित्र रसोंसे परिपूर्ण उसके फल हैं अर्थात् ब्रह्मरूपी उदुम्बरवृक्षके ब्रह्माण्डरूपी फलके भीतर ये देव, दानव आदिरूप अनेक मच्छड़ विद्यमान हैं ॥ ५० ॥

चिदाकाशमें ये सब जगत् सुन्दर स्वभाववाले तथा सृष्टिरूप खेलवाड़ करनेवाले विशुद्ध चितितत्त्वरूप बालकके सङ्कल्पनगर हैं ॥ ५१ ॥

ये जगत् सङ्कल्पनगर हैं, इस बातको दृढ़ करनेमें कौन-सा हेतु है, इसे बतलाते हैं—'त्वमहम्' इत्यादिसे ।

वे सब जगत् 'तुम', 'मैं', 'यह' आदि अभिमानबुद्धिबलसे, सूर्यके दीप्तिबलसे मिट्टीके खिलौनोंके सदृश, अत्यन्त दृढ़ बनाये गये हैं ॥ ५२ ॥

निरन्तर तृप्तिसे भरी हुई तथा रागरूपी रससे परिपूर्ण कर्मोंके फलोंको अवश्य प्रदान करनेवाली नियतिने उनकी शाखोपशाखा द्वारा ऐसे वृद्धि की है, जैसे वसन्त ऋतुकी रसरेखा बड़े-बड़े फल लगनेवाले वनोंकी शाखोपशाखा द्वारा वृद्धि करती है ॥ ५३ ॥

महाकर्तृण्यकर्तृणि न कृतान्येव खानि वा ।
स्वयं सम्पन्नरूपाणि चिद्व्योम्न्येव कृतानि वा ॥ ५४ ॥

परमार्थमयान्येव तदन्यद्वोदितान्यपि ।
अलब्धान्येव लब्धानि सदाऽसन्त्येव सन्ति च ॥ ५५ ॥

चर्तुदशदशैकादिविधभूतगणानि च ।
पुनस्तान्येव तान्यन्तरन्यान्यन्यान्यथो बहिः ॥ ५६ ॥

नरकस्वर्गपातालबन्धुमित्रमयान्यपि ।
महारम्भमयान्येव शून्यानि परमार्थतः ॥ ५७ ॥

क्षीराम्बुधेर्जलानीव स्नेहसाराणि सर्वतः ।
तरङ्गभङ्गुराण्यन्तर्बहिश्चावृत्तिमन्ति च ॥ ५८ ॥

---

सृष्टिको बतलानेवाली श्रुतिकी दृष्टिसे तो उन सबका कर्ता ब्रह्म ही है और 'अपूर्वमनपरम्' इत्यादि श्रुतियोंकी दृष्टिसे उनका कर्ता ब्रह्म नहीं भी है। वास्तवमें तो वे किसीके निर्मित हैं ही नहीं, किन्तु आकाशरूप ( शून्यरूप ) ही हैं। यद्यपि वस्तुस्थिति ऐसी है, तो भी महाचितिरूप आकाशमें स्वयं ही अपने रूपको धारण कर वे स्थित हैं, परन्तु किसीके द्वारा सम्पादित भी प्रतीत होते हैं ॥ ५४ ॥

वस्तुतः ये जगत् परमार्थचिद्रूप ही हैं, फिर भी अन्यसे उत्पन्न मालूम पड़ते हैं, वस्तुतः अप्राप्त ही हैं, फिर भी प्राप्त-से प्रतीत होते हैं, सदा असद्रूप ही हैं, फिर भी सद्रूपसे भासते हैं ॥ ५५ ॥

भुवनोंकी संख्यासे चौदह, केवल देवयोनियोंकी संख्यासे दश, मनुष्य आदि एक-एक जातिको लेकर एक, यों भिन्न-भिन्न तरहके भूतसमूहोंसे युक्त वे अनेक होते हुए भी जगत् फिर एक ही रूपके हैं, किन्तु दूसरे ही रूपके भीतर और बाहर उत्पन्न होते-रहते हैं ॥ ५६ ॥

यद्यपि ये सब जगत् नरक, स्वर्ग, पाताल, बान्धव और मित्ररूप बड़े-बड़े समारोहोंसे आक्रान्त हैं, फिर भी परमार्थदृष्टिसे शून्यरूप ही हैं ॥ ५७ ॥

ये सब क्षीरसागरके जलके सदृश चारों ओर स्नेह ( प्रीति ) रूपसारसे पूर्ण, तरङ्गोंके सदृश भङ्गुर तथा भीतर और बाहरसे परिवर्तनशील हैं ॥ ५८ ॥

आभासमात्ररूपाणि तेजस्यात्मविवस्वतः ।
जातानीव स्वतस्तानि स्पन्दनानि नभस्वतः ॥ ५९ ॥
वृक्षरूपाणि पत्राणां बुद्ध्यहङ्कारचेतसाम् ।
असतामप्यसन्त्येव स्वप्ने न्यस्तनृणामिव ॥ ६० ॥
पुराणवेदसिद्धान्तकल्पनातल्पपालिषु ।
घननिद्राणि सुप्तानि बिभ्रन्ति शवतामिव ॥ ६१ ॥
परमार्थमहारण्ये चिद्गन्धर्वकृतानि वै ।
सूर्यदीपकदीप्तानि गृहाणि गहनात्मनि ॥ ६२ ॥
प्रजायमानानि नभस्यनन्ते
विशीर्यमाणानि च निर्निमित्तम् ।
तदा त्वहं वै तिमिराक्षदृष्ट-
केशोण्डूकानीव जगन्त्यपश्यम् ॥ ६३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने जगज्जालवर्णनं नामैकोनषष्टितमः सर्गः ॥५९॥

---

आत्मारूपी सूर्यके तेजके अन्दर वे केवल आभासरूप हैं और वायुसे स्पन्दनकी तरह वे सब स्वतः उत्पन्न हुए हैं ॥ ५९ ॥

ये जगत् बुद्धि, अहङ्कार और चित्तरूपी पत्तोंके लिए एक तरहसे पेड़ ही हैं । तथा जैसे स्वप्नमें निरन्तर अस्त स्वभिन्न मनुष्योंके दृश्य असत्य हैं, वैसे ही स्वभिन्नरूपसे देखनेवालोंको भी साधारणरूप होनेके कारण वे असत्य-रूप ही हैं ॥ ६० ॥

पुराण, वेदके सिद्धान्तरूप कल्पनाओंके स्वप्नोंमें दृढ़विश्वासरूपी गाढ निद्रा लेकर सोये हुए ये जगत् तत्त्वज्ञानका अत्यन्त ही अभाव होनेके कारण मानो मृतकोंका स्वरूप धारण किये हुए हैं ॥ ६१ ॥

भद्र, परमार्थभूत ब्रह्मरूपी महान् जङ्गलमें मायोपहित चितिरूप गन्धर्वके द्वारा बनाये गये तथा सूर्यरूपी दीपकोंसे प्रकाशित वे जगत्-रूपी घर महान् गहन हैं यानी उनका असली स्वरूप जानना बड़ा ही कठिन है ॥ ६२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मैंने उस समयकी समाधिमें अनन्त चिदाकाशमें किसी

## षष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

ततोऽहमभितो भ्रान्तस्तादृशं प्रविचारयन् ।
बहुकालमसंरुद्धसंविदाकाशतां गतः ॥ १ ॥
शब्दं पश्चात्तमश्रौषमहं वीणास्वनोपमम् ।
क्रमात्स्फुटपदं जातं तत आर्यात्वमागतम् ॥ २ ॥
शब्ददेशपतद्दृष्टिर्दृष्टवान्वनितामहम् ।
पार्श्वे कनकनिस्पन्दप्रभया भासिताम्बराम् ॥ ३ ॥
आलोलमाल्यवसनामलकाकुललोचनाम् ।
लोलद्भ्रूम्मिल्लवलनामन्यां श्रियमिवागताम् ॥ ४ ॥

---

कारणके बिना उत्पन्न हुए तथा किसी कारणके बिना ही जीर्ण-शीर्ण हो जानेवाले अनन्त जगत्, जो तिमिर रोगयुक्त आँखोंसे दिखाई पड़नेवाले केशोण्डूकके सदृश भ्रान्तिमात्रसे सिद्ध थे, देखे ॥ ६२ ॥

उनसठवाँ सर्ग समाप्त

---

## साठवाँ सर्ग

[ वसिष्ठजीको समाधिमें शब्द करनेवाली स्त्रीका अवलोकन तथा उसकी उपेक्षा करनेपर फिर अनेक विचित्र जगत्‌का दर्शन ]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामभद्र, इतने असंख्य संसार देखनेके बाद मैंने शब्दके कारणको ढूँढ़ता-ढूँढ़ता चारों ओर बहुत कालतक खूब भ्रमण किया। तदनन्तर मैं आवरणरहित संविदाकाशरूप बन गया ॥ १ ॥

जब मैं उक्त आकाशरूप बन गया, तब मैंने वीणाके शब्दके सदृश शब्द सुना, क्रमशः उसके पद भी स्फुट हो गये, फिर मुझे यह भी मालूम होने लगा कि ये शब्द आर्या छन्दके हैं ॥ २ ॥

अनन्तर मेरी योगदृष्टि पासमें ही, जहाँसे शब्द हो रहा था, उस देशमें पड़ गई। मैंने वहाँ एक स्त्री देखी, उसने अपनी कनक-जैसी स्पन्दनशील प्रभासे चारों ओरके आकाशमण्डलको प्रकाशित कर दिया था ॥ ३ ॥

उसके गलेकी माला और पहिने हुए वस्त्र खूब फरफरा रहे थे, उसके

कान्तकाञ्चनगौराङ्गीं मार्गस्थनवयौवनाम् ।
वनदेवीमिवामोदिसर्वावयवसुन्दरीम् ॥ ५ ॥
सा पूर्णचन्द्रवदना पुष्पप्रकरहासिनी ।
यौवनोद्दामवदना पक्ष्मलक्षणशालिनी ॥ ६ ॥
आकाशकोशसदना शशाङ्ककरसुन्दरी ।
मुक्ताकलापरचना कान्ता मदनुसारिणी ॥ ७ ॥
स्वरेण मधुरेणैवमार्यामार्यविलासिनी ।
पपाठाकठिनं वामा मत्पार्श्वे मृदुहासिनी ॥ ८ ॥
असदुचितरिक्तचेतन-
संसृतिसरिति प्रमुह्यमानानाम् ।
अवलम्बनतटविटपिन-
मभिनौमि भवन्तमेव मुने ॥ ९ ॥

---

लोचन कानोंके केशोंको भी व्याकुल किये थे उसके माथेकी वेणी बड़ी ही चञ्चल थी, मालूम ऐसा होता था, मानो साक्षात् लक्ष्मी ही आई हुई हैं ॥ ४ ॥

उसके अङ्ग कमनीय सुवर्णके सदृश गौरवर्णके थे, मार्गस्थ पथिकके सदृश उसका नवीन यौवन धीरे-धीरे जा रहा था, वनदेवीके सदृश चारों ओर सुगन्ध भर देनेवाले सम्पूर्ण नखशिखान्त अवयवोंके कारण वह बड़ी ही आंखोंको सुन्दर लग रही थी ॥ ५ ॥

उसका मुख तो पूर्णचन्द्रके सदृश था, उसका हास्य फूलके ढेर-सा लुभावना था, यौवनके कारण उसका आनन कुछ उद्दण्ड-सा लगता था, बरौनीके उत्तम लक्षणोंसे ( चिह्नोंसे ) उसकी शोभा देखते ही बनती थी ॥ ६ ॥

आकाशका कोश ही उसके रहनेका घर था, वह सुन्दर तो इतनी थी कि जितनी शशाङ्क—चन्द्रमाकी किरणें । उसने मोतियोंका बनाया गया अर्धचन्द्राकार हार पहना था और उसकी चेष्टा मेरी ओर आनेकी मालूम होती थी ॥ ७ ॥

भद्र, उस वामाने मेरे पासमें आकर अत्यन्त मधुर स्वरसे मृदु एक आर्या पढ़ी, उस स्त्रीका विलास आर्योंके जैसा ही था, उस समय उसके मुखमें कोमल हास्य निखर रहा था ॥ ८ ॥

उसी आर्या छन्दको बतलाते हैं—'असदु०' इत्यादिसे ।

इत्याकर्ण्याहमालोक्य तां चारुवदनस्वनाम् ।
ललनेयं किमनयेत्यनादृत्यैव तां गतः ॥ १० ॥
ततो जगद्-वृन्दमयीं मायां संप्रेक्ष्य विस्मितः ।
अनादृत्यैव तां व्योम्नि विहर्तुमहमुद्यतः ॥ ११ ॥
ततस्तां तत्कृतां चिन्तामलमुत्सृज्य खे स्थिताम् ।
जगन्मायां कलयितुं व्योमात्माऽहं प्रवृत्तवान् ॥ १२ ॥
यावत्तानि तथोग्राणि जगन्ति सकलानि खम् ।
शून्यमेव यथा स्वप्ने सङ्कल्पे कथने तथा ॥ १३ ॥
न पश्यन्ति न शृण्वन्ति कदाचित्कानिचित्क्वचित् ।
तानि कल्पमहाकल्पमहाजन्मैकतान्यथ ॥ १४ ॥

'हे मुने, खल पुरुषोंके लिए ही अपनी योग्यता रखनेवाले काम, क्रोध आदि जितने दोष हैं, उनसे आपका अन्तःकरण सर्वथा अलिप्त है, आप संसार-रूपी नदीमें डूब जानेवाले जीवोंके लिए तीरस्थ आश्रयरूप वृक्ष हैं, अतः मैं आपको ही चारों ओरसे प्रणाम करती हूँ' ॥ ९ ॥

वह सुनकर आपने क्या किया, इस प्रश्नपर कहते हैं—'इत्या०' इत्यादिसे।

भद्र, यह सुनकर और उस सुन्दरमुखी एवं मधुरशब्दवाली रमणीको देखकर मैंने सोचा—यह तो स्त्री है, इससे मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा। यों उसके प्रति उपेक्षाकर वहाँसे मैं आगे बढ़ा ॥ १० ॥

उसके बाद मैंने असंख्य जगत्से युक्त माया देखी, उसे देखकर मुझे अत्यन्त आश्चर्य हुआ, उसका भी अनादर ही कर आकाशमण्डलमें विहार करनेके लिए मैं उद्यत हो गया ॥ ११ ॥

तदनन्तर मायाजनित उस चिन्ताको छोड़कर शून्यस्वभाव आकाशमें स्थित जगन्मायाको चिदाकाशरूप होकर जाननेके लिए मैंने ज्योंही प्रवृत्ति की, त्योंही वे सब जगत् उस तरह शून्यरूप हो गये, जिस तरह स्वप्न, मनोराज्य और कथार्थप्रकाशनमें जगत् शून्यरूप हो जाते हैं ॥ १२,१३ ॥

भद्र, यतः ये सब शून्यरूप हैं, इसलिए परमार्थदशामें ये कोई जगत् कहीं किसी समय न तो देखते हैं और न सुनते ही हैं। अतएव वे सब कल्प, महाकल्प और सर्गमें एकरूप ही हैं यानी उन सब सृष्टियोंकी उन कल्पादिमें समानरूपता ही है ॥ १४ ॥

प्रमत्तपुष्करावर्तानुन्मत्तोत्पातमारुतान् ।
स्फुटिताद्रीन्द्रढाकारघटितब्रह्ममण्डपान् ॥ १५ ॥
ज्वलत्कल्पाग्निविस्फोटचटदैडविडास्पदान् ।
प्रतपद्द्वादशाकारकन्दुमार्तण्डमण्डलान् ॥ १६ ॥
लुठत्सुरपुरव्रातविततात्रन्दघर्घरान् ।
रणत्सर्वाद्रिकटकश्रेणीनिगिरणोद्भटान् ॥ १७ ॥
कल्पाग्निज्वलनोल्लासपठत्पटपटारवान् ।
आत्मभ्रंशबृहत्क्षोभक्षुब्धाम्बरमहार्णवान् ॥ १८ ॥
देवासुरनरागारघर्घराक्रन्दकर्कशान् ।
सप्तार्णवमहापूरपूरिताकेंन्दुमण्डलान् ॥ १९ ॥

---

भद्र, जिनमें उन्मत्त पुष्करावर्त नामके प्रलयकारी मेघ बरसते हैं, उन्मत्त उत्पातकारी वायु बहती है तथा तोड़े गये बड़े-बड़े पर्वतोंके भयङ्कर शब्दोंसे ब्रह्माण्डमण्डपको जिन्होंने व्याप्त कर दिया है, ऐसे तत्-तत् जगत्के अन्दर प्रवृत्त हुए भी कल्पान्तोंको, ये जगत् परस्पर नहीं जान पाते ॥ १५ ॥

धधक रही प्रलयाग्निके विस्फोटोंसे कुबेरके भवन जिनमें चट-चट शब्द कर रहे हैं, जिनमें आकारमें गेंदके सदृश बारह आदित्य मण्डल आकाशमें चक्कर काटते रहते हैं, ऐसे कल्पान्तोंको वे परस्पर नहीं देख पाते ॥ १६ ॥

इधर-उधर लुढकते हुए देवनगरोंके समूहोंके व्यापक क्रन्दनोंके कारण घर्घर शब्द कर रहे समस्त पर्वतोंकी नितम्बश्रेणियोंको निगल जानेमें अतिउद्भट कल्पान्त कालोंको वे जगत् परस्पर नहीं जानते ॥ १७ ॥

प्रलयकालकी भयङ्कर अग्निकी ज्वालाओंके विलासोंसे विस्पष्टरूपसे पट-पट शब्द कर रहे तथा आत्माके असली स्वभावके ध्वंससे ( अज्ञानसे ) उत्पन्न बड़े क्षोभोंके सदृश जलचरोंके क्षोभसे क्षुब्ध हुए आकाशरूपी महासमुद्रसे युक्त कल्पान्तोंको वे परस्पर नहीं जानते ॥ १८ ॥

देवता, दानव और मनुष्योंके घरोंके घर्घर क्रन्दनध्वनियोंसे, जो अतिकर्कश हैं तथा द्युलोक तक सात समुद्रोंको बढ़ाकर उनकी महाबाढसे जो सूर्य एवं चन्द्रके मण्डलोंको भी जलसे भर देते हैं, उन कल्पान्तोंको वे जगत् परस्पर नहीं देखते ॥ १९ ॥

न विचेतन्ति कल्पान्तान् सर्वाण्येव परस्परम् ।
एकमन्दिरसंसुप्ताः स्वप्ने रणरयानिव ॥ २० ॥
तत्र रुद्रसहस्राणि ब्रह्मकोटिशतानि च ।
दृष्टानि विष्णुलक्षाणि कल्पवृन्दान्यलं मया ॥ २१ ॥
तत्र क्वचिदनादित्ये निरहोरात्रभूतले ।
अकल्पयुगवर्षान्ते जगत्यूहैः क्षयोदयः ॥ २२ ॥
चिति सर्वं चितः सर्वं चित्सर्वं सर्वतश्च चित् ।
चित्सत्सर्वात्मिकेत्येतद्दृष्टं तत्र मयाऽखिलम् ॥ २३ ॥
त्वं किञ्चिदिति चेद्वक्षि तत्र किञ्चिदिवाङ्ग चित् ।
सा हि शून्यतमा व्योम्नो न च नाम न किञ्चन ॥ २४ ॥

---

भद्र, उन वर्णित जगतोंमें एक दूसरेके भीतर इस तरहके कल्पान्तकाल प्रवृत्त हुए रहते हैं, परन्तु वे सभी जगत् एक दूसरेमें प्रवृत्त कल्पान्तोंको उस तरह नहीं जान पाते, जिस तरह एक मकानमें सोये हुए पुरुष स्वप्नमें एक दूसरेके रणशब्दको ॥ २० ॥

इस प्रकार जगत्की प्रासङ्गिक परस्पर शून्यताका वर्णनकर अब प्रस्तुत विषय कहते हैं—'तत्र०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उन ब्रह्माण्डोंमें मैंने हजारों रुद्र, सैकड़ों करोड़ ब्रह्मा, लाखों विष्णु और असंख्य कल्प देखे ॥ २१ ॥

भद्र, उस तरह अनेक प्रकारके जो ब्रह्माण्ड आपको बतलाये, उनमें जो चितिरूप वस्तु है, उसीमें तर्कोंसे यानी सङ्कल्पोंसे उनका विनाश और उदय मैंने देखा । चिद्वस्तुमें न तो आदित्यमण्डल है, न दिन, रात या भूतल है और न कल्प, युग और वर्षाकी समाप्ति ही है ॥ २२ ॥

अस्तु, कल्पनासे ही उदय और अस्त है, इससे प्रकृतमें क्या आया, इसपर कहते हैं—'चिति०' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, सब कुछ चेतनमें ही है, सब कुछ चेतनसे ही है, चेतन ही सब कुछ है, चारों ओरसे चेतन ही चेतन है, चेतन ही सत् है, सर्वात्मक भी चेतन ही है—यही मैंने अन्वय-व्यतिरेकसे परीक्षाकर वहाँ देखा ॥ २३ ॥

किस प्रकारके तर्कसे चेतनमें किस तरहका उदय है और किस तरहका क्षय है, इसका उदाहरण देते हैं—'त्वम्' इत्यादिसे ।

तदाकाशमिदं भाति जगदित्यभिशब्दितम् ।
तेनैव शब्दनभसा सर्वं हि परमं नभः ॥ २५ ॥
दृश्यदृष्टिरियं भ्रान्तिराकाशतरुमञ्जरी ।
चिद्व्योमाङ्ग कमेवेति तत्राहमनुभूतवान् ॥ २६ ॥
बुद्ध्याकाशैकरूपेण व्यापिना बोधरूपिणा ।
तत्रानन्तेन सङ्कल्पमनुभूतमिदं मया ॥ २७ ॥
ब्रह्मव्योम जगज्जालं ब्रह्मव्योम दिशो दश ।
ब्रह्मव्योम कलाकालदेशद्रव्यक्रियादिकम् ॥ २८ ॥

हे श्रीरामजी, यदि आप किसी भी दशामें किसी रूपकी कल्पनाकर नामसे यह कहते हैं कि यह घट है, यह पट है, तो उस दशामें आपके द्वारा प्रयुक्त तत्-तत् नामरूपसे युक्त चिति ही हो जाती है, यही उदय है। यही चिति आकाशसे भी शून्यतम जब विवक्षित होती है, तब किसी नाम या रूपसे युक्त नहीं होती—यही उसका विनाश है ॥ २४ ॥

किञ्च, यह सारा नामरूपात्मक जो जगत् है, वह नामरूपात्मक कल्पनाके द्वारा आकाश ही भासता है, क्योंकि आकाश ही वायु आदि क्रमसे जगत्के आकारमें बन जाता है, यह बात श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है और वही शब्द-तन्मात्ररूप होनेके कारण सब वस्तुओंके लिए साधारण नामात्मक भी बन जाता है। अतः 'तत्त्वमसि' आदि शब्दरूपसे परिणत आकाशके कारण सब जगत् परम चिदाकाशरूप ही है, वही इसका आत्यन्तिक क्षय है ॥ २५ ॥

यों विचार करनेपर अपनेको जो अनुभव हुआ, उसे महाराज वसिष्ठजी बतलाते हैं—'दृश्य०' इत्यादिसे।

हे प्रिय श्रीरामजी, यह जो दृश्योंका ज्ञान होता है, वह भ्रम ही भ्रम है, यह आकाशवृक्षकी मञ्जरी ही है यानी असत् है, इसलिए जगत्में परिशिष्ट जो चिदाकाश है, वही सुख यानी निरतिशयानन्दरूप है—इसका मैंने अनुभव किया ॥ २६ ॥

अन्तिम साक्षात्कारकी जो वृत्ति है, तद्रूप आकाशमें आविर्भाव हो जानेके कारण एकरूप, पूर्णात्मक, अनन्त तथा बोधस्वरूप हुए मैंने उक्त समाधिमें यह सङ्कल्पशून्य अनुभव किया ॥ २७ ॥

यह सम्पूर्ण जगत्का बिछा हुआ जाल ब्रह्मरूप निर्मल आकाश ही है,

तत्राऽहमिव संसारशते भाते मुनीश्वराः ।
दृष्टा वसिष्ठनामानो ब्रह्मपुत्राः सदुत्तमाः ॥ २९ ॥
ब्रह्मन् द्वासप्ततिस्त्रेताः सर्वा एव सराघवाः ।
तत्र दृष्टं कृतशतं द्वापराणां शतं तथा ॥ ३० ॥
भेदोदयेन वै दृष्टास्तास्ताः सर्गदशास्तथा ।
बोधेन चेत्तदत्यच्छमेकं ब्रह्म नभस्ततम् ॥ ३१ ॥
नेदं ब्रह्मणि नामास्ति जगद्ब्रह्मण्यथ त्विदम् ।
ब्रह्मैवाजमनाद्यन्तं तत्सर्वं तत्पदादिकम् ॥ ३२ ॥
पाषाणमौनप्रतिमं न किञ्चिदभिशब्दितम् ।
यत्तत्किञ्चिदिति द्योतरूपं ब्रह्म जगत्स्मृतम् ॥ ३३ ॥
विभात्यचेत्यं चिद्व्योम्नि स्वसत्तैव जगत्तया ।
निराकारे निराकारा स्वप्नानुभवसन्निभा ॥ ३४ ॥

---

जगत्के अन्तर्गत दसों दिशाएँ, तदन्तर्गत कला, काल, देश, द्रव्य, क्रिया आदि सब कुछ चिदाकाश ब्रह्मरूप ही है, यह मैंने देखा ॥ २८ ॥

श्रीरामजी, वासनानुसार अनेक तरहकी भिन्नताको लिये हुए जो संसार मुझे दिखाई दिये, उनमें आकारोंमें मेरे सदृश वसिष्ठ नामके बड़े उत्तम-उत्तम, ब्रह्माके पुत्र अनेक मुनीश्वर देखे ॥ २९ ॥

हे ब्रह्मन्, वहाँ मैंने बहत्तर त्रेतायुग देखे। वे सभी रामावतारसे युक्त थे, सैकड़ों सत्ययुग देखे और सैकड़ों द्वापर देखे ॥ ३० ॥

भेदवासनाकी प्रबलतासे तत्-तत् सर्गोंकी अवस्थाएँ अनेक तरहकी मैंने देखीं और तत्त्वदृष्टिसे तो उन सबको व्यापक ब्रह्मरूप आकाश ही देखा ॥३१॥

इस स्थितिमें दृष्टिभेदसे ब्रह्म सप्रपञ्च और निष्प्रपञ्च हो सकता है, इस विषयमें विरोध हो ही नहीं सकता, यह कहते हैं—'नेदम्' इत्यादिसे ।

न तो ब्रह्ममें यह जगद्रूप नाम है और न उसमें जगद्रूप वस्तु ही है, किन्तु वह सब अन्तिम प्राप्य तत्पदादिरूप, अज, आदि-अन्तशून्य ब्रह्मरूप ही है ॥३२॥

जो ब्रह्मरूप पाषाणके सदृश सब तरहके वाणीके व्यापारोंसे रहित है, समस्त नाम और रूपोंसे शून्य है और प्रकाशरूप है, वही कुछ नामरूपात्मक बन जाता है, और वही जगत्के वेषमें स्मृत है ॥ ३३ ॥

वास्तवमें चेत्य तो चिदाकाशमें है नहीं, परन्तु चितिकी अपनी सत्ता ही

अनन्यमात्मनो ब्रह्म सर्वं भामात्ररूपकम् ।
प्रकाशनमिवालोकः करोति न करोति च ॥ ३५ ॥
तेषु नामानुभूयन्ते जगल्लक्षेषु तत्र वै ।
उष्णानि चन्द्रबिम्बानि सूर्याः शीतलमूर्तयः ॥ ३६ ॥
प्रजास्तमसि पश्यन्ति पश्यन्त्येव न तेजसि ।
उलूकस्य समाचारास्तस्यैव सदृशस्वराः ॥ ३७ ॥
इतः शुभेन नश्यन्ति यान्ति पापैस्तथा दिवम् ।
विषाशनेन जीवन्ति म्रियन्तेऽमृतभोजनैः ॥ ३८ ॥
यद्यथा बुध्यते बोधे यथोदेत्यथवा स्वतः ।
तथाऽऽशु स्फुटतामेति सद्वाऽसद्वा तदेव तत् ॥ ३९ ॥

---

जगत्के रूपमें भासती है। वह स्वप्नके अनुभवके सदृश भ्रान्तिरूप है, अतः निराकार ब्रह्ममें भास रही सृष्टि वास्तवमें निराकाररूप ही है ॥ ३४ ॥

एकमात्र प्रकाशरूप ब्रह्म अपने अनन्य ( अभिन्न ) सब कुछ उस तरह करता है और नहीं भी करता, जिस तरह आलोक प्रकाश करता है और नहीं भी करता। आलोक अपनेसे अतिरिक्त प्रकाश न होनेके कारण प्रकाशको नहीं करता, यह कहना वास्तवमें ठीक ही है ॥ ३५ ॥

जगत् चिद्रूप ही है, तब चन्द्र शीतल और सूर्य गरम क्यों। उलटा भी हो सकता है, यदि यह कहें, तो यह इष्ट ही है, क्योंकि किसी ब्रह्माण्डमें वैसा भी देखनेमें आया है, यों कहते हैं—'तेषु' इत्यादिसे।

भद्र, जो लाखों जगत् समाधिमें अनुभूत होते हैं, उनमें कहींपर चन्द्रबिम्ब गरम और सूर्यबिम्ब ठण्ढे भी अनुभूत होते हैं और इसी तरहके हैं भी ॥ ३६ ॥

कहींपर अन्धकारमें प्रजाएँ देखती हैं और कहीं प्रकाशमें भी नहीं देखतीं। ठीक उल्लुओंके जैसा उनका व्यवहार है और उन्हींके जैसा वे शब्द भी करती हैं ॥ ३७ ॥

कहीं तो प्राणी पुण्यसे नष्ट हो जाते हैं और कहीं पापोंसे स्वर्ग जाते हैं, कहींपर विषभोजनसे दीर्घकालतक जीते हैं, तो कहींपर अमृतपानसे मर जाते हैं [ यह मनकी अनियन्त्रित कल्पना होनेके कारण कहा गया है, वस्तुतः ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इससे तो वेदमें भी अप्रामाण्य आ सकता है ] ॥ ३८ ॥

ऐसा क्यों, इसपर कहते हैं—'यत्' इत्यादिसे।

विटपाकारमूलौघदर्शनाद्वज्रशोभिभिः ।
घूर्णते पत्रपुष्पाभैः पादपैर्व्योम्नि काननम् ॥ ४० ॥
सिकताः पीडिताः सत्यः स्रवन्ति स्नेहजं रसम् ।
शिलाफलककेभ्यश्च जायन्ते कमलान्यलम् ॥ ४१ ॥
दारुण्यश्मनि भित्तौ च चञ्चलाः शालभञ्जिकाः ।
देवाङ्गनाभिः सहितं गायन्ति कथयन्ति च ॥ ४२ ॥
मेघान्परिदधत्युच्चैर्भूतान्युच्चैः पटानिव ।
प्रतिवर्षं विजातीयान्युत्पद्यन्ते फलान्यगे ॥ ४३ ॥

---

भद्र, दीर्घकालके अभ्याससे दृढ़ किये गये बोधमें जो वस्तु जैसी हित-साधन या अहितसाधनके रूपमें समझ ली जाती है, वह वैसी ही स्वयं अपने भोग-हेतु अदृष्टके कारण बन जाती है। जैसी बनती है, ठीक वैसी ही भोगकालमें विस्पष्ट बन जाती है। वह वस्तु दूसरी जगह सत् हो या असत् हो, इस विषयमें कुछ भी विशेषता नहीं रखती, क्योंकि वह ब्रह्मरूप ही है और वह ब्रह्म ही वासनानुसार वैसा विवर्तित हो जाता है ॥ ३९ ॥

इस ब्रह्माण्डमें प्रसिद्ध जो अरण्य है, उससे विपरीत पत्र, पुष्प आदिसे सम्पन्न अरण्य अन्य ब्रह्माण्डमें प्रसिद्ध है, यह कहते हैं—'विटपा०' इत्यादिसे।

श्रीरामजी, कहींपर तो चिदाकाशमें शाखाओंके सदृश वृक्षोंके मूल दिखाई देते हैं, इसलिए वज्रमणिके सदृश अत्यन्त दृढ़, पत्र, पुष्प आदिसे सुशोभित वृक्षोंसे युक्त अरण्य विद्यमान है ॥ ४० ॥

इसी तरह हजारों असम्भावित वस्तुओंका अन्यत्र सम्भव है, यह कहते हैं—'सिकताः' इत्यादिसे।

श्रीरामजी, कहीं पर तो कोल्हूमें पीसे जानेपर बालूसे भी स्नेहजनित रस यानी तेल चूता है और कहींपर शिलाओंके ऊपरी हिस्सोंमें अनेक सुन्दर कमल उगते है ॥ ४१ ॥

कहीं लकड़ी, पत्थर और भीतके ऊपर निर्मित पुतलियां देवाङ्गनाओंके साथ गान और वार्ता करती हैं ॥ ४२ ॥

भद्र, कहींपर लम्बे-लम्बे प्राणी लम्बे वस्त्रोंके सदृश मेघोंको बड़े चावसे पहिनते हैं और कहींपर एक ही वृक्षके ऊपर प्रत्येक वर्षमें भिन्न-भिन्न जातिके फल लगते हैं ॥ ४३ ॥

सन्निवेशैर्न नियतैरङ्गानां विविधाङ्ककैः ।
शिरोभिः सर्वभूतानि परिक्रामन्ति भूमिगैः ॥ ४४ ॥
शास्त्रवेदविहीनानि निर्धर्माण्येव कानिचित् ।
यत्किञ्चनैककारीणि तिर्यग्वन्ति जगन्त्यधः ॥ ४५ ॥
कामसंवित्तिहीनानि निःस्त्रीजातानि कानिचित् ।
भूतैः संशुष्कहृदयैर्व्याप्तान्यश्ममयैरिव ॥ ४६ ॥
पवनाशनभूतानि समरत्नाश्मकानि च ।
अजातार्थान्यलुब्धानि निगर्वाणीव कानि च ॥ ४७ ॥
क्वचित्प्रत्येकमात्मानं पश्यत्याप्नोति नेतरत् ।
बहुभूतकमप्यस्ति जगदित्येकभूतकम् ॥ ४८ ॥

कहींपर एक जातिके प्राणियोंके अङ्गोंकी गठन ही अलग-अलग प्रकारकी है, कहींपर एक जातिके प्राणियोंके अङ्ग जुदे-जुदे आकारके दिखाई पड़ते हैं, कहींपर सिर ऊपरकी ओर नहीं है, किन्तु भूमितलपर है, इस तरह चित्र-विचित्र प्राणी घूमते दिखाई देते हैं ॥ ४४ ॥

कहींपर भूमि आदि लोकोंके नीचेके जगत् केवल पशु आदि प्राणियोंसे ही भरे हैं, उनमें मनुष्योंका नाम ही नहीं है, न तो इनमें वेद और शास्त्रका प्रचार है, न कोई धर्म है, न इनका कोई उत्तम आचरण है यानी यथेष्टाचरण करनेवाले हैं ॥ ४५ ॥

यतः कोई तो प्राणी कामसंवित्तिसे हीन हैं, अतः वे स्त्रीके बिना यों ही कहींपर पैदा हो गये हैं । कहींपरके जगत् तो पत्थरमय शुष्क हृदयवाले प्राणियोंसे भरे पड़े हैं ॥ ४६ ॥

कहींपर तो केवल सर्प ही सर्प हैं, कहींपर तो सभी रत्न ही रत्न हैं या तो पत्थर ही पत्थर हैं, कहींपर तो धन आदिका व्यवहार ही नहीं है, अतएव लोभरहित हैं और कहींपर प्राणियोंमें अहङ्कारकी मात्रा ही नहीं है ॥ ४७ ॥

कहींपर व्यष्टि-अहम्भाव नहीं है, केवल समष्टि-अहम्भावरूप एकात्म-भावसे ही सब शरीरोंमें भेदव्यवहार होता है, यह कहते हैं—'क्वचित्' इत्यादिसे ।

कहींपर प्रत्येक प्राणी अपनी समष्टि आत्माको देखता है और दूसरे

नखकेशादिके यद्वत्तद्वदन्यत्र संस्थितः ।
आत्मवत्सर्वभूतानामेकीभूतात्मभावना ॥ ४९ ॥
अनन्तापारपर्यन्तं शून्यमेव बहु क्वचित् ।
यत्नतः संविदाप्नोति तस्यान्तेन जगत्पुनः ॥ ५० ॥
अत्यन्ताबुद्धबुद्धानि मोक्षशब्दार्थदृष्टिषु ।
दारुयन्त्रमयाशेषभूतौघानीव कानिचित् ॥ ५१ ॥
ऋक्षचक्रविहीनानि निष्कालकलनानि च ।
मूकसङ्केतसाराणि भूतजालानि कानिचित् ॥ ५२ ॥

---

व्यक्तिको देखता या पाता ही नहीं। ऐसा होनेपर भी वह लोक योनिज आदि चार प्रकारके प्राणियोंसे युक्त है और एक-एक तरहके प्राणियोंसे भी युक्त है ॥ ४८ ॥

देहोंका भेद होनेपर भी एकीभूत आत्माकी भावना किस तरहकी है, इस प्रश्नपर कहते हैं—'नख०' इत्यादिसे।

भद्र, कोई पुरुष अपने नख, केश आदिके उतारने और उत्पन्न होनेपर अपना निजी छेदन और जनम देखता है, इसलिए वह अपनी अन्यत्र स्थिति मानता है। परन्तु उसके सौन्दयादि सुखभोगमें उसकी एकीभूत आत्मभावना ही जैसे देखी जाती है, ठीक ऐसे ही सब भूतोंमें उनकी एकीभूत आत्मभावना ही देखी जाती है ॥ ४९ ॥

कहींपर तो सृष्टिभेदकी वासना ही नहीं रहती, इसलिए अव्याकृत आकाश-मात्ररूपतासे ही वहां भावना होती है, यह कहते हैं—'अनन्ता०' इत्यादिसे।

कहींपर तो अधिकतर चारों ओर अनन्त अपारशून्य ही शून्य है। कहीं-पर प्राणी यत्नसे आत्मचिति प्राप्त करता है, तो शून्यके तिरस्कारसे फिर जगत् देखता है ॥ ५० ॥

भद्र, कुछ जगत् निर्विशेष परब्रह्मकी दृष्टि हो जानेपर वे अलीककी तरह ज्ञात होते हैं, कहींपर चितिका पृथक्करण कर देखनेपर काष्ठयन्त्रमय ( हाथी, घोड़े आदिरूप ) सब प्राणी देखे गये हैं ॥ ५१ ॥

कुछ जगत् तो नक्षत्रचक्रसे ही रहित हैं, अतएव कालगतिका ही वहां पता नहीं लगता। कुछ तो शब्द, श्रोत्र आदिके अभावके कारण मूक पुरुषोंके

कानिचिद्वर्जितान्येव नेत्रशब्दार्थसंविदा ।
व्यर्थदीप्तात्मतेजांसि भूतानीत्येकचिन्तया ॥ ५३ ॥
घ्राणसंद्विहीनानि व्यर्थामोदानि कानिचित् ।
मूकानि शब्दवैयर्थ्याच्छ्रुतिहीनानि कानिचित् ॥ ५४ ॥
वाक्यसंविद्विहीनत्वान्मूकान्यन्यानि कानिचित् ।
स्पर्शसंविद्विहीनत्वादश्माङ्गानीव कानिचित् ॥ ५५ ॥
संविन्मात्रमयान्येव दृष्टान्यपि च कानिचित् ।
व्यवहारीण्यप्यग्राह्याण्येव नित्यं पिशाचवत् ॥ ५६ ॥
भूमयान्येकनिष्ठानि निष्पिण्डान्येव कानिचित् ।
कानिचिद्वारिपूर्णानि वह्निपूर्णानि कानिचित् ॥ ५७ ॥
कानिचिद्वातपूर्णानि सर्वाकाराणि कानिचित् ।
जगन्ति व्योमरूपाणि बत तत्र कचन्ति खे ॥ ५८ ॥

---

सदृश हाथ आदिके संकेतोंके बलपर ही अपना सारा व्यवहार निभाते हैं ॥५२॥

कहींपर ऐसे प्राणी देखे कि नेत्रशब्द, नेत्ररूप इन्द्रिय और नेत्रजनित रूप आदिका दर्शन—इन सबसे वे वञ्चित थे, अतएव उनके लिए सूर्य और चन्द्र आदिके प्रकाश निरर्थक ही रहे । भद्र, इस प्रकारकी जो जगत्‌की रचना है, वह एकाग्रचित्त योगीके मनकी कल्पनासे मैंने आपसे कही ॥ ५३ ॥

भद्र, कुछ तो प्राणी घ्राणेन्द्रिय और इससे होनेवाले गन्धज्ञानसे रहित हैं, कुछ निरर्थक ही आमोद-प्रमोद करनेवाले हैं, कुछ शब्देन्द्रियकी शक्तिसे रहित होनेके कारण मूक हैं और कुछ श्रोत्रेन्द्रियसे रहित हैं ॥ ५४ ॥

कुछ दूसरे वाक्यार्थबोध न होनेके कारण मूक हैं, कुछ स्पर्शज्ञानशून्य होनेके कारण पत्थरके अङ्गोंके सदृश त्वगिन्द्रियरहित हैं ॥ ५५ ॥

कुछ तो मनोराज्यके सदृश विचित्र ही देखे गये, कुछ तो व्यवहार करनेवाले हैं, परन्तु पिशाचोंके सदृश उद्‌भूत गुणोंसे उनकी रचना न होनेके कारण सदा इन्द्रियवेद्य ही नहीं हैं अर्थात् केवल साक्षीसे ही उनका ग्रहण होता है ॥५६॥

कुछ तो जगत् केवल भूमिमय हैं, उनकी स्थिति एक-सी है, कुछ घनतासे रहित हैं, कुछ केवल जलसे भरे हैं और कुछ अग्निसे पूर्ण हैं ॥ ५७ ॥

कुछ जगत् वायुओंसे परिपूर्ण हैं, कुछ सभी तरहके आकारोंसे परिपूर्ण हैं,

धरापीठैकपूर्णेषु तिष्ठन्त्यन्येषु देहिनः ।
भेका इव शिलाकोशे कीटा इव धरोदरे ॥ ५९ ॥
जलैकपरिपूर्णेषु तिष्ठन्त्युर्वीवनाद्रिषु ।
भ्रमन्त्यन्येषु भूतानि नित्यमेवोग्रमीनवत् ॥ ६० ॥
अन्येष्वग्न्येकपूर्णेषु जलादिरहितान्यपि ।
भूतान्यग्निमयान्येव स्फुरन्त्यलमलातवत् ॥ ६१ ॥
अन्येष्वनिलपूर्णेषु भूतान्यस्तेतराण्यपि ।
वातमात्रमयाङ्गानि स्फुरन्त्यर्जुनवातवत् ॥ ६२ ॥
अन्येषु व्योममात्रात्मदेहेषु व्योमरूपिणः ।
प्राणिनः सन्ति सर्गेषु दर्शनव्यवहारिणः ॥ ६३ ॥

---

यानी समस्त कार्योंमें समर्थ समस्त वस्तुओंसे परिपूर्ण हैं । आश्चर्य है कि कुछ तो आकाशरूप ही हैं, फिर भी चिद्रूप आकाशमें वे स्फुरित होते हैं ॥ ५८ ॥

'कुछ जगत् केवल पृथ्वीमय हैं' यह जो कहा गया है, इस विषयमें भूत जीवोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, इस प्रकार होनेवाली शङ्काका परिहार करते हैं—'धरा०' इत्यादिसे ।

कुछ जो केवल भूमिपृष्ठपूर्ण अन्य जगत् हैं, उनमें जीव उस तरह निवास करते हैं, जिस तरह शिलाकोशके भीतर मेढ़क या भूमिके उदरमें कीड़े ॥ ५९ ॥

जो कुछ दूसरे केवल जलसे ही परिपूर्ण पृथ्वी, वन, पर्वत आदि हैं; उनमें भी प्राणी, मगरके सदृश, निरन्तर ही घूमा करते हैं ॥ ६० ॥

दूसरे जो जगत् केवल अग्निसे ही पूर्ण हैं, उनमें जल आदिसे रहित भी प्राणी, अलातचक्रके सदृश यानी भ्रमण कर रहे उल्मुककी नाईं, केवल अग्निरूप होकर ही खूब चलते फिरते हैं ॥ ६१ ॥

अन्य जो केवल वायुसे पूर्ण जगत् हैं, उनमें जो भूत हैं वे जल, अग्नि आदिसे यद्यपि रहित हैं, तथापि केवल वायुरूप होकर ही, अर्जुनामक वायुके ( रोगविशेषके ) सदृश, घूमते फिरते हैं [ अर्जुनवायुसे ग्रस्त लोक आकाशमें घूमते हैं, यह कहींपर प्रसिद्ध है ] ॥ ६२ ॥

जो दूसरे केवल आकाशरूप अपनी देहसे युक्त लोक हैं, उनमें भी आकाशरूप ही प्राणी हैं और वे सबके सब दर्शनव्यवहार करनेवाले हैं ॥ ६३ ॥

पातालपातिषु तथाऽम्बरमुत्पतत्सु
तिष्ठत्सु विभ्रमपदेष्वथ दिङ्मुखेषु ।
नाना जगत्सु किमिवास्ति मया न दृष्टं
यन्नाम चिज्जलधिचञ्चलबुद्बुदेषु ॥ ६४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने जगज्जालवर्णनं नाम षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

## एकषष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

चिदाकाशाच्चिदाकाशे पयसीव पयोरयाः ।
चित्त्वाज्जीवाः स्फुरन्त्येते एत एव मनांसि नः ॥ १ ॥

---

उस चिदाकाशमें नीचे, ऊपर एवं चारों ओर कल्पित दिशाओंमें उड़ रहे चित्रविचित्र सब जगत् और उनमें रहनेवाली अनेक तरहकी वस्तुएँ मैंने देखीं, यों उपसंहार करते हैं—'पाताल०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामभद्र, कोई पातालमें गिर रही हैं, कोई आकाशमें उड़ रही हैं, और कोई दिशाओंके मुखमें स्थित हैं—इस तरहकी केवल विभ्रमके कारण ज्ञात होनेवाली अनेक तरहकी सृष्टियोंमें, जो कि चितिरूप समुद्रके बुदबुदोंके ही स्वरूपमें हैं, मैंने जो न देखी हो, वह वस्तु ही कौन-सी है, अर्थात् कोई नहीं । सभी तरहकी असम्भव वस्तुएँ मैंने उनमें देखीं, यह भाव है ॥ ६४ ॥

साठवाँ सर्ग समाप्त

---

## एकसठवाँ सर्ग

[ कल्पान्तमें जगत्का नाश होनेपर भी अज्ञात ब्रह्मका हृदय जगत् अविनासी है, ब्रह्मका ज्ञान हो जानेपर तो तीनों कालमें जगत्की सत्ता ही नहीं रहती—यह वर्णन ]

अनादि अविद्याके कारण अज्ञात हुआ ब्रह्म ही अपने असली कूटस्थ पूर्णानन्द स्वभावको भूलकर यह कल्पना करता है कि मैं चलनस्वभाव, स्वल्पस्वभाव

विशदाकाशरूपाणि तान्येव च मनांसि नः ।
जगन्ति तान्यनन्तानि सम्पन्नान्यभितः स्वयम् ॥ २ ॥

श्रीराम उवाच

सर्वभूतगणे मोक्षं महाकल्पक्षये गते ।
पुनः कस्य कथं सर्गसंवित्तिरुपजायते ॥ ३ ॥

---

आदिरूप हूँ, इस तरहकी कल्पनाकर मन, प्राण आदिके क्रमसे भोक्तारूप और भोग्यरूप होकर सदा सब तरहसे उत्तरोत्तर संसारी ही बनता जाता है, इसलिए जब तक अविद्या है, तब तक संसारकी स्थिति सदा ही बनी रहेगी। यदि शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे ब्रह्मका ज्ञान हो जाता है, तब तो वह सदा, सब ओरसे तथा सभी प्रकारसे पूर्णानन्द चिदेकरसमात्ररूप ही बन जाता है, इसलिए किसी समय, कहींपर, कोई भी और किसी व्यक्तिमें भी संसारकी संभावना नहीं की जा सकती, अतः ब्रह्म नित्यमुक्तस्वभाव ही है, यह बतलानेके लिए महाराज वसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं—'चिदाकाश०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, जैसे जलमें जलसे ही जलरूप वेग-तरङ्ग आदिस्फुरित होते हैं, वैसे ही चिदाकाशमें चिदाकाशसे ही ये सब—अज्ञात आत्माके स्वभावसे प्राण आदि उपाधियोंसे परिच्छिन्न—जीव स्फुरित होते हैं, और वे ही जीव उत्तरोत्तर हजारों सङ्कल्प-विकल्पोंके कारण संसारके बीजरूप होकर कारण बन जाते हैं, और हम लोगोंके मन कहे जाते हैं ॥ १ ॥

वे ही मन अपने अन्दर रहनेवाली भोग्यवासनाओंको जगत्के आकारमें विकसित करनेके कारण अनन्त जगद्रूप बन गये हैं, यह कहते हैं—'विशदा०' इत्यादिसे ।

विशद आकाशरूप वे ही हम लोगोंके मन हैं और वे ही स्वयं चारों ओरसे अनन्त जगत्के रूपमें परिणत हो गये हैं ॥ २ ॥

इन सब बातोंसे निष्कर्ष यही निकला कि अपनी अविद्यासे अकेला ब्रह्म ही अनेक जीवोंके आकारोंमें और अनेक सृष्टिके रूपोंमें संसार धारण करता है तथा अकेला वही अपनी विद्यासे सब जीवभाव एवं संसारसे मुक्त हो जाता है। परन्तु यह निष्कर्ष ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि पहलेके प्राकृत प्रलय हो जानेके बाद सम्पूर्ण जीवोंकी समष्टि हिरण्यगर्भके तत्त्वज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति

वसिष्ठ उवाच

महाप्रलयपर्यन्ते क्षितिजलपवनहुताशाकाशाशेषविशेषविनाशे आब्रह्मस्थावरान्तेषु मुक्तौ परिणतेषु भूयो यथेदं जगदनुभूयते तथा शृणु ।

अव्यपदेश्यं यत्परमार्थघनं ब्रह्म चिन्मात्रमित्याचक्षते मुनयः तस्य हृदयमिदं जगत्तस्मादव्यतिरिक्तमेव, स एव च देवस्तदात्मीयं हृदयं स्वभावं जगदित्यवगच्छति च विनोदेनैव न तु वास्तवेन रूपेण जगदिति किंचिदुपलभामहे विचारयन्तस्तस्मात्किमिव नश्यति किमिव जायते

---

हो जानेपर उसके निमित्त इस सब जीव और जगत्का बाध अवश्य हो जायगा, ऐसी स्थितिमें सभीकी मुक्ति अवश्य माननी चाहिए, जब यह बात माननेको हम बाधित हो जाते हैं, तब यह शङ्का रह जाती है कि एकबार जो ब्रह्म मुक्त हो चुका, उसका जीवादिरूप संसार फिर कैसे हुआ, इस आशयसे श्रीरामजी प्रश्न करते हैं—'सर्वं०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रने कहा—भगवन्, ये जितने प्राणी हैं, वे सब महाकल्पके विनाशमें मोक्षको प्राप्त हो जाते हैं, इस स्थितिमें फिर किसको किस तरह सृष्टि-ज्ञान उत्पन्न हो सकता है ॥ ३ ॥

प्रश्नका अनुवादकर गद्य और पद्योंसे उसका उत्तर देनेके लिए महाराज वसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं—'महाप्रलय०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, महाप्रलयपर्यन्त पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश—इन सम्पूर्ण विशेष पदार्थोंका विनाश हो जानेपर ब्रह्मासे लेकर स्थावरतकके सभी जीव-जगत् मुक्तिमें परिणत हो जाते हैं, वस्तुस्थिति ऐसी होनेपर भी यह जगत् फिर जिस रीतिसे अनुभूत होता है, वह सानन्द आप सुनिये—यद्यपि यह मुनि लोग कहते हैं कि आकाशतकके समस्त विशेषोंका विनाश हो जानेपर जीवजगत् मुक्तिमें परिणत हो जाता है और केवल चिन्मात्र ब्रह्म ही, जो अव्यपदेश्य ( शब्दसे कहने अयोग्य ) परमार्थ चेतनघन है, अवशिष्ट रह जाता है, तथापि समझनेकी बात यह है कि चिन्मात्र ब्रह्म जो बच जाता है, उसका यह जगत् एक तरहका हृदय है और उससे अभिन्न है । सारांश यह निकला कि—[ यद्यपि मुक्त पुरुषोंकी दृष्टिसे सभी जीवोंकी मुक्ति ही है, किसीके लिए कुछ भी बाकी

यथा परमकारणमविनाशि तथा तद्धृदयमविनाश्यं च। महाकल्पादयश्च तदवयवा एव, अपरिज्ञानमात्रमत्र केवलं भेदायैव तदपि प्रेक्ष्यमाणं न लभ्यत एव ॥ ४ ॥

नहीं बचता, तथापि दूसरे जो जीव हैं, उनमें हर-एकको तो तत्त्वज्ञान हुआ है नहीं, इसलिए उनकी दृष्टिसे अपनी-अपनी अविद्या तो नष्ट हुई नहीं, अतः बन्धका अनुभव होता है। जैसे चन्द्रलोकमें जो मूलतः रहनेवाले हैं अथवा अभी-अभी जो चन्द्रलोकमें जा पहुँचे हैं, उनकी दृष्टिमें चन्द्रलोककी स्वरूपस्वरूपता अत्यन्त असत् ही है, परन्तु भूमिपर स्थित पुरुषोंकी दृष्टिसे तो चन्द्र स्वरूपरूप ही है, ऐसे ही यहाँपर भी जानना चाहिए। इसी बातको स्पष्ट करते हैं कि ] वही देव बद्धदृष्टिसे जगत्को अपना स्वभाव और हृदय समझता है तथा मुक्तदृष्टिसे वैसा नहीं भी समझता। आत्माके विषयमें तात्त्विक विचार करके स्थित मुक्तस्वभाव हम लोग तो जगत्को विनोदसे यानी यह जगत् बाधित हो चुका है, पर उसका केवल जले हुए वस्त्रके सदृश भास होता है—इस प्रकारके कौतुकसे, कुछ है, यों देखते हैं, उसे वास्तविकरूपसे नहीं देखते। इससे तीनों दृष्टियोंमें जगत् आत्मासे अभिन्न ही ठहरता है, इसलिए इसका क्या विनाश और क्या उत्पत्ति। जैसे इसका परमकारण विशुद्ध आत्मा अविनाशी है, वैसे ही उस आत्माका हृदयभूत यह जगत् अविनाशी ही है। जगत् अविनाशी है, तो महाकल्प, अवान्तर कल्प आदि कैसे हो सकेंगे, क्योंकि जगत्का नाश होनेपर ही तो महाकल्प आदिका व्यवहार हो सकता है, इस प्रकारकी यदि कोई शङ्का उठाये, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि महाकल्प आदि भी तो जगत्के अवयव हैं। जब उक्त रीतिसे जगत् नित्य और स्थायी है तब उसके अङ्गभूत महाकल्प आदि अनित्य और अस्थायी कैसे हो सकता है। और यह तो कहा नहीं जा सकता कि कारण एक समयमें नष्ट होकर फिर दूसरे समयमें आ जाते हैं। इसलिए यही मानना होगा कि सत्यस्वरूप जो कल्प, सृष्टि आदि हैं, वे ही जपमालाके अङ्गभूत मणियोंके सदृश बार-बार कालचक्ररूपसे घूम फिरकर आते जाते रहते हैं। अतीत, भविष्यत् आदि कल्प और सृष्टि आदिको लेकर कल्पादिमें परस्पर जो भेदबुद्धि हो जाती है उसका एकमात्र कारण इस विषयका व्यापक अज्ञान ही है; परन्तु इस अज्ञानको यदि हम देखते हैं, तो हाथ लगता नहीं, अतः भेदबुद्धि कल्पादिकी अस्थायिता आदिमें हेतु नहीं हो सकती ॥ ४ ॥

तस्मान्न कस्यचित्कदाचिन्नश्यति क्वचित् ।
न चैव जायते ब्रह्म शान्तं दृश्यमजं स्थितम् ॥ ५ ॥
आकाशपरमाणुसहस्रांशमात्रेपि या
शुद्धचिन्मात्रसत्ता विद्यते ॥ ६ ॥
वपुर्जगदिदं तस्या ननु नाम महाचितेः ।
कथं नश्यत्यनष्टायां तस्यां सा क्व न नश्यति ॥ ७ ॥
संविदो हृदयं स्वप्ने यथा भाति जगत्तया ।
व्योमात्मैव तथैवादिसर्गात्प्रभृति भासते ॥ ८ ॥
चिद्व्योमावयवः सर्गः सर्गस्यैतादृशाः क्षयाः ।
उदयाश्चेति खं सर्वं किंनाशि किमनाशि च ॥ ९ ॥

---

गद्यभागसे जिस अर्थकी सिद्धि की गई है, उस अर्थका अब पद्यसे उपसंहार करते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे,

हे श्रीरामजी, इसलिए किसीकी न तो कुछ सृष्टि होती है, न किसी समय कुछ नष्ट होता है और न कभी कुछ उत्पन्न होता है, यह जो कुछ दृश्य है, वह सब शान्त, अज ब्रह्मरूप ही स्थित है ॥ ५ ॥

जगत्का विनाश नहीं होता, इसमें दूसरी युक्ति बतलाते हैं—'आकाश०' इत्यादिसे।

जो असंख्य बड़ेसे बड़े आकाशतकके और छोटेसे छोटे परमाणुतकके पदार्थ हैं, उन सबमें भी जो सत्ता है, वह विशुद्ध चिन्मात्रकी ही सत्ता है ॥ ६ ॥

यह जगत् उस महाचितिका शरीर है, महाचिति तो नष्ट होती नहीं, इसलिए उसके विनाशके बिना जगत् कैसे नष्ट हो सकता है ॥ ७ ॥

जगत् संवित्का हृदय है, यह तो स्वप्नमें भी, जिसका सार ज्ञानभाव है, प्रसिद्ध है, यों कहते हैं—'संविदो' इत्यादिसे।

जैसे स्वप्नमें जगत्के रूपसे संवित्का ( ज्ञानका ) हृदय ही भासता है, वैसे ही आदि सर्गसे लेकर यह सब जो कुछ भासता है, वह ज्ञानरूप आत्माका ही हृदय है, और असलमें यह सब है—चिदाकाशरूप ॥ ८ ॥

भद्र, यह सृष्टि चिदाकाशका काल्पनिक अवयव ( अङ्ग ) है और अङ्गभूत

एषा हि परमार्थसंविदच्छेद्या अदाह्याऽक्लेद्याऽशोष्या, सा ह्यतद्विदामदृश्या तस्या यद्धृदयं तत्तदेव भवति यथाऽसौ न नश्यति तदन्तर्वर्तीजगदाद्यनुभवो न जायते न नश्यत्येवेति केवलं स्मरणविस्मरणवशेन स्वभावरूपेणानुभवाननुभवौ कल्पयतीव ॥ १० ॥

यद्यद्यदात्मकं तत्त्वं तद्विनाशं विनाऽक्षयि ।
तस्माद्ब्रह्मात्मकं दृश्यं विद्धि ब्रह्मवदक्षयम् ॥ ११ ॥
महाप्रलयादयस्तदवयवा एव ॥ १२ ॥

कल्पित इस सृष्टिके उदय तथा क्षय भी ऐसे ही कल्पित अङ्ग हैं, अतः जो कुछ है वह सब चेतनरूप आकाश है, ऐसी स्थितिमें कौन नाशवान् और कौन अनाशवान् हो सकता है ॥ ९ ॥

तब संवित्का भी विनाश मान लीजिये, इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'एषा०' इत्यादिसे।

यह जो परमार्थ ज्ञानरूप आत्मा है, वह काटनेके अयोग्य, जलानेके अयोग्य, गीला करनेके अयोग्य और सुखानेके अयोग्य है। वह परमार्थचिति ( ब्रह्म ) अज्ञानियोंको दीखाई नहीं पड़ती, उसका जो कल्पित हृदय है, वह जगत ही है। जैसे उस परमार्थ चेतनकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होता, वैसे ही उसके हृदयभूत जगत् एवं जगत्के हेतु अज्ञानके अनुभवकी भी उत्पत्ति या विनाश नहीं होता। केवल स्मरण और विस्मरणवश स्वभावरूपसे अनुभव और अननुभवकी वह कल्पना करती है ॥ १० ॥

जगत्की आत्मा भी अविनाशी आत्माको लेकर ही है, इससे भी जगत् विनश्वर नहीं है, यह कहते हैं—'यद्य०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह आप जान लीजिये कि जो जो पदार्थ जिस जिस वस्तुके स्वरूपभूत हैं, वे उस उस वस्तुके विनाशके बिना विनष्ट नहीं हो सकते, इस नियमके आधारपर ब्रह्मरूप दृश्य ब्रह्मके सदृश अविनाशी ही है, क्योंकि ब्रह्मस्वरूप जगत्का विनाश, ब्रह्मविनाश जब होगा, तभी होगा, परन्तु ब्रह्म तो शाश्वत है, इसलिए जगत् नष्ट नहीं हो सकता ॥ ११ ॥

यदि शङ्का हो कि ब्रह्मरूप विश्व है, तब तो ब्रह्म भी अनेक तरहका होना चाहिए, क्योंकि विश्व अनेक तरहका है, तो इस शङ्कापर कहते हैं—'महाप्रलयादयः' इत्यादिसे।

चिन्मात्रे परमे व्योम्नि कुत एव भवाभवौ ।
कुतो भावविकारादिः कथं व्योम्नि निराकृते ॥ १३ ॥
महाकल्पादयो भावा नामैतानि जगन्ति च ।
ब्रह्मात्मकतयैवास्मिन् संविद्ब्रह्मणि संस्थितम् ॥ १४ ॥
निराकृत्यच्छचिन्मात्रं दृश्यं सङ्कल्प्य तद्वशम् ।
याति येनैव घटितो यक्षस्तद्धृदये किल ॥ १५ ॥
यथाऽवयविनो वृक्षस्य शाखाविटपफलपल्लवपुष्पादयोऽवयवास्तथा

---

महाप्रलय आदि भी उस महाकालरूप परमात्माके कल्पित अवयव ही हैं, इसलिए विश्वकी अनेकतासे ब्रह्ममें, अनेकता नहीं आ सकती, जैसे कि तरङ्गोंकी अनेकतासे जलमें ॥ १२ ॥

यदि शङ्का हो कि सृष्टि, प्रलय आदि असंख्य अचेतन अवयवोंसे युक्त आत्मा विशुद्ध चिदेकरस कैसे हो सकता है, तो यह शङ्का योग्य नहीं है, क्योंकि वृक्ष, नगर आदि अनेक प्रतिबिम्बोंसे युक्त स्फटिकशिला जैसे विशुद्ध शिलैकरस-रूप है, वैसे ही आत्मा अनेक प्रतिबिम्बघटित होनेपर भी विशुद्ध चिदेकरसरूप हो सकता है, इस आशयसे उत्तर देते हैं—'चिन्मात्रे' इत्यादिसे ।

चिन्मात्र परम ब्रह्मरूप आकाशमें किस हेतुसे सृष्टि और प्रलय हो सकते हैं तथा किस हेतुसे किस तरह भावविकार आदि धर्म भी निराकार चिदाकाशमें हो सकते हैं अर्थात् किसी तरह भी नहीं हो सकते ॥ १३ ॥

जैसे स्फटिकमें पड़े हुए चित्र-विचित्र प्रतिबिम्ब स्फटिकरूपसे ही स्थित हैं, वैसे ही इस संविदेकरस ब्रह्ममें पड़े हुए ये जगत्, महाप्रलय आदि चित्रविचित्र प्रतिबिम्बरूप भाव भी ब्रह्मरूपसे ही स्थित हैं ॥ १४ ॥

जैसे मनके सङ्कल्पसे जनित यक्षनगर आदि केवल मनोरूप हैं, वैसे ही विशुद्ध चितिके सङ्कल्पसे जनित ये भाव भी विशुद्ध चितिरूप ही हैं, इस आशयसे कहते हैं—'निराकृत्य०' इत्यादिसे ।

समस्त आकारोंसे रहित स्वच्छ चितिमात्ररूप आत्मा दृश्यकी कल्पनाकर उसके अधीन हो जाता है । ठीक ही है, जो बालक अपने हृदयमें मनसे जिस यक्षकी कल्पना करता है, वह उसके अधीन हो ही जाता है ॥ १५ ॥

यह सब तो ठीक है, परन्तु प्रश्न यह होता है कि जगत् अविनाशी

परमार्थघनस्याकाशादप्यच्छरूपस्याव्यपदेश्यस्य प्रलयमहाप्रलयनाशोद्भेद-भावाभावसुखदुःखजननमरणसाकारनिराकारत्वादयोऽवयवाः ॥ यथैव चासावयवव्यनाशोऽव्यपदेश्यश्च तथैव त इति ॥ १६ ॥

अवयवावयविनोर्दृश्ययोर्वाप्यदृश्ययोः ।
एकात्मनोरेव सदा भेदोऽस्ति न कदाचन ॥ १७ ॥

यथा तरोः संविन्मूलं तथा परमार्थघनस्य क्वचित् किञ्चित्त्वं क्वचित् सर्गस्तम्बः क्वचिल्लोकान्तरविटपाः क्वचिद्व्यवस्थाः शाखाः क्वचित्पदार्थपल्लवाः क्वचित्प्रकाशकुसुमम् क्वचिदन्धकारकार्ष्ण्यं क्वचिन्नभःकोटरम् क्वचित्प्रलयगुल्माः क्वचिन्महाप्रलयगुल्माः क्वचिद्धरिहरादिगुलुच्छकाः क्वचिज्जाड्यत्वक् एवमनाकारं व्योमरूपमेव संविदात्मनि ब्रह्मणि ब्रह्मसदृशभावादव्यतिरिक्तमेवैतत्स्थितम् ॥ १८ ॥

---

कैसे ? इसका उत्तर यह है—अविनाशी ब्रह्मका वह अवयव है, इससे; इस आशयको लेकर वृक्षशाखाके दृष्टान्तसे वर्णन करते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

भद्र, जैसे अवयवोंसे युक्त वृक्षके शाखा, स्कन्ध, फल, पल्लव, पुष्प आदि अवयव ( अङ्ग ) हैं वैसे ही आकाशसे भी अत्यन्त स्वच्छ व्यपदेशके अयोग्य परमार्थघन चेतनरूप आत्माके प्रलय, महाप्रलय, नाश, उत्पत्ति, भाव, अभाव, सुख, दुःख, जन्म, मरण, साकार, निराकार आदि अवयव हैं । अतः जैसे यह आत्मारूपी अवयवी अविनाशी और व्यपदेशके अयोग्य है, वैसे ही सर्ग, प्रलय आदि अवयव भी अविनाशी एवं व्यपदेशके अयोग्य हैं ॥ १६ ॥

दृश्य और अदृश्यका भेद कैसे है ? इसपर कहते हैं—'अवयवा०' इत्यादिसे ।

निरन्तर ही एकस्वरूपवाले अवयव और अवयवियोंमें, चाहे वे दृश्यरूप हों या अदृश्यरूप, किसी समय भी भेद नहीं रहता ॥ १७ ॥

अवयव और अवयवीके अभेदका, वृक्ष और वृक्षके अवयवोंकी समानता बतलाकर, निरूपण करते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे वृक्षके अस्तित्वमें मूलभूत कारण वृक्षज्ञान है, वैसे ही परमार्थघन आत्माके जगतके अस्तित्वमें ज्ञान ही मूलभूत कारण है, [ इसलिए समानता प्रसिद्ध ही है । ऐसी स्थितिमें ज्ञानरूप मूलके आधारपर ही किसी किसी प्रदेशमें

इतो भाव्य इतो भाव इतः सर्ग इतः क्षयः ।
स्वभाव एवानुभव इति ब्रह्माऽचलं स्थितम् ॥ १९ ॥
एवंमयेऽपि परमे ब्रह्माकाशे न रञ्जनाः ।
काश्चिदेवाङ्ग सन्तीन्दुबिम्बे विमलता यथा ॥ २० ॥
निर्मले परमाकाशे क्व भावाभावरञ्जनाः ।
क्वादिमध्यान्तकलनाः क्व लोकान्तरविभ्रमाः ॥ २१ ॥

---

जो कुछ विचित्रता है, उसका वृक्षके सदृश परिज्ञान करना चाहिए। जैसे—] परमार्थघन परमात्म वृक्षका कहींपर सृष्टिरूप मध्यकाष्ठ है, कहींपर लोकान्तररूप तने हैं, कहींपर जम्बूद्वीप आदि व्यवस्थात्मक शाखाएँ हैं, कहींपर पदार्थरूप पल्लव हैं, कहींपर प्रकाशरूप फूल हैं, कहींपर अन्धकाररूप हरित पत्तोंकी हरियाली है, कहींपर आकाशरूप कोटर हैं, कहींपर प्रलयरूप गुल्म ( गाँठे ) हैं, कहींपर हरिहर आदि उत्तम देवतारूप गुच्छे हैं, कहींपर जडत्वरूप छिलके हैं। इस प्रकार निराकार आकाशरूप ही आकारविशेषोंसे संविदात्मक ब्रह्ममें प्रतीत होता है और वह ब्रह्मके सदृश स्वच्छस्वभाव होनेके कारण उससे अभिन्न बनकर ही स्थित है ॥ १८ ॥

इसी अर्थको फिर कहते हैं—'इतः' इत्यादिसे।

भद्र, जितने भविष्यकालके पदार्थ हैं, जितने भूतकालके पदार्थ हैं, जितने वर्तमानकालके पदार्थ हैं, जितने सर्ग हैं, जितने प्रलय हैं, वे सब अनुभवसे ही सिद्ध होते हैं, अतः अनुभवरूप हैं और अनुभव स्वसत्तात्मक आत्मा ही है, इसलिए यों सब कुछ ब्रह्मरूप ही अचल स्थित है ॥ १९ ॥

तब क्या ब्रह्ममें कल्पित सृष्टि, प्रलय आदि सत्य हैं? इस प्रश्नका नकारात्मक उत्तर देते हैं—'एवंमयेऽपि' इत्यादिसे।

यद्यपि ऐसा ( सृष्टिकी ब्रह्ममयता ) है, तथापि परम ब्रह्मरूप आकाशमें सृष्टि, महाप्रलय आदि कोई भी रङ्ग ऐसे नहीं हैं, जैसे चन्द्रबिम्बमें कलङ्कशून्यता ॥ २० ॥

श्रीरामजी, सम्पूर्ण मलोंसे रहित परम चिदाकाशमें कहाँ सृष्टि-प्रलयके कलङ्क, कहाँ आदि, मध्य और अन्तकी कल्पना तथा कहाँ लोकान्तरोंके विभ्रम ॥ २१ ॥

अपरिज्ञानमेवैकं तत्र दोषवदुत्थितम् ।
केवलं तत्परावृत्य प्रेक्षणात्परिशाम्यति ॥ २२ ॥
अज्ञानं ज्ञप्तिबोधेन परामृष्टं प्रणश्यति ।
येनैवाभ्युदितस्तेन पवनेनेव दीपकः ॥ २३ ॥
अज्ञानं संपरिज्ञातं नासीदेवेति बुध्यते ।
अबन्धमोक्षं ब्रह्मैव सर्वमित्यवगम्यते ॥ २४ ॥
एवं बोधादयो राम मोक्ष उक्ताः स्वसंविदा ।
विचारयत्नो लभते नात्र कश्चन संशयः ॥ २५ ॥
इदं जगज्जालमनाद्यजातं
ब्रह्मार्थमाभातमितीह दृष्ट्वा ।

तब उस प्रकारके विभ्रममें कौन हेतु है और उसकी शान्ति कैसे होती है, इसपर कहते हैं—'अपरि०' इत्यादिसे ।

आत्माके तात्त्विक स्वरूपका अपरिज्ञान ही उसमें दोष-सा बनकर स्थित हो गया है, इसलिए बाह्यदृष्टिको हटाकर केवल प्रत्यगात्माकी ओर लगाई गयी बुद्धिसे यदि विचार किया जाता है, तो उसी विचारसे वह नष्ट हो जाता है ॥ २२ ॥

जो आत्मा अज्ञानका साधक है, वह जब चरम ( अन्तिम ) आत्मसाक्षात्कार-वृत्तिसे प्रकाशित हो जाता है, तब वही अज्ञानका बाधक बन जाता है, इस विषयमें युक्ति बतलाते हैं—'अज्ञानम्' इत्यादिसे ।

यदि विचारा जाय, तो वह अज्ञान जिस ज्ञानरूप आत्मासे सिद्ध हुआ है, उसीसे वह उस प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार पवनसे ही जनित अग्निरूप दीपक पवनसे नष्ट हो जाता है ॥ २३ ॥

ज्ञान अज्ञान और अज्ञानके कार्यका निवर्तक है, यह कहते हैं—'अज्ञानम्' इत्यादिसे ।

अज्ञान भलीभांति परिज्ञात हो जानेपर 'वह नहीं ही था' इस रूपसे जाना जाता है तथा बन्ध और मोक्षसे रहित ब्रह्म ही सब कुछ है, यों बोध होता है ॥ २४ ॥

हे श्रीरामजी, मोक्षके लिए ये ही वर्णित बोध आदि उपाय मैंने आपसे बतलाये । जिस पुरुषका सतत प्रयत्न आत्माके विचारमें चालू रहता है, वही अधिकारी पुरुष इन उपायोंको प्राप्त करता है, इसमें कोई संशय नहीं है ॥ २५ ॥

श्रीरामजी, यह अनादि जगत्-रूपी जाल कभी उत्पन्न हुआ ही नहीं है,

विचारदृष्ट्याऽष्टगुणेश्वरत्वं
पश्यंस्तृणं स्वात्मनि जीव आस्ते ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषा० जगदाकाशैकबोधो नामैकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

---

## द्विषष्टितमः सर्गः

**श्रीराम उवाच**

यदेतद्भवता दृष्टं चिद्व्योमवपुषा तदा ।
तदेकदेशसंस्थेन किमुत भ्रमताऽम्बरे ॥ १ ॥

---

परन्तु जो यह कुछ वर्णित जीव आदिरूप जगत् भासता है, वह तो भोग और मोक्ष चाहनेवाला यानी अपने तात्त्विक स्वरूपको न जाननेवाला ब्रह्म ही है। वर्णित विचारदृष्टिसे अणिमा आदि आठ गुणोंसे युक्त सर्वेश्वर भी मायारूप होनेसे असार है—इस प्रकारके ऊँचे वैराग्यसे ईश्वररूपताको तृणरूप समझ रहा कोई अधिकारी पुरुष अपनेमें निरतिशयानन्दरूप ब्रह्मरूपताका निश्चयकर अपनी आत्मामें ही पूर्ण सन्तुष्ट हो स्थित रहता है ॥ २६ ॥

एकसठवाँ सर्ग समाप्त

---

## बासठवाँ सर्ग

[ आकाशरूप मुनिकी अनेक ब्रह्माण्ड देखनेकी इच्छा तथा स्वप्नके सदृश आकाशरूप स्त्रीके साथ बातचीत का वर्णन ]

भगवन्, पक्षियोंकी नाईं आकाशमें उड़ते हुए आपने क्या उस जगत्-समूहको परिच्छिन्नभावसे स्थित होकर देखा या अपरिच्छिन्न चिदाकाशभावसे ? यों सन्देह करते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'यदेतद्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, पक्षियोंकी नाईं आकाशमें उड़ते हुए आपने उस समय उस जगत्-समूहका जो अवलोकन किया, वह क्या एकदेशमें स्थित होकर किया या चिदाकाशरूप शरीरसे किया ? [ यह कहनेकी कृपा कीजिये ] ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

सम्पन्नोऽहमनन्तात्मा व्यापी व्योम तदा किल ।
स्यातां तस्यामवस्थायां कीदृशौ तौ गमागमौ ॥ २ ॥
नैकस्थानस्थितमयो नाहं गतिमयोऽभवम् ।
तदनेन स्व एवास्मिन् दृष्टमेतन्मयात्मनि ॥ ३ ॥
यथाऽङ्गानि शरीरत्वे पश्याम्यापादमस्तकम् ।
चिन्नेत्रेणाप्यनेत्रेण तथैतद्दृष्टवानहम् ॥ ४ ॥
अनाकृतेर्निरवयवस्थितेस्तदा
तथाऽभवद्विमलचिदम्बरात्मनः ।
जगन्ति तान्यवयवजालकानि मे
यथा स्वतो न विगलिता न वस्तुता ॥ ५ ॥

---

इनमें दूसरे विकल्पका अवलम्बनकर महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'सम्पन्नोऽहम०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जब मैं अनन्तात्मा, सर्वव्यापक चिदाकाशरूप हो गया, तब उस आनन्त्यावस्थामें मेरे कैसे हो सकते हैं गमन और आगमन ॥ २ ॥

न तो उस समय मैं एक स्थानमें स्थित हो रहा था और न था मैं हो रहा गतिमय, इसलिए इस अपरोक्ष आत्मस्वरूप चिदाकाशमें ही अपने इसी अपरिच्छिन्नरूपसे मैंने यह सब जगत्-समूह देखा ॥ ३ ॥

एकदेशस्थिति आदिकी कल्पनाके बिना स्वात्मरूपसे अनात्मदर्शनकी अप्रसिद्धिका दृष्टान्त देकर निराकरण करते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे देहमें आत्मत्वबुद्धि होनेसे मैं पैरसे लेकर मस्तकपर्यन्त सभी अङ्गोंको देखता हूँ, वैसे ही मैंने इस चर्मचक्षुके बिना भी चिद्रूपी चक्षुसे जगत्समूह देखा ॥४॥

असङ्ग, उदासीन और अवयवशून्य ब्रह्मभूतका अवयव जगत् कैसे हुआ, इसपर कहते हैं—'अनाकृते०' इत्यादिसे ।

उस समाधिकालमें आकृतिशून्य निरवयवस्थितिसम्पन्न निर्मल चिदाकाशरूप हुए भी मेरे वे जगत् मेरी सत्ता ही से सत्तावान् होनेसे अवयवसमूह हो गये थे, जिससे कि मेरी वस्तुस्वभावता स्वतः नष्ट न हो सकी थी तथा स्वतः सत्ताशून्य होनेसे उनमें वस्तुता भी न थी । कहनेका तात्पर्य यह कि उस समय वास्तविक अवयवता न हुई ॥ ५ ॥

प्रमाणमत्र ते स्वप्नदृष्टो भुवनविभ्रमः ।
स्वप्नेऽनुभूयते दृश्यं न च किञ्चित्खमेव तत् ॥ ६ ॥
यथा पश्यति वृक्षः स्वं पत्रपुष्पफलादिकम् ।
स्वसंवेदननेत्रेण तथैतद्दृष्टवानहम् ॥ ७ ॥
यथाऽम्बुधिरनन्तात्मा वेत्ति सर्वान् जलेचरान् ।
तरङ्गावर्तफेनांश्च तथैतद्बुद्धवानहम् ॥ ८ ॥
अवयवान्स्वानवयवी यथा वेत्ति निजात्मनि ।
अनन्यानात्मनः सर्गास्तथैतान् बुद्धवानहम् ॥ ९ ॥
अद्यापि तानहं देहे व्योम्नि शैले जले स्थले ।
तथैव सर्गान्पश्यामि राम बोधैकतां गतः ॥ १० ॥

---

उक्त अर्थमें स्वाप्निक जगत्के उस तरहके रूपको प्रमाणरूपसे उपस्थित करते हैं—'प्रमाणमत्र' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस विषयमें आपको प्रमाण तो स्वप्नमें देखा गया भुवनका विभ्रम ही है, क्योंकि स्वप्नमें जो दृश्य अनुभूत होता है वह चिदाकाश ही है, उसके सिवा और कुछ नहीं ॥ ६ ॥

'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इत्यादि श्रुति तो निर्विकल्पक समाधिमें ही जगत्के दर्शनाभावका वर्णन करती है, सविकल्पक समाधिमें जगत्के दर्शनाभावका वर्णन नहीं करती, इस अभिप्रायसे नेत्र आदि इन्द्रियोंके बिना भी जगत्के अवलोकनमें दूसरा दृष्टान्त देते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे वृक्षदेहात्मभूत—वृक्षका अभिमानी जीव पत्र, पुष्प, फलादिसे सम्पन्न अपनेको ही देखता है, वैसे ही अपने ज्ञानरूपी नेत्रसे मैंने इस सारे जगत्को देखा ॥ ७ ॥

अनन्त-समुद्राभिमानी जीव समस्त जलचरों, तरङ्गों, आवर्तों एवं फेनको जैसे जानता है, वैसे ही मैंने नानाविध अनेक संसारोंको जाना ॥ ८ ॥

जैसे अवयवी अपने अवयवोंको अपने स्वरूपके अन्दर अपनेसे अनन्य ही समझता है, वैसे ही इन सृष्टियोंको मैंने समझा ॥ ९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, बोधस्वरूप आत्माके साथ ऐक्यको प्राप्त हुआ मैं अब भी उन नानाविध अनेक सृष्टियोंको वैसे ही देह, आकाश, शैल, जल और स्थलमें भी देख रहा हूँ ॥ १० ॥

पुरोऽस्माकमिदं विश्वं गृहस्यान्तर्बहिस्तथा ।
पूर्णमेतज्जगद्वृन्दैर्वेद्मि बोधैकतां गतः ॥ ११ ॥
यथाम्भो रसतां वेत्ति शैत्यं वेत्ति यथा हिमम् ।
स्पन्दं वेत्ति यथा वायुस्तथैतद्वेद्मि शुद्धधीः ॥ १२ ॥
यो यो नाम विवेकात्मा शुद्धबोधैकतां गतः ।
सम एव मयैकात्मा वेद्मि स्वात्मानमीदृशम् ॥ १३ ॥
अस्या दृष्टेः परिणतेर्वेत्तृवेदनवेद्यधीः ।
न काचिदस्त्यभ्युदिता विज्ञानात्मैकता यतः ॥ १४ ॥
दिव्या दृगद्रिसंस्थस्य यथा योजनकोटिगान् ।
भावान्वेत्ति बहिश्चान्तरेवं तद्बुद्धवानहम् ॥ १५ ॥

---

यह सारा विश्व हमारे सामने उपस्थित है। बोधस्वरूप आत्माके साथ एकताको प्राप्त हुआ मैं घरके भीतर और बाहरके देशको इन नाना जगत्-समूहोंसे परिपूर्ण समझता हूँ ॥ ११ ॥

जैसे जल रसताको जानता है, जैसे हिम शैत्यको जानता है, जैसे स्पन्दनको हवा जानती है, वैसे ही शुद्धबुद्धि ज्ञानी पुरुष इस संसारको भी जानता है ॥१२॥

क्या अकेले आप ही जानते हैं ? इसपर 'नहीं' यह कहते हैं—'यो यो' इत्यादिसे।

जो-जो विवेकी पुरुष शुद्ध बोधात्माके साथ ऐक्यको प्राप्त हो चुके हैं, वे सबके सब मेरे साथ एकरूप हो गये हैं, इसलिए मैं उन सबका एक आत्मा होकर अपने आत्माको इस तरह देखता हूँ ॥ १३ ॥

इस सर्वात्मस्वरूप दृष्टिका परिपाक हो जानेपर वेत्ता, वेदन और वेद्यरूप त्रिपुटीबुद्धि स्वात्मातिरिक्त कोई दूसरी वस्तुके रूपमें नहीं रह पाती, क्योंकि विज्ञानरूप आत्माके साथ सबकी एकरूपता उदित हो जाती है ॥ १४ ॥

एक ही ज्ञानसे व्यवहित तथा दूरस्थ पदार्थोंका दर्शन आपको कैसे हुआ, इस आशङ्कापर दृष्टान्त द्वारा इसका संभव बतलाते हैं—'दिव्या' इत्यादिसे।

पर्वतपर स्थित पुरुषकी दिव्य दृष्टि जैसे करोड़ों योजनपर स्थित बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थोंको देखती है, वैसे ही मैंने भी ये सब जगत् देखे ॥ १५ ॥

यथा भूमण्डलं भावान्निधिधातुरसादिकान् ।
वेद्म्येवं तन्मया बुद्धमनन्यद्दृश्यमात्मनः ॥ १६ ॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्मन्ननुभवत्येवं त्वयि तामरसेक्षण ।
सा किं कृतवती ब्रूहि कान्ताऽऽर्यापाठपाठिनी ॥ १७ ॥

वसिष्ठ उवाच

तामेवार्यां पठन्ती सा तथैवानुनयाऽन्विता ।
मत्समीपे नभोदेहा व्योम्नि देवीव संस्थिता ॥ १८ ॥
यथाऽहमाकाशवपुस्तथैवासौ खरूपिणी ।
तेन दृष्टा न सा पूर्वदेहेन ललना मया ॥ १९ ॥
अहमाकाशमात्रात्मा सा खमात्रशरीरिणी ।
जगज्जालं खमात्रं तदिति तत्र तदा स्थितम् ॥ २० ॥

---

जैसे पृथिवीमण्डलका अभिमानी जीव पृथिवीपरके निधि, धातु, रस आदि सभी पदार्थोंको जानता है, वैसे ही मैंने भी अपनेसे अभिन्न सम्पूर्ण दृश्य-समूहको जाना ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे कमललोचन ब्रह्मन्, जब आप इस तरह अनुभव कर रहे थे, तब आर्या छन्द पढ़नेवाली उस कान्ताने क्या किया, यह कहिये ॥ १७ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, उस आर्या छन्दका पाठ करती हुई उसी प्रकार प्रशंसादि प्रीतिजनक व्यापारसे युक्त, चिदाकाशशरीरधारिणी वह कान्ता आकाशमें देवीकी तरह मेरे समीपमें स्थित हुई ॥ १८ ॥

यदि वह आपके समीप स्थित थी, तो फिर आपने बिना समाधिके ही पहले ही उसे क्यों नहीं देखा, इसपर कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसा मैं आकाशमयशरीर था वैसी ही वह ललना भी आकाशमयशरीर थी, अतः समाधिके पहले उस शरीरसे मैं उसे न देख सका ॥ १९ ॥

आकाशस्वरूप मैं था, आकाशमय शरीरधारिणी वह थी तथा आकाशमय वह सारा संसारसमूह भी उस समय चिदाकाशमें ही स्थित था ॥ २० ॥

श्रीराम उवाच

शरीरस्थानकरणप्रयत्नप्राणसम्भवैः ।
यदुदेति वचो वर्णैस्तत्कुतस्तादृशाकृतेः ॥ २१ ॥
रूपालोकमनस्काराः कुतो नामात्मनामिति ।
ब्रूहि मे भगवंस्तत्त्वं यथावृत्तश्च निश्चयम् ॥ २२ ॥

वसिष्ठ उवाच

रूपालोकमनस्काराः शब्दपाठवचांसि च ।
यथा स्वप्ने नभस्येव सन्ति तत्र तथाऽम्बरे ॥ २३ ॥
रूपालोकमनस्कारैः स्वप्ने चिन्नभ एव ते ।
यथोदेति तथा तत्र तद्दृश्यं खात्मकं स्थितम् ॥ २४ ॥

---

यदि वह कान्ता आकाशरूप ही थी, तो फिर जीभ, तालु, ओठ एवं प्राणवायुके न रहनेसे कैसे वह आर्याका पाठ कर सकी, यह श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'शरीर०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुने, शरीरमें स्थित जीभ, तालु, ओठ तथा प्राणोंके प्रयत्नोंसे उत्पन्न हुए वर्णोंसे जो वाक्य उत्पन्न होता है वह आकाश-शरीरधारिणी उस, स्त्रीसे कैसे उत्पन्न हुआ ॥ २१ ॥

एवं आकाशस्वरूप आपके लिए भी उसके रूपदर्शनका पर्यालोचन करना कोई सरल काम नहीं है, यह कहते हैं—'रूपालोक०' इत्यादिसे ।

भगवन्, बाह्यरूप आदिका दर्शन तथा आभ्यन्तर मनका अनुभव शुद्ध चिदाकाशरूप आत्माओंको कैसे हो सकता है, इसलिए उस समय आपने जैसे जगत्के दर्शन तथा सम्भाषण आदि व्यवहार किये, उसका जो निचोड़ हो, वह मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये ॥ २२ ॥

कल्पनासे यह सब कुछ उपपन्न है, इसमें स्वप्नदृष्टान्त ही प्रमाण है, यह उत्तर देते हैं—'रूपालोक०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे स्वप्नमें बाह्य और आभ्यन्तर ज्ञान, शब्दपाठ तथा वचन आकाशमें ही स्थित रहते हैं वैसे ही वे सभी पदार्थ उस चिदाकाशमें ही रह रहे हैं ॥ २३ ॥

हे श्रीरामजी, जैसे आपके स्वप्नमें चिदाकाश ही बाह्य तथा आभ्यन्तर

न केवलं तु तद्‌दृश्यं यावत्तु विषयं वयम् ।
जगच्चेदं खमेवाच्छं यथा तन्नस्तथाऽखिलम् ॥ २५ ॥
परमार्थमहाधातुर्वेद्यनिर्मुक्तचिद्वपुः ।
एवं नाम स्वयं भाति स्वभावस्यैव निश्चयः ॥ २६ ॥
शरीरस्थानकरणसत्तायां का तव प्रमा ।
यथैव तेषां देहादि तथाऽस्माकमिदं स्थितम् ॥ २७ ॥
यथैव तत्तथैवेदं तथैवेदं यथैव तत् ।
असत्सत्तामिव गतं सच्चासदिव च स्थितम् ॥ २८ ॥

---

पदार्थोंके रूपसे उदित होता है वैसे ही मेरे उस समाधिकालमें भी वह सारा दृश्य-प्रपञ्च चिदाकाशरूप ही स्थित था ॥ २४ ॥

यह तो मैं बहुत ही कम कह रहा हूँ कि वह सारा दृश्य प्रपञ्च चिदाकाशरूप ही स्थित था। तत्त्वतः विचार करनेपर तो इस समय यह सम्पूर्ण संसार भी चिदाकाशरूप ही है। यहां भी शरीरादि भ्रान्तिसे ही व्यवहारभ्रम हो रहा है, यह महाराज वसिष्ठजी कहते हैं—'न केवलम्' इत्यादिसे।

हमारे लिए केवल वही दृश्य चिदाकाशरूप था, ऐसी बात नहीं है, किन्तु ये जितने पदार्थ हम लोगोंकी बुद्धिके विषय हैं वे सबके सब तथा यह सारा संसार भी स्वच्छ चिदाकाशरूप ही इस समय भी ऐसे विद्यमान हैं, जैसे कि हमारे उस समाधिकालमें विद्यमान थे ॥ २५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जगत्‌की वासनासे उपहित चितिस्वभावका जो निश्चय है वह एक परमार्थ महाधातु ( परमार्थरूपी श्रेष्ठमणि ) है, जिसका विषयनिर्मुक्त एकमात्र चिति ही शरीर है, वही स्वयं भासता है, यह सर्वत्र श्रुति तथा विद्वानोंके अनुभव आदिसे प्रसिद्ध है ॥ २६ ॥

भद्र, शरीरस्थान करणों ( जीभ आदि इन्द्रियों ) की सत्तामें आपको कौन-सी प्रमा है ? जैसे उनके देहादि स्थित हैं वैसे ही हमारा भी यह स्थित है ॥ २७ ॥

जैसे स्वप्नादि देहोंकी सत्ता है, वैसे ही यह भी है; जैसे यह है, वैसे ही वह भी है। असत् यह जगत् सद्रूपताको मानो प्राप्त है तथा निर्विशेष आत्मतत्त्वरूप जो सत् है वह भी आवृत होनेके कारण असत्सा—अत्यन्त अप्रसिद्ध-

यथा स्वप्ने धराब्धादिपृष्ठव्यवहृतिर्नभः ।
तदा ह्यहं च त्वं सा च तदिदं च तथा नभः ॥ २९ ॥
यथा स्वप्ने नृभिर्युद्धकोलाहलगमागमाः ।
असन्तोऽप्यनुभूयन्ते संसारनिकरास्तथा ॥ ३० ॥
वक्षि चेत्स्वप्नदृश्यश्रीः कस्मात्तदसमञ्जसम् ।
अवाच्यमेतद्धेतुर्हि नान्योऽस्त्यनुभवस्थितेः ॥ ३१ ॥
कथमालक्ष्यते स्वप्न इति प्रष्टुः प्रकथ्यते ।
यथैवं पश्यसीत्येव हेतुरत्रास्ति नेतरः ॥ ३२ ॥
स्वप्नजन्तुरिव व्योम्नि भाति प्रथमसर्गतः ।
प्रभृत्येव विराडात्मा खे खमेव परस्परे ॥ ३३ ॥

सा—स्थित है । इतना ही नहीं और सुनिये—चिदानन्दस्वभावका जो व्यत्यास है ( उलट-फेर है ) वह भी ऐसा ही है ॥ २८ ॥

जैसे स्वप्नमें पृथिवीके ऊपर खेती आदि, रास्तोंपर यातायात आदि तथा प्रासाद आदिके ऊपर शयन आदिका जो व्यवहार होता है वह भी सब चिदाकाशरूप ही है । वैसे ही उस समय मैं, आप, वह स्त्री तथा वह और यह सब कुछ चिदाकाशरूप ही था ॥ २९ ॥

जैसे स्वप्नमें न रहते हुए भी युद्धके कोलाहल तथा यातायातका मनुष्य अनुभव करते हैं, वैसे ही ये जगत्‌के समूह मनुष्यों द्वारा अनुभूत हो रहे हैं ॥ ३० ॥

स्वप्नके वैचित्र्यमें भी किसी अन्य हेतुकी संभावनाका तो अवकाश ही नहीं है, क्योंकि अनवस्था आदि दोष आ जानेके भयसे सभी वादियोंके चुप हो जानेके कारण 'एकमात्र अविद्योपहित चिदात्माका ही यह स्वभाव है' इस मेरे पक्षकी ही अन्तमें सिद्धि है, यह कहते हैं—'वक्षि' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यदि आप यह कहें कि यह स्वप्नदृश्यश्री कैसे हुई, तो आपका वह कहना असंगत होगा । यह अवाच्य है, क्योंकि स्वप्नानुभवस्थितिसे अन्य कोई दूसरा हेतु ही नहीं है ॥ ३१ ॥

स्वप्न कैसे दिखाई देता है, यह पूछनेवालेको सभी लोग यही उत्तर देते हैं कि—जैसे तुम देखते हो । तात्पर्य यह कि उसका अनुभव ही उसके प्रश्नका एकमात्र उत्तर है । यहाँपर उसका साधक कोई दूसरा हेतु नहीं है ॥ ३२ ॥

सुषुप्तिसदृश प्रलयके अनन्तर प्रथम सर्गसे ही स्वप्नजन्तुकी तरह कल्पना-

स्वप्नशब्देन बोधार्थं तव व्यवहराम्यहम् ।
दृश्यं त्विदं न सन्नासन्न स्वप्नो ब्रह्म केवलम् ॥ ३४ ॥
अथ राघव सा कान्ता मया कान्तानुषङ्गिणी ।
संविदं तन्मयीं कृत्वा पृष्टेदं दृश्यरूपिणी ॥ ३५ ॥
व्यवहारो यथोदेति स्वप्ने स्वप्नजनैः सह ।
तथा तदा तया सार्द्धं व्यवहारो ममोदितः ॥ ३६ ॥
यथैव स्वप्नसंकाशो व्यवहारः खमेव सः ।
तथैव त्वमिमं विद्धि मामात्मानं जगच्च खम् ॥ ३७ ॥

रूप विराडात्मा चिदाकाशमें चिदाकाशका ही विस्तार करता है, यह कहते हैं—'स्वप्न०' इत्यादिसे ।

सुषुप्तिसदृश प्रलयके अनन्तर आकाशमें स्वप्नके जीवके सदृश प्रथम सर्गसे ही विराट्-रूप चिदाकाश ही चिदाकाशमें परस्पर विषय-विषयीरूपसे सापेक्ष होकर भासता है ॥ ३३ ॥

तब क्या दृष्टान्तभूत स्वप्नस्वभाव ही जगत् है, 'नहीं' यह कहते हैं—'स्वप्नशब्देन' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, मैं आपके बोधके लिए स्वप्नशब्दसे व्यवहार करता हूँ । वस्तुतः यह दृश्यप्रपञ्च तथा स्वप्न भी न तो सत् है और न असत् ही है, किन्तु केवल ब्रह्म ही है ॥ ३४ ॥

इस तरह अवान्तर प्रश्नका उत्तर देकर पूर्वमें पूछी गयी कथाके शेष अंशको कहते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

तदनन्तर हे राघव, कान्तमें अनुरागवती उस दृश्यरूप कान्तासे—उसके अभिप्रायका विशेष ज्ञान रखनेवाली संवित्का सङ्कल्प करके—मैंने यह पूछा— ॥ ३५ ॥

भगवन्, शरीररहित आपका उसके साथ प्रश्नादि व्यवहार कैसे हुआ, इसपर कहते हैं—'व्यवहारो' इत्यादिसे ।

स्वप्नमें स्वप्नजनोंके साथ जैसा व्यवहारप्रवृत्त होता है, वैसा ही उस समय मेरा भी व्यवहार उस स्त्रीके साथ प्रवृत्त हुआ ॥ ३६ ॥

उसके साथ इस समयका व्यवहार भी मेरा वैसा ही था, यह कहते हैं—'यथैव' इत्यादिसे ।

यथा स्वप्नजगद्रूपं खमेवैवमिदं जगत् ।
जाग्रदादौ स हि स्वप्नः सर्गादौ जगदुद्भवः ॥ ३८ ॥
स्वप्नोऽयं जगदाभोगो न किंचिद्वा खमेव च ।
निर्मलं ज्ञप्तितामात्रमित्थं सन्मात्रसंस्थितम् ॥ ३९ ॥
स्वप्नस्य विद्यते द्रष्टा साकारो युष्मदादिकः ।
द्रष्टा तु सर्गस्वप्नस्य चिद्व्योमैवामलं स्वतः ॥ ४० ॥
यथा द्रष्टाऽमलं व्योम दृश्यं तद्वद्गतं तथा ।
स्वप्नरूपजगत्युच्चैर्जगत्त्वेनामलं नभः ॥ ४१ ॥
चिद्व्योम्नोऽनाकृतेः स्वप्नो हृदि स्फुरति यः स्वतः ।
सर्गस्तस्य कुतस्तेन साकृतित्वं कथं भवेत् ॥ ४२ ॥

---

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे स्वप्न सदृश वह व्यवहार आकाशरूप ही था, वैसे ही यह आत्मा, मैं तथा जगत् भी चिदाकाशरूप ही है, यह आप जान लीजिये ॥ ३७ ॥

तब कहिये, जगत् और स्वप्न, ये दो नाम क्यों पड़े, इसपर कहते हैं— 'यथा स्वप्न०' इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नका जगत् चिदाकाशरूप ही है वैसे ही यह जगत् भी चिदाकाशरूप ही है अर्थात् दोनों एक-से हैं, केवल भेद इतना ही है कि जाग्रत् कालके प्रारम्भमें जो जगत्का भान होता है उसे स्वप्न कहते हैं और सृष्टिके प्रारम्भमें जिसका उद्भव होता है उसे जगत् कहते हैं ॥ ३८ ॥

यह जो जगत्का आभोग है वह स्वप्न ही है अथवा कुछ नहीं है, वह एकमात्र चिदाकाश ही है । क्योंकि इस तरह जो कुछ दिखाई देता है वह सब निर्मल सत् तथा ज्ञप्तिमात्र ब्रह्म ही जगत्के रूपसे स्थित है ॥ ३९ ॥

अथवा हे श्रीरामचन्द्रजी, यह विशेष कह सकते हैं कि आप लोगोंकी वासनाके आकारसे स्वप्नका द्रष्टा साकार है, लेकिन सृष्टिरूप स्वप्नका द्रष्टा तो स्वतः चिदाकाश ही है ॥ ४० ॥

जैसे द्रष्टा और दृश्य दोनों निर्मल चिदाकाश ही हैं, वैसे ही द्रष्टा और दृश्यके मध्यमें पड़ा दर्शन भी चिदाकाशरूप ही है । हे श्रीरामचन्द्रजी, इस महान् स्वप्नरूप जगत्में जगत्-रूपसे निर्मल चिदाकाश ही स्थित है ॥४१॥

निराकार चिदाकाशका जो हृदयके भीतर स्वतः जगद्रूप स्वप्न स्फुरित

साकारस्यैव यत्स्वप्नजगत्तद्व्योम निर्मलम् ।
निराकारस्य चिद्व्योम्नः सर्गः स्वप्नः कथं न खम् ॥ ४३ ॥
निरुपादानसम्भारमभित्तावेव चिन्नभः ।
पश्यत्यकृतमेवेमं जगत्स्वप्नं कृतं यथा ॥ ४४ ॥
मृद्व्या चिदाकाशमृदा ब्रह्मणा ब्राह्मणेन खे ।
कृतोऽपि न कृतः सर्गमण्डपोऽक्षगवाक्षकः ॥ ४५ ॥
नो कर्तृता न च जगन्ति न भोक्तृताऽस्ति
नास्तीति नास्ति न च किञ्चिदतो बुधः सन् ।
पाषाणमौनमवलम्ब्य यथाप्रवाह-
माचारमाचर शरीरमिहास्तु मा वा ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषा० चिदैक्यं नाम द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

---

होता है उस स्वप्नका जन्म कैसे हो तथा वन्ध्यापुत्रके सदृश उस जगत्‌से वह चिदाकाश साकार कैसे होगा ॥ ४२ ॥

साकार आप लोगोंका जो स्वप्न-जगत् है जब वह निर्मल चिदाकाशरूप है तब मेरा निराकार ब्रह्मका स्वरूप जगत् निर्मल चिदाकाशरूप क्यों न हो ॥४३॥

उपादान आदि सामग्रीके बिना अभित्तिमें ही चिदाकाश इस जगद्रूपी स्वप्नको बिना निर्मित हुए ही निर्मित-सा देखता है ॥ ४४ ॥

कोमल चिदाकाशरूप मिट्टीसे हिरण्यगर्भनामक ब्राह्मणने इन्द्रियरूपी झरोखोंसे युक्त देहादि सृष्टिरूप मण्डपका यद्यपि निर्माण किया है, फिर भी उसका वह निर्माण नहींके बराबर है ॥ ४५ ॥

न तो कर्तृता है, न ये जगत् हैं, न भोक्तृता है, न अस्तिता है और न कुछ नास्तिता ही है, अतः सम्पूर्ण दृश्योंका परिमार्जन हो जानेसे उनका एकमात्र साक्षी ही परमार्थ है । इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप अपने भीतर पाषाणतुल्य मौनताका अवलम्बन करके बाहर यथाप्राप्त प्रवाहपतित व्यवहार करते चलिये । जबतक प्रारब्ध कर्मका शेष है तबतक यह शरीर रहे या इसके बाद न रहे—इसमें कोई विशेष नहीं है ॥ ४६ ॥

बासठवाँ सर्ग समाप्त

## त्रिषष्टितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

तव स्त्रियाऽस्वरूपेण देहेनाभूतया कथम्।
कथमुच्चारितास्तत्र वर्णाः कचटतादयः ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

वर्णेषु खशरीराणां वर्णाः कचटतादयः।
कदाचनापि नोद्यन्ति शवानामिव केचन ॥ २ ॥

---

## तिरसठवाँ सर्ग

[ अज्ञानीकी दृष्टिमें भीतर ही भीतर अनन्त सर्गसम्पत्तियाँ हैं, लेकिन ब्रह्मज्ञानीकी दृष्टिमें एकमात्र चिद्घन ब्रह्म ही सब कुछ है, यह वर्णन ]

स्वप्नव्यवहारका दृष्टान्त देकर पूर्वमें समर्थित हुए भी शरीररहित पुरुषके संभाषण आदिरूप व्यवहारको मन्दबुद्धि पुरुषोंके स्पष्ट बोधके लिए श्रीरामचन्द्रजी पुनः पूछते हैं—'तव' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुने, उस स्त्रीके साथ मुख, जीभ आदि अवयवोंसे रहित एकमात्र वासनारूप देहसे आपका संभाषण आदि व्यवहार कैसे हुआ ? उस दशामें आपने क च ट त प आदि वर्णोंका बिना जीभके कैसे उच्चारण किया ॥ १ ॥

वर्णोंका जो उच्चारण आदि व्यवहार है उसमें शरीरकी कारणता नहीं है, क्योंकि मृतक शरीरके रहते हुए भी वैसा व्यवहार नहीं दीखता तथा शरीरके न रहनेपर भी स्वप्नमें उस तरहका अनेक व्यवहार दीखता है, अतः अन्वय-व्यतिरेकव्यभिचार है तथा व्यवहारको सहेतुक माननेपर सत्यतापत्ति भी है। इसलिए जो कुछ व्यवहार है वह सब सिर्फ कल्पनामात्र है। उस तरहका व्यवहार तो उस समय भी दुर्लभ ही था, इस आशयसे महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'वर्णेषु' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, चिदाकाशस्वरूप तत्त्वज्ञानियों-के मतमें वर्णोंके बीचमें जो क च ट त प आदि वर्ण हैं उनके किसी कालमें

वर्णोच्चारो भविष्यच्चेत्प्रकटार्थस्ततः क्वचित् ।
स्वप्नेऽन्वभविष्यत्तं विनिद्रः पार्श्वगो जनः ॥ ३ ॥
तस्मान्न किञ्चित्स्वप्नेषु तत्सत्यं भ्रान्तिरेव सा ।
चिन्मात्राकाशकचनं तत्तथा खे स्वभावजम् ॥ ४ ॥
तदेन्दुकार्ष्ण्यखतनुशिलागेयादितां गताः ।
इवाभान्ति चिदाकाशास्तथा देहरवादयः ॥ ५ ॥
तच्चिदाकाशकचनं यन्नाम स्वप्नवेदने ।
आकाशमेव नभसः कचनं विद्धि नेतरत् ॥ ६ ॥
यथा स्वप्नस्तथैवेदं जाग्रदग्रे व्यवस्थितम् ।
आकाशमप्यनाकाशं यथैवेदं तथैव तत् ॥ ७ ॥

भी उच्चारण ऐसे नहीं होते, जैसे मृतकोंके मुखसे किसी वर्णके उच्चारण नहीं होते, क्योंकि वे सभी कल्पनामात्ररूप ही हैं ॥ २ ॥

उक्त अर्थमें अनुकूल तथा विपक्षमें प्रतिकूल तर्क उपस्थित करते हैं—'वर्णोच्चारो' इत्यादिसे ।

यदि कहीं स्वप्नोंमें वर्णोंका उच्चारण परमार्थ होता, तो फिर पासमें स्थित जागे हुए पुरुषको भी उसका अनुभव होता अर्थात् समीपस्थ जाग्रत् पुरुष भी उसे सुन पाता ॥ ३ ॥

इसलिए स्वप्नमें उसकी सत्यता कुछ भी नहीं है, वह एकमात्र भ्रान्ति ही है । निद्रास्वभावबलसे कल्पित चिदाकाशमात्रका वह स्फुरण चिदाकाशमें ही है ॥ ४ ॥

जैसे नेत्र रोगके कारण चन्द्रमामें कालापन, आकाशमें साकारता, पत्थरकी मूर्ति आदिमें गीत आदि ये सब प्रातिभासिक अर्थताको प्राप्त चिदाकाशरूप ही हैं, वैसे ही स्वाप्निक देह तथा शब्द आदि भी तत्तत् ज्ञात वस्तुके संस्कारोंसे उपहित चिदाकाशरूप ही होकर अवभासते हैं ॥ ५ ॥

जैसे आकाशका मूर्तरूपसे स्फुरण आकाशसे भिन्न नहीं है, वैसे ही वह चिदाकाशका स्फुरण आदि भी, जो स्वप्नज्ञानमें जगदाकारसे प्रसिद्ध है, उस चिदाकाशसे भिन्न नहीं है । हे श्रीरामजी, उसे आप चिदाकाशरूप ही समझिये ॥ ६ ॥

इस तरह स्वप्नके पदार्थोंमें चिदाकाशमात्रता सिद्ध करके उसीके साम्यसे

यथा कचति तच्चारु चेतनं चतुरं तथा ।
यथास्थितं तदेवेदं सत्यं स्थिरमिव स्फुरत् ॥ ८ ॥

श्रीराम उवाच

भगवन्स्वप्न एवेदं कथं जाग्रदवस्थितम् ।
असत्यमेव सत्यत्वमिव यातं कथं भवेत् ॥ ९ ॥

वसिष्ठ उवाच

शृणु स्वप्नमयान्येव कथं सन्ति जगन्त्यलम् ।
नान्यानि न च सत्यानि न स्थिराणि स्थितानि च ॥ १० ॥

---

सामने स्थित तथा समाधिमें दृष्ट हुए पदार्थोंमें भी चिदाकाशमात्रता सिद्ध ही है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नकालका जगत् चिदाकाशरूप है, वैसे ही हम लोगोंके सामने स्थित यह जाग्रत् कालका जगत् भी चिदाकाशरूप ही व्यवस्थित है । तथा जैसे यह जगत् चिदाकाशरूप होते हुए भी चिदाकाशरूप नहीं है, वैसे ही समाधिकालका भी मेरा वह जगत् है ॥ ७ ॥

इससे सिद्ध हुआ कि जो कुछ दीखता है वह सब चितिका ही स्फुरणरूप चमत्कार है, अणुमात्र भी अचिद्रूप कुछ नहीं है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जिस रीतिसे यह सब सौन्दर्यपूर्ण जगत् स्फुरित हो रहा है उस रीतिसे तो वह चतुर ब्रह्म ही स्फुरित हो रहा है । जैसा यह जगत् सत्य और स्थिर-सा स्फुरित हो रहा है वैसा तो वह चतुर ब्रह्म ही स्थित है ॥ ८ ॥

प्रमाणगम्य जगत्प्रपञ्चकी तुलना प्रमाणागम्य स्वप्नसे करना अयुक्त है, यह श्रीरामचन्द्रजी आशङ्का करते हैं—'भगवन्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, स्वप्नरूप ही यह जगत् जाग्रत्स्वरूप कैसे अवस्थित है तथा असत्य ही यह सत्य-सा कैसे हो गया, यह कैसे सम्भव है ॥ ९ ॥

ठीक है, आपाततः यह भले ही आंखोंका विषय हो जाय, फिर भी तत्त्वतः विमर्शका सहन न कर सकने तथा अस्थिर होनेसे स्वप्नका साम्य है ही, इस आशयसे कहते हैं—'शृणु' इत्यादिसे ।

अनुभूतानि बीजानि बीजराशाविवाम्बरे ।
अन्यान्यन्यानि तान्येव समानि न समानि च ॥ ११ ॥
प्रत्येकमन्तरन्यानि तथैवाभ्युदितानि च ।
परस्परमदृष्टानि बहूनि विविधानि च ॥ १२ ॥
अन्योन्यं तानि सर्वाणि न पश्यन्त्येव किञ्चन ।
जडानीवैकराशीनि बीजानीव गलन्त्यपि ॥ १३ ॥
व्योमात्मत्वान्न गगनं न विदन्ति परस्परम् ।
अपि चेतनरूपाणि सुप्तानीव निरन्तरम् ॥ १४ ॥

---

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, यह जगत् कैसे स्वप्नमय ही है, यह आप अच्छी तरह सुनिये । स्वप्नके समान ही ये जगत् न तो आत्मासे भिन्नरूप हैं और न आत्माके समान ये सत्यरूप और स्थिर ही हैं । ये सबके सब अनिर्वचनीय ही एकमात्र आत्मसत्तासे स्थित हैं ॥ १० ॥

इस तरह परस्पर एक दूसरेका बीज होनेसे तथा विरुद्ध भेद और अभेदरूप एवं सम और असमरूप होनेसे इनका स्वप्नसाम्य है ही, यह कहते हैं—'अनुभूतानि' इत्यादिसे ।

जैसे बीजकी राशिमें अनुभूत हुए बीज स्वप्नमें कोई अन्य-अन्य होते हैं, कोई ठीक वे ही उत्पन्न होते हैं, कोई सम होते हैं और कोई विषम भी होते हैं; वैसे ही चिदाकाशमें सब जगत् कोई पहलेसे अन्य होते हैं, कोई ठीक वे ही उत्पन्न होते हैं, कोई सम और कोई विषम भी होते हैं ॥ ११ ॥

केलेकी छालकी रचनाकी तरह परस्पर भीतर-ही-भीतर अनन्तरूपमें इनकी स्थितिका अनुभव होनेसे भी ये सभी मिथ्या हैं, इसलिए स्वप्नसाम्य है ही, यह कहते हैं—'प्रत्येकम०' इत्यादिसे ।

प्रत्येक जगत्के भीतर परस्पर एक दूसरेसे न देखे गये अनेक भिन्न-भिन्न स्वरूपके ये जगत् वैसे ही उदित हुए हैं, जैसे केलेकी छाल ॥ १२ ॥

उसीका पुनः उपपादन करते हैं—'अन्योन्यम्' इत्यादिसे ।

वे सब जगत् परस्पर एक दूसरेको कदापि कुछ नहीं देख पाते तथा कोठीके भीतर रखे गये जड़ बीजोंकी एक राशिकी तरह भीतर ही भीतर नष्ट भी हो जाते हैं ॥ १३ ॥

नष्ट हो जानेपर भी वे चेतनरूप ही रहते हैं, तपे हुए खर्परमें गिरे हुए

सुप्ताः स्वप्नजगज्जालमहनि व्यवहारिणः ।
असुरा निहता देवैस्ते स्वप्नजगति स्थिताः ॥ १५ ॥
अज्ञानान्न गता मुक्तिं न जाड्याज्जडतामिताः ।
न देहवन्तः किं सन्तु विना स्वप्नजगत्स्थितेः ॥ १६ ॥
सुप्ताः स्वप्नजगज्जाले स्वाचारव्यवहारिणः ।
पुरुषा निहताः पुंभिस्ते तथैव व्यवस्थिताः ॥ १७ ॥
निर्मोक्षा निःशरीरास्ते चेतनावासनान्विताः ।
दृष्टं स्वप्नजगज्जालं विना च क्व वसन्तु ते ॥ १८ ॥
सुप्ताः स्वप्नजगज्जालव्यवस्थाचारचारिणः ।
ये हता राक्षसा देवैस्ते यथैव व्यवस्थिताः ॥ १९ ॥

---

जलबिन्दुके सदृश शून्यरूपता प्राप्त कर शून्यस्वरूप ही नहीं हो जाते । हम लोगोंकी तरह वे परस्पर देखते भी नहीं, किन्तु अज्ञानसे इनका चेतनरूप ढक जानेके कारण निरन्तर सोये हुए-जैसे स्वप्नका ही अनुभव करते हैं ॥ १४ ॥

सोये हुए वे जीव स्वप्नजगज्जालको प्राप्त कर वहींपर कल्पित दिनोंमें अपना सब व्यवहार करते हैं। स्वप्न-जगत्में स्थित वे असुर देवताओंसे निहत होकर अपने अज्ञानके कारण न तो मुक्ति प्राप्त करते हैं, न जड़ताके कारण जड़भावको प्राप्त होते हैं और न देहसहित ही वे रहते हैं। ऐसी दशामें इस तरहके वे स्वप्नजगत्स्थितिके सिवा हो ही क्या सकते हैं ? ॥ १५,१६ ॥

इसी तरह मनुष्य भी अपने स्वप्नरूप जगत्-समूहमें वासनाओंके कारण अपना-अपना आचार और व्यवहार करते हैं तथा वे स्वप्नके मनुष्य स्वप्नके अन्य पुरुषोंसे मार दिये जानेपर पूर्वोक्त असुर जीवोंके सदृश स्वप्नपरम्परामें ही स्थित रहते हैं ॥ १७ ॥

चूँकि वे भी ज्ञान न होनेके कारण मोक्षरहित और शरीरशून्य ही रहते हैं, इसलिए वे जागरमें समर्थ और वासनाओंसे व्यवहारशील नहीं होते। अतः चेतना और वासनासे युक्त ऐसे मनुष्य दृष्टस्वप्नरूप जगत्समूहके सिवा कहाँ निवास करें ? स्वप्नके सिवा उनकी कोई दूसरी गति नहीं है, यह तात्पर्य है ॥ १८ ॥

यह असुर और मनुष्योंमें जो दिखलाया गया न्याय है, उसे राक्षस आदिमें भी लगाना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'सुप्ताः' इन दो श्लोकोंसे ।

एवं ये निहता राम किं ते कुर्वन्ति कथ्यताम् ।
अज्ञत्वान्न गता मुक्तिं चेतनान्न दृषत्स्थिताः ॥ २० ॥
साद्र्यब्ध्युर्वीजनं दृश्यमिदं सर्वं यथास्थितम् ।
चिरायानुभवन्त्येते यथेमे वयमादृताः ॥ २१ ॥
तेषां कल्पजगत्संस्था यथाऽस्माकं तथैव ताः ।
अस्माकं जगतीसंस्था यथा तेषां तथैव च ॥ २२ ॥
एतेषां स्वप्नपुरुषास्त एवेमे वयं स्थिताः ।
ये च ते नाम संसारास्तेभ्य एकमिमं विदुः ॥ २३ ॥

---

सोये हुए, स्वप्नरूप जगज्जालकी व्यवस्थाके अनुसार आचार करनेवाले जो राक्षस स्वप्नके देवताओंसे मारे गये, वे असुरोंके सदृश उसी स्वप्नमें ही व्यवस्थित हैं ॥ १९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह जो स्वप्नमें मारे गये, कहिये वे क्या करते हैं। अज्ञानके कारण वे मुक्तिको नहीं प्राप्त हुए तथा चेतन होनेके कारण पत्थरके सदृश भी वे स्थित न रहे ॥ २० ॥

पर्वत, सागर, पृथिवी तथा अनेकजनोंसे भरे यथास्थित इस सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चको वे लोग चिरकालतक ऐसे अनुभव करते हैं, जैसे ये सत्यत्वाभिमानी हम लोग अनुभव करते हैं। हे श्रीरामचन्द्रजी, इसीलिए उनका अपना-अपना स्वप्न चिरकालकी अनुवृत्तिसे हम लोगोंके अनुभवकी तरह जाग्रदवस्थारूप ही हो जाता है ॥ २१ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उनके कल्प और जगत्की स्थिति, जैसी हम लोगोंकी है वैसी ही है और हम लोगोंके जगत्की स्थिति भी वैसी ही है, जैसी उन लोगोंकी है ॥ २२ ॥

ऐसी स्थितिमें हम लोगोंसे अनुभूत हो रहा यह जगत् तथा इसके भीतर रहनेवाले हम लोग यदि उनसे देख लिये जाते हैं, तब तो हे श्रीरामजी, इनके स्वप्नके जो पुरुष हैं वे ही हम लोग ये स्थित हैं और उनके जो स्वप्नके संसार हैं, उनमेंसे कोई यह एक हमारा संसार है—ऐसा वे लोग अवश्य समझते होंगे ॥ २३ ॥

ते स्वप्नपुरुषास्तेषां सत्या एवानुभूतितः ।
आत्मनोऽपि परस्यापि सर्वगत्वाच्चिदात्मनः ॥ २४ ॥
यथा ते स्वप्नपुरुषाः सत्यमात्मन्यथाऽपरे ।
तथापि स्वप्नपुरुषाः सत्यमेव तथैव ते ॥ २५ ॥
स्वस्वप्नपुरपौरा ये त्वया दृष्टा यथैव ते ।
स्थितास्तत्र तथाऽद्यापि ब्रह्म सर्वात्मकं यतः ॥ २६ ॥
प्रबोधेऽपि हि भिद्यन्ते स्वप्नभावा यथास्थिताः ।
तथा स्थित्याऽनुभूयन्ते परब्रह्मतयाऽथवा ॥ २७ ॥
सर्वं सर्वात्म सर्वत्र सर्वदाऽस्ति तथा परे ।
यथा न किञ्चिन्नाकाशं न क्वचिन्न च हन्यते ॥ २८ ॥
निरन्तरे पराकाशे निरन्ते च विनोदये ।
निरन्ते चित्तसंघाते निरन्ते जगतां गणे ॥ २९ ॥

---

हे श्रीरामचन्द्रजी, उनके स्वप्नके वे पुरुष अपने तथा अन्य पुरुषके भी अनुभवसे चूँकि तुल्य हैं अतः वे सत्य ही हैं, क्योंकि उनकी सत्ताके निमित्तभूत अधिष्ठानचिदात्मा सर्वगामी होनेसे तुल्य है ॥ २४ ॥

जैसे आत्मामें वे स्वप्नके पुरुष सत्य हैं वैसे ही दूसरे भी पुरुष, जिनका प्रत्येक स्वप्नमें मुझे अनुभव होता है, सत्य ही हैं। हे श्रीरामजी, आप भी उन्हें वैसा ही समझिये ॥ २५ ॥

जैसे आपने उस अपने स्वप्नमें अनेक नगर तथा अनेक नागरिक देखे, वैसे ही वे सब अब भी स्थित हैं, क्योंकि सर्वव्यापी ब्रह्म सर्वात्मक है ॥ २६ ॥

तत्-तत् स्वाप्निक पदार्थ जाग्रदवस्थामें विशीर्ण हो जाते हैं, यह जैसे अनुभव होता है, वैसे ही वे स्वप्नकालमें स्थित भी रहते हैं, यह भी अनुभव होता है। अथवा सबकी सत्ता ब्रह्मसत्तारूप है, इसलिए किसीकी सत्ताका कदापि अपलाप नहीं किया जा सकता अतः सर्वात्मक सभी सर्वत्र सदा परब्रह्म परमात्मामें उसीके रूपसे स्थित हैं। जैसे यह सारा संसार आकाशका कार्य होनेसे आकाशरूप ही है। आकाशरूपसे स्थित इसका कुछ भी कहीं नाश नहीं होता, वैसे ही उत्पत्ति-शून्य, निरन्तर और निरन्त परमाकाश ब्रह्ममें अन्तशून्य—अनेक चित्तसमूह हैं, उनमें अन्तशून्य ( असीम ) अनेक जगत्के गण हैं, उनमें भी प्रत्येक संसारके अनेक

प्रत्याकाशकलाकोशं प्रतिसंसारमण्डलम् ।
प्रतिलोकान्तराकारं प्रतिद्वीपं गिरिं प्रति ॥ ३० ॥
प्रतिमण्डलविस्तारं प्रतिग्रामं पुरं प्रति ।
प्रतिजन्तु प्रतिगृहं प्रतिवर्षं युगं प्रति ॥ ३१ ॥
यावन्तो ये मृताः केचिज्जीवा मोक्षविवर्जिताः ।
स्थितास्ते तत्र तावन्तः संसाराः पृथगक्षयाः ॥ ३२ ॥
तेषामन्तर्जनाः सन्ति जनं प्रति पुनर्मनः ।
पुनर्मनः प्रति जगज्जगत्प्रति पुनर्जनः ॥ ३३ ॥
इत्थमाद्यन्तरहित एष दृश्यमयो भ्रमः ।
ब्रह्मैव ब्रह्मवित्पक्षे नात्रेयत्ताऽस्ति काचन ॥ ३४ ॥

---

आकाशकलाकोश हैं, उनमें भी प्रत्येकके अनेक संसारमण्डल हैं, उनमें भी प्रत्येक संसारमण्डलके पृथिवी आदि भिन्न-भिन्न आकारके अनेक लोक हैं, उन लोकोंके अन्दर अनेक द्वीप हैं, उनमें भी प्रत्येक द्वीपके भीतर अनेक पर्वत हैं, उन पर्वतोंमें भी प्रत्येक पर्वतमें अनेक मण्डलोंका विस्तार है, उनमें भी प्रत्येक मण्डलके अनेक ग्राम हैं, उनमें भी प्रत्येक गाँवके अन्दर अनेक छोटे-छोटे गाँव हैं, उन छोटे-छोटे गाँवोंके भीतर अनेक घर हैं, उनके भी प्रत्येक घरके अन्दर अनेक प्राणी रहते हैं। उन सब प्राणियोंके भी अनेक युगादिकाल हैं। जितने जो जीव मर चुके हैं और जो मोक्षरहित स्थित हैं उतने ही उनके अनेक अक्षय संसार पृथक्-पृथक् स्थित हैं ॥ २७—३२ ॥

उतनी संख्यासे भी संसारकी संख्या समाप्त नहीं हो जाती, इसलिए अनवस्था बराबर बनी हुई है, जो एकमात्र मायाका ही अलङ्कार है, इस आशयसे कहते हैं—'तेषा०' इत्यादिसे।

तथा उन जीवोंके वासनाके अन्दर अनेक जीव हैं और उन अनन्त जीवोंके अनन्त मन हैं। उनमें भी प्रत्येक मनके भीतर असंख्य संसारमण्डल हैं, पुनः उन संसारमण्डलोंके अनेक संसार हैं, फिर उन संसारोंमें भी प्रत्येक संसारमें अनेक जीव हैं, पुनः उन जीवोंके अनेक मन हैं और उन मनोंके भी अनेक संसार हैं ॥ ३३ ॥

इस तरह आदि और अन्तसे शून्य यह दृश्यमय भ्रम बराबर चला ही जा

कुड्ये नभस्युपलके सलिले स्थलेऽन्त-
श्चिन्मात्रमस्ति हि यतस्तदशेषविश्वम् ।
तद्यत्र तत्र जगदस्ति कुतोऽत्र संख्या
तज्ज्ञेषु तत्परमथाज्ञमनःसु दृश्यम् ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने जगत्तत्त्वैक्यप्रतिपादनं नाम त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

---

रहा है। इसका कहींपर ओर-छोर नहीं है। लेकिन हां, ब्रह्मज्ञानीके पक्षमें यह सब कुछ ब्रह्मरूप ही स्थित है ॥ ३४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, भीतमें, आकाशमें, पाषाणमें, जलमें और स्थलमें सर्वत्र तत्-तत् पदार्थोंके अन्दर चूँकि चिन्मात्र परमात्मा ही विराजमान है, अतः वही सम्पूर्ण विश्वरूप स्थित है, 'जगत्' इस नामकी कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं। ऐसी स्थितिमें चिन्मात्र परमात्माके सर्वव्यापी होनेसे जहाँ-तहां सर्वत्र जगत् है ही। अब आप ही सोच लीजिये कि इनकी संख्या कैसे बतलायी जा सकती है ? वह सारा विश्व तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें निर्विशेष निरतिशयानन्दैकरस ब्रह्म ही है, परन्तु वही विश्व अज्ञानियोंके मनमें दृश्यप्रपञ्चरूपसे स्थित है यानी अनर्थरूप ही है * ॥ ३५ ॥

तिरसठवां सर्ग समाप्त

---

* देखिये यह श्रुति—'तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य' [ तैत्ति० २।७ ] ।

## चतुःषष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

ततस्तत्कुवलोल्लासिमालतीमाल्यलोचना ।
ललना ललिताऽऽलोक्य लीलयाऽऽलपिता मया ॥ १ ॥
का त्वं कमलगर्भाभे किमर्थं मामुपागता ।
कस्यासि किं प्रार्थयसे क्व गतासि किमास्पदा ॥ २ ॥

विद्याधर्युवाच

मुने शृणु यथावत्त्वमात्मोदन्तं वदाम्यहम् ।
प्रष्टुमर्हसि विस्रब्धमार्त्तां करुणयाऽर्थिनीम् ॥ ३ ॥
परमाकाशकोशस्य कस्मिंश्चित्कोणकोटरे ।
युष्माकं संस्थितं किञ्चिदिदं तावज्जगद्गृहम् ॥ ४ ॥

---

## चौसठवाँ सर्ग

[ वसिष्ठजीके प्रश्न करनेपर विद्याधरी द्वारा विस्तारके साथ वैराग्यपर्यन्त अपने घरमें जन्म आदिका निरूपण ]

प्रासङ्गिक विषयका निरूपण कर अब महाराज वसिष्ठजी प्रस्तुत कथाका अवशिष्ट भाग कहते हैं—'ततः' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, तदनन्तर उस ललित ललनाको देखकर मैंने कौतुकसे उससे पूछा, उसके नेत्र कमलके सदृश उल्लाससे भरे थे और कटाक्षमालाओंसे मालती मालाके सदृश भले लगते थे ॥ १ ॥

कमलके गर्भके सदृश कोमल तथा सुन्दर रूपवाली हे ललने, तुम कौन हो, मेरे पास क्यों आई हो, तुम किसकी लड़की और किसकी भार्या हो, क्या चाहती हो, कहाँ गई रहीं, तुम कहाँकी रहनेवाली हो ॥ २ ॥

विद्याधरीने कहा—हे मुने, आप सुनिये, मैं अपना वृत्तान्त जैसा है, वैसा आपसे कहती हूँ । यद्यपि एकान्तमें परस्त्रीसे सम्भाषण नहीं करना चाहिए, तथापि दुःखशान्तिके लिए प्रार्थना करनेवाली मुझसे तो आप एकान्तमें दयासे पूछ सकते हैं, क्योंकि दुःखियोंको आश्वासन देना सज्जनोंका धर्म है ॥ ३ ॥

पहले अपने घरको बतलानेके लिए उपक्रम करती है—'परमा०' इत्यादिसे ।

पातालभूतलस्वर्गा इहापवरकास्त्रयः ।
कल्पनैका कुमार्यत्र कृता धातृत्वमायया ॥ ५ ॥
तत्र द्वीपैः समुद्रैश्च वलितं वलयैरिव ।
पाटलोत्थं जगल्लक्ष्म्याः प्रकोष्ठमिव भूतलम् ॥ ६ ॥
अन्ते द्वीपसमुद्राणां सर्वदिक्कमवस्थिता ।
योजनानां सहस्राणि दश हेममयी मही ॥ ७ ॥
स्वयंप्रकाशसङ्कल्पफलदाम्बरनिर्मला ।
चिन्तामणिमयी स्वच्छा स्वच्छायाजितविष्टपा ॥ ८ ॥
साऽप्सरोमरसिद्धानां लीलाविहरणावनिः ।
सङ्कल्पमात्रसम्पन्नसर्वसम्भोगसुन्दरी ॥ ९ ॥

महाराज, परमाकाशरूप चिदाकाशके कोशके किसी एक कोनेमें कोई यह आपका जगद्रूपी घर स्थित है ॥ ४ ॥

इस आपके जगद्रूपी घरके अन्दर पाताल, भूतल और स्वर्ग—ये तीन घरके अन्दरके प्रकोष्ठ हैं, इन तीनों प्रकोष्ठोंमें हिरण्यगर्भके आकारमें स्थित मायाने चित्र-विचित्र कल्पनारूप एक कुमारीका ( गृहस्वामिनीका ) क्रीडार्थ निर्माण किया है ॥ ५ ॥

उन तीनोंमें जो भूतल है, वह कङ्कणोंके सदृश द्वीपों और समुद्रोंसे वलित है यानी चारों ओरसे घिरा हुआ है, इसलिए उनके रङ्गसे पाटल वर्णका बना हुआ उन्नत वह जगत्-लक्ष्मीका करमूल एक तरहसे बनकर स्थित है ॥ ६ ॥

सातों द्वीप और समुद्रोंके अन्तमें चारों ओरसे दस हजार योजनोंतक लम्बी-चौड़ी सुवर्णमयी पृथ्वी स्थित है ॥ ७ ॥

उसी पृथ्वीका वर्णन करते हैं—'स्वयम्' इत्यादिसे ।

महाराज यह पृथ्वी बड़ी ही विचित्र है, यह रातमें भी स्वयं प्रकाशती रहती है यानी इसमें रातको भी प्रकाशके लिए किसी अन्य वस्तुकी आवश्यकता नहीं होती, इसमें सभी तरहकी इच्छाएँ सफल हो जाती हैं, आकाशके सदृश यह निर्मल है, इसमें चिन्तामणियोंकी अधिकता काफी है, धूलीका तो इसमें नाम-निशान नहीं है, अपनी अपूर्व छटासे इसने स्वर्गादि लोकोंको भी तुच्छ बना दिया है ॥ ८ ॥

यह अप्सराओंको साथ लिये हुए देवताओं एवं सिद्धोंकी लीलाविहारभूमि

अन्ते तस्या भुवः शैलो लोकालोकोऽस्ति विश्रुतः ।
भूपीठस्य प्रकोष्ठस्य वलयावलनां दधत् ॥ १० ॥
क्वचिन्नित्यं तमोव्याप्तो मूढबुद्धेरिवाशयः ।
क्वचिन्नित्यं प्रकाशात्मा मनःसत्त्ववतामिव ॥ ११ ॥
क्वचिदाह्लादजनकः साधूनामिव सङ्गमः ।
क्वचिदुद्वेगजनको मूर्खैरिव समागमः ॥ १२ ॥
क्वचित्प्रकटसर्वार्थो मनो मतिमतामिव ।
क्वचिदत्यन्तगहनो मूर्खश्रोत्रियचित्तवत् ॥ १३ ॥
क्वचिदप्राप्तसोमांशुः क्वचिदप्राप्तसूर्यभाः ।
क्वचिल्लोकमयस्तेन क्वचिदाशून्यदिक्तटः ॥ १४ ॥

---

है । ज्यों ही केवल संकल्प किया, त्यों ही सब तरहके भोग प्राप्त हो गये— इसलिए अर्थात् सङ्कल्पमात्रसे सब तरहका भोग दिलानेवाली होनेके कारण वह अत्यन्त सुन्दर है ॥ ९ ॥

उस महीके अन्तमें ( बाहरी प्रान्तमें ) एक लोकालोक नामका अत्यन्त विख्यात पर्वत है । जगत्-लक्ष्मीके उन्नत करमूलभूत इस भूपीठको उसने कङ्कणके सदृश चारों ओरसे घेर दिया है ॥ १० ॥

अब उस पर्वतका वर्णन करती है—'क्वचित्' इत्यादिसे ।

भगवन्, यह पर्वत कहींपर तो मूढ़मति पुरुषोंके अन्तःकरणके सदृश सदा अन्धकारसे व्याप्त है और कहींपर तो सात्त्विक पुरुषोंके अन्तःकरणके सदृश सदा प्रकाशमय है ॥ ११ ॥

जैसे सज्जनोंकी सङ्गति आह्लादको पैदा करती है, वैसे ही यह कहींपर अत्यन्त ही आह्लादको पैदा करता है तथा जैसे मूर्खोंके साथका समागम उद्वेग पैदा करता है, वैसे ही यह कहींपर उद्वेगको भी पैदा करनेवाला है ॥ १२ ॥

बुद्धिमान् पुरुषोंके मनमें जैसे सभी अर्थ विस्पष्ट रहते हैं, वैसे ही इसमें कहींपर तो सभी अर्थ विस्पष्ट हैं और कहींपर तो यह इतना अतिगहन है, जैसे मूर्ख श्रोत्रिय पुरुषका चित्त ॥ १३ ॥

कहींपर तो इसमें चन्द्रमाकी किरणें ही जाने नहीं पातीं, कहींपर सूर्यकी ही किरणें नहीं जाने पातीं, कहींपर तो इसमें मनुष्य ही मनुष्य भरे पड़े हैं और कहींपर इसकी दिशाएँ जनोंसे एकदम शून्य हैं ॥ १४ ॥

क्वचिद्देवपुरव्याप्तः क्वचिद्दैत्यपुरान्वितः ।
क्वचित्पातालगहनः क्वचिच्छृङ्गोर्ध्वकन्धरः ॥ १५ ॥
क्वचिच्छ्वभ्रभ्रमद्गृध्रः क्वचित्सानुमनोहरः ।
क्वचिच्छृङ्गशिखाक्रान्तवैरिञ्चनगरान्तरः ॥ १६ ॥
क्वचिच्छून्यमहारण्यवहत्कल्पान्तमारुतः ।
क्वचित्पुष्पवनोद्यानगायद्विद्याधरीगणः ॥ १७ ॥
क्वचित्पातालगम्भीरगुहाकुम्भाण्डभीषणः ।
क्वचिन्नन्दनसोदर्यमुन्याश्रममनोरमः ॥ १८ ॥
क्वचिदक्षयमत्ताभ्रः क्वचिद्दुर्लभवारिदः ।
क्वचिद्दर्भगुहाश्वभ्रगहनोपान्तमण्डलः ॥ १९ ॥
क्वचित्क्षुब्धजनाक्षेपसमुत्सादितभूतभूः ।
क्वचिद्वास्तव्यजनतासौजन्यजितविष्टपः ॥ २० ॥

---

कहींपर तो देवताओंके नगरके-नगर हैं, कहींपर दैत्योंके बड़े-बड़े नगर विद्यमान हैं, कहींपर पातालके सदृश गहरा है यानी वहां प्रवेश ही होना कठिन है, तो कहींपर अपने शिखरोंसे उन्नत कन्धा किये हुए है ॥ १५ ॥

कहींपर तो उसके गड्ढोंमें गीध घूम रहे हैं, कहींपर तो समान भूभागके कारण वह बड़ा ही लुभावना लगता है, कहींपर तो उसके भीतरी भागपर शिखरकी चोटीसे आक्रान्त ब्रह्माजीका नगर बसा है ॥ १६ ॥

कहींपर तो उसमें जनोंसे शून्य बड़े-बड़े जंगल हैं, कहींपर कल्पान्तकी वायु बह रही है, कहींपर फुलवारियोंमें विद्याधरियोंके गान हो रहे हैं ॥ १७ ॥

कहींपर पातालके सदृश अत्यन्त गहरी गुफाओंमें कुम्भाण्ड पिशाचोंका वास होनेके कारण बड़ा भयङ्कर है, कहींपर नन्दनवनके दूसरे भाईके सदृश सुन्दर मुनि-आश्रमोंसे बड़ा लुभावना लगता है ॥ १८ ॥

कहींपर निरन्तर ही स्थित रहनेवाले मतवालोंकी नाईं गर्जनमें निरत मेघमण्डल हैं, तो कहींपर मेघोंका दर्शन ही दुर्लभ है, कहींपर उसकी सीमाके समीपस्थ मण्डल भीतरी गुहाच्छिद्रके कारण अतिगहन हैं ॥ १९ ॥

कहींपर जनपदके विक्षुब्ध हो जानेके कारण विचलित हुए मनुष्योंके कुठार आदि प्रहारोंसे राक्षस-पिशाच आदिका निवास ( पिप्पल आदि ) उच्छिन्न हो गया

क्वचिन्नित्यं वहद्वाताजातस्थावरजङ्गमः ।
क्वचित्सर्वक्षयोन्मुक्तस्थिरस्थावरजङ्गमः ॥ २१ ॥
क्वचिन्महामरुमरुन्मुक्तभाङ्कारभीषणः ।
क्वचित्कणत्कमलिनीमत्तसारसभूषणः ॥ २२ ॥
क्वचित्सलिलकल्लोलजलदोल्लासघर्घरः ।
क्वचिन्मत्ताप्सरोदोलाविलासजनितस्मरः ॥ २३ ॥
क्वचित्पिशाचकुम्भाण्डवेष्टिताचेष्टदिक्तटः ।
क्वचिद्विद्याधरीसिद्धनृत्यगीतसरित्तटः ॥ २४ ॥
क्वचिद्दुर्द्धर्षदम्भोदसरिद्बाहुलुठत्तटः ।
क्वचित्सततगानीतनीतनानाभ्रसत्पटः ॥ २५ ॥
क्वचित्कमलिनीकोशवक्त्रस्थाध्यानमण्डलः ।
क्वचित्स्वर्गाङ्गनासिद्धसुन्दरीदन्तमण्डनः ॥ २६ ॥

---

है और कहींपर रहनेवाले मनुष्योंकी सज्जनताके कारण उसने स्वर्गपर भी विजय पा ली है ॥ २० ॥

कहींपर तो निरन्तर बह रही वायुओंके द्वारा ही स्थावर और जङ्गम भूत उत्पन्न ही नहीं हुए हैं, तो कहींपर विषादि रोगोंके न रहनेके कारण सर्वविनाशसे निर्मुक्त स्थावरजङ्गम भूत स्थिर हैं ॥ २१ ॥

कहींपर मरुस्थलीके बड़े-बड़े झंझावातोंके द्वारा उत्पन्न झङ्कारध्वनिसे महान् भयङ्कर लगता है, तो कहींपर वह कमलयुक्त तालाबोंमें कल-कल ध्वनि कर रहे सारसोंके कारण मनोरम है ॥ २२ ॥

कहींपर जलोंका सुन्दर विलास है, कहींपर मेघोंके गर्जनसे घर्घरध्वनियुक्त है और कहींपर प्रमत्त अप्सराओंके दोलाविलासोंसे काम पैदा करनेवाला है ॥ २३ ॥

कहींपर तो उसके दिशातट पिशाचों एवं कुम्भाण्डोंसे वेष्टित होनेके कारण स्तब्ध हैं और कहींपर तो उसके नदीतटपर विद्याधरी और सिद्ध नृत्य कर रहे और गीत गा रहे हैं ॥ २४ ॥

कहींपर बरस रहे मेघोंकी नदीरूप बाहुओंसे उसका कुछ तटभाग तोड़ दिये जानेके कारण भयावह लगता है, तो कहींपर निरन्तर चलनेवाली वायुके द्वारा लाये गये अनेक मेघरूप सुन्दर वस्त्रोंके कारण भला भी लगता है ॥ २५ ॥

कहींपर अपने कोशरूपी मुखपर स्थित भ्रमरभूत नेत्रोंसे ध्यान कर रही

क्वचित्तपद्दिनकरजनताचारसुन्दरः ।
क्वचिन्नैशतमोगेहनृत्यन्मत्तनिशाचरः ॥ २७ ॥
क्वचिदुत्पतदुत्पाततया नश्यज्जनावनिः ।
क्वचित्सौराज्यसम्पत्त्या प्रोद्भवत्पुरमण्डलः ॥ २८ ॥
क्वचिदत्यन्तनिःशून्यः क्वचिज्जनपदावृतः ।
क्वचिच्छ्वभ्रान्तगम्भीरः क्वचित्पातालभीषणः ॥ २९ ॥
क्वचिद्बृहत्कल्पतरुः क्वचिन्निर्जलजङ्गमः ।
क्वचिन्महाकरिकुलः क्वचिन्मत्तहरिव्रजः ॥ ३० ॥
क्वचिन्निर्भूतमुद्यातः क्वचिदुन्मत्तराक्षसः ।
क्वचित्करञ्जगहनः क्वचित्तालमहावनः ॥ ३१ ॥
क्वचिद्व्योमोपमसराः क्वचिद्दीर्घमरुस्थलः ।
क्वचिन्नित्यभ्रमत्पांसुः क्वचित्सर्वर्तुकाननः ॥ ३२ ॥

---

कमलिनियोंका समूह भरा पड़ा है, तो कहींपर अप्सराओं और सिद्धोंकी रमणियोंके दाँतोंको सुशोभित करनेवाले ताम्बूलोंका वन अतिरमणीय लगता है ॥२६॥

कहींपर तप रहे सूर्य और जनताके आचरणसे सुन्दर है, तो कहींपर रातके अन्धकाररूप घरमें मत्त निशाचर नृत्य कर रहे हैं, अतएव बीभत्स भी है ॥२७॥

कहींपर उत्पन्न हो रहे बड़े-बड़े उत्पातोंके कारण उसकी भूमि मनुष्योंके विनाशसे भयप्रद है, तो कहींपर उत्तम राज्य-सम्पत्तिसे बसाये जा रहे नगरोंके कारण हर्षप्रद भी है ॥ २८ ॥

कहींपर अत्यन्तशून्य ही है, कहींपर जनपदोंसे आक्रान्त है; कहींपर जलपूर्ण महाद्वन्द्वोंके कारण गम्भीर है, तो कहींपर शुष्क पातालोंके कारण भीषण है ॥ २९ ॥

कहींपर उसमें बड़े-बड़े कल्पतरु वृक्ष हैं, कहींपर वह जलरहित है, कहींपर चलने-फिरनेवाले प्राणी भरे पड़े हैं, कहींपर बड़े-बड़े हाथियोंके झुण्डके झुण्ड हैं, कहींपर प्रमत्त सिंह, वानर आदि हैं ॥ ३० ॥

कहींपर तो प्राणियोंसे शून्य होकर ही व्यर्थका उन्नत बना है, कहींपर लम्बी मरुभूमि ही पड़ी है, कहींपर करञ्ज वृक्षोंके कारण वह अतिगहन है, कहींपर तालके ही बड़े बड़े वन उसमें विद्यमान हैं ॥ ३१ ॥

कहींपर उसमें आकाशके सदृश निर्मल और विस्तृत बड़े-बड़े सरोवर हैं,

शिखरेषु शिलास्तस्य सामान्याचलसन्निभाः ।
सन्ति सुस्थितकल्पाभ्रा रत्नमय्योऽम्बरामलाः ॥ ३३ ॥
क्षीरोदकार्कगौरीणां वनस्कन्धौकसामिव ।
विश्राम्यन्त्यनिशं यासु हरयो हरियोनयः ॥ ३४ ॥
तासामुत्तरदिग्भागे पूर्वशृङ्गशिलोदरे ।
निवसाम्यहमक्षीणवज्रसारसमत्वचि ॥ ३५ ॥
विधिना तत्र बद्धाऽस्मि वसाम्युपलयन्त्रके ।
अत्रासंख्या मुने याता मन्ये युगगणा मम ॥ ३६ ॥
न केवलमहं बद्धा यावद्भर्तापि तत्र मे ।
बद्धः सायंतने पद्मकुड्मले षट्पदो यथा ॥ ३७ ॥

---

कहींपर महामरुस्थल हैं, तो कहींपर निरन्तर उड़ रही धूलिसे वह पूर्ण है, कहींपर तो उसमें ऐसे अरण्य हैं कि उनमें बारहों मासोंकी ऋतुएँ रहती हैं यानी एक साथ सभी ऋतुओंका उनमें आनन्द मिलता है ॥ ३२ ॥

अधिक क्या कहूँ, महाराज, उसके शिखरोंपर ऐसी रत्नमयी बड़ी बड़ी शिलाएँ हैं, जो कि छोटे-मोटे पर्वतोंके समान यानी सह्य, मलय आदि पर्वतोंके सदृश लगती हैं, उनको देखकर सुस्थिर मेघका ही स्मरण हो उठता है और वे एकदम आकाशके सदृश निर्मल हैं ॥ ३३ ॥

हे मुने, क्षीरसागर और सूर्यके सदृश गौरवर्ण उन शिखरस्थ शिलाओंके ऊपर पुत्र, पौत्र आदि परिवारके साथ सिंह, वानर आदि ऐसे रात-दिन विश्राम करते हैं, जैसे जङ्गलके बड़े वृक्षोंकी शाखाओंपर ॥ ३४ ॥

भगवन्, उन शिलाओंके मध्यमें उस पर्वतके उत्तर दिशाके भागमें पूर्व दिशाकी ओर स्थित शिखरकी जो शिला है, उसके अन्दर मैं निवास करती हूँ, बिनष्ट न होनेवाले वज्रसारमणिके सदृश उसका अविनाशी त्वचाभाग है ॥ ३५ ॥

हे मुने, हमको नियतिने ही बाँध दिया है, जिससे कि मैं उस पत्थरके यन्त्रमें बस रही हूँ । मैं मानती हूँ कि इस प्रकार उसमें रहते-रहते मेरे असंख्य युगसमूह बीत चुके ॥ ३६ ॥

अब 'किसकी स्त्री हो' इत्यादि प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिए उपक्रम करती है—'न केवलम०' इत्यादिसे ।

न केवल मैं ही ऐसी हूँ, किन्तु सब तरहसे भरणपोषण करनेवाला

तेन सार्द्धं मया भर्त्रा शिलाकोटरसङ्कटे ।
अनुभूताश्चिरं कालमत्र वर्षगणा गताः ॥ ३८ ॥
अद्याप्यात्मैकदोषेण नहि मोक्षं लभावहे ।
चिरं तत्रैव तिष्ठावस्तथैवाबद्धभावनौ ॥ ३९ ॥
पाषाणसङ्कटे तस्मिन् बद्धावावां न केवलम् ।
बद्धो यावदशेषेण परिवारोऽपि तत्र नौ ॥ ४० ॥
पुराणपुरुषो बद्धो द्विजस्तत्रास्ति मे पतिः ।
एकस्थानान्न चलति जीवन्युगशतान्यसौ ॥ ४१ ॥
आबाल्याद्ब्रह्मचारी च श्रोत्रियः पाठकोऽलसः ।
एकान्त एक एवास्तेऽजिह्मवृत्तिरचापलः ॥ ४२ ॥
अहं व्यसनिनी भार्या तस्य वेदविदांवर ।
न निमेषं समर्थाऽस्मि तं विना देहधारणे ॥ ४३ ॥

---

मेरा पति भी उसमें उस प्रकार बद्ध हो गया है, जिस प्रकार भ्रमर कमल-की कलीमें ॥ ३७ ॥

उस शिलाके कोटरके सङ्कटमें फँसकर मैंने उस अपने पतिके साथ दीर्घ-कालतक अनुभव किया और अनेक वर्ष व्यतीत किये ॥ ३८ ॥

आज भी हम दोनों अपने एकमात्र कामरूप दोषसे मोक्ष प्राप्त नहीं कर रहे हैं और उसी तरह एक दूसरेमें ममता बाँधे हुए दीर्घकालसे बस रहे हैं ॥ ३९ ॥

महाराज, उस पाषाणके सङ्कटमें हम दोनों ही बद्ध नहीं हैं, किन्तु हम लोगोंका पुत्र, पौत्र आदि परिवार भी उसमें पूर्णरूपसे बँधा हुआ है ॥ ४० ॥

भगवन्, उसमें बँधा हुआ मेरा पति द्विजकुलोत्पन्न और बड़ा ही प्राचीन पुरुष है । यह यद्यपि सैंकड़ों वर्षोंसे जी रहा है, तथापि अपने आसनसे उठता ही नहीं ॥ ४१ ॥

मेरे पति बाल्यकालसे ही ब्रह्मचारी हैं, अपने वेदाध्ययनमें परायण रहते हैं, अन्यको पढ़ाते हैं, आलसी हैं, उनका व्यवहार बड़ा ही कोमल है, उनमें इन्द्रियोंकी चञ्चलताका नामनिशान नहीं है, एकान्तमें ही सदा रहते हैं ॥ ४२ ॥

हे वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, ऐसे पुरुषकी मैं पत्नी बड़ी ही व्यसनिनी हूँ, एक क्षणमात्र भी उनके बिना देहधारणमें शक्ति नहीं रखती ॥ ४३ ॥

शृणु तेन कथं ब्रह्मन् भार्याऽहं समुपार्जिता ।
कथं वृद्धिमयं यातः स्नेहोऽस्माकमकृत्रिमः ॥ ४४ ॥
तेन जातेन मद्भर्त्रा बालेनैव सता पुरा ।
किञ्चिज्ज्ञेन सतैकेन तिष्ठतात्मालयेऽमले ॥ ४५ ॥
श्रोत्रियत्वानुरूपेण जाया मे जन्मशालिनी ।
कुतः सम्भवतीत्येव निर्णीय चिरचिन्तया ॥ ४६ ॥
स्वयमेवानवद्याङ्गी तेन तामरसेक्षण ।
उत्पादिताऽस्मि नाथेन ज्योत्स्नेव शशिनाऽमला ॥४७॥
मनसा मानसी भार्या मन्दारोत्तमसुन्दरी ।
ततो वृद्धिं प्रयाताऽस्मि वसन्त इव मञ्जरी ॥ ४८ ॥
सहजाम्बरसंछन्ना भूतानां चित्तहारिणी ।
पूर्णेन्दुबिम्बवदना द्यौरिवामलतारका ॥ ४९ ॥

---

ब्रह्मन्, आप सुनिये—उन्होंने मुझको भार्यारूपमें कैसे प्राप्त किया और हम लोगोंका यह स्वाभाविक प्रेम कैसे बढ़ा ॥ ४४ ॥

भगवन्, पहलेकी बात है जिस समय उत्पन्न हुए मेरे स्वामीकी अभी बाल्यावस्था ही थी, कुछ ज्ञान भी उनको था, वे सज्जन थे, अपने निर्मल स्थानमें अकेले ही रहते थे, उस समय उन्होंने विचार किया—मैं जैसा स्वाध्यायनिष्ठ हूँ, वैसी ही अनुरूप मेरी भार्या कैसे उत्पन्न हो सकती है । यों दीर्घकालतक विचार करके उन्होंने कुछ निश्चय किया, फिर हे कमलके सदृश नेत्रोंवाले मुने, उन मेरे पतिने स्वयं ही अनिन्दित अङ्गोंवाली मेरा ऐसे निर्माण किया, जैसे निर्मल ज्योत्स्नाका चन्द्रमा करता है ॥ ४५–४७ ॥

अनन्तर, अपने पतिके द्वारा मनसे निर्मित अतएव मानसी भार्या मैं मन्दारवृक्षकी लताके समान, उत्तम सौन्दर्यसे पूर्ण ऐसे वृद्धिको प्राप्त होने लगी, जैसे वसन्तमें पुष्पमञ्जरी ॥ ४८ ॥

मैंने साथ-साथ उत्पन्न हुए उत्तमोत्तम वस्त्र धारण किये। सभी प्राणियोंके चित्त मेरी ओर आकृष्ट होने लगे । मेरा वदन पूर्णचन्द्रबिम्बके सदृश अत्यन्त ही मनोरम हो गया । मैं निर्मल तारोंसे युक्त आकाशके सदृश चमकदार क्रमशः बन गई ॥ ४९ ॥

कोरकोच्चस्तनभरा समग्ररसशालिनी ।
लता वरवनेनेव करपल्लवशालिनी ॥ ५० ॥
सर्वस्य जन्तुजातस्य नित्यं हृदयहारिणी ।
हरिणी तारनयना मदनोन्माददायिनी ॥ ५१ ॥
लीलाविलासैकरता हेलावलितलोचना ।
गेयवाद्यप्रिया नित्यं न च तृप्तानुरागिणी ॥ ५२ ॥
सौभाग्यभोगपरमा लक्ष्म्यलक्ष्म्योः प्रिया सखी ।
अनन्या मोहजालानामखिन्ना सम्पदापदोः ॥ ५३ ॥
न केवलमहं गेहं धारयामि द्विजन्मनः ।
यावत्त्रैलोक्यसदनमिदमङ्ग बिभर्म्यहम् ॥ ५४ ॥
अहं कुलकरी भार्या कलत्रभरणक्षमा ।
त्रैलोक्यगृहसम्भारधारणैकभरोद्वहा ॥ ५५ ॥

---

फूलोंके मुकुलोंके सदृश उन्नत स्तनोंवाली मैं समग्र गुणोंसे धीरे-धीरे ऐसे सुशोभित होने लगी, जैसे पल्लवरूप करसे युक्त लता वर-श्रेष्ठ वनसे सुशोभित होने लगती है ॥ ५० ॥

मैं सदा ही सभी तरहके जन्तुओंके हृदयोंका अपहरण करनेवाली हो गई, हिरनके जैसे बड़े-बड़े नेत्रोंवाली मुझे देखकर कामदेवको भी मुझसे उन्माद होने लग गया ॥ ५१ ॥

मैं निरन्तर केवल लीलाविलासोंमें ही निरत रहने लगी, कौतुकसे तिरछे कटाक्ष मेरे होने लगे, मैं सदा गान और वाद्यमें प्रेम करने लगी, भोगोंमें कभी तृप्त न हुई, मेरा दिनपर दिन भोगोंमें अनुराग बढ़ता ही गया ॥ ५२ ॥

मैं अपने उत्तम भाग्यको ही मुख्य भोग समझने लगी, समदर्शी अपने पतिके मनसे उत्पादित ( मनकी कल्पनारूप ) मैं लक्ष्मी, अलक्ष्मी—दोनोंकी मानो प्रिय सखी बन गई यानी मैं भी समदर्शी हो गई, अतएव मोहजालोंसे अभिन्न होती हुई भी मैं सम्पत्ति और विपत्तिमें एकरूप रहती हूँ ॥ ५३ ॥

प्रिय मुने, मैं केवल अपने ब्राह्मण पतिके घरको ही धारण नहीं करती, परन्तु पतिके मनोमयरूप मैं उनके मनसे कल्पित समस्त त्रिलोकीको धारण करती हूँ ॥५४॥

मुनिवर, मैं पुत्र, पौत्र आदिसे कुलको बढ़ानेवाली भार्या हूँ, मैं पोष्यवर्गका

अथाऽहं तरुणी जाता समुद्भिन्नोन्नतस्तनी ।
लतोल्लसद्गुलुच्छेव विलासरसशालिनी ॥ ५६ ॥
पतिर्मां दीर्घसूत्रत्वाच्छ्रोत्रियत्वात्तपोरतः ।
कयाप्यपेक्षयाऽद्यापि न विवाहितवानिमाम् ॥ ५७ ॥
तेन यौवनसम्पन्नविलासरसशालिनी ।
तं विना व्यसनेनाहं दह्येऽग्नाविव पद्मिनी ॥ ५८ ॥
शीतानिलविलोलासु नलिनीषु निरन्तरम् ।
अङ्गदाहमवाप्नोमि पूताङ्गारस्थलीष्विव ॥ ५९ ॥
उद्यानावनयः सर्वाः पूर्णाः कुसुमवर्षणैः ।
सम्पन्नास्तप्तसिकताः शून्या मे मरुभूमयः ॥ ६० ॥
जलकल्लोलकह्लारकमलोत्करकोमलाः ।
सरस्यः सारसारावसरसा मम नीरसाः ॥ ६१ ॥

---

पालन करती हूँ और मुझमें त्रिलोकीरूप घरकी सर्वविध सामग्रीके भारको ढोनेकी पूर्ण सामर्थ्य है ॥ ५५ ॥

तदनन्तर मैं पूर्ण युवती हो गई, मेरे वक्षःस्थलपर महान् उन्नत स्तन हो आये। अब मैं अपने विलासरूप रससे ऐसे शोभित हूँ, जैसे कि उल्लसित हो रहे फल-पुष्पोंके गुच्छोंसे लता ॥ ५६ ॥

मेरे पतिदेव तो दीर्घसूत्री ( आलसी ), स्वाध्यायमें निरत और बड़े तपस्वी हैं, किसी अज्ञात अपेक्षासे आजतक भी इस गुणसम्पन्न रमणीके साथ उन्होंने विवाह नहीं किया ॥ ५७ ॥

महाराज, मैं अधिक क्या कहूँ, पतिके साथ मैं यौवनसे प्राप्त हुए भोग-विलासकी इच्छा रखती हूँ यानी अपने मनोरथसे ही उन्हें पति मान चुकी हूँ। इसलिए उनको भोगोंके व्यसनसे रहित देखकर मैं ऐसे जल रही हूँ, जैसे अग्निमें कमलिनी ॥ ५८ ॥

मैं शीतपवनके कारण चञ्चल हुई कमलिनियोंमें भी रात-दिन ऐसे अङ्ग-दाहका अनुभव करती हूँ, जैसे कि राख आदिको हटाकर तेज किये गये अङ्गारोंके स्थानोंमें ॥ ५९ ॥

कुसुमोंकी वृष्टियोंसे पूर्ण समस्त उद्यानभूमि भी मुझे तपी हुई बालूसे युक्त शून्य मरुभूमि ही प्रतीत होती है ॥ ६० ॥

महाराज, जलकल्लोल, कह्लार और कमलोंके ढेरसे कोमल स्पर्शयुक्त एवं

अहं पुष्करमन्दारकुमुदोत्करमालिता ।
भृशं दाहमवाप्नोमि कण्टकेष्विव दोलिता ॥ ६२ ॥
कुमुदोत्पलकह्लारकदलीतल्पपालयः ।
मदङ्गसङ्गमाद्ग्रीष्ममर्मरा यान्ति भस्मताम् ॥ ६३ ॥
यत्कान्तमुचितं स्वादु विचित्रं चित्तहारि च ।
तदालोक्य भवाम्यन्तर्बाष्पपूर्णायतेक्षणा ॥ ६४ ॥
व्यसनानलसन्तप्ताः पतन्तो बाष्पबिन्दवः ।
छमच्छमिति मज्जन्ती कमलोत्पलपङ्क्तिषु ॥ ६५ ॥
कदलीकन्दलीस्कन्धदोलान्दोलनलीलया ।
लालितोद्यानखण्डेषु मुखमाच्छाद्य रोदिमि ॥ ६६ ॥
तुषारनिकराकीर्णकन्दलीदलमण्डपम् ।
पश्याम्यूष्माणमुज्झन्तं खदिराङ्गारभीषणम् ॥ ६७ ॥

सारसपक्षियोंकी मधुर ध्वनिसे सरस तालाब भी मुझे नीरस लग रहे हैं ॥ ६१ ॥

मेरे शरीरके दाहकी शान्तिके लिए सखियाँ मुझे पुष्कर, मन्दार, कुईं आदि फूलोंकी शय्यापर सुला देती हैं, परन्तु मैं इसपर भी खूब दाहका अनुभव करती हूँ, जिस तरह काँटोंपर लुढ़कती हुई रमणी ॥ ६२ ॥

कुईं, नीलरक्त कमल, कह्लार, कदली आदिकी शय्याएँ मेरे अङ्गके स्पर्श-मात्रसे जनित तापसे—गर्मीसे पहले तो सूख जाती हैं, फिर मर्मर होकर भस्म बन जाती हैं ॥ ६३ ॥

ब्रह्मन्, जो पदार्थ सुन्दर, उचित, स्वादु, विचित्र और मनोहर हैं, उन्हें देखकर मैं अपने भीतरसे अश्रुपूर्णनेत्र हो जाती हूँ—मेरी वे बड़ी-बड़ी आँखें आँसुओंसे भर जाती हैं ॥ ६४ ॥

मुनिवर, कामरूपी अग्निसे सन्तप्त, मेरे नयनाश्रु छम-छम शब्दपूर्वक कमलो-त्पलोंकी पंक्तियोंके ऊपर गिरकर उनके भीतर प्रविष्ट हो जाते हैं और अपने तापसे उन्हें सुखाकर स्वयं भी सूख जाते हैं ॥ ६५ ॥

उद्यानभागोंमें सखियों द्वारा कदली, कन्दली आदिके कन्धोंपर विरचित हिंडोलोंपर दोलनलीलासे जब मैं झुलाई जाती हूँ, तब मैं लज्जासे मुख छिपाकर रोती हूँ ॥ ६६ ॥

हिमकणोंके निकरसे आकीर्ण केलेके पत्तोंसे बनाये गये मण्डपको मैं गर्मी उगलनेवाले खैरके अङ्गारके सदृश भीषण ही देखती हूँ ॥ ६७ ॥

नलिनीनालदोलासु सारसीं सारसाश्रिताम् ।
दीनानना विलोक्यान्तर्निन्दामि निजयौवनम् ॥ ६८ ॥
रम्ये रोदिमि मध्यस्थे पदार्थे यामि सौम्यताम् ।
हृष्याम्यशोभने दीना न जाने किमहं स्थिता ॥ ६९ ॥
दृष्टानि कुन्दमन्दारकुमुदानि हिमानि च ।
मया कामाग्निदग्धानां भस्मानीव दिशं प्रति ॥ ७० ॥
आनीलपल्लवमृणाललतोत्पलानां
कह्लारकुन्दकदलीदलमालतीनाम् ।
शय्या ममाङ्गचलनेन विशोषयन्त्या
व्यर्थं गतानि नवयौवनवासराणि ॥ ७१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने विद्याधरीव्यसनवर्णनं
नाम चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

---

कमलिनीके नालरूप हिंडोलेपर जब मैं सारसके साथ सारसीको देखती हूँ, तब मैं दीनवदन होकर अपने यौवनकी निन्दा करती हूँ ॥ ६८ ॥

मैं रम्य पदार्थमें रोती हूँ, मध्यवर्ती ( न रम्य और न अरम्य ऐसे बीचके ) पदार्थमें सौम्य हो जाती हूँ, अरम्य प्रसङ्गमें यानी मूर्छा, जड़ता आदि अवस्थामें प्रसन्न रहती हूँ, क्योंकि उस समय दीन हुई मैं क्या हूँ, यह नहीं जानती, उस स्थितिमें अहङ्कारका विलय हो जानेसे उसमेंका दुःख जाना नहीं जा सकता ॥ ६९ ॥

हे मुने, प्रत्येक दिशामें कुन्द, मन्दार, कुमुद और हिम मैंने कामाग्निसे दग्ध हुए जीवोंकी राखके सदृश ही देखे ॥ ७० ॥

भगवन्, अत्यन्त नीलवर्ण तमालके कोमल पल्लव, बिसतन्तुओंकी लता, नील-रक्त कमल, कह्लार, कुन्द, कदलीपत्र, और मालतीके फूलोंकी बनाई गई शय्याओंको अङ्गोंके संचालनसे सुखा रही मैं अपने यौवनके अनेक दिन निरर्थक ही गँवा दिये ॥ ७१ ॥

चौसठवाँ सर्ग समाप्त

## पञ्चषष्टितमः सर्गः

विद्याधर्युवाच

अथ कालेन महता सोऽनुरागो विरागताम् ।
प्राप्तो मम शरच्छान्तौ विरसः पल्लवो यथा ॥ १ ॥
वृद्ध एकान्तरसिको नीरसः स्नेहवर्जितः ।
भर्ताऽजिह्ममतिर्मौनी किं मन्ये जीवितेन मे ॥ २ ॥
वरं वैधव्यमाबाल्याद्वरं मरणमेव च ।
वरं व्याधिरथापद्वा नाहृद्यप्रकृतिः पतिः ॥ ३ ॥
एतावज्जन्मसाफल्यं सौभाग्यमविखण्डितम् ।
रसिकः पेशलाचारी यन्नार्यास्तरुणः पतिः ॥ ४ ॥

---

## पैंसठवाँ सर्ग

[ धारणाके अभ्याससे प्राणोंपर विजय पाकर सिद्ध हुई उस विद्याधरीके द्वारा महाराज वसिष्ठजीके प्रति 'समयसे मेरा वह विषयानुराग वैराग्यमें परिणत हो गया'—यह वर्णन ]

विद्याधरीने कहा—महाराज, तदनन्तर दीर्घ समय बीत जानेपर मेरा वह विषयप्रेम उस प्रकार वैराग्यमें परिणत हो गया, जिस प्रकार हेमन्त ऋतुके प्रारम्भमें पल्लव रसरहित होकर विरागभावमें परिणत हो जाता है ॥ १ ॥

कैसी विचारधारासे अनुराग विरागभावमें परिवर्तित हो गया ? इसे कहती है—'वृद्धः' इत्यादिसे ।

पहले तो मैंने यह विचारा—मेरा स्वामी अब बूढ़ा हो गया, एकान्तमें ही उसे सदा प्रेम है, नीरस है, मेरी ओर उसको तनिक भी स्नेह नहीं, मौनव्रतधारी है, उसका चित्त अति कोमल है, अतः अब मैं अपने जीवनसे क्या फल मानूँ ॥२॥

बाल्यकालसे ही यदि वैधव्य हो गया हो, तो वह भी अच्छा, या मरण भी अच्छा, व्याधि भी अच्छी, आपत्ति भी अच्छी, परन्तु अपने मनके अनुकूल यदि पति न हो, तो वह कभी भी अच्छा नहीं है ॥ ३ ॥

स्त्रियोंका सफल जन्म और अविखण्डित सौभाग्य यही है कि तरुण, रसिक और कोमल बर्ताव करनेवाला पति हो ॥ ४ ॥

हता नीरसनाथा स्त्री हताऽसंस्कारिणी च धीः ।
हता दुर्जनभुक्ता श्रीर्हता वेश्याहृता च ह्रीः ॥ ५ ॥
सा स्त्री याऽनुगता भर्त्रा सा श्रीर्याऽनुगता सता ।
सा धीर्या मधुरोदारा साधुता समदृष्टिता ॥ ६ ॥
नाधयो व्याधयो नैव नापदो न दुरीतयः ।
कुर्वन्ति मनसो बाधां दम्पत्योरनुरक्तयोः ॥ ७ ॥
उत्फुल्लाः कुसुमस्थल्यो नन्दनोद्यानभूमयः ।
धन्वायन्ते कुनाथानां विनाथानां च योषिताम् ॥ ८ ॥
सर्वं एव जगद्भावा यथेच्छं गुणलेशतः ।
सन्त्यज्यन्ते प्रमादात्तु वर्जयित्वा पतिं स्त्रिया ॥ ९ ॥

---

जिसका नीरस पति हो, वह स्त्री विनष्ट ही समझनी चाहिए, जो बुद्धि संस्कारयुक्त न हो, वह नष्ट ही समझनी चाहिए, जो श्री ( लक्ष्मी ) दुर्जनोंसे उपभुक्त यानी दुर्जनोंके पास हो वह नष्ट ही समझनी चाहिए और जो लज्जा वेश्या द्वारा हर ली गई हो वह भी नष्ट ही समझनी चाहिए ॥ ५ ॥

वही स्त्री स्त्री है, जो अपने पतिसे अनुगत हो, वही श्री श्री है, जो सज्जनोंसे अनुगत हो तथा वही बुद्धि बुद्धि, वही साधुता साधुता और वही समदृष्टिता समदृष्टिता है, जो शान्ति आदि गुणोंसे मधुर और उदार हो ॥ ६ ॥

महाराज, यदि पति और पत्नी निरन्तर एक दूसरेके प्रति प्रेम करते हों, तो न मानसिक पीड़ा, न शारीरिक पीड़ा, न आपदा और न दुष्ट ईतियां ( उत्पातहेतु अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डियाँ, मूसे, पक्षी तथा आसन्न राजे ) ही बाधा पहुँचाती हैं ॥ ७ ॥

विकसित फूलोंके स्थान तथा नन्दन वनकी उद्यानभूमियां उन स्त्रियोंको मरुभूमिके सदृश संताप पहुँचाती हैं, जिन स्त्रियोंका पति प्रतिकूल है अथवा है ही नहीं ॥ ८ ॥

इसलिए स्त्रियोंके लिए सभी वस्तुओंका त्याग सुकर है, परन्तु एक पतिका त्याग दुष्कर है, यह कहती है—'सर्वः' इत्यादिसे ।

भगवन्, इस जगत्में जितने भी पदार्थ हैं, उन सभीको अपनी इच्छाके अनुसार गुणकी अल्पतासे या प्रमादसे स्त्री छोड़ सकती है, परन्तु पतिको

स्थिरयौवनया दुःखान्येतानि मुनिनायक ।
भुक्तानि वर्षवृन्दानि पश्य दौर्भाग्यजृम्भितम् ॥ १० ॥
अथ क्रमेण तेनैव सरागो मे विरागताम् ।
आययौ हिमदग्धाया नलिन्या इव नीरसः ॥ ११ ॥
विरागवासनास्तेन सर्वभावानुरञ्जना ।
तवोपदेशेनेच्छामि मुने निर्वाणमात्मनः ॥ १२ ॥
अप्राप्ताभिमतार्थानामविश्रान्तधियां परे ।
मरणैरुह्यमानानां जीवितान्मरणं वरम् ॥ १३ ॥
स मद्भर्ताऽद्य निर्वाणमीहमानो दिवानिशम् ।
राजा राज्ञेव मनसा मनो जेतुं प्रबुध्यते ॥ १४ ॥

---

छोड़कर, यानी स्त्री पतिको छोड़कर सभी वस्तुओंका परित्याग अनायास कर सकती है ॥ ९ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ, स्थिर यौवनयुक्त मैंने अनेक वर्षोंतक ये दुःख भोगे, मेरे दौर्भाग्यका विस्तार तो जरा देखिए ॥ १० ॥

अथवा मेरा यह भाग्योदय ही है, इस आशयसे कहती है—'अथ' इत्यादिसे ।

अनन्तर, उसी परितापके कारण मेरे पतिकी ओर जो मेरा अनुराग था, वह क्रमसे नीरस होकर विरागके रूपमें उस प्रकार परिवर्तित हो गया, जिस प्रकार हिमसे दग्ध कमलिनीका राग क्रमशः नीरस होकर विरागके रूपमें परिवर्तित हो जाता है ॥ ११ ॥

हे मुने, उक्त क्रमसे विरागकी वासनाएँ प्राप्त कर सभी पदार्थोंमें उन्हींको लगा रही हूँ, अब मैं आपके उपदेशसे अपनी मुक्ति चाहती हूँ ॥ १२ ॥

इस समयमें भी, जब कि आप-जैसे उपदेश कर्ताका मुझे लाभ भी हो गया है तब, मैं यदि विश्रान्तिकी इच्छा न करूँ, तो मरण होना ही अच्छा है, इस आशयसे कहती है—'अप्राप्ता०' इत्यादिसे ।

महाराज, जिन्होंने अपने अभीष्ट अर्थ प्राप्त नहीं किये हैं और परम आत्म-पदमें जिनकी बुद्धि विश्रान्त नहीं हुई है, ऐसे मरणतुल्य दुःखोंके प्रवाहमें बह रहे मनुष्योंका जीनेकी अपेक्षा मरण ही अच्छा है ॥ १३ ॥

सहधर्मचारिणी स्त्रियोंका पतिके समान ही स्वभाव रहना उचित है,

ब्रह्मंस्तस्य च मद्भर्तुर्मम चाज्ञानशान्तये ।
न्यायोपपन्नया वाचा कुरु स्मरणमात्मनः ॥ १५ ॥
यदा मामनपेक्ष्यैव स मद्भर्ताऽऽत्मनि स्थितः ।
तदा विरागो वैरस्यमनयन्मे जगत्स्थितिम् ॥ १६ ॥
संसारवासनावेशवर्जिताऽस्मि ततोऽवसम् ।
निबध्याभिमतां तीव्रां व्योमसञ्चारधारणाम् ॥ १७ ॥
अर्जयित्वा तथा व्योम्नि गतिं धारणया मया ।
अभ्यस्ता धारणा भूयः सिद्धसङ्गफलप्रदा ॥ १८ ॥
ततः स्वजगदाधारपूर्वापरनिरीक्षया ।
स्थिताऽहं धारणां बद्धा साऽपि सिद्धिं समागता ॥ १९ ॥

---

इसलिए पतिके साथमें ही हमको उपदेश देना चाहिए, ऐसा कहती है—'सः' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

आज भी मुक्तिकी इच्छा कर रहे वह मेरे पति रात-दिन मनसे मनपर विजय पानेके लिए उस प्रकार तैयार हैं, जिस प्रकार राजा राजाकी सहायतासे, दूसरे राजाके ऊपर विजय पानेके लिए तैयार रहता है ॥ १४ ॥

हे ब्रह्मन्, इस मेरे पतिका और मेरा जो अज्ञान है, उसका विनाश करनेके लिए आप न्याययुक्त उपदेशवाणीसे, विस्मृत कण्ठहारके सदृश, आत्माका बोधन कीजिये ॥ १५ ॥

जब मेरी परवाह ही न कर मेरे पति अपनी आत्मामें अवस्थित हुए, तभी जगत्‌स्थितिमें वैराग्यने मुझे नीरसता पैदा कर दी ॥ १६ ॥

अब धारणाके अभ्यासमें दीर्घकालसे स्थिति होनेके कारण उपदेशग्रहणके लिए मैं पात्र हूँ, यह कहती है—'संसार०' इत्यादिसे ।

जगत्स्थितिमें नीरसता हो जानेसे अब मैं अभीष्ट, तीव्र, आकाशमें संचरण करनेकी सामर्थ्य देनेवाली खेचरी मुद्रारूप धारणाको बाँधकर समस्त संसारकी वासनाओंसे रहित होकर स्थित हूँ ॥ १७ ॥

उस प्रकार धारणासे मैंने आकाशमें गमन करनेकी सामर्थ्य प्राप्त कर फिर मैंने सिद्धोंके साथ संवादफल देनेवाली धारणाका अभ्यास किया । इसीसे सिद्धोंके एकान्त स्थानमें आकर आपके साथ संवाद कर रही हूँ ॥ १८ ॥

उसके बाद मैंने अपने वासस्थानभूत ब्रह्माण्डके पूर्वापरघटित आकारको

अथ स्वजगतो दृष्ट्वा हृदयं तस्य बाह्यगा।
अहं दृष्टवती स्थूलां लोकालोकगिरेः शिलाम् ॥ २० ॥
एतावताऽपि कालेन दम्पत्योरावयोर्मुने।
परं द्रष्टुमभूदिच्छा न काचन कदाचन ॥ २१ ॥
मद्भर्ता केवलं शुद्धवेदार्थैकान्तचिन्तया।
न च यातं न चायातं वेत्त्यहो विगतैषणः ॥ २२ ॥
तेनासौ मत्पतिर्विद्वानपि न प्राप्तवान्पदम्।
अद्य सोऽहं च वाञ्छावः प्रयत्नेन परं पदम् ॥ २३ ॥
तदेतामर्थितां ब्रह्मन् सफलां कर्तुमर्हसि।
महतामर्थिनो व्यर्था न कदाचन केचन ॥ २४ ॥

---

शास्त्र और योगदृष्टिसे देखनेके निमित्त तदाकार ( अपने वासस्थानभूत ब्रह्माण्डाकार ) भावनारूप धारणा बांधकर स्थित हुई और वह धारणा भी मुझे सिद्ध हो गई ॥ १९ ॥

ब्रह्मन्, तदनन्तर अपने वासस्थानभूत ब्रह्माण्डके अन्दरकी सभी वस्तुओंको देखकर बाहर निकली और निकलकर मैंने पूर्ववर्णित अपने ही जगत्के अन्दरकी इस ब्रह्माण्डके लोकालोक पर्वतके ऊपर स्थित एक स्थूल शिला देखी ॥ २० ॥

इससे पहले कभी भी इस ब्रह्माण्डको मैंने या मेरे पतिने नहीं देखा था, क्योंकि उसे देखनेकी कभी इच्छा ही नहीं हुई, यह कहती है—'एतावताऽपि' इत्यादिसे।

हे मुने, इतना समय बीत जानेपर भी पहले हम दोनों पति-पत्नीको इसे देखनेकी कभी कुछ इच्छा ही नहीं हुई ॥ २१ ॥

मेरे स्वामी तो केवल वेदोंके अर्थके विचारमें ही सदा मग्न रहते हैं, इससे वे यह जानते ही नहीं कि कितना समय बीत गया, कितना वर्तमान है, कितना भविष्यत् है, क्या ब्रह्मतत्त्व है। अहो, वे कितने निस्पृह हैं ॥ २२ ॥

इसीलिए मेरे पति विद्वान् होते हुए भी आत्मपदको प्राप्त नहीं कर सके, आज वे और हम—दोनों ही प्रयत्नपूर्वक ( आपके उपदेश-श्रवण, मनन आदि प्रयत्नपूर्वक ) आत्मवस्तुकी चाह कर रहे हैं ॥ २३ ॥

अतः हे ब्रह्मन्, आप हम लोगोंकी प्रार्थनाको सफल करनेके लिए सर्वथा

भ्रमन्ती सिद्धसेनासु सदा नभसि मानद ।
त्वदृते नेह पश्यामि घनाज्ञानदवानलम् ॥ २५ ॥

ब्रह्मन् विनैव करुणाकरकारणेन
सन्तो यतोऽर्थिजनवाञ्छितपूरणानि ।
कुर्वन्ति तेन शरणागततामुपेतां
मामर्हसीह न तिरस्करणेन योक्तुम् ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने विद्याधरीजन्मव्यवहारवर्णनं नाम पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

---

समर्थ हैं, बड़े लोगोंके सम्मुख आये हुए कोई भी प्रार्थी कभी निष्फल होकर नहीं जाते ॥ २४ ॥

इस अर्थके निमित्त तुमने दूसरे सिद्धोंसे प्रार्थना क्यों नहीं की, इसपर कहती है—'भ्रमन्ती०' इत्यादिसे ।

हे मानद, आकाशमण्डलमें सिद्धसमूहोंमें निरन्तर घूम-फिर रही मैं आपके सिवा दूसरे किसीको भी अज्ञानरूपी वनका दावानल नहीं देखती ॥ २५ ॥

इस प्रकार अपने सम्पूर्ण वृत्तान्तको बतलाकर 'शरणागत मेरी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए' यों महाराज वसिष्ठजीसे प्रार्थना करती है—'ब्रह्मन्' इत्यादिसे ।

हे ब्रह्मन्, हे करुणाके सागर, चूँकि सज्जन पुरुष किसी कारणके बिना ही अर्थी जनोंकी अभिलाषाएँ पूर्ण कर देते हैं, इसलिए आपकी शरणमें आई हुई मुझ अबलाका तिरस्कार ( उपेक्षा ) आप नहीं कर सकते । उपेक्षा ही प्रार्थी-जनोंका तिरस्कार है ॥ २६ ॥

पैंसठवाँ सर्ग समाप्त

## षट्षष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथेत्युक्तवती पृष्टा सा मया कल्पितासना ।
सङ्कल्पितासनस्थेन स्थितेन नभसि स्थिता ॥ १ ॥
कथं शिलोदरे बाले त्वद्विधानां भवेत् स्थितिः ।
कथं सञ्चलनं तत्र किमर्थं तत्र चास्पदम् ॥ २ ॥

विद्याधर्युवाच

मुने यथेदं भवतां जगत्स्फारं विराजते ।
तथाऽस्माकं जगत्तत्र सर्गसंसारयुक् स्थितम् ॥ ३ ॥

---

## छाछठवाँ सर्ग

[ अपनी स्थिति और अपना घर तुमने अवकाशरहित शिलाके पेटमें कैसे किया, इस प्रकार पूछी गई विद्याधरी द्वारा जगत्के विस्तारका वर्णन ]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्माण्डके पूर्ववर्णित ऊर्ध्व आकाशमें अवस्थित तथा कल्पित आसनपर बैठे हुए मैंने उस रमणीसे, जो उसी आकाशमें स्थित तथा कल्पित आसनपर बैठी हुई थी, जिसने वर्णित अपना वृत्तान्त कहा, फिर प्रश्न किया ॥ १ ॥

मैंने पूछा कि हे बाले, बिलकुल अवकाशसे रहित शिलापेटमें तुम्हारे-जैसे शरीरधारियोंकी स्थिति कैसे होगी, उसमें हिलना-डोलना कैसे होगा और उसमें घरसे भी तुम्हें लाभ क्या होगा ? सारांश यह कि जहाँ प्रवेश ही असम्भव है, वहाँ ये सब बातें हो ही नहीं सकतीं ॥ २ ॥

आपने जितनेकी असंभावना की है, उतना ही उसमें है, यह बात नहीं है, किन्तु ऐसा दूसरा भी जगत् उसमें है, यों विद्याधरी प्रश्नका उत्तर देती है—'मुने' इत्यादिसे ।

विद्याधरीने कहा—हे मुने, जैसे आपका यह जगत् विस्पष्टरूपसे विराजमान है, वैसे ही हमारा भी जगत् उस शिलापेटमें विराजमान है, वह भी सृष्टिरूप संसारसे युक्त है ॥ ३ ॥

स्फुरन्ति नागाः पाताले तिष्ठन्ति भुवि पर्वताः ।
आपश्छलच्छलायन्ते वहन्ति व्योम्नि वायवः ॥ ४ ॥
अर्णवा अर्णसा भान्ति यान्त्यन्तः शनकैः प्रजाः ।
भूतान्यजस्रं जायन्ते म्रियन्तेऽविरतं यथा ॥ ५ ॥
वान्ति वाता वहन्त्यापो भान्ति चाभान्ति खे सुराः ।
तिष्ठन्त्यगाः समुद्यन्ति ग्रहा यान्ति महीं नृपाः ॥ ६ ॥
देवासुरमनुष्याणां व्यवहारपरम्पराः ।
लोलाः प्रवृत्ता आकल्पमासमुद्रमिवापगाः ॥ ७ ॥
दिनपद्मानि भूलोकसरस्याकल्पमानभः ।
लोलाभ्रालीनि फुल्लानि मीलितोन्मीलितान्यलम् ॥ ८ ॥
चन्द्रश्चर्चाश्चतुर्दिक्कं चन्दनेनात्मतेजसा ।
रचयन्रात्रिरोहिण्योस्तमो हन्त्यपि हृद्गतम् ॥ ९ ॥

वहाँ भी पातालमें नाग रहते हैं, पृथ्वीपर पर्वत स्थित हैं, जल भी लबालब भरे हैं और आकाशमें हवा भी चलती है ॥ ४ ॥

उसके भीतर यहाँके ही-जैसे जलसे समुद्र सुशोभित हैं, प्रजावर्ग भी धीरे-धीरे गमन आदि व्यवहार करते हैं, निरन्तर भूत उत्पन्न होते हैं और निरन्तर मरते भी हैं ॥ ५ ॥

यहाँके समान ही वहाँपर भी वायु चलती है, जल बहते हैं, आकाशमें नक्षत्र आदिके रूपोंमें तथा अपने-अपने शरीर आदिके रूपमें देवता भासते हैं, पर्वत स्थित हैं, गुणोंका उदय होता है और पृथ्वीमें राजे भी चलते-फिरते हैं ॥ ६ ॥

वहाँ देवता, असुर और मनुष्योंकी चञ्चल व्यवहारपरम्परा यहाँके सदृश कल्पतक उस तरह विद्यमान रहती है, जिस तरह समुद्रतक नदीधारा विद्यमान रहती है ॥ ७ ॥

भूलोकरूपी तालतलमें कल्पपर्यन्त और आकाशतक रहनेवाले दिनरूपी कमल भी वहाँ हुए हैं, दिनरूप कमलोंमें लोल ( चञ्चल ) अभ्र ही भ्रमर हैं, वे विकसित और निमीलित भी होते हैं ॥ ८ ॥

जैसा कि इस जगत्में है, ठीक वैसा ही उस जगत्में भी चन्द्रमा अपनी ज्योत्स्नारूपी चन्दनसे चारों दिशाओंमें लेपनकर रात्रिमें रोहिणीका भीतरी और बाहरी अन्धकार निवृत्त कर देता है ॥ ९ ॥

स्वदशास्वादनरता वातयन्त्रसुचारिता ।
रोदःसद्मनि सूर्याख्या दीप्यते दिवि दीपिका ॥ १० ॥
ब्रह्मसङ्कल्पितो रुद्धो वातसञ्चारचारिभिः ।
खेऽनिशं चक्रमृक्षाणां गुणावर्तो विवर्तते ॥ ११ ॥
भूततण्डुलमासृष्टेः पिनष्टि ध्रुवकीलकः ।
नियत्या चलितो रोदःकपाटाम्भोदघर्घरः ॥ १२ ॥
द्वीपाब्धिशैलैर्भूपीठं विमाननगरैर्नभः ।
दैत्यदानवनागौघैः पूर्णं पातालमण्डलम् ॥ १३ ॥
कुण्डलं त्रिजगल्लक्ष्म्या नीलं भूतलमण्डलम् ।
स्थितं चञ्चलमाचारचञ्चलायाः स्फुरन्मणि ॥ १४ ॥

---

वहाँ भी सूर्यनामकी दीपिका, जो कि दसों दिशारूपी बत्तियोंका स्वाद लेनेमें ( यानी द्रवात्मक स्नेहका भोग करनेमें ) रत और वातरूपी यन्त्रसे चालित है, अन्तरिक्ष एवं पृथ्वीरूप घरके अन्दर जगमगाती है ॥ १० ॥

द्यावापृथ्वीका अब घूम रहे नक्षत्रमण्डलके कारण घरट्टके स्वरूपसे वर्णन करती है—'ब्रह्म०' इत्यादिसे ।

आकाशमण्डलमें वहाँपर भी नक्षत्रोंका चक्ररूप घरट्ट (चक्की) घूमता है और अण्डज आदि चार प्रकारके भूतोंको, जो एक तरहसे तण्डुलरूप हैं, सृष्टिके आरम्भसे लेकर बराबर पीसती रहती है, यह घरट्ट यन्त्र ब्रह्माने अपने संकल्पसे बनाया है, वायुसंचारचारियोंसे यानी वातरश्मियोंसे यह अवष्टब्ध है, ध्रुवरूप खूँटेके ऊपर थमा हुआ है तथा अन्तरिक्ष एवं पृथ्वीमें कपाटके सदृश बन्द करने और खोलनेका स्वभाव रखनेवाले मेघोंसे घर्घर ध्वनि करता रहता है, यह नियतिसे संचालित है ॥ ११, १२ ॥

वहाँपर भी यहाँके सदृश ही पृथ्वी आदि लोक द्वीप, पर्वत आदिसे भरे हैं, यह कहती है—'द्वीपा०' इत्यादिसे ।

वहाँपर भी यहाँके सदृश भूमि द्वीप, सागर और पर्वतोंसे, आकाश विमानोंके संनिवेश-जैसे रचित नगरोंसे तथा पातालमण्डल दैत्य, दानव एवं नागोंके समूहोंसे पूर्ण है ॥ १३ ॥

वहाँपर भी नीला भूतलमण्डल स्थित है । वह ठीक आचरणोंसे चंचल त्रिजगतीरूप लक्ष्मीका चमक रहे मणियोंसे युक्त चञ्चल कुण्डल-सा लगता है ॥१४॥

बुद्ध्यादिरहितां स्पन्दसंविदं वायवीमिव ।
स्थावरं जङ्गमं चैव सूक्ष्ममादाय जायते ॥ १५ ॥
मुनिर्मौनैर्धरावार्भिर्मारुतैः कपिचापलम् ।
आकाशैरवकाशित्वं तेजोभिर्भासनं श्रितम् ॥ १६ ॥
वृक्षोर्व्यब्ध्यद्रिखचराः प्राणिनोऽन्तः स्फुरन्त्यलम् ।
मृतिजन्मोन्मुखाः कीटसुरासुरजलौकसः ॥ १७ ॥
ससुरासुरगन्धर्वाः कालः कलयति प्रजाः ।
दोर्भिः कल्पयुगाब्दैश्च स्वपशूनिव पालकः ॥ १८ ॥
अनन्तविपुलागाधगम्भीरे कालसागरे ।
उत्पत्योत्पत्य लीयन्ते ते स्वावर्तविवर्तया ॥ १९ ॥
चतुर्दशविधा वातवेल्लिता भूतपांसवः ।
नाशाकाशे विलीयन्ते शरदम्भोदलीलया ॥ २० ॥

---

वहाँपर भी स्थावर-जङ्गमात्मक प्राणियोंका दल—बुद्धि आदिसे शून्य बाह्य वायुकी क्रियाके सदृश—भीतरी सूक्ष्म प्राणनामकी स्पन्दसंवित्‌को लेकर जन्म आदि विकार प्राप्त करता है ॥ १५ ॥

वहाँपर भी यहाँके सदृश मुनि लोगोंका मुनिक्रियाओंने, पृथ्वीका समुद्र आदि जलोंने, वायुओंने बन्दरके सदृश चपलताका, आकाशने अवकाशपनका और सूर्यादि प्रकाशोंने प्रकाशनका अवलम्बन किया है यानी सब वस्तुओंके स्वभाव यहाँके सदृश ही हैं ॥ १६ ॥

वहाँपर भी जनम और मरणके भागी बन्दर आदि वृक्षचर, मनुष्य आदि भूचर, मत्स्य आदि जलचर, मृग आदि पर्वतचर, पक्षी, देवता आदि आकाशचर, कीट, सुर, असुर और जलनिवासी बीच-बीचमें खूब घूमते फिरते हैं ॥ १७ ॥

यहाँके सदृश वहाँ भी देवता, असुर और गन्धर्वोंके सहित समस्त प्रजाको काल कल्प, युग एवं वर्षरूपी अपने हाथोंसे उस प्रकार पालन आदिसे भोगता है, जिस प्रकार पशुपालक अपने पशुओंको ॥ १८ ॥

अनन्त, अगाध, पुष्कल एवं गम्भीर कालरूपी महासागरमें आवर्त और विवर्तरूप कालगतिसे वे सुरासुर आदि जलजन्तु उत्पन्न हो होकर लीन हो जाते हैं ॥ १९ ॥

जिसमें सभी वस्तुओंका विनाश हो जाता है, ऐसे अव्याकृत आकाशमें

भुवनं बोधयन्ती द्यौश्चन्द्रार्ककरचामरैः ।
स्थिताऽऽकाशांशुकाऽऽकल्पतारकोत्करशेखरा ॥ २१ ॥
स्थिताः पवनभूकम्पमेघतापसहिष्णवः ।
स्वं प्रदेशमनुज्झन्त्यः ककुभः स्तम्भिता इव ॥ २२ ॥
उत्पातमेघनिर्ह्रादभूमिकम्पग्रहग्रहैः ।
अज्ञातैरपि विज्ञातैर्भूतानां जायते गतिः ॥ २३ ॥
सप्तानां जलमब्धीनामौर्वाग्निः पिबति ज्वलन् ।
लोकान्तराणामाकल्पं कालो भूतगणं यथा ॥ २४ ॥
पातालमाविशति याति नभोबिलं च
दिग्मण्डलं भ्रमति भूतगणः समन्तात् ।
पर्येति पर्वतमहार्णवमण्डलानि
द्वीपान्तराणि च मरुत्सरणक्रमेण ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने शिलान्तरवर्णनं नाम
षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥

---

वायुसे उड़ाये गये चौदह प्रकारके प्राणीरूपी रजकण, शरत्कालके मेघोंके सदृश, विलीन हो जाते हैं ॥ २० ॥

यहाँके सदृश वहाँपर भी द्यु शुभ्र आकाशरूप वस्त्र धारणकर तथा मस्तकमें कल्पपर्यन्त तारोंका समूह धारणकर चन्द्र-सूर्यरूपी दो चामरोंको मानो डुलाती हुई सातों भुवनोंको जागृत करती है ॥ २१ ॥

वहाँपर भी यहाँकी नाईं स्थावर प्राणियोंके सदृश पवन, भूकम्प, वृष्टि और घाम सहनेवाली दिशाएँ स्थित हैं ॥ २२ ॥

ज्योतिषियों द्वारा और अन्यों द्वारा अज्ञात उत्पातके हेतु मेघ, विद्युत्पतन, भूकम्प तथा ग्रह आदिसे प्राणियोंकी इष्टानिष्टरूप गति वहाँपर भी होती है ॥२३॥

जैसे चौदह भुवनोंके प्राणियोंको काल कल्प तक पीता है, वैसे ही वहाँ भी सात समुद्रोंका जल जलती हुई और्वाग्नि ( बड़वानल ) पीती है ॥ २४ ॥

कथित सब वार्ताका संक्षेपसे उपसंहार करते हैं—'पाताल०' इत्यादिसे ।

## सप्तषष्टितमः सर्गः

विद्याधर्युवाच

यावत्त्वं सर्गमागच्छ प्रसादः क्रियतां मुने ।
आश्चर्येषूपपन्नेषु महान्तो ह्यतिकौतुकाः ॥ १ ॥
तथेत्युक्ते मया सार्धं गन्तुमारब्धमम्बरे ।
वात्यया सौरभेणेव शून्ये शून्येन शून्यया ॥ २ ॥
अथाऽहं दूरमध्वानं शून्यमुल्लंघ्य नाभसम् ।
नभःस्थं भूतसङ्घातं तया सार्धमवाप्तवान् ॥ ३ ॥

---

वहाँपर भी पातालयोग्य प्राणी पातालमें प्रवेश करता है, आकाशबिलमें विलास करने योग्य प्राणी आकाशमें जाता है, दिशाओंमें भ्रमण करने योग्य प्राणी दिशाओंमें भ्रमण करता है। संक्षेपसे चारों ओर प्राणीसमूह वायुके संचारके सदृश, पर्वत, महासमुद्रमण्डल तथा अन्यान्य द्वीपान्तरोंमें भ्रमण करते हैं, इसलिए यहां जितना व्यवहार है, वह सब वहां पाषाणकी शिलामें भी है, यह आप जानिये ॥ २५ ॥

छाछठवां सर्ग समाप्त

---

## सड़सठवां सर्ग

[ कौतुकसे महाराज वसिष्ठजीका शिलाके पास जाना, वहाँ जगत् न देखना और उनके पूछनेपर विद्याधरीका अभ्यासकी महिमा कहना—यह वर्णन ]

विद्याधरीने कहा—हे मुने, यदि आप मेरी बातको असंभव मानते हों, तो स्वयं ही सम्पूर्ण उस शिलोदर सृष्टिको देखनेके लिए कृपा कीजिए और वहाँ चलिए, क्योंकि बड़े लोगोंको प्राप्त आश्चर्यकारक घटनाओंमें बड़ा ही कौतुक होता है ॥१॥

भद्र श्रीरामजी, उस तरह उसके कहनेपर मैंने 'तथास्तु' कहकर उसकी बात स्वीकार कर ली और आकाशरूपिणी उस रमणीके साथ शून्यात्मक आकाशमण्डलमें जानेके लिए शून्यरूप मैं ऐसे उद्यत हुआ, जैसे वात्याके ( झंझा-वातके ) साथ चम्पकादि पुष्पोंकी सुगन्ध ॥ २ ॥

तदनन्तर उसके साथ मैं दूरके शून्यरूप आकाशमार्गको लाँघकर आकाश-मण्डलमें स्थित देवता आदि प्राणियोंके समीप जा पहुँचा ॥ ३ ॥

तमुल्लंघ्य चिरेणात्र भूतसञ्चारमम्बरे ।
लोकालोकशिरोव्योम प्राप्तोऽस्मि धवलाम्बुदम् ॥ ४ ॥
उत्तरांशेन्दुशुभ्राभ्रपीठान्निर्गत्य तां शिलाम् ।
आनीतोऽस्मि तयोत्तुङ्गां तप्तकाञ्चनकल्पिताम् ॥ ५ ॥
यावत्पश्याम्यहं शुभ्रां शिलां तां न च तज्जगत् ।
कलधौतमयीमुच्चैरग्निलोकतटीमिव ॥ ६ ॥
तदा मयोक्ता सा कान्ता क्व भवत्सर्गभूरिति ।
क्व रुद्रार्काग्नितारादि क्व लोकान्तरसप्तकम् ॥ ७ ॥
क्वाऽर्णवाकाशककुभः क्वोन्मज्जननिमज्जने ।
क्व महाम्भोदसम्भारः क्व ताराम्बरडम्बरम् ॥ ८ ॥
क्व शैलशिखरश्रेण्यः क्व महार्णवलेखिकाः ।
क्व द्वीपवलयाः सप्त क्व तप्तकनकावनिः ॥ ९ ॥

---

कुछ समय बाद इसी आकाशमें उस देवादि प्राणियोंके संचरण मार्गको भी पारकर मैं उसके साथ श्वेत मेघके सदृश अतिनिर्मल लोकालोक पर्वतके शिखरके आकाशभागमें पहुँच गया ॥ ४ ॥

उत्तर दिशाके पूर्वभागपर स्थित चन्द्रसदृश अतिधवल आकाश पीठसे नीचे आकर मैं उसके द्वारा उस शिलाके पास ले जाया गया। वह शिला बड़ी ही ऊँची और रूप-रङ्गमें ठीक तपे सोनेके सदृश कल्पित थी ॥ ५ ॥

सुवर्णमयी सुमेरुतटीके सदृश वह बहुत बड़ी ऊँची शुभ्र शिला मैंने चारों ओरसे खूब देखी, परन्तु उसमें जगत् नहीं दीख पड़ा ॥ ६ ॥

श्रीरामजी, जगत्को न देखकर मैंने उस सुन्दरी बालासे पूछा कि यहां कहांपर वे जगत् हैं, जिनका तुमने मुझसे वर्णन किया था, कहां रुद्र, सूर्य, अग्नि, तारा आदि हैं तथा कहां यहां सात दूसरे-दूसरे लोक हैं ॥ ७ ॥

हे रमणि, यहां कहांपर समुद्र, आकाश एवं दिशाएँ हैं, कहां प्राणियोंके जन्म और विनाश हो रहे हैं, कहां बड़े-बड़े मेघमण्डल हैं और है कहां तारोंसे युक्त चमकिले आकाशमण्डलका आडम्बर ॥ ८ ॥

कहां पर्वतोंके शिखरोंकी श्रेणियां हैं, कहां बड़े-बड़े लवण-समुद्रोंकी पंक्तियां हैं, कहां सात द्वीपरूपी कङ्कण हैं और है कहां तपे सोनेके सदृश भूमि ॥ ९ ॥

क्व कार्यकालकलनाः क्व भूतभुवनभ्रमः ।
क्व विद्याधरगन्धर्वाः क्व नरामरदानवाः ॥ १० ॥
क्वर्षिभूपालमुनयः क्व नयापनयक्रमः ।
क्व पश्चयामयामिन्यः क्व स्वर्गनरकभ्रमः ॥ ११ ॥
क्व पुण्यपापकलनाः क्व कलाकालकेलयः ।
क्व सुरासुरवैराणि क्व द्वेषस्नेहरीतयः ॥ १२ ॥
वदत्येवं मयि वचः सोवाच वरवर्णिनी ।
विस्मयाकुलमालोक्य शिलामलविलोचना ॥ १३ ॥

विद्याधर्युवाच

पश्याम्यखिलमात्मीयमहं सर्वमिहोपले ।
मुकुरप्रतिबिम्बस्थपुरान्यपुरवज्जनम् ॥ १४ ॥
नित्यानुभव एवात्र दर्शने कारणं मम ।
तदभावो मुने मन्ये ते कारणमदर्शने ॥ १५ ॥

---

कहां क्रिया, काल और कल्पनाएँ हैं, कहां भूतोंके ( देवता आदिके ) निवासस्थान भ्रम हैं, कहां विद्याधर एवं गन्धर्व हैं तथा कहां मनुष्य, देव और दानव हैं ॥ १० ॥

कहां ऋषि और राजा हैं, कहां उनमें मुनि हैं, कहां नीति-अनीतिकी रीति है, कहां हेमन्तकी रात्रियां है और कहां है—स्वर्ग-नरकके विभ्रम ॥ ११ ॥

कहां पुण्य-पापकी गतियां हैं, कहां कालकी कलाओंका विलास है, कहां सुर और असुरोंका युद्ध है और यहां कहां हैं—द्वेष एवं स्नेहकी पद्धतियां ॥१२॥

श्रीरामजी, ज्योंही मैं इस तरहसे उससे प्रश्न कर रहा था त्योंही आश्चर्यसे व्याकुल मुझको देखकर शिलाके सदृश निर्मल नेत्रवाली एवं सुन्दर रूपवाली उस रमणीने कहना आरम्भ किया ॥ १३ ॥

विद्याधरीने कहा—भगवन्, मैं भी अब पहलेके सदृश अपना सब कुछ इस पत्थरकी शिलामें नहीं देख रही हूँ। पर मैंने जिन मनुष्य, गन्धर्व आदिका पूर्वमें वर्णन किया है, उन सबको मुकुरमें ( दर्पणमें ) प्रतिबिम्बरूपसे स्थित जो प्रसिद्ध नगरसे दूसरा नगर है, उसके सदृश प्रतिबिम्बरूपसे स्थित देखती हूँ ॥ १४ ॥

हे मुने, हमको जो उन लोगोंका दर्शन हो रहा है, उसमें कारण नित्यका

अन्यच्च चिरकालैकद्वैतसंकथयाऽनया ।
शुद्धाऽऽतिवाहिकैकात्मदेहता विस्मृताऽऽवयोः ॥ १६ ॥
ममातिसुचिराभ्यस्तमपि व्योमलतामिव ।
गतं निजं जगदिदं यतः पश्यामि न स्फुटम् ॥ १७ ॥
अभूद्यत्स्वजगत्पूर्वमतिप्रकटमेव मे ।
तत्पश्यामीदमादर्श इव बिम्बितमस्फुटम् ॥ १८ ॥
चिरव्यर्थोत्थया नाथ संकथाव्यथया मिथः ।
स्वास्थ्यं विस्मृतमात्मीयमवदाततमं ततम् ॥ १९ ॥
योऽभ्यासः प्रकचत्यन्तः शुद्धचिन्नभसो रसात् ।
भवेत्तन्मयमेवान्तराबालमिव लक्ष्यते ॥ २० ॥

---

अनुभव ही है, वह नित्यका अनुभव आपको है नहीं, इसलिए उसका अभाव ही जगत्के न दीखनेमें कारण है ॥ १५ ॥

समस्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थोंके अवलोकनमें समर्थ विशुद्ध मनोरूप देहके विस्मरणसे भी आपको वह जगत् नहीं दीखता और हमको दीखता है, पर अस्फुट, यह कहती है—'अन्यच्च' इत्यादिसे ।

मुने, दूसरी बात यह कि चिरकालतक अपने लोगोंकी यह जो एक-द्वैत विषयकी कथा चली, उससे विशुद्ध सूक्ष्म मनोमात्ररूप देहका हम लोगोंको विस्मरण हो गया है, इसलिए आपको जगत् नहीं दीखता और हमको अस्फुट दीखता है ॥ १६ ॥

मेरा भी यहाँ जो जगत् था, वह प्रायः नष्ट ही हो चुका है, क्योंकि यद्यपि उसका मैंने चिरकाल तक अभ्यास किया है, फिर भी अब आकाशलताके सदृश स्पष्ट नहीं दीखता ॥ १७ ॥

जो जगत् मेरे लिए पहले अत्यन्त विस्पष्ट था, उसको मैं अब दर्पणमें प्रतिबिम्बके सदृश अस्पष्ट देखती हूँ ॥ १८ ॥

हे नाथ, अपने लोगोंका परस्पर जो दीर्घकाल तक निरर्थक संभाषण हुआ, उससे उत्पन्न व्यथासे अपना अत्यन्त विशुद्ध एवं व्यापक स्वास्थ्य ( धारणाके अभ्याससे जनित अपनी मनोरूप देहरूपता ) विस्मृत हो गया ॥ १९ ॥

भगवन्, जो भी अभ्यासजनित संस्कार शुद्ध चिदाकाशके रससे उद्बुद्ध

न सच्छास्त्रेण सा विद्धि न सन्न्यायेन सा कला ।
अस्ति नास्त्यमितोद्योगाद्यदभ्यासान्न सिद्ध्यति ॥ २१ ॥
स्वजगत्सन्तताभ्यासवशतो मां कथाभ्रमः ।
नूनमाक्रान्तवानेष द्वयोर्हि बलवान् जयी ॥ २२ ॥
इष्टवस्त्वर्थिनां तज्ज्ञसूपदिष्टेन कर्मणा ।
पौनःपुन्येन करणान्नेतरच्छरणं मुने ॥ २३ ॥

होकर प्रकट होता है, उसी रूपका भीतरी अन्तःकरण मानो हो ही जाता है, यही बाल्य अवस्थासे लेकर वस्तुस्थिति है ॥ २० ॥

अतएव अभ्यासके विना पुरुषके श्रवण-मनन निष्फल हैं, यह कहती है—'न' इत्यादिसे ।

भद्र, वह कला न उत्तम शास्त्रोंसे सिद्ध होती है, न उत्तम न्यायसे सिद्ध होती हैं, किन्तु अपरिमित उद्योगसे युक्त अभ्याससे ही सिद्ध होती है, अभ्याससे वह सिद्ध नहीं होती, यह बात नहीं, किन्तु अवश्य सिद्ध होती है, यह आप जानिए ॥ २१ ॥

सतत अभ्यासके लिए तो कोई असाध्य वस्तु है ही नहीं, यह कहती है—'स्वजगत्' इत्यादिसे ।

भगवन्, यह जो आपके साथ संवादात्मक कथाभ्रम हुआ, उसने अपने जगत्के निरन्तर अभ्यासके वशसे पूर्वजगत्के भ्रमसे ग्रस्त मुझको वशमें कर दिया, इसलिए वह संस्कार तिरोहित हो गया, क्योंकि भूतकालका भ्रम और वर्तमानकालका भ्रम—इन दोनोंमें वर्तमानकालका भ्रम बलवान् होनेके कारण विजयी हुआ ॥ २२ ॥

अतएव लौकिक या वैदिक शिल्पविद्या आदि फलोंकी इच्छा कर रहे पुरुषों-को गुरुजी द्वारा उपदिष्ट पद्धतिसे बार-बार किया गया उसका अभ्यास ही शरण है, दूसरा नहीं, यह कहती है—'इष्ट०' इत्यादिसे ।

हे मुने, अपनी-अपनी मनपसन्द वस्तु चाहनेवालोंके लिए गुरुओं द्वारा उत्तम रीतिसे उपदिष्ट कर्म करनेकी पद्धतिसे बार-बार जो किया जाता है, उसीसे अभीष्ट वस्तु उन्हें मिलती है, दूसरे किसी प्रकारसे नहीं—अन्य शरण है नहीं ॥ २३ ॥

अयमित्थमिहाज्ञानभ्रमः प्रौढोऽहमात्मकः ।
शाम्यति ज्ञानचर्चाभिः पश्याऽभ्यासविजृम्भितम् ॥ २४ ॥
अहं शिलाबला बाला पश्यामि त्वं न पश्यसि ।
सर्वज्ञोऽपि शिलासर्गं पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥ २५ ॥
अज्ञोऽपि तज्ज्ञतामेति शनैः शैलोऽपि चूर्ण्यते ।
बाणोऽप्येति महालक्ष्यं पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥ २६ ॥
इत्थं नाम परिप्रौढा मिथ्याज्ञानविषूचिका ।
शाम्यत्येव विचारेण पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥ २७ ॥
अभ्यासेन कटु द्रव्यं भवत्यभिमतं मुने ।
अन्यस्मै रोचते निम्बस्त्वन्यस्मै मधु रोचते ॥ २८ ॥

---

जब अनादि अनन्त संसाररूप अनर्थ भी ज्ञानके अभ्याससे नष्ट हो जाता है तब ऐसा कौन अनर्थ बचने पाता है, जो अभ्याससे उसकी चिकित्सा न हो सके, यह कहती है—'अयमित्थ०' इत्यादिसे ।

हे मुने, यह इस प्रकारका प्रौढ़ अहंरूप जो बड़ा अज्ञानभ्रम विद्यमान है, वह ज्ञानकी चर्चासे यानी श्रवणादिके अभ्याससे ही निवृत्त हो जाता है, भला देखिये तो सही अभ्यासका फल ॥ २४ ॥

अभ्यासमें उत्तमता होनेपर बालकोंमें भी प्रौढता देखी जाती है और अभ्यासके छूट जानेपर बड़े लोगोंको भी व्यामोह होने लगता है, इस विषयमें हम दोनों ही दृष्टान्त हैं, यह कहती है—'अहम्' इत्यादिसे ।

मै एक शिलाकी अबला हूँ, उसमें भी बाला और आपकी शिष्या हूँ, फिर भी शिलाकी सृष्टिको देखती हूँ, आप सर्वज्ञ और गुरु हैं तो भी नहीं देखते, यह बड़ा आश्चर्य है, देखिए तो यह अभ्यासका विजृम्भण ॥ २५ ॥

अभ्याससे धीरे धीरे अज्ञानी भी ज्ञानी बन जाता है, पर्वत भी चूर्ण हो जाता है, अचेतन वाण भी सूक्ष्मतम लक्ष्यको प्राप्त करता है, देखिए अभ्यासकी कितनी महत्ता है ॥ २६ ॥

इस तरह मिथ्याभूत जो चारों ओरसे प्रौढ़ अज्ञानरूपी महामारी है, वह विचाररूप अभ्याससे ही शान्त हो जाती है, देखिए अभ्यासका माहात्म्य ॥२७॥

मुने, अभ्याससे ही कटु पदार्थ अभीष्ट हो जाता है, अभ्याससे ही किसीको नीम अच्छा लगता है और किसीको मधु अच्छा लगता है ॥ २८ ॥

अबन्धुर्बन्धुतामेति नैकट्याभ्यासयोगतः ।
यात्यनभ्यासतो दूरात्स्नेहो बन्धुषु तानवम् ॥ २९ ॥
आतिवाहिकदेहोऽयं शुद्धचिद्व्योम केवलम् ।
आधिभौतिकतामेति भावनाभ्यासयोगतः ॥ ३० ॥
आधिभौतिकदेहोऽसौ धारणाभ्यासभावनात् ।
विहङ्गवत् खमभ्येति पश्याऽभ्यासविजृम्भितम् ॥ ३१ ॥
पुण्यानि यान्ति वैफल्यं वैफल्यं यान्ति मातरः ।
भाग्यानि यान्ति वैफल्यं नाऽभ्यासस्तु कदाचन ॥ ३२ ॥
दुःसाध्याः सिद्धिमायान्ति रिपवो यान्ति मित्रताम् ।
विषाण्यमृततां यान्ति सन्तताभ्यासयोगतः ॥ ३३ ॥
येनाऽभ्यासः परित्यक्त इष्टे वस्तुनि सोऽधमः ।
कदाचिन्न तदाऽप्नोति वन्ध्या स्वतनयं यथा ॥ ३४ ॥

---

समीपके कारण अभ्यासयोगसे ही अबन्धु बन्धुरूप बन जाता है और दूरीके कारण अनभ्याससे बन्धुओंमें भी स्नेह थोड़ा हो जाता है ॥ २९ ॥

देहमें भौतिकताकी भ्रान्ति भी स्वाभाविक भौतिकताके अभ्याससे ही होती है, यह कहती है—'आतिवाहिक०' इत्यादिसे ।

भावनाभ्यासयोगसे ही केवल विशुद्ध चिदाकाशरूप आतिवाहिक यह देह आधिभौतिक रूप बन जाती है ॥ ३० ॥

यह आधिभौतिक देह धारणाके अभ्यासकी भावनासे ही पक्षियोंके सदृश आकाशमें उड़नेकी सिद्धि प्राप्त करती है, देखिए यह भी अभ्यासका ही प्रभाव है ॥ ३१ ॥

कदाचित् शङ्कारूप थोड़ेसे अपराधसे पुण्य भी विफल बन जाते हैं, माताएँ विफल बन जाती हैं और धन भी विफल बन जाता है, परन्तु कभी अभ्यास विफल नहीं होता ॥ ३२ ॥

निरन्तरके अभ्याससे दुःसाध्य पदार्थ सिद्ध हो जाते हैं, शत्रु मित्र बन जाते हैं तथा औषधके निमित्त अभ्याससे विष भी अमृत बन जाते हैं ॥ ३३ ॥

अतएव शास्त्रीय शुभाभ्यास कदापि नहीं छोड़ना चाहिए, यह कहती है—'येन' इत्यादिसे ।

इष्ट वस्तुके विषयमें जिसने अपना अभ्यास छोड़ दिया, वह मनुष्योंमें अधम

यदप्यभिमतं वस्तु स्वभ्यासेन तदर्जनात् ।
तद्युक्तिपूर्वकं त्याज्यमामृत्योर्जीवितं यथा ॥ ३५ ॥
इष्टे वस्तुनि नाभ्यासं यः करोति नराधमः ।
सोऽनिष्टेऽनिष्टमाप्नोति नरकान्नरकान्तरम् ॥ ३६ ॥
तरन्ति सरितं स्फीतां संसारासारसेविनः ।
त एवात्मविचाराख्यमभ्यासं न त्यजन्ति ये ॥ ३७ ॥
अभ्यासमासोऽभिमतं वस्तु प्रकटयन्त्यलम् ।
प्रापयन्ति च निर्विघ्नं घटं दीपप्रभा यथा ॥ ३८ ॥

है, वह उस वस्तुको ऐसे प्राप्त नहीं कर सकता, जैसे 'वन्ध्या अपने पुत्रको ॥३४॥

तब क्या शास्त्रविहित होनेसे स्त्री, पुत्र, धन, सत्कर्मानुष्ठान आदि अभिमत वस्तुका परित्याग कभी नहीं करना चाहिए, इस प्रश्नका नकारात्मक उत्तर देती है—'यद०' इत्यादिसे ।

स्त्री, पुत्र आदि जो अभिमत वस्तुएँ हैं, उनका उपार्जन हजारों यत्नोंसे किया जाता है । इससे उनका भी परित्याग सहसा नहीं करना चाहिए, किन्तु वैराग्यके अभ्यास द्वारा ऐसे युक्तिसे परित्याग करना चाहिए, जैसे मृत्युपर्यन्त अत्यन्त अभीष्ट जीवन वस्तुका योगी युक्तिपूर्वक त्याग करता है ॥ ३५ ॥

तत्त्वज्ञानार्थ जो अभ्यास है, उसका कभी त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसके त्यागसे तो देह आदिमें अहम्भावादिका अभ्यास अवश्य होने लग जायगा, फिर इसका निवारण असंभव हो जानेपर अनिर्मोक्षकी आपत्ति हो जायगी, इस आशयसे कहती है—'इष्टे' इत्यादिसे ।

जो नराधम अपनी इष्ट वस्तुके लिए ( मोक्षहेतु तत्त्वज्ञानके लिए ) अभ्यास नहीं करता, वह अनिष्टमें यानी देह आदिमें अहम्भावरूप अनर्थमें ही रत रहेगा, इस स्थितिमें अपने अभ्यासस्वभावसे अनिष्ट ही प्राप्त करता रहेगा और तदनन्तर एक दुःखसे दूसरे दुःखको प्राप्त होता रहेगा, उससे छुटकारा कभी उसका नहीं होगा ॥ ३६ ॥

जिससे संसार असार बन जाता है, ऐसे विवेककी सेवामें सदा निरत रहनेवाले जो उत्तम पुरुष आत्मविचाररूप अभ्यासको नहीं छोड़ते, वे ही इस महाविस्तृत मायारूपी नदीको तैर जाते हैं ॥ ३७ ॥

हे मुने, जैसे घड़ा चाहनेवाले पुरुषके लिए दीपककी प्रभाएँ घड़ेको

यथा कल्पद्रुमलताः सचिन्तामणयो यथा ।
फलन्ति शरदश्चैतास्तथैवाऽभ्यासभूमयः ॥ ३९ ॥
इष्टवस्तु चिराभ्यासभास्वान् भासयति प्रजाः ।
तथेन्द्रियाख्यां देहोर्व्यां रात्रिं पश्यन्ति नो यथा ॥ ४० ॥
सर्वस्य जन्तुजातस्य सर्ववस्त्ववभासने ।
सर्वदैवैक एवोच्चैर्जयत्यभ्यासभास्करः ॥ ४१ ॥
चतुर्दशविधायास्तु भूतजातेर्न कस्यचित् ।
सिद्ध्यन्त्यभिमतं वस्तु विनाभ्यासमकृत्रिमम् ॥ ४२ ॥
पौनःपुन्येन करणमभ्यास इति कथ्यते ।
पुरुषार्थः स एवेह तेनाऽस्ति न विना गतिः ॥ ४३ ॥

---

प्रकाशित करती हैं और निर्विघ्न उसे प्राप्त करा देती हैं, वैसे ही आत्मवस्तु चाहनेवाले पुरुषके लिए श्रवणादि अभ्यासरूपी प्रभाएँ आत्माको प्रकाशित करती हैं और उसे प्राप्त भी करा देती है। उसमें श्रवण-मननका अभ्यास असंभावना-रूप अन्धकार हटाकर वस्तुको प्रकाशित कर देता है और निदिध्यासनका अभ्यास विपरीत भावनारूप विघ्न-विनाशकर अभीष्ट वस्तु प्राप्त करा देता है, यह तात्पर्य है ॥ ३८ ॥

जैसे कल्पवृक्षकी लता, जैसे उत्तम चिन्तामणि अथवा जैसे शरद ऋतु तत्-तत् अभिमत फल प्रदान करती हैं, वैसे ही ये श्रवण आदिके अभ्यासकी भूमियाँ भी अभिमत मोक्षवस्तु प्रदान करती हैं ॥ ३९ ॥

देहरूपी पृथ्वीपर चिरकालिक आत्मविचाराभ्यासरूपी सूर्य अपनी अभीष्ट वस्तुको ( परम प्रेमके विषय आत्माको ) उस तरीकेसे दिखलाता है, जिस तरीकेसे कि उत्तम जन्म लेनेवाले अधिकारीजन राग, द्वेष, जन्म, मरण आदि हजारों अनर्थोंको पैदा करनेवाली इन्द्रियरूप रात्रिको न देख पावें ॥ ४० ॥

जितने प्राणी हैं, उन सबके लिए सदा ही सब वस्तुओंका प्रकाश करनेवाला एक अभ्यासरूपी सूर्य सर्वोच्च है ॥ ४१ ॥

चौदह भुवनोंमें स्थित चौदह प्रकारकी जो प्राणियोंकी जातियां हैं, उनमें किसी भी प्राणीकी स्वाभाविक अभीष्ट वस्तु अभ्यासके बिना सिद्ध नहीं होती ॥ ४२ ॥

अब अभ्यासका स्वरूप बतलाती है—'पौनःपुन्येन' इत्यादिसे ।

दृढाभ्यासाभिधानेन यत्ननाम्ना स्वकर्मणा ।
निजवेदनजेनेव सिद्धिर्भवति नाऽन्यथा ॥ ४४ ॥

अभ्यासभास्वति तपत्यवनौ वने च
वीरस्य सिद्ध्यति न यन्न तदस्ति किञ्चित् ।
अभ्यासतो भुवि भयान्यभयीभवन्ति
सर्वासु पर्वतगुहास्वपि निर्जनासु ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने अभ्यासप्रशंसा नाम
सप्तषष्टितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

---

महाराज, किसी एकका बार-बार करना ही अभ्यास कहा जाता है। उसीका इस शास्त्रमें पुरुषार्थशब्दसे पहले अनेक बार वर्णन किया गया है, पुरुषप्रयत्न और परमपुरुषार्थरूप फल भी वास्तवमें वही है, इसलिए अभ्यासके बिना यहाँ किसीकी गति हो ही नहीं सकती ॥ ४३ ॥

दृढ़ अभ्यास शब्दसे कहा जानेवाला प्रयत्ननामक जो अपना कर्म है, उसीसे सिद्धि मिलती है, दूसरेसे नहीं, यही सत्कर्म अपने विवेकके कारण मानो उत्पन्न होता है ॥ ४४ ॥

इन्द्रियोंपर विजय पानेमें समर्थ वीर पुरुषके लिए अभ्यासरूपी सूर्यके तपते रहनेपर भूमिमें, जलमें या आकाशमें ऐसी कोई अभिलषित वस्तु नहीं है, जो सिद्ध नहीं हो सकती। भूमण्डलपर तथा समस्त निर्जन पर्वतकी गुहाओंमें जितने भयके कारण बाघ, साँप आदि हैं, वे सब अभ्यासवान् पुरुषके लिए अभयहेतु बन जाते हैं यानी अभ्यासीको उनसे तनिक भी भय नहीं होता। वे अभयरूप बन जाते हैं ॥ ४५ ॥

सड़सठवाँ सर्ग समाप्त